श्रीमद् भगवत् कुन्दकुन्दाचार्य प्रणीत

कुन्दकुन्द-भारती

संपादक

पं. पन्नालाल साहित्याचार्य, सागर

साहित्याध्यापक

श्री गणेश दि. जैन संस्कृत विद्यालय, सागर

प्रकाशक

चा. च. श्री १०८ आचार्य शांतिसागर महाराज दि. जैन जिनवाणी

जीर्णोद्धारक संस्था प्रणीत

श्रुत भंडार व ग्रंथ प्रकाशन समिति, फलटण

कुन्दकुन्द-भारती

*

प्रकाशक

चा. च. श्री १०८ आचार्य शांतिसागर महाराज दि. जैन जिनवाणी जीर्णोद्धारक संस्था प्रणीत

श्री श्रुतभंडार व ग्रंथ प्रकाशन समिति, फलटण

*

द्वितीयावृत्ति

वीरनिर्वाणाब्द २५३३

विक्रमाब्द २०६३

ईसवी सन २००७

*

प्रतियाँ ६००

*

अक्षरांकन

प्रा. महावीर कंडारकर, पुणे

दूरभाष : (०२०) २५२८ ३६४६

*

मुद्रक

अजित प्रिंटर्स, फलटण

दूरभाष : ०२१६६ - २२१७२७

*

मूल्य

रुपये दो सौ (डाकव्यय रु. ५०/- अलग)

*

संपर्कके लिए पता

१. श्री. शांतिलाल तलकचंद शहा

गोळीबार मैदान,

फलटण जि. सातारा पिन ४१५५२३

दूरभाष : २१६६ - २२३००६

२.डॉ. जवाहर प्रेमचंद गांधी

१३२, शुक्रवार पेठ,

फलटण जि. सातारा पिन ४१५५२३

दूरभाष : ०२१६६ - २२०८३२

३. बाहुबली चंदूलाल दोशी (गुणवरेकर)

६०, मारवाड पेठ,

फलटण जि. सातारा पिन ४१५५२३

दूरभाष : ०२१६६ - २२१७४६

बीसवीं शताब्दि के प्रथमाचार्य चारित्र चक्रवर्ती आचार्य श्री १०८ शांतिसागरजी महाराज

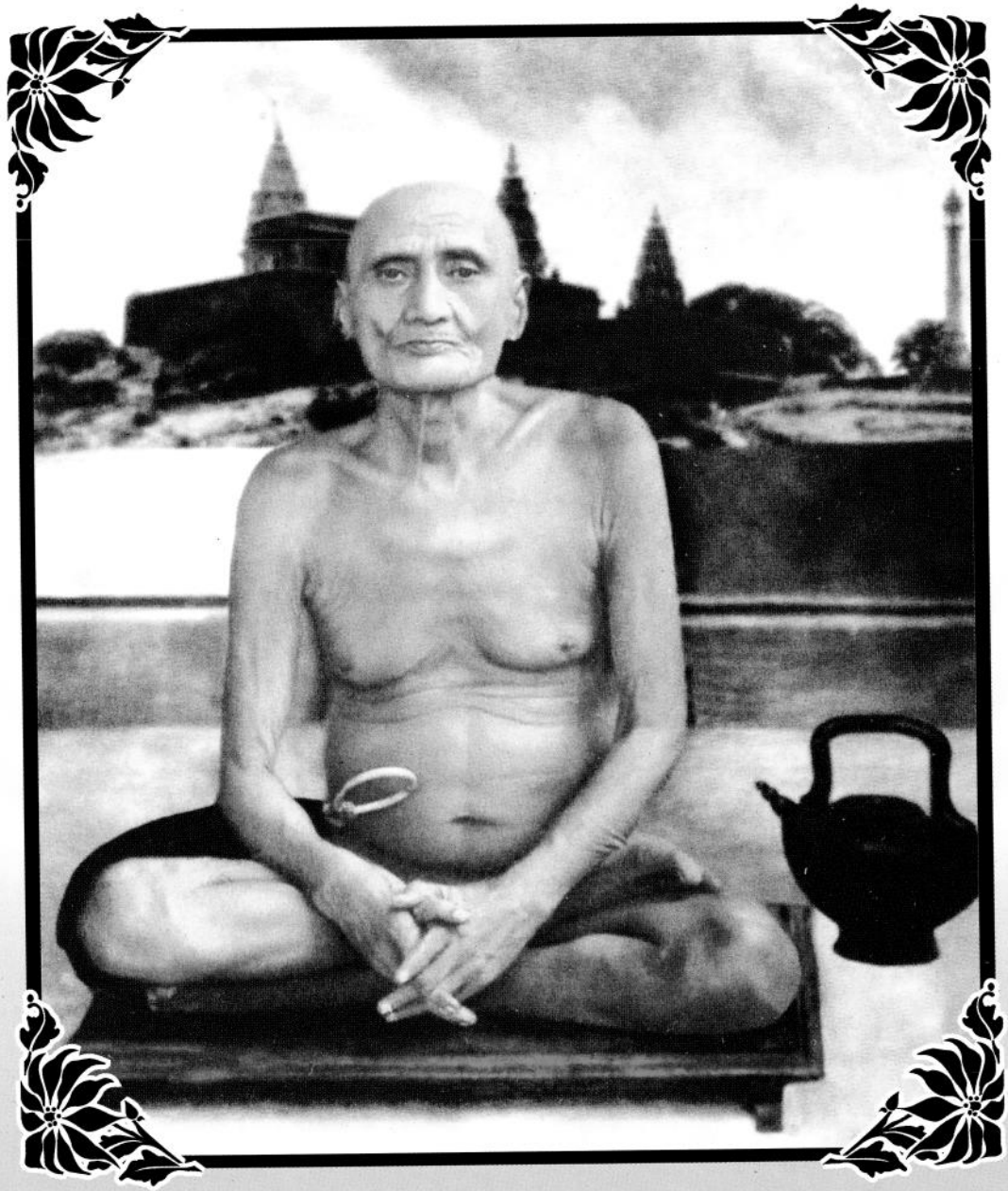

जन्म - इ. स. १८७२ आचार्यपद - इ. स. १९२४
मुनि दिक्षा - इ. स. १९२० चारित्र चक्रवर्तीपद - इ. स. १९३५
समाधी कुंथलगिरी में इ. स. १९५५

प.पू. चा. च. श्री १०८ आचार्य शांतिसागर जैन जिनवाणी जीर्णोद्धार संस्था, फलटण

कार्यवृत्तांत

प.पू. चा. च. श्री १०८ आचार्य शांतिसागर जैन जिनवाणी जीर्णोद्धार संस्था की स्थापना विक्रम संवत् २०००-२००१ अर्थात् वीर निर्वाण संवत् २४७०-२४७१ में हुई। प्रस्तुत संस्था की स्थापना अपने आपमें एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक घटना थी। इस पंचम कालके विगत ३००-४०० वर्षोंमें दिगंबर जैन साधुपरंपरा खंडित-सी हो गयी थी। उसे आगमानुसार पुनरुज्जीवित करनेका महान कार्य आचार्य श्री शातिसागर महाराजजी ने किया। जैन मुनि का जीवन यथार्थतः अंतर्मुख एवं आत्मस्वरूप पर केंद्रित होता है। बाह्य प्रापंचिक कार्योंमें उनकी कोई रुचि नहीं होती। आनुषंगिक रूपसे उनके द्वारा जो शुभभावरूप क्रियाँएँ होती हैं उनसे समाजकी सांस्कृतिक धारणा बनती है। समीचीन दिगंबरत्वका पुनरुज्जीवन, निर्ग्रंथ दिगंबर मुनियोंका विहार, जैन समाजका स्वतंत्र अस्तित्व, जैनोंके धार्मिक-सांस्कृतिक अधिकारोंकी रक्षा, सनातन दिगंबरत्व पर होनेवाले आक्रमणोंका प्रतीकार, जैन समाजमें व्याप्त मिथ्यात्वपूर्ण कुप्रथाओंका निर्मूलन, श्रुतप्रकाशन आदिसंबंधी जो ऐतिकासिक कार्य इस कालखंडमें हुआ उसके पीछे आचार्यश्रीकी सहज प्रेरणा थी। आचार्य श्री जैसे महात्माकी प्रेरणा से जो कार्य हुआ उसे जैन समाज कदापि भूल नहीं सकता। परमपवित्र सर्वतोभद्र जिनागमकी रक्षाके लिए स्वयं श्री १०८ आचार्य शांतिसागर महाराजश्री की प्रेरणा से १०८ आचार्य श्री शांतिसागर दिगंबर जैन जिनवाणी जीर्णोद्धारक संस्था की स्थापना वि. सं. २००१ अर्थात् वीर निर्वाण संवत् २४७० में हुई। आचार्यश्री के परममंगल आशीर्वादसे संस्था की स्थापना होनेसे इस संस्थाको समाज में एक महत्त्वपूर्ण वैशिष्ट्यपूर्ण स्थान प्राप्त हुआ है।

अंतिम तीर्थंकर महावीर भगवान् की ॐकार वाणीसे साक्षात् संबंधप्राप्त धवल, जयधवल, महाधवल ये ताडपत्रीय ग्रंथ मूडबिद्री में विराजमान हैं। प. पू. आचार्यश्री वर्षायोगके निमित्त कुंथलगिरी पर विराजमान थे, तब उन्हें पता चला कि इन ग्रंथोंका प्राय चार-पाँच हजार श्लोकप्रमाण अंश कीटकोंका भक्ष्य हो चुका है। यह बात सुनकर आचार्यश्री को आत्यंतिक पीड़ा हुई। उसी समय वहाँ १०५ भट्टारक जिनसेन स्वामी, नांदणी (कोल्हापुर), दानवीर संघपति श्रीमान गेंदामलजी, गुरुभक्त श्रीमान सेठ चंदूलालजी सराफ बारामती, श्रीमान रामचंद धनजी दावड़ा आदि धर्मानुरागी महानुभाव उपस्थित थे। इन सभी महानुभावोंके समक्ष आचार्यश्रीजीने आगमकी रक्षासंबंधी अपनी चिंता एवं मंतव्य व्यक्त किया। आचार्यश्री की इच्छाको आदेश मानकर उन सभी धर्मानुरागियोंने आगमरक्षासंबंधी वहीं एक योजना बनायी और उसे कार्यान्वित करनेकी दिशामें प्रयत्न आरंभ किया। इस पुण्यकार्यमें समस्त दिगंबर जैन समाज सहभागी हुआ। उसी

समय करीब एक लाख रुपयोंकी राशि इकट्ठा हुई। इस कार्यके लिए एक अस्थायी समितिका गठन किया गया और श्रीमान वालचंद देवचंद शहा मुंबई की सूचनानुसार धवला ग्रंथ रासायनिक प्रक्रियाद्वारा ताम्रपत्रों पर उत्कीर्ण करनेका निर्णय लिया गया। प.पू. १०८ श्री समंतभद्र महाराजजीकी सूचनानुसार प्रस्तुत समितिका मंत्रिपद का कार्यभार श्रीमान वालचंद देवचंद शहा पर सौंपा गया।

वीर निर्वाण संवत् २४७१ की फाल्गुन वदि २ को आचार्यश्रीके बारामतीके वास्तव्यमें मूर्धन्य पंडितों एवं धर्मानुरागी श्रावकोंकी उपस्थितिमें निम्न निर्णय लिये गये --

१. श्री धवल, जयधवल, श्री महाधवल आदि सिद्धांतग्रंथ संशोधनपूर्वक देवनागरी लिपिमें ताम्रपत्रपर अंकित कर उनकी सुरक्षा की स्थायी व्यवस्था की जाये।

२. अन्य आचार्योंके ग्रंथोंके जीर्णोद्धारके साथ ही स्वाध्यायके निमित्त उनका विनामूल्य अथवा अल्प मूल्य लेकर वितरण किया जाये ।

इन प्रमुख उद्देश्योंको लेकर श्री १०८ चारित्र चक्रवर्ती आचार्य शांतिसागर दिगंबर जैन जिनवाणी जीर्णोद्धारक संस्थाकी स्थापना की गयी। इस कार्यमें रु. ११०१/- अथवा अधिक दानराशि देनेवाले महानुभावोंको इस संस्थाका सदस्यत्व प्रदान किया जाये ऐसा भी प्रावधान किया गया। सभी सदस्योंको मुद्रित ग्रंथ की एक-एक प्रति दी जाये, तथैव सभी तीर्थक्षेत्रोंपर एक-एक संच रक्खा जाये ऐसा भी निर्णय लिया गया।

सिद्धांत ग्रंथ अतिप्राचीन एवं महत्त्वपूर्ण होनेसे उसके ताम्रपत्र भी शुद्ध एवं स्वच्छ होना नितांत आवश्यक था। धवला ग्रंथ ७०००० श्लोकप्रमाण, जयधवल ८०००० श्लोकप्रमाण तथा महाधवल ४०००० श्लोकप्रमाण हैं। ताड़पत्र दिन-प्रतिदिन जीर्ण होते जा रहे थे, अतः ताड़पत्रकी फोटोप्रतियाँ बनानेका निर्णय किया गया। इस कार्यमें मूड़बिद्रीके विश्वस्तोंका तथा चारुकीर्तिजी भट्टारक, पं. लोकनाथ शास्त्री एवं प. वर्धमान शास्त्री, सोलापुर का सहयोग प्राप्त हुआ।

विक्रम संवत् २००१ में पं. खूबचंद शास्त्रीजीकी देखरेखमें धवला ग्रंथके मुद्रणका कार्य आरंभ हुआ। यह कार्य शीघ्र संपन्न हो इस हेतु संवत् २००२ में सोलापुरमें कल्याण प्रेसमें पं. पन्नालालजी सोनी की देखरेखमें कार्य आरंभ हुआ। यह कार्य साढ़े तीन वर्षोंमें संपन्न हुआ। २६०० पृष्ठोंके इस धवल ग्रंथोंके मुद्रणार्थ ३०००० रुपये खर्च हुआ। उसी समय मुंबईमें श्रीपाद प्रोसेस वर्क्स में ग्रंथ ताम्रपत्रोंपर ग्रंथ उत्कीर्ण करनेका कार्य आरंभ हो चुका था। इस कार्यमें २१००० रुपये व्यय हुए। इस तरह मुद्रणकार्य तथा उत्कीरण कार्य सफलतापूर्वक संपन्न हुआ और संवत् २००६ में संघपति श्रीमान सेठ गेंदामलजीके करकमलोंद्वारा प्रस्तुत ग्रंथ प. पू. आचार्यश्रीजी को सिद्धक्षेत्र गजपंथजी पर समर्पित किया गया।

श्रीमान पं. पन्नालालजी सोनी एवं प. माणिकचंदजी की देखरेखमें बाहुबली में २३०० पृष्ठोंका जयधवल ग्रंथ वीर निर्वाण संवत् २४७९ में पूर्णरूपेण मुद्रित हुआ। श्री महाधवल ग्रंथका मुद्रणकार्य पं.

सुमेरुचंद्रजी दिवाकरकी देखरेखमें सीवनीमें संवत् २०२० में पूर्ण हुआ। पं. दिवाकरजी को फलटणमें 'धर्मदिवाकर'की उपाधिसे सम्मानित किया गया। उक्त तीनों ग्रंथोंके ताम्रपट बनानेका कार्य आचार्यश्रीजीकी सल्लेखनासे पूर्वही संपन्न हुआ, यह देखकर आचार्यश्रीजी को परमसंतोष हुआ।

श्री धवल के ताम्रपत्र एवं तीनों मुद्रित ग्रंथ तथा संस्थाकी ओरसे मुद्रित-प्रकाशित अन्य सभी ग्रंथ फलटणमें चंद्रप्रभु मंदिरमें श्री आचार्य शांतिसागर श्रुतभंडार भवनमें सुरक्षित हैं। श्री धवल तथा महाधवलके ताम्रपत्र सेठ गेंदामलजीके कालबादेवी, मुंबई स्थित जिनमंदिरमें सुरक्षित हैं। जयधवलके ९२ ताम्रपत्र श्री १००८ दिगंबर जैन आदिनाथ मंदिर, सोलापुरमें सुरक्षित हैं।

गृहस्थोंके कल्याणहेतु आचार्यश्री जिनबिंबप्रतिष्ठा, चैत्यालयनिर्माण, पूजापाठ आदि शुभकार्योंका उपदेश निरंतर दिया करते थे। जैन समाज धर्मश्रद्धालु है, परंतु उसके दृढ़ीकरणके हेतु आगमग्रंथोंकी सहज उपलब्धता नितांत आवश्यक है। इस हेतु संवत् २०१० में श्रुतभंडार व ग्रंथप्रकाशन समिति का गठन कर इस तरह की योजना बनायी गयी थी कि आर्ष दिगंबर जैन ग्रंथोंका प्रामाणिक संशोधन, मुद्रण व प्रकाशन कर सभी मंदिरों एवं सार्वजनिक संस्थाओं में उनका निःशुल्क वितरण किया जाये।

श्री दिगंबर जैन महासभा द्वारा पू. आचार्यश्रीका हीरक जयंती महोत्सव महान उत्साहके साथ संपन्न कर उससे प्राप्त निधिद्वारा चंद्रप्रभु मंदिरमें श्रुतभंडार हॉलकी निर्मिति की गयी और वहाँ ताम्रपत्र तथा मुद्रित ग्रंथ रखे गये। उस समय प्राचीन ग्रंथोंके हिंदी अनुवाद कर तथा उन्हें प्रकाशित कर सभी गाँवोंके मंदिरोंमें स्वाध्यायार्थ उनके निःशुल्क वितरणका कार्यभार ग्रंथ प्रकाशन समितिपर सौंपा गया। प्रस्तुत समिति यह कार्य निरंतर करती आयी है। ग्रंथनिर्मितिके लिए अनेक उदारधी दातारोंसे दानराशि प्राप्त होती आयी है। समितिकी ओरसे अबतक निम्न ग्रंथ प्रकाशित हो चुके हैं (१) श्री रत्नकरंड श्रावकाचार , (२) श्री समयसार आत्मख्याति टीका, (३) श्री सर्वार्थसिद्धि, (४) श्री मूलाचार , (५) श्री उत्तरपुराण, (६) श्री अनगार धर्मामृत, (७) श्री सागार धर्मामृत, (८) श्री धवला, (९) श्री जयधवल, (१०) श्री कुंदकुंद भारती, (११) अष्टपाहुड, (१२) श्रावकाचार संग्रह भाग १ से ५, (१३) श्री आदिपुराण (जिनसेनाचार्य), (१४) महापुराण भाग १, (१५) भ. महावीर उपदेश परंपरा, (१६) अर्थप्रकाशिका, (१७) लघुतत्त्वस्फोट, (१८) समयसार भाग १, २, (१९) षट्खंडागम, (२०) स्मृतिगंध, (२१) प. पू. शांतिसागर चरित्र, (२२) श्री महाधवल।

संस्थाका कार्य १९७४ तक सुचारु रूपसे चल रहा था। १९७४ में संस्थाका रौप्यमहोत्सव तथा आचार्यश्रीजी का जन्मशताब्दी महोत्सव भी अत्यंत उत्साहके साथ मनाया गया। इस उपलक्ष्यमें 'स्मृतिगंध'का प्रकाशन भी हुआ। किंतु इसके उपरांत एक-एक करके संस्थाके विश्वस्तोंका तथा कार्यकारिणीके सदस्योंका निधन होता गया। दुर्दैवसे उन रिक्त स्थानोंकी पूर्ति नहीं हो पायी। संस्थाके कोषाध्यक्ष श्रीमान सेठ माणिकलाल तुलजाराम शहा २००१ में रुग्ण हुए तथा १७ अप्रैल २००३ को उनका देहावसान हुआ। इन कारणोंसे

संस्थाका फलटण स्थित श्रुतभंडार तथा ताम्रपत्रोंकी सुरक्षा का उत्तरदायित्व जैन समाजके कंधोंपर आ गया। सोलापुर तथा कालबादेवी (मुंबई)स्थित ताम्रपत्र वहाँके मंदिरोंमें सुरक्षित हैं, परंतु उनकी देखभाल करनेका उत्तरदायित्व किसी जिम्मेदार व्यक्तिपर नहीं है। उसकी सुरक्षाकी दृष्टिसे भी विचारविमर्श होना आवश्यक है। इन सभी बातोंका विचार कर ग्रंथप्रकाशनका खंडित कार्य पुनः आरंभ हो इस दृष्टिसे फलटण स्थित स्वाध्यायप्रेमी महानुभावोंने पहल कर ११ जनोंकी एक अस्थायी समिति बनाकर श्रुतभंडार व ग्रंथप्रकाशन समितिका पुनर्गठन किया तथा संस्थाके पदसिद्ध अध्यक्ष पूजनीय श्री जिनसेन भट्टारक स्वामी, नांदणी (कोल्हापुर) से मिलकर समितिका कार्य पुनश्च आरंभ करनेके लिए उनसे अनुमति माँगी। संस्थाके संविधान का अवलोकन कर उन्होंने कार्य आरंभ करनेकी अनुमति प्रदान की। तदनुसार प्रकाश्य ग्रंथोंकी सूची बनाकर उनके प्रकाशनार्थ संस्थाके आजीवन सदस्य बनाये जाएँ तथा उन सदस्योंको उपलब्ध ग्रंथ निःशुल्क दिये जायें ऐसा निर्णय किया गया। सदस्यता शुल्क ११०१/- निर्धारित किया गया है। संस्थाके विश्वस्तोंके दायादोंसे मिलकर उनकी अनुमतिसे नया विश्वस्त मंडल १४ अगस्त २००६ को गठित किया गया है।

(१) श्री धवल, (२) श्री महाधवल, (३) श्री जयधवल ये ग्रंथ मंदिरोंके लिए निःशुल्क देनेका निर्णय किया गया है। स्वाध्यायप्रेमी जनोंके लिए मंदिरोंके विश्वस्त समितिसे संपर्क स्थापित कर उक्त ग्रंथ प्राप्त करें।

(१) श्रावकाचार संग्रह भाग १ से ५, (२) अष्टपाहुड ये ग्रंथ प्रत्येक ६५/- के अल्प मूल्यपर स्वाध्यायप्रेमी जनोंको देनेका भी निर्णय किया गया है। जो व्यक्ति ये ग्रंथ डाकद्वारा प्राप्त करना चाहते हैं वे प्रत्येक १०१/- के हिसाब से प्राप्त कर सकते हैं।

समस्त समाजसे प्रार्थना की जाती है कि अधिकाधिक व्यक्ति संस्थाके सदस्य बनें तथा संस्थाका पुनर्गठन करनेमें सक्रिय सहयोग दें जिससे जिनवाणीका संशोधन, प्रकाशन कार्य पूर्ववत् सुचारु रूपसे आरंभ हो सके। यदि कोई व्यक्ति प्राचीन आर्ष ग्रंथ शास्त्रदान के रूपमें वितरित करना चाहे तो संस्थाकी ओर से उसे संपादन व मुद्रणकार्यके लिए पूरा सहयोग दिया जायेगा। दाताओंके शुभ नाम आगे प्रकाशित होनेवाले ग्रंथोंमें प्रकाशित किये जायेंगे। आजीवन सदस्योंको अब उपलब्ध छह ग्रंथ विनामूल्य दिये जायेंगे।

डॉ. जे. पी. गांधी, उपाध्यक्ष,
श्रुतभांडार व ग्रंथप्रकाशन समिति,
१३२, शुक्रवार पेठ,
फलटण (जि. सातारा)४१५५२३
दूरभाष : (०२१६६) २२०८३२

स्वस्तिश्री जिनसेन भट्टारक पट्टाचार्य स्वामी,
नादणी (जि. कोल्हापूर)
पदसिद्ध अध्यक्ष,
प.पू. चा.च. श्री १०८ शांतिसागर दि. जैन जिनवाणी
जीर्णोद्धारक संस्था, फलटण.

श्रुतभंडार व ग्रंथप्रकाशन समिति

संस्थाके पदाधिकारी

१. श्री. शांतिलाल तलकचंद शहा	अध्यक्ष
२. डॉ. जवाहर प्रेमचंद गांधी	उपाध्यक्ष
३. श्री. बाहुबली चंदूलाल दोशी (गुणवरेकर)	सेक्रेटरी
४. श्री. हिम्मतलाल मोहनलाल गांधी (बीबीकर)	खजिनदार
५. श्री. शांतिलाल खुशालचंद गांधी	सदस्य
६. श्री. अरविंद रूपचंद शहा (वडूजकर)	सदस्य
७. श्री. ज्ञानचंद्र रूपचंद दोशी	सदस्य
८. श्री. उदय माणिकलाल शहा	सदस्य
९. श्री. दीपक मोतीलाल दोशी	सदस्य
१०. श्री. महावीर नेमचंद शहा	सदस्य
११. श्री. मंगेश भारतलाल दोशी (गुणवरेकर)	सदस्य

***

स्व. श्री. रायचंद भाईचंद फडे की पुण्यस्मृतिमें कुंदकुंद-भारती के प्रकाशनार्थ विशेष आर्थिक सहयोग

धर्मानुरागी श्रीमान रायचंद भाईचंद फडे, पंढरपुरनिवासी एक धर्मानुरागी पुरुष थे । उनका जन्म धर्मनगरी फलटण में १४ जून १९१५ को हुआ। आपके पिताश्री का नाम श्रीमान भाईचंद बापूचंद फडे तथा माताश्रीका नाम मथुराबाई था। श्रीमान रायचंदजीने लौकिक शिक्षा अकलूज तथा पंढरपुरमें प्राप्त की। उनपर धर्मके संस्कार तो बचपनसे घर पर ही होते रहे थे।आपने शांतिसागर महाराजश्रीसे स्वाध्याय, रात्रिभोजनत्याग तथा श्रावकके अन्य सभी व्रत ग्रहण किये थे। वे निरंतर २८ वर्षतक अनंतव्रत करते रहे तथा उसका विधिपूर्वक उद्यापन कर व्रतकी पूर्ति की। आचार्य शांतिसागरजी महाराज, धर्मसागरजी महाराज अध्यात्मयोगी वीरसागरजी महाराजजीसे उन्हें धर्मलाभ होता रहा। सतत मुनियोंके संपर्कमें रहनेके कारण उन्हें आहारदान का विपुल पुण्य प्राप्त होता रहा। भारतके प्रायः सभी तीर्थक्षेत्रोंकी वंदनाएँ उन्होंने अनेक वार कीं। पंढरपुरमें आदिनाथ दिगंबर जैन मंदिर बनानेका उनका संकल्प था, जिसे उनके सुपुत्रोंने दृढ़तापूर्वक एवं आनंदपूर्वक पूर्ण किया।

स्व. श्रीमान रायचंदजी स्वाध्यायप्रेमी थे। अन्य व्यक्तियोंको भी वे स्वाध्यायके लिए प्रेरणा दिया करते थे। तभी तो उनके सुपुत्रोंने प. मोतीलालजी कोठारी द्वारा अनूदित 'अष्टपाहुड'की २०० प्रतियाँ सोलापुरमें स्थित 'जीवराज जैन ग्रंथमाला' के द्वारा स्वाध्यायप्रेमियोंमें वितरित करनेकी व्यवस्था की थी।

श्रीमान रायचंदजीने अपने परिवारको भी धार्मिक संस्कारोंसे अलंकृत किया है। उन्होंने अपने पुत्रोंको दान तथा स्वाध्यायके संस्कारोंसे विभूषित किया है। तभी तो उनके दो सुपुत्र यू. एस्. ए. स्थित विजयकुमार तथा पंढरपुरनिवासी शरद्कुमारने अपने स्वर्गीय पिताश्री रायचंदजीकी स्मृतिमें प्रस्तुत 'कुंदकुंद-भारती'के प्रकाशनार्थ ३१०००/- रुपयोंकी राशि प्रदान कर अपना ग्रंथप्रेम व्यक्त किया है।

ग्रंथ प्रकाशन समितिकी ओर से उन्हें शत शत धन्यवाद!

***

रमादेवी तथा बिहारीलालके फाउंडेशनके लिए
डॉ. पुष्पा जैन U.S.A. की ओरसे
Jain World. Com के माध्यमसे
कुंदकुंद-भारती के प्रकाशनार्थ विशेष आर्थिक सहयोग

अमेरिका स्थित डॉ. पुष्पा जैनने रमादेवी तथा बिहारीलाल फाउंडेशन के लिए Jain World. Com के माध्यमसे 'कुंदकुंद-भारतीके प्रकाशन' के लिए १९९९०/- रुपयोंका उदार दानराशि प्रदान की है, इसके लिए संस्था उनके प्रति हार्दिक आभारी है।

अमेरिकामें स्थित कारंजानिवासी श्री. विनोद दर्यापूरकर तथा उनके अनेक मित्रोंद्वारा संपूर्ण विश्वमें जैन दर्शन तथा संस्कृतिके प्रसार-प्रचारार्थ जैन वर्ल्ड.कॉम् यह वेबसाइट चलायी जाती है। श्री. विनोद दर्यापूरकरकी दूरदृष्टिसे १९९६ में स्थापित जैन वर्ल्ड यह वेबसाइट अब काफी विस्तार पा चुकी है। केवल ११ वर्षोंमें इस संस्थाकी व्याप्ति इतनी अधिक बढ़ चुकी है कि यह १७५ GB की विशाल वेब साइट अब १५५००० वेब पेजेस में फैल चुकी है। इसमें ११००० इमेजेस हैं। ७०० घंटोंकी यह दृक्-श्राव्य वेबसाइट दुनिया की २४ भाषाओंमें कार्य करती है। इसमे विभिन्न भाषाओंमें जैन दर्शन-संस्कृतिविषयक २३६ पुस्तकें प्रसारित हो चुकी हैं। यह वेबसाइट विश्वके १४७ देशोंमें फैल चुकी है तथा रोज ८२६२५ + लोग इसे देखते रहते हैं। इस वेबसाइट में अब तक ७०५ मानववर्षोंका का काम हो चुका है।

इंटरनेटपर यह वेबसाइट www.jainworld.com इस पतेपर उपलब्ध है। इस वेबसाइटके लिए डॉ. पुष्पा जैन स्वयं काम करती हैं। उन्होंने 'कुंदकुंद-भारती' के प्रकाशनके लिए जो दानराशि प्रदान की उसके लिए ग्रंथ प्रकाशन समितिकी ओर से पुनश्च एकवार धन्यवाद!

***

कुंदकुंद-भारतीके प्रकाशनार्थ आर्थिक सहयोग देनेवाले उदारधी दातारोंकी श्रेयनामावली

१.	स्व. श्री. रायचंद भाईचंद फडे, पंढरपुर की स्मृतिमें		
	श्री. डॉ. विजयकुमार रायचंद फडे,	U.S.A.	
	श्री. शरदकुमार रायचंद फडे,	पंढरपुर	३१०००
१.	डॉ. पुष्पा जैन	U. S. A.	१९९९०/-
	कृते रमादेवी तथा बिहारीलाल फाउंडेशन		
३.	स्व. श्री. धनपाल वीरचंद दोशी की स्मृतिमें		
	श्रीमती सुलोचना धनपाल दोशी,		५००१/-
४.	स्व. धन्यकुमार रतनचंद गांधी की स्मृतिमें		
	श्रीमती मंजूषा धन्यकुमार गांधी	फलटण	५००१/-
५.	श्री. बाहुबली चंदूलाल दोशी गुणवरेकर	फलटण	१५०१/-
६.	श्री. प्रतापलाल गौतमचंद दोशी,	फलटण	११११/-
७.	श्री. रमणलाल सुंदरलाल दोशी,	फलटण	११०१/-
८.	श्री. राजेंद्र माणिकलाल दोशी,	फलटण	११०१/-
९.	सौ. अनुराधा अरविंद शहा (वडूजकर)	फलटण	११०१/-
१०.	श्री. जवाहर हिराचंद फडे	अकलूज	१०००/-
११.	स्व.प्रवीणचंद्र भाईचंद गांधी तथा स्व. पद्मा प्रवीणचंद्र गांधी की स्मृतिमें		
	श्री. महावीर प्रवीणचंद्र गांधी,	अकलूज	१०००/-
१२.	श्री. भारत तलकचंद गांधी	नातेपुते	१०००/-
१३.	श्रीमती कस्तुरबाई धन्यकुमार दोशी	फलटण	१०००/-
१४.	श्री. चंद्रशेखर पवनलाल दोशी	फलटण	१०००/-
१५.	श्री.मोतीलाल जीवराज गांधी (माळशिरसकर)	फलटण	१००१/-
१६.	श्री. मोहनलाल गुलाबचंद गांधी (बीबीकर)	फलटण	१००१/-
१७.	श्री. शांतिलाल खुशालचंद गांधी, सराफ	फलटण	१००१/-
१८.	श्री. फुलचंद खुशालचंद दोशी (वाखरीकर)	फलटण	१००१/-
१९.	सौ. शैला अरविंद गांधी	फलटण	१००१/-
२०.	श्री. सुजय विजय कोठारी	फलटण	५००/-
२१.	श्री. प्रकाश रामचंद घडिया	फलटण	५०१/-

२२.	श्री. संतोष चंदुलाल दोशी गुणवरेकर	फलटण	५००/-
२३.	श्रीमती शोभा शरदलाल शहा	फलटण	५००/-
२४.	श्री. अशोक शिवलाल दोशी (गुणवरेकर)	फलटण	५००/-
२५.	श्री. अंकुर शीतल गांधी		५०१/-
२६.	श्री. प्रदीप चंदूलाल शहा (गोखळीकर)	फलटण	५०१/-
२७.	श्री. राजेंद्र रत्नशेखर डुडु	नातेपुते	५०१/-
२८.	श्री. शांतिलाल दलूचंद दोशी	अकलूज	५००/-
२९.	श्री. फुलचंद वीरचंद गांधी	अकलूज	५००/-
३०.	श्री. नरेंद्र परमेष्ठी गांधी	नातेपुते	५००/-
३१.	श्री. श्रेयांस गौतमचंद गांधी	नातेपुते	५००/-
३२.	श्री. जीवंधर रामचंद दावडा	नातेपुते	५००/-
३३.	सौ. सविता मिलिंद दोशी	फलटण	५००/-
३४.	श्री. हेमंत रतनलाल मेहता	फलटण	५००/-
३५.	श्री. जीवंधर भीमचंद दोशी	सांगवी	५००/-
३६.	श्री. डॉ. सागर जवाहर गांधी	फलटण	५००/-
३७.	सौ. कल्पना सुभाष गांधी	फलटण	५०१/-
३८.	श्री. सुरेश चंदूलाल दोशी	फलटण	५०१/-
३९.	श्री. सुकुमार मगनलाल चंकेश्वरा	फलटण	५०१/-
४०.	श्री. सतीश रतनलाल दोशी	फलटण	५०१/-
४१.	श्री. राजकुमार मोहनलाल व्होरा	फलटण	५०१/-
४२.	श्री. दिलीप वीरचंद दोशी	फलटण	५०१/-
४३.	श्री. राजकुमार चंदूलाल दोशी	फलटण	५०१/-
४४.	श्री. विनोद रावजी शहा	फलटण	५०१/-
४५.	श्रीमती माणिकबाई बापूचंद गांधी (खुटेकर) हस्ते शरद बापूचंद गांधी	फलटण	५०१/-
४६.	श्री. रोहन सुनील दोशी (गुणवरेकर)	फलटण	५००/-
४७.	श्री. क्रांतिकुमार माणिकलाल शहा (वाडीकर)	पुणे	५००/-
४८.	सौ. प्रफुल्लता शरच्चंद्र गांधी	फलटण	५०१/-
४९.	श्री. विलास वालचंद शहा	फलटण	५०१/-

५०.	श्री. प्रकाश गौतमचंद दोशी	फलटण	५००/-
५१.	श्री. गौरव संजय मेथा (१० उपवासानिमित्त))	फलटण	५०१/-
५२.	श्रीमती लता कैलास दोशी	अकलूज	५०१/-
५३.	सौ. वसंतमाला आनंदलाल व्होरा	फलटण	५००/-
५४.	श्री. प्रकाश मोतीलाल गांधी	फलटण	५००/-
५५.	सौ.शोभा मदनकुमार दोशी	नातेपुते	५००/-
५६.	श्रीमती मथुराबाई मलुकचंद दोशी	फलटण	५०१/-
५७.	श्रीमती अरुणा कांतिलाल शहा (मोडनिंबकर)	फलटण	५००/-
५८.	श्री. श्रेणिक मगनलाल गांधी (लाटेकर)	फलटण	५००/-
५९.	डॉ. सौरभ सुनील शहा	फलटण	५००/-
६०.	श्री. संतोष अशोक गांधी	श्रीपुर	५०१/-
६१.	श्री. सुभाषचंद्र प्रतापचंद्र गांधी	पंढरपुर	५०१/-
६२.	श्री. नवीनचंद्र अशोककुमार गांधी	श्रीपुर	५०१/-
६३.	श्री. नवीनचंद्र धन्यकुमार दोशी	फलटण	५०१/-
६४.	श्री. विक्रम प्रताप शहा (करजगीकर)	जेऊर	५०१/-
६५.	श्री. प्रीतम अरिंजय शहा(वडूजकर)	फलटण	५००/-
६६.	श्री. निरंजन रमेश शहा	फलटण	५००/-
६७.	श्री. उत्तमलाल गणपतलाल वेळापुरे	फलटण	५०१/-
६८.	स्व. आनंदलाल जीवराज दोशी की स्मृतिमें श्रीमती रतनबाई आनंदलाल दोशी	फलटण	५०१/-
६९.	श्री. सुरेश रतनचंद दोशी (दहिगावकर)	फलटण	५०१
७०.	गुप्तदान		२०२/-

***

प्रस्तावना

कुंदकुंद-भारतीका यह संस्करण

एक समय था कि जब लोगोंकी धारणाशक्ति अधिक थी, जिसके कारण वे सूत्ररूप संक्षिप्त वचनको हृदयंगत कर उसके द्वारा संकेतित समस्त विषयसे परिचित हो जाते थे। उस समय जो शास्त्ररचना हुई वह सूत्ररूपमें हुई। भूतबलि और पुष्पदंत महाराजने जो षट्खंडागमकी रचना की वह प्राकृतके सूत्रोंमें ही थी। अधिक विस्तार हुआ तो प्राकृत गाथाओंकी रचना शुरू हुई। सूत्ररचनाका यह क्रम न केवल धर्मशास्त्र तक सीमित रहा किन्तु न्याय, व्याकरण, योगशास्त्र और कामशास्त्र तककी रचनाएँ सूत्ररूपमें हुईं। धीरे-धीरे जब लोगोंकी धारणाशक्ति कम होने लगी तब सूत्रोंके ऊपर वृत्तियों और गाथाओंके ऊपर चूर्णियोंकी रचना शुरू हुई। समयने रुख बदला जिससे वृत्तिग्रंथोंपर भाष्य रचनाएँ होने लगीं। न्याय, व्याकरण आदि समस्त विषयोंपर भाष्य लिखे गये। ये भाष्य टीकारूपमें रचे गये जिनमें उक्त, अनुक्त और दुरुक्त विषयोंकी विस्तृत चर्चाएँ सामने आयीं। उस समयकी जनता भी इस भाष्यरूप टीकाओंको पसंद करती थी जिससे उनका प्रसार बढ़ा। यह भाष्य रचनाओंका क्रम अधिकतर विक्रम संवत् १००० तक चलता रहा। उसके बाद लोगोंकी व्यस्तता बढ़ने लगी जिससे भाष्य रचनाओंकी ओरसे उनकी रुचि घटने लगी। वे मूल ग्रंथकर्ताके भावको संक्षेपमें ही समझनेकी रुचि रखने लगी। लोगोंकी इस रुचिमें उत्तरोत्तर वृद्धि होती गयी जिसके फलस्वरूप आज अध्ययनकर्ताओंका मन टीका और भाष्यग्रंथोंसे हटकर मूलकर्ताके भावके प्रति ही जिज्ञासु हो उठा है।

कुंदकुंद स्वामीकी अल्पकाय रचनाओंपर अमृतचंद्र सूरिने वैदुष्यपूर्ण टीकाएँ लिखीं। जयसेनाचार्य, पद्मप्रभ मलधारी देव और श्रुतसागर सूरिने भी इनपर काम किया है। परंतु आजका मानव अन्यान्य कार्योंमें इतना अधिक व्यस्त हो गया है कि वह इन सब विस्तृत टीकाओंमें अपना उपयोग नहीं लगाना चाहता, वह संक्षेपमें ही मूलकर्ताके भावको समझना चाहता है। जैन समाजमें कुंदकुंद स्वामीके प्रति महान आदरका भाव है, उनकी रचनाएँ अमृतका घूँट समझी जाती हैं। जनता उनका रसास्वादन तो करना चाहती है, पर उसके पास इतना समय नहीं है कि वह अधिक विस्तारमें पढ़ सके। फलतः यह भाव उत्पन्न हुआ कि कुंदकुंद स्वामीके समस्त ग्रंथोंका एक संकलन संक्षिप्त हिंदी अनुवादके साथ तैयार किया जाय और उसे 'कुंदकुंद-भारती' नाम दिया जाय। यह भावना तब और भी अधिक रूपमें प्रकट हुई जब कि स्वर्गीय पं. जुगलकिशोरजी मुख्त्यारने समन्तभद्र स्वामीकी 'स्तुतिविद्या' का काम मुझे सौंपते हुए यह लिखा कि मैं समन्तभद्र स्वामीके समस्त ग्रंथोंका एक संकलन 'समन्तभद्र भारती' के नामसे निकालना चाहता हूँ। मैंने श्री. मुख्त्यारजीकी आज्ञा शिरोधार्य कर स्तुतिविद्याका कार्य पूर्ण कर दिया। स्वयंभूस्तोत्र, युक्त्यनुशासन, देवागम तथा रत्नकरण्ड श्रावकाचारपर उन्होंने स्वयं काम किया और वे जीवनके अंत-अंत तक इस कार्यमें लगे रहे। समन्तभद्रके समस्त ग्रंथोंका संकलन 'समन्तभद्र भारती' के नामसे वे निकालना चाहते थे, पर साधनोंकी न्यूनतासे वे एक संकलन नहीं निकाल सके। उन्हें जब जितना साधन मिला उसीके अनुसार वे प्रकीर्णक रूप से समन्तभद्रकी रचनाओंको प्रकाशित करते रहे और यही कारण है कि वे प्रकीर्णकके रूपमें सब ग्रंथोंको प्रकाशित कर गये हैं।

मुख्त्यारजीकी 'समन्तभद्र भारती'के प्रकाशनकी भावनाको देखकर मेरे मनमें कुन्दकुन्द-भारतीके प्रकाशनकी भावना उत्पन्न हुई। 'कालिदास ग्रंथावली'के नामसे प्रकाशित कालिदासके समस्त ग्रंथोंका एक संकलन भी मेरी उक्त भावनाके उत्पन्न होनेमें कारण रहा है। उसी भावनाके फलस्वरूप मैंने कुंदकुंद स्वामीके समस्त ग्रंथोंका संक्षिप्त अनुवाद कर भी लिया था, परंतु उसके प्रकाशनकी काललब्धि नहीं आयी इसलिए वह अनुवाद रखा रहा। अब श्री. बालचंद देवचंदजी शहा, मंत्री, चा. च. आचार्य शांतिसागर दिगंबर जैन जिनवाणी जीर्णोद्धार संस्थाके सौजन्यसे इनके प्रकाशनका

सुअवसर आया है। इस संकलनमें मैंने पूज्य वर्णीजीसे प्राप्त विशिष्ट दृष्टिके आधारपर संकलनका क्रम इस प्रकार रखा है --

१. पंचास्तिकाय, २. समयसार, ३. प्रवचनसार, ४. नियमसार, ५. अष्टपाहुड, ६. बारसणुपेक्खा और ७. भक्तिसंग्रह।

इस संस्करणमें पंचास्तिकाय, समयसार और प्रवचनसारकी गाथाओंका चयन अमृतचंद्र सूरिकृत संस्कृत टीकाके आधारपर किया गया है। जयसेन सूरिकृत टीकामें व्याख्यात विशिष्ट गाथाओंका उल्लेख टिप्पणमें किया गया है। जो महानुभाव इन ग्रंथोंका विस्तारसे स्वाध्याय करना चाहते हैं वे अलगसे प्रकाशित संस्करणोंका स्वाध्याय कर अपनी जिज्ञासाको पूर्ण कर सकते हैं और जो कुंदकुंद स्वामीकी पवित्र भारतीका पाठ करते हुए संक्षेपमें उसका भाव जानना चाहते हैं वे इस संस्करणसे लाभ उठावें।

उक्त ग्रंथोंका परिचय देनेके पूर्व श्री कुंदकुंदाचार्यके जीवनवृत्तपर कुछ प्रकाश डालना उचित मालूम होता है।

आचार्यश्री कुंदकुंद

कुंदकुंदाचार्य और उनका प्रभाव

दिगंबर जैनाचार्योंमें कुंदकुंदका नाम सर्वोपरि है। मूर्तिलेखों, शिलालेखों, ग्रंथप्रशस्ति लेखों एवं पूर्वाचार्योंके संस्करणोंमें कुंदकुंद स्वामीका नाम बड़ी श्रद्धाके साथ लिया मिलता है।

मङ्गलं भगवान्वीरो मङ्गलं गौतमो गणी।
मङ्गलं कुन्दकुन्दार्यो जैनधर्मोऽस्तु मङ्गलम्।।

इस मंगल पद्यके द्वारा भगवान महावीर और उनके प्रधान गणधर गौतमके बाद कुंदकुंद स्वामीको मंगल कहा गया है। इनकी प्रशस्तिमें कविवर वृंदावनका निम्नांकित सवैया अत्यंत प्रसिद्ध है; जिसमें बतलाया गया है कि मुनींद्र कुंदकुंद-सा आचार्य न हुआ है, न है और न होगा --

जासके मुखारविंदतैं प्रकाश भासवृंद
स्यादवाद जैन वैन इंद कुंदकुंद से।
तासके अभ्यासतैं विकास भेद ज्ञात होत
मूढ़ सो लखे नहीं कुबुद्धि कुंदकुंद से।
देत हैं अशीस शीस नाय इंद चंद जाहि
मोह मार खंड मारतंड कुंदकुंद से।
विशुद्धि बुद्धि वृद्धिदा प्रसिद्ध ऋद्धि सिद्धिदा
हुए हैं न होहिंगे मुनिंद कुंदकुंद से।।

श्री कुंदकुंद स्वामीके इस जयघोषका कारण है उनके द्वारा प्रतिपादित वस्तुतत्त्वका, विशेषतया आत्मतत्त्वका विशद वर्णन। समयसार आदि ग्रंथोंमें उन्होंने परसे भिन्न तथा स्वकीय गुण पर्यायोंसे अभिन्न आत्माका जो वर्णन किया है वह अन्यत्र दुर्लभ है। उन्होंने इन ग्रंथोंमें अध्यात्मधारारूप जिस मंदाकिनीको प्रवाहित किया है उसके शीतल एवं पावन प्रवाहमें अवगाहन कर भवभ्रमण श्रांत पुरुष शाश्वत शांतिको प्राप्त करते हैं।

कुंदकुंदाचार्यका विदेह गमन

श्री कुंदकुंदाचार्यके विषयमें यह मान्यता प्रचलित है कि वे विदेह क्षेत्र गये थे और सीमंधर स्वामीकी दिव्य

ध्वनिसे उन्होंने आत्मतत्त्वका स्वरूप प्राप्त किया था। विदेह गमनका सर्वप्रथम उल्लेख करनेवाले आचार्य देवसेन (वि. सं. दसवीं शती) हैं। जैसा कि उनके दर्शनसारसे प्रकट है।

जइ पउमणंदिणाहो सीमंधरसामिदिव्वणाणेण।
ण विबोहइ तो समणा कह सुमग्गं पयाणंति।।४३।।

इसमें कहा गया है कि यदि पद्मनंदिनाथ सीमंधर स्वामीद्वारा प्राप्त दिव्यज्ञानसे बोध न देते तो श्रमण-मुनिजन सच्चे मार्गको कैसे जानते?

देवसेनके बाद ईसाकी बारहवीं शताब्दीके विद्वान् जयसेनाचार्यने भी पंचास्तिकायकी टीकाके आरंभमें निम्नलिखित अवतरण पुष्पिकामें कुंदकुंद स्वामीके विदेहगमनकी चर्चा की है --

'अथ श्रीकुमारनन्दिसिद्धान्तदेवशिष्यैः प्रसिद्धकथान्यायेन पूर्वविदेहं गत्वा वीतरागसर्वज्ञश्रीमन्दरस्वामितीर्थकरपरमदेवं दृष्ट्वा तन्मुखकमलविनिर्गतदिव्यवाणीश्रवणावधारितपदार्थाच्छुद्धात्मतत्त्वादिसारार्थं गृहीत्वा पुनरप्यागतैः श्रीमत्कुन्दकुन्दाचार्यदेवैः पद्मनन्दाद्यपराभिधैरन्तस्तत्त्वबहिस्तत्त्वगौणमुख्यप्रतिपत्त्यर्थं अथवा शिवकुमारमहाराजादिसंक्षेपरुचिशिष्यप्रतिबोधनार्थं विरचिते पञ्चास्तिकायप्राभृतशास्त्रे यथाक्रमेणाधिकारशुद्धिपूर्वकं तात्पर्यव्याख्यानं कथ्यते।'

जो कुमारनंदि सिद्धांतदेवके शिष्य थे, प्रसिद्ध कथाके अनुसार पूर्व विदेह क्षेत्र जाकर वीतराग सर्वज्ञ श्रीमंदरस्वामी तीर्थंकर परमदेवके दर्शन कर तथा उनके मुखकमलसे विनिर्गत दिव्यध्वनिके श्रवणसे अवधारित पदार्थोंसे शुद्ध आत्मतत्त्व आदि सारभूत अर्थको ग्रहण कर जो पुनः वापिस आये थे तथा पद्मनंदि आदि जिनके दूसरे नाम थे ऐसे कुंदकुंदाचार्य देवके द्वारा अंतस्तत्त्वकी मुख्य रूपसे और बहिस्तत्त्वकी गौणरूपसे प्रतिपत्ति करानेके लिए अथवा शिवकुमार महाराज आदि संक्षेप रुचिवाले शिष्योंको समझानेके लिए पंचास्तिकाय प्राभृत शास्त्र रचा गया।

षट्प्राभृतके संस्कृत टीकाकार श्री श्रुतसागर सूरिने अपनी टीकाके अंतमें भी कुंदकुंद स्वामीके विदेह गमनका उल्लेख किया है --

'श्रीमत्पद्मनन्दिकुन्दकुन्दाचार्यवक्रग्रीवाचार्यैलाचार्यगृद्धपिच्छाचार्यनामपञ्चकविराजितेन चतुरङ्गुलाकाशगमनर्द्धिना पूर्वविदेहपुण्डरीकिणीनगरवन्दितश्रीमन्धरापरनामस्वयंप्रभजिनेन तत्प्राप्तश्रुतज्ञानसम्बोधितभारवर्षभव्यजीवेन श्रीजिनचन्द्रसूरिभट्टारकपट्टाभरणभूतेन कलिकालसर्वज्ञेन विरचिते षट्प्राभृत ग्रन्थे--'

'पद्मनंदी, कुंदकुंदाचार्य, वक्रग्रीवाचार्य, एलाचार्य और गृद्धपिच्छाचार्य इन पाँच नामोंसे जो युक्त थे, चार अंगुल ऊपर आकाश गमनकी ऋद्धि जिन्हें प्राप्त थी, पूर्व विदेह क्षेत्रके पुंडरीकिणी नगरमें जाकर श्रीमंधर अपरनाम स्वयंप्रभ जिनेंद्रकी जिन्होंने वंदना की थी, उनसे प्राप्त श्रुतज्ञानके द्वारा जिन्होंने भरत क्षेत्रके भव्य जीवोंको संबोधित किया था जो जिनचंद्र सूरि भट्टारकके पट्टके आभूषण स्वरूप थे तथा कलिकालके सर्वज्ञ थे; ऐसे कुंदकुंदाचार्य द्वारा विरचित षट्प्राभृत ग्रंथमें ।'

उपर्युक्त उल्लेखोंसे साक्षात् सर्वज्ञदेवकी वाणी सुननेके कारण कुंदकुंद स्वामीकी अपूर्व महिमा प्रख्यापित की गयी है। किंतु कुंदकुंद स्वामीके स्वमुखसे कहीं विदेह गमनकी चर्चा उपलब्ध नहीं होती। उन्होंने समयप्राभृतके प्रारंभमें सिद्धोंकी वंदनापूर्वक निम्न प्रतिज्ञा की है --

वंदित्तु सव्वसिद्धे धुवमचलमणोवमं गइं पत्ते।
वोच्छामि समयपाहुडमिणमो सुयकेवलीभणियं।।१।।

इसमें कहा गया है कि मैं श्रुतकेवलीके द्वारा भणित समयप्राभृतको कहूँगा। यद्यपि 'सुयकेवलीभणियं' इस पदकी टीकामें श्री अमृतचंद्र स्वामीने कहा है -- 'अनादिनिधनश्रुतप्रकाशितत्त्वेन, निखिलार्थसाक्षात्कारिकेवलिप्रणीतत्वेन, श्रुतकेवलिभिः स्वयमनुभवद्भिरभिहितत्वेन च प्रमाणतामुपगतस्य।'

अर्थात् अनादिनिधन परमागम शब्द ब्रह्मद्वारा प्रकाशित होनेसे, तथा सब पदार्थोंके समूहका साक्षात् करनेवाले केवली भगवान् सर्वज्ञ देवके द्वारा प्रणीत होनेसे और स्वयं अनुभव करनेवाले श्रुतकेवलियोंके द्वारा कहे जानेसे जो प्रमाणताको प्राप्त है।

तो भी इस कथनसे स्पष्ट नहीं होता कि मैंने केवलीकी वाणी प्रत्यक्ष सुनी है अतः केवली इसके कर्ता हैं। यहाँ तो मूल कर्ताकी अपेक्षा केवलीका उल्लेख जान पड़ता है। जयसेनाचार्यने भी केवलीका साक्षात् कर्ताके रूपमें कोई उल्लेख नहीं किया है। उन्होंने 'सुयकेवलीभणियं' की टीका इस प्रकार की है -- **'श्रुते परमागमे केवलिभिः सर्वज्ञैर्भणितं श्रुतकेवलिभणितं। अथवा श्रुतकेवलिभणितं गणधरकथितमिति।'**

अर्थात् श्रुत- परमागममें केवली-सर्वज्ञ भगवान्के द्वारा कहा गया। अथवा श्रुतकेवली- गणधरके द्वारा कहा गया।

फिर भी देवसेन आदिके उल्लेख सर्वथा निराधार नहीं हो सकते। देवसेनने, आचार्यपरंपरासे जो चर्चाएँ चली आ रही थीं उन्हें दर्शनसारमें निबद्ध किया गया है। इससे सिद्ध होता है कि कुंदकुंदके विदेहगमनकी चर्चा दर्शनसारकी रचनाके पहले भी प्रचलित रही होगी।

कुंदकुंदाचार्यके नाम

पंचास्तिकायके टीकाकार जयसेनाचार्यने कुंदकुंद के पद्मनंदी आदि अपर नामोंका उल्लेख किया है। षट्प्राभृतके टीकाकार श्रुतसागरसूरिने पद्मनंदी, कुंदकुंदाचार्य, वक्रग्रीवाचार्य, एलाचार्य और गृद्धपिच्छाचार्य इन पाँच नामोंका निर्देश किया है। नंदिसंघसे संबद्ध विजयनगरके शिलालेखमें भी जो लगभग १३८६ ई. का है, उक्त पाँच नाम बतलाये गये हैं। नंदिसंघकी पट्टावलीमें भी उक्त पाँच नाम निर्दिष्ट हैं। परंतु अन्य शिलालेखोंमें पद्मनंदी और कुंदकुंद अथवा कोंडकुंद इन दो नामोंका उल्लेख मिलता है।

कुंदकुंदका जन्मस्थान

इंद्रनंदी आचार्यने पद्मनंदीको कुंडकुंदपुरका बतलाया है। इसीलिए श्रवणबेलगोलाके कितने ही शिलालेखोंमें उनका कोंडकुंद नाम लिखा है। श्री. पी. बी. देसाईने 'जैनिज्म इन साउथ इंडिया' में लिखा है कि गुंटकल रेल्वे स्टेशनसे लगभग ४ मीलपर कोनकुंडल नामका स्थान है जो अनंतपुर जिलेके गुटी तालुकेमें स्थित है। शिलालेखमें उसका प्राचीन नाम 'कोंडकुंदे' मिलता है। यहाँके निवासी आज भी इसे 'कोंडकुंदि' कहते हैं। बहुत कुछ संभव है कि कुंदकुंदाचार्यका जन्मस्थान यही हो।

कुंदकुंदके गुरु

संसारसे निःस्पृह वीतराग साधुओंके माता-पिताके नाम सुरक्षित रखने - लेखबद्ध करनेकी परंपरा प्रायः नहीं रही है। यही कारण है कि समस्त आचार्योंके माता-पिताविषयक इतिहासकी उपलब्धि प्रायः नहीं है। हाँ, उनके गुरुओंके नाम किसी न किसी रूपमें उपलब्ध होते हैं। पंचास्तिकायकी तात्पर्यवृत्तिमें जयसेनाचार्यने कुंदकुंदस्वामीके गुरुका नाम

कुमारनंदि सिद्धांतदेव लिखा है और नंदिसंघकी पट्टावलीमें उन्हें जिनचंद्रका शिष्य बतलाया है। परंतु कुंदकुंदाचार्यने बोधपाहुडके अंतमें अपने गुरुके रूपमें भद्रबाहुका स्मरण करते हुए अपने आपको भद्रबाहुका शिष्य बतलाया है। बोधपाहुड की गाथाएँ इस प्रकार हैं --

सद्दविआरो हूओ भासासुत्तेसु जं जिणे कहियं।
सो तह कहियं णाणं सीसेण य भद्दबाहुस्स।।६१।।
बारस अंगवियाणं चउदस पुव्वंग विउल वित्थरणं।
सुयणाणि भद्दबाहू गमयगुरू भयवओ जाओ।।६२।।

प्रथम गाथामें कहा गया है कि जिनेंद्र भगवान महावीरने अर्थरूपसे जो कथन किया है वह भाषासूत्रोंमें शब्दविकारको प्राप्त हुआ अर्थात् अनेक प्रकारके शब्दोंमें ग्रथित किया गया है। भद्रबाहुके शिष्यने उसे उसी रूपमें जाना और कथन किया है। द्वितीय गाथामें कहा गया है कि बारह अंगों और चौदह पूर्वोंके विपुल विस्तारके वेत्ता गमक गुरु भगवान् श्रुतकेवली भद्रबाहु जयवंत हों।

ये दोनों गाथाएँ परस्परमें संबद्ध हैं। पहली गाथामें अपने आपको जिन भद्रबाहुका शिष्य कहा है दूसरी गाथामें उन्हींका जयघोष किया है। यहाँ भद्रबाहुसे अंतिम श्रुतकेवली भद्रबाहु ही ग्राह्य जान पड़ते हैं, क्योंकि द्वादश अंग और चतुर्दश पूर्वका विपुल विस्तार उन्हींसे संभव था। इसका समर्थन समयप्राभृतके पूर्वोक्त प्रतिज्ञावाक्य 'वंदित्तु सव्वसिद्धे' से भी होता है। जिसमें उन्होंने कहा है कि मैं श्रुतकेवलीके द्वारा प्रतिपादित समयप्राभृतको कहूँगा। श्रवणबेलगोलाके अनेक शिलालेखोंमें यह उल्लेख मिलता है कि अपने शिष्य चंद्रगुप्तके साथ भद्रबाहु यहाँ पधारे और वहीं एक गुफामें उनका स्वर्गवास हुआ। इस घटनाको आज ऐतिहासिक तथ्यके रूपमें स्वीकृत किया गया है।

अब विचारणीय बात यह रहती है कि यदि कुंदकुंदको अंतिम श्रुतकेवली भद्रबाहुका साक्षात् शिष्य माना जाता है तो वे विक्रम शताब्दीसे ३०० वर्ष पूर्व ठहरते हैं और उस समय जबकि ग्यारह अंग और पूर्वोंके जानकार आचार्योंकी परंपरा विद्यमान थी तब उनके रहते हुए कुंदकुंद स्वामीकी इतनी प्रतिष्ठा कैसे संभव हो सकती है और कैसे उनका अन्वय चल सकता है? इस स्थितिमें कुंदकुंदको उनका परंपरा शिष्य ही माना जा सकता है, साक्षात् नहीं। श्रुतकेवली भद्रबाहुके द्वारा उपदिष्ट तत्त्व उन्हें गुरुपरंपरासे प्राप्त रहा होगा, उसीके आधारपर उन्होंने अपने आपको भद्रबाहुका शिष्य घोषित किया है। बोधपाहुडके संस्कृत टीकाकार श्रुतसागरसूरिने भी 'भद्दबाहुसीसेण' का अर्थ विशाखाचार्य कर कुंदकुंदको उनका परंपरा शिष्य ही स्वीकृत किया है। श्रुतसागर सूरि की पंक्तियाँ निम्न प्रकार हैं --

भद्रबाहुशिष्येण अर्हद्बलिगुप्तिगुप्तापरनामद्वयेन विशाखाचार्यनाम्नां दशपूर्वधारिणामेकादशाचार्याणां मध्ये प्रथमेन ज्ञातम्।

इन पंक्तियों द्वारा कहा गया है कि यहाँ भद्रबाहुके शिष्यसे विशाखाचार्यका ग्रहण है। इन विशाखाचार्यके अर्हद्बलि और गुप्तिगुप्त ये दो नाम और भी हैं तथा ये दश पूर्वके धारक ग्यारह आचार्योंके मध्य प्रथम आचार्य थे। भद्रबाहु अंतिम श्रुतकेवली थे जैसा कि श्रुतसागरसूरिने ६२ वीं गाथाकी टीकामें कहा है -- **'पञ्चानां श्रुतकेवलिनां मध्येऽन्त्यो भद्रबाहुः'**

अर्थात् भद्रबाहु पाँच श्रुतकेवलियोंमें अंतिम श्रुतकेवली थे। अतः उनके द्वारा उपदिष्ट तत्त्वको उनके शिष्य विशाखाचार्यने जाना। उसीकी परंपरा आगे चलती रही। गमकगुरुका अर्थ श्रुतसागर सूरिने उपाध्याय किया है सो विशाखाचार्यके लिए यह विशेषण उचित ही है।

कुंदकुंद स्वामीका समय

कुंदकुंद स्वामीके समयनिर्धारण पर 'प्रवचनसार' की प्रस्तावनामें डॉ. ए.एन्. उपाध्येने, 'समंतभद्र' की प्रस्तावनामें स्व. जुगलकिशोरजी मुख्त्यारने, 'पंचास्तिकाय' की प्रस्तावनामें डॉ. ए. चक्रवर्तीने तथा 'कुंदकुंद प्राभृत संग्रह' की प्रस्तावनामें श्री. पं. कैलाशचंद्रजी शास्त्रीने विस्तारसे चर्चा की है। लेखविस्तारके भयसे मैं उन सब चर्चाओंके अवतरण नहीं देना चाहता। जिज्ञासु पाठकोंको तत् तत् ग्रंथोंसे जाननेकी प्रेरणा करता हुआ कुंदकुंद स्वामीके समय निर्धारणके विषयमें प्रचलित मात्र दो मान्यताओंका उल्लेख कर रहा हूँ। एक मान्यता प्रो. हार्नले द्वारा संपादित नंदिसंघकी पट्टावलियोंके आधारपर यह है कि कुंदकुंद विक्रमकी पहली शताब्दीके विद्वान् थे। वि. स. ४९ में वे आचार्यपदपर प्रतिष्ठित हुए, ४४ वर्षकी अवस्थामें उन्हें आचार्य पद मिला, ५१ वर्ष १० महीने तक वे उस पदपर प्रतिष्ठित रहे और उनकी कुल आयु ९५ वर्ष १० माह १५ दिनकी थी। डॉ. ए. चक्रवर्तीने पंचास्तिकायकी प्रस्तावनामें अपना यही अभिप्राय प्रकट किया है। और दूसरी मान्यता यह है कि वे विक्रमकी दूसरी शताब्दीके उत्तरार्ध अथवा तीसरी शताब्दीके प्रारंभके विद्वान् थे। जिसका समर्थन श्री. नाथूरामजी प्रेमी तथा पं. जुगलकिशोरजी मुख्त्यार आदि विद्वान् करते आये हैं।

कुंदकुंदके ग्रंथ और उनकी महत्ता

दिगंबर जैन ग्रंथोंमें कुंदकुंदाचार्य द्वारा रचित ग्रंथ अपना अलग प्रभाव रखते हैं। उनकी वर्णन शैली ही इस प्रकारकी है कि पाठक उससे वस्तुरूपका अनुगम बड़ी सरलतासे कर लेता है। व्यर्थके विस्तारसे रहित, नपे-तुले शब्दोंमें किसी बातको कहना इन ग्रंथोंकी विशेषता है। कुंदकुंदकी वाणी सीधी हृदयपर असर करती है। निम्नांकित ग्रंथ कुंदकुंद स्वामीके द्वारा रचित निर्विवादरूपसे माने जाते हैं तथा जैन समाजमें उनका सर्वोपरि मान है। १. पंचास्तिकाय, २. समयसार, ३. प्रवचनसार, ४. नियमसार, ५. अष्टपाहुड (दंसणपाहुड, चरित्तपाहुड, सुत्तपाहुड, बोधपाहुड, भावपाहुड, मोक्खपाहुड, सीलपाहुड और लिंगपाहुड), ६. बारसणुपेक्खा और भत्तिसंगहो।

इनके सिवाय 'रयणसार' नामका ग्रंथ भी कुंदकुंद स्वामीके द्वारा रचित प्रसिद्ध है। परंतु उसके अनेक पाठभेद देखकर विद्वानोंका मत है कि यह कुंदकुंदके द्वारा रचित नहीं है अथवा इसके अंदर अन्य लोगोंकी गाथाएँ भी सम्मिलित हो गयी हैं। भांडारकर रिसर्च इन्स्टिट्यूट, पूनासे हमने १८२५ संवत्की हस्तलिखित प्रति बुलाकर उससे मुद्रित रयणसारकी गाथाओंका मिलान किया तो बहुत अंतर मालूम हुआ। मुद्रित प्रतिमें बहुतसी गाथाएँ छूटी हुई हैं तथा नवीन गाथाएँ मुद्रित हैं। उस प्रतिपर रचयिता का नाम नहीं है। उधर सूचीमें भी यह प्रति अज्ञात लेखकके नामसे दर्ज है। चर्चा आनेपर पं. परमानंद शास्त्रीने बतलाया कि हमने ७०-८० प्रतियाँ देखी हैं, सबका यही हाल है। मुद्रित प्रतिमें अपभ्रंशका एक दोहा भी शामिल हो गया है तथा कुछ इस अभिप्रायकी गाथाएँ हैं जिनका कुंदकुंदकी विचारधारासे मेल नहीं खाता। यही कारण है कि मैंने इस संग्रहमें उसका संकलन नहीं किया है। प्रसिद्धिको देखकर गाथाओंका अनुवाद शुरू किया था और आधेसे अधिक गाथाओंका अनुवाद हो भी चुका था, पर मुद्रित प्रतिके पाठोंपर संतोष न होनेसे पूनासे हस्तलिखित प्रति बुलायी। मिलान करनेपर जब भारी भेद देखा तब उसे सम्मिलित करनेका विचार छोड़ दिया। इंद्रनंदिके श्रुतावतारके अनुसार षट्खंडागमके आद्य भागपर कुंदकुंद स्वामीके द्वारा रचित परिकर्म ग्रंथका उल्लेख मिलता है। इस ग्रंथका उल्लेख षट्खंडागमके विशिष्ट पुरस्कर्ता आचार्य वीरसेनने अपनी टीकामें कई जगह किया है। इससे पता चलता है कि उनके समय तक तो वह उपलब्ध रहा। परंतु आजकल उसकी उपलब्धि नहीं है। शास्त्रभांडारों, खासकर दक्षिणके शास्त्रभांडारोंमें इसकी खोज की जानी चाहिए। मूलाचार भी कुंदकुंद स्वामीके द्वारा रचित माना जाने लगा है क्योंकि उसकी अंतिम पुष्पिकामें **'इति मूलाचार्य विवृतौ द्वादशोऽध्यायः। कुन्दकुन्दाचार्यप्रणीत मूलाचाराख्य विवृतिः। कृतिरियं वसुनन्दिनः**

श्रमणस्य' यह उल्लेख पाया जाता है। विशेष परिज्ञानके लिए पुरातन वाक्य सूचीकी प्रस्तावनामें स्व. पं. जुगलकिशोरजी मुख्त्यारका संदर्भ पठितव्य है।

कुंदकुंद साहित्यमें सुषमा

कुंदकुंदाचार्य ने अधिकांश गाथा छंदका, जो कि आर्या नामसे प्रसिद्ध है, प्रयोग किया है। कहीं अनुष्टुप् और उपजातिका भी प्रयोग किया है। एक ही छंदको पढ़ते-पढ़ते बीचमें यदि विभिन्न छंद आ जाता है तो उससे पाठकको एक विशेष प्रकारका हर्ष होता है। कुंदकुंद स्वामीके अनुष्टुप् छंदका नमूना देखिए --

ममत्तिं परिवज्जामि, निम्ममत्तिमुवट्ठिदो।
आलंबणं च मे आदा, अवसेसाइ वोसरे।।५७।। -- भावप्राभृत
एगो मे सस्सदो अप्पा, णाणदंसणलक्खणो।
सेसा मे बाहिरा भावा, सव्वे संजोगलक्खणा।।५९।। -- भावप्राभृत
सुहेण भाविदं णाणं, दुहे जादे विणस्सदि।
तम्हा जहाबलं जोई, अप्पा दुक्खेहि भावए।।६२।। -- मोक्षप्राभृत
विरदी सव्वसावज्जे, त्रिगुत्ती पिहिदिंदिओ।
तस्स सामाइगं ठाइ, इदि केवलिसासणे।।१२५।।
जो समो सव्वभूदेसु, थावरेसु तसेसु वा।
तस्स सामाइगं ठाइ, इदि केवलिसासणे।।१२६।। -- नियमसार
चेया उ पयडी अट्ठं, उप्पज्जइ विणस्सइ।
पयडी वि चेययट्ठं, उप्पज्जइ विणस्सइ।।३१२।।
एवं बंधो उ दुण्हं वि, अण्णोण्णप्पच्चया हवे।
अप्पणो पयडीए य, संसारो तेण जायए।। -- समयप्राभृत

एक उपजातिका नमूना देखिए --

णिद्धस्स णिद्धेण दुराहिएण
लुक्खस्स लुक्खेण दुराहियेण।
णिद्धस्स लुक्खेण हवेदि बंधो
जहण्णवज्जे विसमे समे वा।। -- प्रवचनसार

अलंकारोंकी पुट भी कुंदकुंद स्वामीने यथास्थान दी है। जैसे, अप्रस्तुत प्रशंसाका एक उदाहरण देखिए --

न मुयइ पयडि अभव्वो, सुट्ठु वि आयण्णिऊण जिणधम्मं।
गुडदुद्धं पि पिवंता ण पण्णया णिव्विसा होंति।।१३६।। -- भावप्राभृत

थोड़ेसे हेरफेर के साथ यह गाथा समयप्राभृतमें आयी है।

उपमालंकारकी छटा देखिए --

जह तारयाण चंदो, मयराओ मयउलाण सव्वाणं।
अहिओ तह सम्मत्तो, रिसिसावय दुविहधम्माणं।।१४२।।

जह फणिराओ रेहइ, फणिमणिमाणिक्ककिरणविप्फुरिओ।
तह विमलदंसणधरो, जिणभत्ती पवयणो जीवो।।१४३।।
जह तारायणसहियं, ससहरबिंबं खमंडले विमले।
भाविय तह वयविमलं, जिणलिंगं दंसणविसुद्धं।।१४४।।
जह सलिलेण ण लिप्पइ, कमलिणिपत्तं सहावपयडीए।
तह भावेण ण लिप्पइ, कसायविसए हि सुप्पुरिसो।।१५२।। -- भावप्राभृत

रूपकालंकारकी बहार देखिए --

जिणवरचरणांबुरुहं, णमंति जे परमभत्तिरायेण।
ते जम्मवेलिमूलं, खणंति वरभावसत्थेण।।१५१।।
ते धीरवीरपुरिसा, खमदमखग्गेण विप्फुरंतेण।
दुज्जयपवलबलुद्धरकसायमडणिज्जिया जेहिं।।१५४।।
मायावेल्लि असेसा, मोहमहातरुवरम्मि आरूढा।
विसयविसपुप्फफुल्लिय, लुणंति मुणि णाणसत्थेहिं।।१५६।। -- भावप्राभृत

कहींपर कूटक पद्धतिका भी अनुसरण किया है। यथा,

तिहि तिण्णि धरवि णिच्चं, तियरहिओ तह तिएण परियरिओ।
दो दोस विप्पमुक्को, परमप्पा झायए जोई।।४४।। -- मोक्षप्राभृत

अर्थात् तीनके द्वारा (तीन गुप्तियोंके द्वारा) तीनको (मन वचन कायको) धारण कर निरंतर तीनसे (शल्यत्रयसे) रहित, तीनसे (रत्नत्रयसे) सहित और दो दोषों (राग द्वेष) मुक्त रहनेवाला योगी परमात्माका ध्यान करता है।

कुंदकुंदका शिलालेखों तथा उत्तरवर्ती ग्रंथोंमें उल्लेख

कुंदकुंदस्वामी अत्यंत प्रसिद्ध और सर्वमान्य आचार्य थे। अतः इनका उल्लेख अनेक शिलालेखोंमें मिलता है तथा इनके उत्तरवर्ती ग्रंथकारोंने बड़ी श्रद्धाके साथ इनका संस्मरण किया है। 'जैन संदेश' के शोधांकोंके आधारपर कुछ उल्लेखोंका यहाँ संकलन किया जाता है।

श्रीमतो वर्धमानस्य वर्धमानस्य शासने।
श्री कोण्डकुन्दनामाभून्मूलसङ्घाग्रणीर्गणो।। -- श्र. बे. शि. ५५/६९/४९२
वन्द्यो विभुर्भुवि न कैरिह कोण्डकुन्दः
कुन्दप्रभाप्रणयिकीर्तिविभूषिताशः।
यश्चारुचारणकराम्बुजचञ्चरीक-
श्चक्रे श्रुतस्य भरते प्रयतः प्रतिष्ठाम्।। -- श्र. बे. शि. ५४/६७
तस्यान्वये भूविदिते बभूव यः पद्मनन्दिप्रथमाभिधानः।
श्रीकोण्डकुन्दादिमुनीश्वराख्यस्तत्संयमादुद्गतचारणर्द्धिः।।
-- श्र. बे. शि. ४०/६०
श्रीपद्मनन्दीत्यनवद्यनामा ह्याचार्यशब्दोत्तरकोण्डकुन्दः।
द्वितीयमासीदभिधानमुद्यच्चरित्रसञ्जातसुचारणर्द्धिः।
-- श्र. बे. शि. ४२, ४३, ४७, ५०

इत्याद्यनेकसूरिष्वथ सुपदमुपेतेषु दीव्यतपस्या-
शास्त्राधारेषु पुण्यादजनि स जगतां कोण्डकुन्दो यतीन्द्रः।
रजोभिरस्पृष्टमत्वमन्तर्बाह्योऽपि संव्यञ्जयितुं यतीशः।
रजःपदं भूमितलं विहाय चचार मध्ये चतुरङ्गुलं सः।। -- श्र. बे. शि. १०५
तदीयवंशाकरतः प्रसिद्धादभूतदोषा यतिरत्नमाला।
बभौ यदन्तर्मणिवन्मुनीन्द्रस्स कुण्डकुन्दोदितचण्डदण्डः।। -- श्र. बे. शि. १०८
श्रीमूलसङ्घेऽजनि कुन्दकुन्दः सूरिर्महात्माखिलतत्त्ववेदी।
सीमन्धरस्वामिपदप्रबन्दी पञ्चाह्वयो जैनमतप्रदीपः।। -- धर्मकीर्ति, हरिवंशपुराण
कवित्वनलिनीग्रामनिबोधनसुधाघृणिम्।
वन्द्यैर्वन्द्यमहं वन्दे कुन्दकुन्दाभिधं मुनिम्।। -- मु. विद्यानन्दि , सुदर्शनचरित
श्रीमूलसङ्घेऽजनि नन्दिसङ्घस्तस्मिन् बलात्कारगणोऽतिरम्यः।
तत्रापि सारस्वतनाम्नि गच्छे स्वच्छाशयोऽभूदिह पद्मनन्दी।।
आचार्यकुन्दकुन्दाख्यो वक्रग्रीवो महामतिः।
एलाचार्यो गृध्रपिच्छ इति तन्नाम पञ्चधा।। -- सा. इ. इन्स. नै. १५२
कुन्दकुन्दमुनिं वन्दे चतुरङ्गुलचारणम्।
कलिकाले कृतं येन वात्सल्यं सर्वजन्तुषु।। -- सोमसेन पुराण
सृष्टेः समयसारस्य कर्ता सूरिपदेश्वरः।
श्रीमच्छ्रीकुन्दकुन्दाख्यस्तनोतु मतिमेदुराम्।। -- अजितब्रह्म, अजितपुराण
सन्नन्दिसङ्घसुरवर्त्मदिवाकरोऽभूच्छ्रीकुन्दकुन्द इतिनाम मुनीश्वरोऽसौ।
जीयात् स वै विहितशास्त्रसुधारसेन मिथ्याभुजङ्गगरलं जगतः प्रणष्टम्।।
-- मेधावी, धर्मसंग्रह श्रावकाचार
आसाद्य द्युसदां सहायमसमं गत्वा विदेहं जवा-
दद्राक्षीत् किल केवलेक्षणमिनं द्योतक्षमध्यक्षतः।
स्वामी साम्यपदाधिरूढधिषणः श्रीनन्दिसंङ्घश्रियो
मान्यः सोऽस्तु शिवाय शान्तमनसां श्रीकुन्दकुन्दाभिधः।।
-- अमृतकीर्तिसूरि, जिनसहस्रनाम टीका
श्रीमूलसङ्घेऽजनि नन्दिसङ्घस्तस्मिन् बलात्कारगणेऽतिरम्ये।
तत्राभवत्पूर्वपदांशवेदी श्रीमाघनन्दी नरदेववन्द्यः।।
पदे तदीये मुनिमान्यवृत्तौ जिनादिचन्द्रः समभूदतन्द्रः।
ततोऽभवत्पञ्चसुनामधामा श्रीपद्मनन्दी मुनिचक्रवर्ती।। -- नन्दिसंघ पट्टावली

कुंदकुंदाचार्यकी नयव्यवस्था

वस्तुस्वरूपका अधिगम -- ज्ञान, प्रमाण और नयके द्वारा होता है। प्रमाण वह है जो पदार्थमें रहनेवाले परस्परविरोधी दो धर्मोंको एकसाथ ग्रहण करता है और नय वह है जो पदार्थमें रहनेवाले परस्परविरोधी दो धर्मोंमेंसे एकको प्रमुख और

दूसरेको गौण कर विवक्षानुसार क्रमसे ग्रहण करता है। नयोंका निरूपण करनेवाले आचार्योंने उनका शास्त्रीय और आध्यात्मिक दृष्टिसे विवेचन किया है। शास्त्रीय दृष्टिकी नय विवेचनामें नयके द्रव्यार्थिक, पर्यायार्थिक तथा उनके नैगमादि सात भेद निरूपित किये गये हैं और आध्यात्मिक दृष्टिमें निश्चय तथा व्यवहार नयका निरूपण है। यहाँ द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक दोनों ही निश्चयमें समा जाते हैं और व्यवहारमें उपचारका कथन रह जाता है। शास्त्रीय दृष्टिमें वस्तुस्वरूपकी विवेचनाका लक्ष्य रहता है और आध्यात्मिक दृष्टिमें उस नयविवेचनाके द्वारा आत्माके शुद्ध स्वरूपको प्राप्त करनेका अभिप्राय रहता है। इन दोनों दृष्टियोंका अंतर बतलाते हुए 'कुंदकुंद प्राभृत संग्रह' की प्रस्तावनामें पृष्ठ ८२ पर श्रीमान् सिद्धांताचार्य पं. कैलाशचंद्रजीने निम्नांकित पंक्तियाँ बहुतही महत्त्वपूर्ण लिखी हैं --

"शास्त्रीय दृष्टि वस्तुका विश्लेषण करके उसकी तह तक पहुँचनेकी चेष्टा करती है। उसकी दृष्टिमें निमित्त कारणके व्यापारका उतना ही मूल्य है जितना उपादान कारणके व्यापारका। और परसंयोगजन्य अवस्था भी उतनी ही परमार्थ है जितनी स्वाभाविक अवस्था। जैसे उपादान कारणके बिना कार्य नहीं होता वैसे ही निमित्त कारणके बिना भी कार्य नहीं होता। अतः कार्यकी उत्पत्तिमें दोनोंका सम व्यापार है। जैसे मिट्टीके बिना घट उत्पन्न नहीं होता वैसे ही कुम्हार-चक्र आदिके बिना भी घट उत्पन्न नहीं होता। ऐसी स्थितिमें वास्तविक स्थितिका विश्लेषण करनेवाली शास्त्रीय दृष्टि किसी एक पक्षमें अपना फैसला कैसे दे सकती है? इसी तरह मोक्ष जितना यथार्थ है संसार भी उतना ही यथार्थ है और संसार जितना यथार्थ है उसके कारणकलाप भी उतने ही यथार्थ हैं। संसारदशा न केवल जीवकी अशुद्ध दशाका परिणाम है और न केवल पुद्गलकी अशुद्ध दशाका परिणाम है। किंतु जीव और पुद्गलके मेलसे उत्पन्न हुई अशुद्ध दशाका परिणाम है। अतः शास्त्रीय दृष्टिसे जितना सत्य जीवका अस्तित्व है और जितना सत्य पुद्गलका अस्तित्व है उतना ही सत्य उन दोनोंका मेल और संयोगज विकार भी है। वह सांख्यकी तरह पुरुषमें आरोपित नहीं है किंतु प्रकृति और पुरुषके संयोगजन्य बंधका परिणाम है, अतः शास्त्रीय दृष्टिसे जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा, पुण्य, पाप और मोक्ष सभी यथार्थ और सारभूत हैं। अतः सभीका यथार्थ श्रद्धान सम्यग्दर्शन है। और चूँकि उसकी दृष्टिमें कार्यकी उत्पत्तिमें निमित्तकारण भी उतनाही आवश्यक है जितना कि उपादान कारण, अतः आत्मप्रतीतिमें निमित्तभूत देव शास्त्र और गुरु वगैरहका श्रद्धान भी सम्यग्दर्शन है। उसमें गुणस्थान भी है, मार्गणास्थान भी है -- सभी है। शास्त्रीय दृष्टिकी किसी वस्तुविशेषके साथ कोई पक्षपात नहीं है। वह वस्तुस्वरूपका विश्लेषण किसी हित अहितको दृष्टिमें रखकर नहीं करती।"

आध्यात्मिक दृष्टिका विवेचन करते हुए पृष्ठ ८३ पर लिखा है --

"शास्त्रीय दृष्टिके सिवाय एक दृष्टि आध्यात्मिक भी है। उसके द्वारा आत्मतत्त्वको लक्ष्यमें रखकर वस्तु का विचार किया जाता है। जो आत्माके आश्रित हो उसे अध्यात्म कहते हैं। जैसे वेदांती ब्रह्मको केंद्रमें रखकर जगत्के स्वरूपका विचार करते हैं वैसे ही अध्यात्म दृष्टि आत्माको केंद्रमें रखकर विचार करती है। जैसे वेदांत में ब्रह्म ही परमार्थ सत् है और जगत् मिथ्या है, वैसे ही अध्यात्मविचारणामें एकमात्र शुद्ध बुद्ध आत्मा ही परमार्थ सत् है और उसकी अन्य सब दशाएँ व्यवहार सत्य हैं। इसीसे शास्त्रीय क्षेत्रमें जैसे वस्तुतत्त्वका विवेचन द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नयोंके द्वारा किया जाता है वैसे ही अध्यात्ममें निश्चय और व्यवहार नयके द्वारा आत्मतत्त्वका विवेचन किया जाता है और निश्चय दृष्टिको परमार्थ और व्यवहार दृष्टिको अपरमार्थ कहा जाता है। क्योंकि निश्चय दृष्टि आत्माके यथार्थ शुद्ध स्वरूपको दिखलाती है और व्यवहार दृष्टि अशुद्ध अवस्थाको दिखलाती है। अध्यात्मी मुमुक्षु शुद्ध आत्मतत्त्वको प्राप्त करना चाहता है अतः उसकी प्राप्तिके लिए प्रथम उसे उस दृष्टिकी आवश्यकता है जो आत्माके शुद्ध स्वरूपका दर्शन करा सकनेमें समर्थ है। ऐसी दृष्टि निश्चय दृष्टि है अतः मुमुक्षुके लिए वही दृष्टि भूतार्थ है। जिससे आत्माके अशुद्ध स्वरूपका दर्शन होता है वह

व्यवहार दृष्टि उसके लिए कार्यकारी नहीं है, अतः वह अभूतार्थ कही जाती है। इसीसे आचार्य कुंदकुंदने समयप्राभृतके प्रारंभमें 'ववहारोऽभूदत्थो भूदत्थो देसिदो य सुद्धणयो' लिखकर व्यवहारको अभूतार्थ और शुद्धनय अर्थात् निश्चयको भूतार्थ कहा है।"

कुंदकुंद स्वामीने समयसार और नियमसारमें आध्यात्मिक दृष्टिसे आत्मस्वरूपका विवेचन किया है, अतः इनमें निश्चयनय और व्यवहारनय ये दो भेद ही दृष्टिगत होते हैं। वस्तुके एक -- अभिन्न और स्वाभाविक -- परनिरपेक्ष त्रैकालिक स्वभावको जाननेवाला नय निश्चयनय है और अनेक -- भेदरूप वस्तु तथा उसके पराश्रित -- परसापेक्ष परिणमनको जाननेवाला नय व्यवहारनय है। यद्यपि अन्य आचार्योंने निश्चयनयके शुद्ध निश्चयनय और अशुद्ध निश्चयनय इस प्रकार दो भेद किये हैं तथा व्यवहारनयके सद्भूत, असद्भूत, अनुपचरित और उपचरितके भेदसे अनेक भेद स्वीकृत किये हैं। परंतु कुंदकुंद स्वामीने इन भेदोंके चक्रमें न पड़कर मात्र दो भेद स्वीकृत किये हैं। अपने गुण-पर्यायोंसे अभिन्न आत्माके त्रैकालिक स्वभावको उन्होंने निश्चय नयका विषय माना है और कर्मके निमित्तसे होनेवाली आत्माकी परिणतिको व्यवहार नयका विषय कहा है। निश्चय नय आत्मामें काम, क्रोध, मान, माया, लोभ आदि विकारोंको स्वीकृत नहीं करता। चूँकि वे पुद्गलके निमित्तसे होते हैं अतः उन्हें पुद्गलके मानता है। इसी तरह गुणस्थान तथा मार्गणा आदि विकल्प जीवके स्वभाव नहीं हैं अतः निश्चय नय उन्हें स्वीकृत नहीं करता। इन सबको आत्माके कहना व्यवहार नयका विषय है। निश्चय नय स्वभावको विषय करता है, विभावको नहीं। जो स्वमें स्वके निमित्तसे सदा रहता है वह स्वभाव है, जैसे जीवके ज्ञानादि। और जो स्वमें परके निमित्तसे होते हैं वे विभाव हैं, जैसे जीवमें क्रोधादि। ये विभाव, चूँकि आत्मामें ही परके निमित्तसे होते हैं इसलिए इन्हें कथंचित् आत्माके कहनेके लिए जयसेन आदि आचार्योंने निश्चय नयमें शुद्ध और अशुद्धका विकल्प स्वीकृत किया है, परंतु कुंदकुंद महाराज विभावको आत्माका मानना स्वीकृत नहीं करते, वे उसे व्यवहारका ही विषय मानते हैं। अमृतचंद्र सूरिने भी इन्हींका अनुसरण किया है।

यद्यपि वर्तमानमें जीवकी बद्धस्पृष्ट दशा है और उसके कारण रागादि विकारी भाव उसके अस्तित्वमें प्रतीत हो रहे हैं तथापि निश्चय नय जीवकी अबद्धस्पृष्ट दशा और उसके फलस्वरूप रागादि रहित -- वीतराग परिणति की ही अनुभूति कराता है। स्वरूपकी अनुभूति कराना इस नयका उद्देश्य है अतः वह संयोगज दशा और संयोगज परिणामोंकी ओरसे मुमुक्षुका लक्ष्य हटा देना चाहता है। निश्चय नयका उद्घोष है कि हे मुमुक्षु प्राणी! यदि तू अपने स्वभावकी ओर लक्ष्य नहीं करेगा तो इस संयोगदशा और तज्जन्य विकारोंको दूर करनेका तेरा पुरुषार्थ कैसे जागृत होगा?

अध्यात्म दृष्टि आत्मामें गुणस्थान तथा मार्गणा आदिके भेदोंका अस्तित्व भी स्वीकृत नहीं करती। वह परनिरपेक्ष आत्मस्वभावको और उसके प्रतिपादक निश्चयनयको ही भूतार्थ तथा उपादेय मानती है और परसापेक्ष आत्माके विभाव और उसके प्रतिपादक व्यवहार नयको अभूतार्थ तथा हेय मानती है। इसकी दृष्टिमें एक निश्चय ही मोक्षमार्ग है, व्यवहार नहीं। यद्यपि व्यवहार मोक्षमार्ग निश्चय मोक्षमार्गका साधक है तथापि वह साध्य-साधकके विकल्पसे हटकर एक निश्चय मोक्षमार्गको ही अंगीकृत करती है। व्यवहार मोक्षमार्ग इसके साथ चलता है इसका निषेध यह नहीं करती।

पंचास्तिकाय और प्रवचनसारमें आचार्यने आध्यात्मिक दृष्टिके साथ शास्त्रीय दृष्टिको भी प्रश्रय दिया है, इसलिए इन ग्रंथोंमें द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नयोंका भी वर्णन प्राप्त होता है। सम्यग्दर्शनके विषयभूत जीवादि पदार्थोंका वर्णन करनेके लिए शास्त्रीय दृष्टिको अंगीकृत किये बिना काम नहीं चल सकता। इसलिए द्रव्यार्थिक नयसे जहाँ जीवके नित्य -- अपरिणामी स्वभावका वर्णन किया जाता है वहाँ पर्यायार्थिक नयसे उसके अनित्य -- परिणामी स्वभावका भी वर्णन किया जाता है। द्रव्य, यद्यपि गुण और पर्यायोंका एक अभिन्न -- अखंड पिंड है तथापि उनका अस्तित्व बतलानेके

लिए उनका भेद भी स्वीकृत किया जाता है। इसीलिए द्रव्यमें गुण और पर्यायोंका भेदाभेद दृष्टिसे निरूपण मिलता है। इन ग्रंथोंमें व्यवहार और निश्चय मोक्षमार्गकी चर्चा की गयी है तथा उसमें साधक साम्यभावका उल्लेख किया गया है।

प्रवचनसारके अंतमें अमृतचंद्र स्वामीने द्रव्यनय, पर्यायनय, अस्तित्वनय, नास्तित्वनय, नामनय, स्थापनानय, नियतिनय, अनियतिनय, कालनय, अकालनय, पुरुषकारनय, दैवनय, निश्चयनय, व्यवहारनय, शुद्धनय तथा अशुद्धनय आदि ४७ नयोंके द्वारा आत्माका निरूपण किया है। इन नयोंको द्रव्यार्थिक, पर्यायार्थिक अथवा निश्चय और व्यवहारनयका विषय न बनाकर स्वतंत्ररूपसे प्रतिपादित किया गया है।

निश्चयनयकी भूतार्थता और व्यवहारनयकी अभूतार्थता

आध्यात्मिक दृष्टिमें भूतार्थग्राही होनेसे निश्चयनयको भूतार्थ और अभूतार्थग्राही होनेसे व्यवहारनयको अभूतार्थ कहा गया है। इसकी संगति अनेकान्तके आलोकमें ही संपन्न होती है, क्योंकि व्यवहारनयकी अभूतार्थता निश्चयनयकी अपेक्षा है। स्वरूप और स्वप्रयोजनकी अपेक्षा नहीं। उसे सर्वथा अभूतार्थ माननेमें बड़ी आपत्ति दिखती है। श्री अमृतचंद्र सूरिने समयसारकी ४६ वीं गाथाकी टीकामें लिखा है --

"व्यवहारो हि व्यवहारिणां म्लेच्छभाषैव म्लेच्छानां परमार्थप्रतिपादकत्वादपरमार्थोऽपि तीर्थप्रवृत्तिनिमित्तं दर्शयितुं न्याय्य एव। तमन्तरेण तु शरीराज्जीवस्य परमार्थतो भेददर्शनात् त्रसस्थावराणां भस्मन इव निःशङ्कमुपमर्दनेन हिंसाऽभावाद् भवत्येव बन्धस्याभावः। तथा रक्तो द्विष्टो विमूढो जीवो बध्यमानो मोचनीय इति रागद्वेषमोहेभ्यो जीवस्य परमार्थतो भेददर्शनेन मोक्षोपायपरिग्रहणाभावाद् भवत्येव मोक्षस्याभावः।"

यही भाव तात्पर्यवृत्ति में जयसेनाचार्यने भी दिखलाया है --

"यद्यप्ययं व्यवहारनयो बहिर्द्रव्यालम्बनत्वेनाभूतार्थस्तथापि रागादिबहिर्द्रव्यालम्बनरहितविशुद्ध ज्ञानदर्शनस्वभावालम्बनसहितस्य परमार्थस्य प्रतिपादकत्वाद् दर्शयितुमुचितो भवति। यदा पुनर्व्यवहारनयो न भवति तदा शुद्धनिश्चयनयेन त्रसस्थावरनया न भवन्तीति मत्वा निःशङ्कोपमर्दनं कुर्वन्ति जनाः। ततश्च पुण्यरूपधर्माभाव इत्येकं दूषणं, तथैव शुद्धनयेन रागद्वेषमोहरहितः पूर्वमेव मुक्तो जीवस्तिष्ठतीति मत्वा मोक्षार्थमनुष्ठानं कोऽपि न करोति, ततश्च मोक्षाभाव इति द्वितीयं च दूषणम्। तस्माद् व्यवहारनयव्याख्यानमुचितं भवतीत्यभिप्रायः।"

इन अवतरणोंका भाव यह है --

यद्यपि व्यवहारनय अभूतार्थ है तो भी जिस प्रकार म्लेच्छोंको समझानेके लिए म्लेच्छ भाषाका अंगीकार करना उचित है उसी प्रकार व्यवहारी जीवोंको परमार्थका प्रतिपादक होनेसे तीर्थकी प्रवृत्तिके निमित्त, अपरमार्थ होनेपर भी व्यवहार नयका दिखलाना न्यायसंगत है। अन्यथा व्यवहारके बिना परमार्थनयसे जीव शरीरसे सर्वथा भिन्न दिखाया गया है, इस दशामें जिस प्रकार भस्मका उपमर्दन करनेसे हिंसा नहीं होती उसी प्रकार त्रय स्थावर जीवोंका निःशंक उपमर्दन करनेसे हिंसा नहीं होगी और हिंसाके न होनेसे बंधका अभाव हो जायेगा, बंधके अभावसे संसारका अभाव हो जायेगा। इसके अतिरिक्त 'रागी द्वेषी और मोही जीव बंधको प्राप्त होता है। अतः उसे ऐसा उपदेश देना चाहिए कि जिससे वह राग द्वेष और मोहसे छूट जावे' यह जो आचार्योंने मोक्षका उपाय बतलाया है वह व्यर्थ हो जायेगा। क्योंकि परमार्थसे जीव, राग द्वेष मोहसे भिन्न ही दिखाया जाता है। जब भिन्न है तब मोक्षके उपाय की स्वीकृति करना असंगत होगा, इस तरह मोक्षका भी अभाव हो जायेगा।

नय श्रुतज्ञानके विकल्प हैं और श्रुत स्वार्थ तथा परार्थकी अपेक्षा दो प्रकारका है। जिससे अपना अज्ञान दूर हो

वह स्वार्थ श्रुत है और जिससे दूसरेका अज्ञान दूर हो वह परार्थ श्रुत है। नयोंका प्रयोग पात्रभेदकी अपेक्षा रखता है। एक ही नयसे सब पात्रोंका कल्याण नहीं हो सकता। कुंदकुंद स्वामीने स्वयं भी समयसारकी १२ वीं गाथामें इसका विभाग किया है कि शुद्ध नय किसके लिए और अशुद्ध नय किसके लिए आवश्यक है। शुद्ध नयसे तात्पर्य निश्चय नयका और अशुद्ध नयसे तात्पर्य व्यवहार नयका लिया गया है।

गाथा इस प्रकार है --

सुद्धो सुद्धादेसो णायव्वो परमभावदरसीहिं।
ववहारदेसिदा पुण जे दु अपरमे ट्ठिदा भावे।।१२।।

अर्थात्, जो परमभावको देखनेवाले हैं उनके द्वारा तो शुद्धनयका कथन करनेवाला शुद्धनय जाननेके योग्य है और जो अपरमभावमें स्थित हैं वे व्यवहारनयके द्वारा उपदेश देनेके योग्य है।

नयके विसंवादसे मुक्त होनेके लिए कहा गया है --

जइ जिणमअं पवज्जह तो मा ववहारणिच्छए मुयह।
एकेण विणा छिज्जइ तित्थं अण्णेण पुण तच्चं।।

अर्थात्, यदि जिनेंद्र भगवानके मतकी प्रवृत्ति चाहते हो तो व्यवहार और निश्चय दोनों नयोंको मत छोड़ो। क्योंकि यदि व्यवहारको छोड़ोगे तो तीर्थकी प्रवृत्तिका लोप हो जावेगा अर्थात् धर्मका उपदेश ही नहीं हो सकेगा, फलतः धर्मतीर्थका लोप हो जायेगा और यदि निश्चयको छोड़ोगे तो तत्त्वका ही लोप हो जायेगा, क्योंकि तत्त्वको कहनेवाला तो वही है।

यही भाव अमृतचंद्र सूरिने कलश काव्यमें दरशाया है --

उभयनयविरोधध्वंसिनि स्यात्पदाङ्के
जिनवचसि रमन्ते ये स्वयं वान्तमोहाः।
सपदि समयसारं ते परं ज्योतिरुच्चै-
रनवमनयपक्षाक्षुण्णमोक्षन्त एव।।१४।।

अर्थात्, जो जीव स्वयं मोहका वमन कर निश्चय और व्यवहारनयके विरोधको ध्वस्त करनेवाले एवं स्यात्पदसे चिह्नित जिनवचनमें रमण करते हैं वे शीघ्र ही उस समयसारका अवलोकन करते हैं जो कि परम ज्योतिस्वरूप है, नवीन नहीं है अर्थात् द्रव्यदृष्टिसे नित्य है और अनय पक्ष -- एकांत पक्षसे जिससा खंडन नहीं हो सकता।

इस संदर्भका सार यह है --

चूँकि वस्तु, सामान्य विशेषात्मक अथवा द्रव्य पर्यायात्मक है अतः उसके दोनों अंशोंकी ओर दृष्टि रहनेपर ही वस्तुका पूर्ण विवेचन होता है। सामान्य अथवा द्रव्यको ग्रहण करनेवाला नय द्रव्यार्थिक नय कहलाता है और विशेष अथवा पर्यायको ग्रहण करनेवाला नय पर्यायार्थिक नय कहलाता है। आध्यात्मिक ग्रंथोंमें द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक के स्थानपर निश्चय और व्यवहार नयका उल्लेख किया गया है। द्रव्यके त्रैकालिक स्वभावको ग्रहण करनेवाला निश्चयनय है और विभावको ग्रहण करनेवाला व्यवहारनय है। एक कालमें दोनों नयोंसे पदार्थको जाना तो जा सकता है, पर उसका कथन नहीं किया जा सकता। कथन क्रमसे ही किया जाता है। वक्ता अपनी विवक्षानुसार जिस समय जिस अंशको कहना चाहता है वह विवक्षित अथवा मुख्य अंश कहलाता है और वक्ता जिस अंशको नहीं कहना चाहता है वह अविवक्षित अथवा गौण कहलाता है। 'स्यात्' निपातका अर्थ कथंचित् -- किसी प्रकार होता है। वक्ता किस विवक्षासे जब पदार्थके

एक अंशका वर्णन करता है तब वह दूसरे अंशको गौण कर देता है पर सर्वथा छोड़ता नहीं है, क्योंकि सर्वथा छोड़ देनेपर एकांतवाद का प्रसंग आता है और उससे वस्तुतत्त्वका पूर्ण विवेचन नहीं हो पाता। इसी अभिप्रायसे आचार्योंने कहा है कि दोनों नयोंके विरोधको नष्ट करनेवाले स्यात् पद चिह्नित जिनवचनमें रमण करते हैं वे ही समयसाररूप परम ज्योतिको प्राप्त करते हैं।

सम्यग्दृष्टि जीववस्तुतत्त्वका परिज्ञान प्राप्त करनेके लिए दोनों नयोंका आलंबन लेता है परंतु श्रद्धामें वह अशुद्ध नयके आलंबनको हेय समझता है। यही कारण है कि वस्तु स्वरूपका यथार्थ परिज्ञान होनेपर अशुद्ध नयका आलंबन स्वयं छूट जाता है। कुंदकुंद स्वामीने उभय नयोंके आलंबनसे वस्तुस्वरूपका प्रतिपादन किया है इसलिए वह निर्विवाद रूपसे सर्वग्राह्य है।

आगे संकलित ग्रंथोंका परिचय दिया जाता है --

पंचास्तिकाय

इसमें श्री अमृतचंद्राचार्यकृत टीकाके अनुसार १७३ और जयसेनाचार्य कृत टीकाके अनुसार १८१ गाथाएँ हैं। जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाश ये पाँच द्रव्य अस्तिकाय हैं क्योंकि ये अणु अर्थात् प्रदेशकी अपेक्षा महान हैं -- बहुप्रदेशी हैं।[१] लोकके अंदर समस्त द्रव्य परस्परमें प्रविष्ट होकर स्थित हैं फिर भी अपने अपने स्वभावको नहीं छोड़ते। सत्ताका स्वरूप बतलाकर द्रव्यका लक्षण करते हुए कहा है कि जो विभिन्न पर्यायोंको प्राप्त हो उसे द्रव्य कहते हैं। द्रव्य सत्तासे अभिन्न है एतावता सत् ही द्रव्यका लक्षण है। अथवा जो उत्पाद व्यय और ध्रौव्यसे सहित हो वह द्रव्य है। अथवा जो गुण और पर्यायोंका आश्रय हो वह द्रव्य है।

चूँकि अनेकान्त जिनागमका जीव -- प्राण है इसलिए उसमें विवक्षावश द्रव्यमें अस्ति, नास्ति, अस्तिनास्ति, अवक्तव्य, अस्तिअवक्तव्य, नास्तिअवक्तव्य और अस्तिनास्तिअवक्तव्य इन सात भंगोंका निरूपण किया है। इन प्रत्येक भंगोंके साथ विशिष्ट विवक्षाको दिखानेवाला, कथंचित् अर्थका द्योतक 'स्यात्' शब्द लगाया जाता है, जैसे स्यात् अस्ति, स्यात् नास्ति आदि। ये सात भंग विवक्षासे ही सिद्ध होते हैं। इसके लिए गाथा है --

सिय अत्थि णत्थि उहयं अवत्तव्वं पुणो य तत्तिदयं।
दव्वं खु सत्तभंगं आदेसवसेण संभवदि।।

अर्थात् द्रव्य स्वचतुष्टयकी अपेक्षा अस्तिरूप है, परचतुष्टयकी अपेक्षा नास्तिरूप है, क्रमशः स्वचतुष्टय और परचतुष्टयकी अपेक्षा उभय -- अस्तिनास्तिरूप है। एक साथ स्वचतुष्टयकी अपेक्षा अवक्तव्यरूप है। अस्ति और अवक्तव्यके संयोगकी अपेक्षा अस्ति अवक्तव्य है, नास्ति और अवक्तव्यके संयोगकी अपेक्षा नास्तिअवक्तव्य है और अस्तिनास्ति तथा अवक्तव्यके संयोगकी अपेक्षा अस्तिनास्ति अवक्तव्य है।

'असत्का जन्म और सत्का विनाश नहीं होता' इस सनातन सिद्धांत को स्वीकृत करते हुए कहा गया है कि भाव -- सत्रूप पदार्थका न नाश होता है और न उत्पाद। किंतु पर्यायोंमें ही ये होते हैं। अर्थात् पदार्थ द्रव्य दृष्टिसे नित्य है और पर्यायदृष्टिसे अनित्य है। यह एकान्त भी कुंदकुंद स्वामीको स्वीकार्य नहीं है कि सत्का विनाश नहीं होता और असत्की उत्पत्ति नहीं होती। वे कहते हैंकि मनुष्य मरकर देव हो गया, यहाँ सत्रूप मनुष्यका विनाश हो गया और असत्रूप देवपर्यायका उत्पाद हुआ। मनुष्य पर्यायमें मनुष्य सत्रूप ही है और देव पर्याय असत्रूप है, क्योंकि एक

१. जीवा पुग्गलकाया धम्माधम्मा तहेव आगासं।
अत्थित्तम्मि य णियदा अणण्णमइया अणु महंता।।४।।
'अणवोऽत्र प्रदेशा मूर्तामूर्ताश्च निर्विभागांशास्तैः महान्तोऽणुमहान्तः प्रदेशात्मका इति सिद्धं तेषां कायत्वम्।' सं. टीका

कालमें दो पर्यायोंका सद्भाव नहीं हो सकता। इस तरह जब पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा कथन होता है तब सत्का विनाश और असत्की उत्पत्ति होती है। 'सत्का विनाश और असत्की उत्पत्ति नहीं होती' यह द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा कथन है। संसारी जीवके साथ ज्ञानावरणादि कर्म अनादि कालसे बद्ध है, उनका अभाव करनेपर ही सिद्ध पर्याय प्रकट होती है। यहाँ संसारी पर्यायमें सिद्ध पर्यायका सद्भाव नहीं है, क्योंकि दोनोंमें सहानवस्थान नामका विरोध है, अतः संसारी पर्यायका नाश होनेपर ही असत्रूप सिद्ध पर्याय उत्पन्न होती है। इस तरह पर्याय दृष्टिसे सत्का विनाश और असत्का उत्पाद होता है, परंतु द्रव्यदृष्टिसे जो जीव संसारी पर्यायमें था वही सिद्ध पर्यायको प्राप्त करता है अतः क्या नष्ट हुआ और क्या उत्पन्न हुआ? कुछ भी नहीं।

तदनंतर जीवादि छह द्रव्योंके सामान्य लक्षण कहकर २६ गाथाओंमें पीठबंध समाप्त किया है। इसके बाद जीवादि द्रव्योंका विशेष व्याख्यान शुरू होता है। उसमें जीवके संसारी और सिद्ध इन दो भेदोंका वर्णन करते हुए सिद्ध जीवका लक्षण निम्न प्रकार कहा है --

कम्ममलविप्पमुक्को उड्ढं लोगस्स अंतमधिगंता।
सो सव्वणाणदरिसी लहदि सुहमणिंदियमणंतं।।२८।।

अर्थात् सिद्ध जीव कर्मरूपी मलसे विप्रमुक्त हैं -- सदाके लिए छूट चुके हैं, ऊर्ध्वगति स्वभावके कारण लोकके अंतको प्राप्त हैं, सबको जानने-देखनेवाले हैं और अनिंद्रिय अनंत सुखको प्राप्त हैं।

जीव द्रव्यका वर्णन करनेके लिए --

जीवोत्ति हवदि चेदा उवओग विसेसिदो पहू कत्ता।
भोत्ता य देहमत्तो ण हि मुत्तो कम्मसंजुत्तो।।२७।।

इस गाथा द्वारा जीव चेतयिता, उपयोग, प्रभु, कर्ता, भोक्ता, देहमात्र, मूर्त और कर्मसंयुक्त इन नौ अधिकारोंका निरूपण किया है। इन सब अधिकारोंमें नयविवक्षासे कथन किया है।

कम्मेण विणा उदयं जीवस्स ण विज्जदे उवसमं वा।
खइयं खओवमियं तम्हा भावं तु कम्मकदं।।५८।।

इस गाथा द्वारा स्पष्ट किया है कि कर्मोंके बिना औदयिक, औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक भाव नहीं हो सकते, इसलिए ये भाव कर्मनिमित्तसे होते हैं। ७३ वीं गाथातक जीव द्रव्यका वर्णन करनेके बाद पुद्गल द्रव्यका वर्णन शुरू होता है।

प्रारंभमें पुद्गलके स्कंध, स्कंधदेश, स्कंधप्रदेश और परमाणु ये चार भेद हैं तथा चारोंके भिन्न प्रकार लक्षण हैं --

खंधं सयलसमत्थं तस्स दु अद्धं भणंति देसोत्ति।
अद्धद्धं च पदेसो परमाणू चेव अविभागी।।७५।।

अनंत परमाणुओंके पिंडको स्कंध, उसके आधेको देश, देशके आधेको प्रदेश और अविभागी अंशको परमाणु कहते हैं।

इस अधिकारमें पुद्गल द्रव्यके बादर बादर आदि छह भेदों तथा स्कंध और परमाणुरूप दो भेदोंका भी सुंदर वर्णन है। यह अधिकार ८२ वीं गाथा तक चलता है। उसके बाद धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकाश द्रव्यका वर्णन है तथा चूलिका नामक अवांतर अधिकारके द्वारा द्रव्योंकी विशेषताका वर्णन किया गया है। इसी अधिकारके अंतमें

काल द्रव्यका वर्णन कर चुकनेके बाद पंचास्तिकायोंके जाननेका फल बहुत ही हृदयग्राही शब्दोंमें व्यक्त किया है।

एवं पवयणसारं पंचत्थिसंगहं वियाणित्ता।
जो मुयदि रागदोसे सो गाहदि दुक्खपरिमोक्खं।।१०३।।

इस तरह आगमके सारभूत पंचास्तिकाय संग्रहको जानकर जो राग और द्वेषको छोड़ता है वह दुःखोंसे छुटकारा पाता है।

प्रथम स्कंध १०४ गाथाओंमें पूर्ण हुआ है। तदनंतर द्वितीय स्कंधमें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रको मोक्षमार्ग बतलाकर इन तीनोंका स्पष्ट स्वरूप बतलाया है। इस द्वितीय श्रुतस्कंधका नाम नवपदार्थाधिकार है। अर्थात् इसमें जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, बंध, निर्जरा और मोक्ष इन नौ पदार्थोंका वर्णन किया है। प्रत्येक पदार्थका वर्णन यद्यपि संक्षिप्त है तथापि इतना सारगर्भित है कि सारभूत समस्त प्रतिपाद्य विषयोंका उसमें पूर्ण समावेश पाया जाता है। निश्चय मोक्षमार्ग और व्यवहार मोक्षमार्गका वर्णन करते हुए निश्चयनय और व्यवहारनयका उत्तम सामंजस्य बैठाया है। अमृतचंद्र स्वामीने इस प्रकरणका समारोप करते हुए लिखा है -- **'अतएवोभयनयायत्ता पारमेश्वरी तीर्थप्रवर्तनेति'** अर्थात् जिनेंद्र भगवानकी तीर्थप्रवर्तना दोनों नयोंके अधीन है। यहाँ निश्चय मोक्षमार्गको साध्य तथा व्यवहार मोक्षमार्गको साधक बताया है। यही भाव आपने 'तत्त्वार्थसार' ग्रंथमें भी प्रकट किया है --

निश्चयव्यवहाराभ्यां मोक्षमार्गो द्विधा स्थितः।
तत्राद्यः साध्यरूपः स्याद् द्वितीयस्तस्य साधनम्।।२।।
श्रद्धानाधिगमोपेक्षाः शुद्धस्य स्वात्मनो हि याः।
सम्यक्त्वज्ञानवृत्तात्मा मोक्षमार्गः स निश्चयः।।३।।
श्रद्धानादिगमोपेक्षा याः पुनः स्युः परात्मनाम्।
सम्यक्त्वज्ञानवृत्तात्मा स मार्गो व्यवहारतः।।४।। -- नवमाधिकार

अर्थात् निश्चय और व्यवहारके भेदसे मोक्षमार्ग दो प्रकारका है। उसमें पहला -- निश्चय साध्यरूप है और दूसरा -- व्यवहार उसका साधन है। शुद्ध स्वात्म द्रव्यकी श्रद्धा ज्ञान और चारित्ररूप निश्चय मोक्षमार्ग है तथा परात्म द्रव्यकी श्रद्धा ज्ञान और चारित्र रूप व्यवहार मोक्षमार्ग है। नियमसारमें कुंदकुंद स्वामी ने भी निश्चय और व्यवहारके भेदसे नियम -- सम्यग्दर्शनादिका द्विविध निरूपण किया है। आध्यात्मिक दृष्टि निश्चय ही मोक्षमार्ग मानती है। वह मोक्षमार्गका निरूपण, निश्चय और व्यवहारके भेदसे दो प्रकारका मानती है, परंतु मोक्षमार्गको एक निश्चयरूप ही स्वीकार करती है। निश्चयको ही स्वीकृत करती है इसका फलितार्थ यह नहीं है कि वह व्यवहार मोक्षमार्गको छोड़ देती है। उसका अभिप्राय यह है कि निश्चयके साथ व्यवहार तो नियमसे होता ही है, पर व्यवहारके साथ निश्चय भी हो और न भी हो। निश्चय मोक्षमार्ग कार्यका साक्षात् जनक है इसलिए उसे मोक्षमार्ग स्वीकृत किया गया है, परंतु व्यवहार मोक्षमार्ग परंपरासे कार्यका जनक है इसलिए उसे मोक्षमार्ग स्वीकृत नहीं किया है। शास्त्रीय दृष्टि परंपरासे कार्यजनकको भी कारण स्वीकृत करती है अतः उसकी दृष्टिमें व्यवहारको भी मोक्षमार्ग स्वीकृत किया गया है।

स्वसमय और परसमयका सूक्ष्मतम वर्णन करते हुए कितना सुंदर कहा है --

जस्स हिदयेणुमत्तं वा परदव्वम्हि विज्जदे रागो।
सो ण वि जाणदि समयं सगस्स सव्वागमधरो वि।।१६७।।

अर्थात् जिसके हृदयमें अरहंत आदि विषयक राग अणुमात्र भी विद्यमान है वह समस्त आगमका धारी होकर भी स्वसमयको नहीं जानता है।

सूक्ष्म परसमयका वर्णन करते हुए कहा है कि यदि ज्ञानी -- सराग सम्यग्दृष्टि जीव भी अज्ञान -- शुद्धात्म परिणतिसे विलक्षण अज्ञानके कारण, शुद्ध संप्रयोग -- अरहंत आदिककी भक्तिसे दुःखमोक्ष -- सांसारिक दुःखोंसे छुटकारा होता है यदि ऐसा मानता है तो वह भी परसमयरत कहलाता है। गाथा इस प्रकार है --

अण्णाणादो णाणी जदि मण्णदि सुद्धसंपयोगादो।
हवदित्ति दुक्खमोक्खं परसमयरदो हवदि जीवो।।१६५।।

इस गाथाकी[1] संस्कृत टीकामें अमृतचंद्रसूरिने कहा है कि सिद्धिके साधनभूत अरहंत आदि भगवंतोंमें भक्तिभावसे अनुरंजित चित्तप्रवृत्ति यहाँ शुद्ध संप्रयोग है। अज्ञान अंशके आवेशसे यदि ज्ञानवान् भी, 'उस शुद्ध संप्रयोगसे मोक्ष होता है' ऐसे अभिप्रायके द्वारा खिन्न होता हुआ उसमें (शुद्ध संप्रयोगमें) प्रवर्ते तो वह भी रागांशके सद्भावके कारण परसमयरत कहलाता है, तो फिर निरंकुश रागरूप कालिमासे कलंकित अंतरंगवृत्तिवाला इतरजन क्या परसमयरत नहीं कहलायेगा? अवश्य कहलावेगा। तात्पर्य यह है कि जब सरागसम्यग्दृष्टि भी रागांशके विद्यमान होनेसे परसमयरत है तब जो स्पष्ट ही रागसे कलुषित है वह परसमय कैसे नहीं होगा?

श्री कुंदकुंद स्वामीने स्पष्ट कहा है --

अरहंत सिद्धचेदिय पवयणगणभत्तिसंपण्णो।
बंधदि पुण्णं बहुसो ण दु सो कम्मक्खयं कुणदि।।१६६।।

अर्थात् अरहंत सिद्ध परमेष्ठी, जिनप्रतिमा तथा साधुसमूहकी भक्तिसे संपन्न मनुष्य बहुत प्रकारका पुण्यबंध करता है, परंतु कर्मोंका क्षय नहीं करता। कर्मक्षयका प्रमुख कारण प्रशस्त और अप्रशस्त -- सभी प्रकारके रागका अभाव होना ही है। पूर्ण वीतराग दशा होनेपर अंतर्मुहूर्तके अंदर नियमसे घातिचतुष्कका क्षय होकर अरहंत अवस्था प्रकट हो जाती है। जिसकी अरहंत अवस्था प्रकट हो जाती है वह उसी भवसे निर्वाणको प्राप्त करता है।।

अरहंत सिद्ध चेदिय पवयणभत्तो परेण णियमेण।
जो कुणदि तवोकम्मं सो सुरलोगं समादियदि।।१७१।।

अर्थात् अरहंत, सिद्ध, जिनप्रतिमा तथा जिनागमकी भक्तिसे युक्त जो पुरुष उत्कृष्ट संयमके साथ तपस्या करता है वह स्वर्गलोकको प्राप्त होता है। कहनेका तात्पर्य यह है कि अरहंतादिककी भक्तिरूप शुभ राग देवायुके बंधका कारण है, मोक्षका कारण नहीं। इसे परंपरासेही मोक्षका कारण कहा जा सकता है।

मोक्षका साक्षात् कारण बतलाते हुए ग्रंथांतमें कहा है --

तम्हा णिव्वुदिकामो रागं सव्वत्थ कुणदि मा किंचि।
सो तेण वोदरागो भवियो भवसागरं तरदि।।१७२।।

इसलिए निर्वाणकी इच्छा रखनेवाला पुरुष सर्वत्र -- शुभ-अशुभ सभी अवस्थाओंमें कुछ भी राग मत करे। उसीसे यह भव्य जीव वीतराग होता हुआ भवसागर -- संसाररूपी समुद्रको तरता है। अर्थात् मोक्षका साक्षात् कारण परम

---

१. 'अर्हदादिषु भगवत्सु सिद्धिसाधनीभूतेषु भक्तिबलानुरञ्जिता चित्तवृत्तिरत्र शुद्धसम्प्रयोगः। अथ खल्वज्ञानलवावेशाद्यदि यावज्ज्ञानवानपि ततः शुद्धसम्प्रयोगानमोक्षो भवतीत्यभिप्रायेण खिद्यमानस्तत्र प्रवर्तते तदा तावत्सोऽपि रागलवसद्भावात्परसमयरत इत्युपगीयते। अथ किं न पुनर्निरङ्कुशरागकलिकलङ्कितान्तरङ्गवृत्तिरितरो जन इति।'

वीतराग भाव ही है।

इस वीतराग भावके विषयमें श्री अमृतचंद्रस्वामीने लिखा है --

तदिदं वीतरागत्वं व्यवहारनिश्चयाविरोधेनैवानुगम्यमानं भवति समीहितसिद्धये न पुनरन्यथा।

अर्थात् इस वीतरागताका अनुगमन यदि व्यवहार और निश्चयनयका विरोध न करते हुए किया जाता है तो वह समीहित -- चिरभिलषित मोक्षकी सिद्धिके लिए होता है, अन्य प्रकार नहीं।

१७२ वीं गाथाकी टीकामें विस्तारसे कहा गया है कि यह मुमुक्षु प्राणी व्यवहार और निश्चयनयके आलंबनसे किस प्रकार आत्महितको सिद्ध करता है। अमृतचंद्र सूरि कहते हैं कि जो केवल व्यवहारनयका अवलंब लेते हैं वे बाह्य क्रियाओंको करते हुए भी ज्ञान चेतनाका कुछ भी सन्मान नहीं करते इसलिए प्रभूत पुण्यभारसे मंथरित चित्तवृत्ति होते हुए सुरलोक आदिके क्लेशोंकी परंपरासे चिरकाल तक संसारसागरमें ही परिभ्रमण करते रहते हैं। ऐसे जीवोंके विषयमें कहा है --

चरणकरणप्पहाणा ससमयपरमत्थमुक्कवावारा।
चरणकरणस्स सारं णिच्छयसुद्धं ण जाणंति।।

अर्थात् जो बाह्य आचरणके कर्तृत्वको ही प्रधान मानते हैं तथा स्वसमयके परमार्थ -- वास्तविक स्वरूपमें मुक्त व्यापार हैं -- स्वसमय -- स्वकीय शुद्ध स्वरूपकी प्राप्तिमें कुछ भी उद्यम नहीं करते वे बाह्याचरण के सारभूत शुद्ध निश्चयको जानते ही नहीं हैं।

इसी प्रकार जो केवल निश्चयनयका आलंबन लेकर केवल बाह्याचरणसे विरक्तबुद्धि हो जाते हैं -- पराङ्मुख हो जाते हैं वे भिन्न साध्य-साधनरूप व्यवहारकी अपेक्षा कर देते हैं तथा अभिन्न साध्य-साधनरूप निश्चयको प्राप्त होते नहीं हैं इसलिए अधरमें लटकते हुए केवल पापका ही बंध करते हैं। ऐसे जीवोंके विषयमें कहा है --

णिच्छयमालंबंता णिच्छयदो णिच्छयं अयाणंता।
णासंति चरणकरणं बाहरिचरणालसा केई।।

अर्थात् जो निश्चयके वास्तविक स्वरूपको नहीं जानते हुए निश्चयाभासको ही निश्चय मानकर उसका आलंबन लेते हैं वे बाह्याचरणमें आलसी होते हुए प्रवृत्तिरूप चारित्रको नष्ट करते हैं।

यही भाव उन्होंने अपने पुरुषार्थसिद्ध्युपाय ग्रंथमें प्रकट किया है --

निश्चयमबुद्धमानो यो निश्चयतस्तमेव संश्रयते ।
नाशयति करणचरणं स बहिः करणालसो बालः।।५०।।

अर्थ स्पष्ट है।

इसी प्रकार जो निश्चय और व्यवहारके यथार्थ स्वरूपको न समझकर निश्चयाभास और व्यवहाराभास -- दोनोंका आलंबन लेते हैं वे भी समीहित सिद्धिसे वंचित रहते हैं। जाननेमें केवल निश्चय और केवल व्यवहारके आलंबनसे विमुख जो अत्यंत मध्यस्थ रहते हैं अर्थात् पदार्थके जाननेमें अपने-अपने पदके अनुसार दोनों नयोंका आलंबन लेकर अंतमें दोनों नयोंके विकल्पसे परे रहनेवाली निर्विकल्प भूमिका -- शुद्धात्म परिणतिको प्राप्त होते हैं वे शीघ्र ही संसारसमुद्रको तैरकर शब्दब्रह्म -- शास्त्रज्ञानके स्थायी फलके भोक्ता होते हैं -- मोक्षको प्राप्त होते हैं। यही भाव उन्होंने पुरुषार्थसिद्ध्युपायमें भी दिखाया है --

व्यवहारनिश्चयौ यः प्रबुध्य तत्त्वेन भवति माध्यस्थः ।
प्राप्नोति देशनायाः स एव फलमविकलं शिष्यः।।८।।

अर्थात् जो यथार्थरूपसे व्यवहार और निश्चयको जानकर मध्यस्थ होता है -- किसी एकके पक्षको पकड़कर नहीं बैठता, वही शिष्य देशना -- गुरूपदेश के पूर्ण फलको प्राप्त होता है।

पंचास्तिकायमें सम्यग्दर्शनके विषयभूत पंचास्तिकायों और छह द्रव्योंका प्रमुख रूपसे वर्णन है ।

समयप्राभृत अथवा समयसार

'वोच्छामि समयपाहुडमिणमो सुयकेवलीभणियं' इस प्रतिज्ञावाक्यसे मालूम होता है कि इस ग्रंथका नाम कुंदकुंदस्वामीको समयपाहुड (समयप्राभृत) अभीष्ट था, परंतु पीछे चलकर 'प्रवचनसार' और 'नियमसार' इन सारांत नामोंके साथ 'समयसार' नामसे प्रचलित हो गया। **'समयते एकत्वेन युगपज्जानाति गच्छति च'** अर्थात् जो पदार्थोंको एक साथ जाने अथवा गुणपर्यायरूप परिणमन करे वह समय है इस निरुक्तिके अनुसार समय शब्दका अर्थ जीव होता है और 'प्रकर्षेण आसमन्तात् भृतं इति प्राभृतम्' जो उत्कृष्टताके साथ सब ओरसे भरा हो -- जिसमें पूर्वापर विरोधरहित सांगोपांग वर्णन हो उसे प्राभृत कहते हैं इस निरुक्तिके अनुसार प्राभृतका अर्थ शास्त्र होता है। 'समयस्य प्राभृतम्' इस समासके अनुसार समयप्राभृतका अर्थ जीव -- आत्माका शास्त्र होता है। ग्रंथका चालू नाम समयसार है अतः इसका अर्थ त्रैकालिक शुद्ध स्वभाव अथवा सिद्धपर्याय है।

समयप्राभृत ग्रंथ निम्न १० अधिकारोंमें विभाजित है -- १. पूर्वरंग, २. जीवाजीवाधिकार, ३. कर्तृकर्माधिकार, ४. पुण्यपापाधिकार, ५. आस्रवाधिकार, ६. संवराधिकार, ७. निर्जराधिकार, ८. बंधाधिकार, ९. मोक्षाधिकार और १०. सर्वविशुद्धज्ञानाधिकार। नयोंका सामंजस्य बैठानेके लिए अमृतचंद्र स्वामीने पीछेसे स्याद्वादाधिकार और उपायोपेयाभावाधिकार नामक दो स्वतंत्र परिशिष्ट और जोड़े हैं। अमृतचंद्रसूरिकृत टीकाके अनुसार समग्र ग्रंथ ४१५ गाथाओंमें समाप्त हुआ है और जयसेनाचार्यकृट टीकाके अनुसार ४४२ गाथाओंमें।

उपर्युक्त गाथाओंका प्रतिपाद्य विषय इस प्रकार है --

पूर्वरंगाधिकार

कुंदकुंदस्वामीने स्वयं पूर्वरंग नामका कोई अधिकार सूचित नहीं किया है परंतु संस्कृत टीकाकार अमृतचंद्रसूरिने ३८ वीं गाथाकी समाप्तिपर पूर्वरंग समाप्तिकी सूचना दी है। इन ३८ गाथाओंमें प्रारंभकी १२ गाथाएँ पीठिकास्वरूपमें हैं जिनमें ग्रंथकर्ताने मगलाचरण, ग्रंथप्रतिज्ञा, स्वसमय-परसमयका व्याख्यान तथा शुद्धनय और अशुद्धनयके स्वरूपका दिग्दर्शन कराया है। इन नयोंके ज्ञानके बिना समयप्राभृतको समझना अशक्य है। पीठिकाके बाद ३८ वीं गाथातक पूर्वरंग नामका अधिकार है जिसमें आत्माके शुद्ध स्वरूपका निदर्शन कराया गया है। शुद्धनय आत्मामें जहाँ परद्रव्यजनित विभावभावको स्वीकृत नहीं करता वहाँ वह अपने गुण और पर्यायोंके साथ भेद भी स्वीकृत नहीं करता। वह इस बातको भी स्वीकृत नहीं करता कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ये आत्माके गुण हैं, क्योंकि इनमें गुण और गुणीका भेद सिद्ध होता है। वह यह घोषित करता है कि आत्मा सम्यग्दर्शनादिरूप है। 'आत्मा प्रमत्त है और आत्मा अप्रमत्त है' इस कथनको भी शुद्धनय स्वीकृत नहीं करता, क्योंकि इस कथनमें आत्मा प्रमत्त और अप्रमत्त पर्यायोंमें विभक्त होता है। वह तो आत्माको एक ज्ञायक ही स्वीकृत करता है। जीवाधिकारमें जीवके निजस्वरूपका कथन कर उसे परपदार्थों और परपदार्थोंके निमित्तसे होनेवाले विभावोंसे पृथक् निरूपित किया है। नोकर्म मेरा नहीं है, द्रव्यकर्म मेरा नहीं है, और भावकर्म भी मेरा नहीं है, इस तरह इन पदार्थोंसे आत्मतत्त्वको पृथक् सिद्ध कर ज्ञेय-ज्ञायक भाव और भाव्य-भावक

भावकी अपेक्षा भी आत्माको ज्ञेय तथा भाव्यसे पृथक् सिद्ध किया है। जिस प्रकार दर्पण अपनेमें प्रतिबिंबित मयूरसे भिन्न है उसी प्रकार आत्मा अपने ज्ञानमें आये घटपटादि ज्ञेयोंसे भिन्न है और जिस प्रकार दर्पण ज्वालाओंके प्रतिबिंबसे संयुक्त होनेपर भी तज्जन्य तापसे उन्मुक्त रहता है इसी प्रकार आत्मा अपने अस्तित्वमें रहनेवाले सुख-दुःखरूप कर्मफलके अनुभवसे रहित है। इस तरह प्रत्येक परपदार्थोंसे भिन्न आत्माके अस्तित्वका श्रद्धान करना जीवतत्त्वके निरूपणका लक्ष्य है। इस प्रकरणके अंतमें कुंदकुंदस्वामीने उद्घोष किया है --

अहमिक्को खलु सुद्धो दंसणणाणमइयो सदा रूवी।
णवि अत्थि मज्झ किंचिवि अण्णं परमाणुमित्तं पि।।३८।।

अर्थात् निश्चयसे मैं एक हूँ, शुद्ध हूँ, दर्शन-ज्ञानसे तन्मय हूँ, अन्य परमाणु मात्र भी मेरा नहीं है।

इस सब कथनका तात्पर्य यह है कि यह जीव, पुद्गलके संयोगसे उत्पन्न हुई संयोगज पर्यायमें आत्मबुद्धि कर उनकी इष्ट-अनिष्ट परिणतिमें हर्ष-विषादका अनुभव करता हुआ व्यर्थ ही रागी-द्वेषी होता है और उनके निमित्तसे नवीन कर्मबंध कर अपने संसारकी वृद्धि करता है। जब यह जीव, परपदार्थोंसे भिन्न निज शुद्ध स्वरूपकी ओर लक्ष्य करने लगता है तब परपदार्थोंसे इसका ममत्वभाव स्वयमेव दूर होने लगता है।

जीवाजीवाधिकार

जीवके साथ अनादि कालसे कर्म-नोकर्मरूप पुद्गल द्रव्यका संबंध चला आ रहा है। मिथ्यात्व दशामें यह जीव शरीररूप नोकर्मकी परिणतिको आत्माकी परिणति मानकर उसमें अहंकार करता है -- इस रूप ही मैं हूँ ऐसा मानता है अतः सर्वप्रथम इसकी शरीरसे पृथक्ता सिद्ध की है। उसके बाद ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म और रागादिकभाव कर्मोंसे इसका पृथक्त्व दिखाया है। आचार्य महाराजने कहा है कि हे भाई! ये सब पुद्गल द्रव्यके परिणमनसे निष्पन्न हैं, अतः पुद्गलके हैं , तू इन्हें जीव क्यों मान रहा है? यथा --

एए सव्वे भावा पुग्गलदव्वपरिणामणिप्पण्णा।
केवलिजिणेहि भणिया कह ते जीवोत्ति वुच्चंति।।४४।।

जो स्पष्ट ही अजीव हैं उनके अजीव कहनेमें तो कोई खास बात नहीं है, परंतु जो अजीवाश्रित परिणमन जीवके साथ घुलमिलकर अनित्य तन्मयीभावसे तादात्म्य जैसी अवस्थाको प्राप्त हो रहे हैं, उन्हें अजीव सिद्ध करना इस अधिकारकी विशेषता है। रागादिक भाव अजीव हैं, गुणस्थान, मार्गणा, जीवसमास आदि भाव अजीव हैं यह बात यहाँतक सिद्ध की गयी है। अजीव हैं -- इसका यह तात्पर्य नहीं है कि ये घटपटादिके समान अजीव हैं। यहाँ 'अजीव हैं' इसका इतना ही तात्पर्य है कि ये जीवकी स्वभावपरिणति नहीं हैं। यदि जीवकी स्वभाव परिणति होती तो त्रिकालमें इनका अभाव नहीं होता। परंतु जिस पौद्गलिक कर्मकी उदयावस्थामें ये भाव होते हैं उसका अभाव होनेपर ये स्वयं विलीन हो जाते हैं। अग्निके संसर्गके पानीमें उष्णता आती है परंतु वह उष्णता सदाके लिए नहीं आती है। अग्निका संबंध दूर होते ही दूर हो जाती है। इसी प्रकार क्रोधादि द्रव्यकर्मोंके उदयकालमें होनेवाले रागादिभाव आत्मामें अनुभूत होते हैं, परंतु वे संयोगज भाव होनेसे आत्माके विभाव भाव हैं, स्वभाव नहीं, इसीलिए इनका अभाव हो जाता है।

ये रागादिक भाव आत्माको छोड़कर अन्य पदार्थोंमें नहीं होते इसलिए उन्हें आत्माके कहनेके लिए आचार्योंने एक अशुद्ध नयकी कल्पना की है। वे, 'शुद्ध निश्चय नयसे आत्माके नहीं हैं, परंतु अशुद्ध निश्चय नयसे आत्माके हैं' ऐसा कथन करते हैं, परंतु कुंदकुंद स्वामी विभावको आत्मा माननेके लिए तैयार नहीं हैं। उन्हें आत्माके कहना, वे व्यवहार नयका विषय मानते हैं और उस व्यवहारका जिसे कि उन्होंने अभूतार्थ कहा है।

इसी प्रसंगमें जीवका स्वरूप बतलाते हुए कुंदकुंद स्वामीने कहा है --

अरसमरूवमगंधं अव्वत्तं चेदणागुणमसद्दं।
जाण अलिंगग्गहणं जीवमणिद्दिट्ठसंठाणं।।४९।।

अर्थात् हे भव्य! तू आत्माको ऐसा जान कि वह रसरहित है, रूपरहित है, गंधरहित है, अव्यक्त अर्थात् स्पर्शरहित है, शब्दरहित है, अलिंगग्रहण है अर्थात् किसी खास लिंगसे उसका ग्रहण नहीं होता तथा जिसका कोई आकार निर्दिष्ट नहीं किया गया है ऐसा है, किंतु चेतनागुणवाला है।

यहाँ चेतनागुण जीवका स्वरूप है और रस, गंध आदि उसके स्वरूप नहीं हैं। परपदार्थसे उसका पृथक्त्व सिद्ध करनेके लिए ही यहाँ उनका उल्लेख किया गया है। वर्णादिक और रागादिक -- सभी जीवसे भिन्न है -- जीवेतर हैं। इस तरह इस जीवाजीवाधिकारमें आचार्यने मुमुक्षु प्राणीके लिए परपदार्थसे भिन्न जीवके शुद्ध स्वरूपका दर्शन कराया है। साथ ही उससे संबंध रखनेवाले पदार्थको अजीव दिखलाया है। यह जीवाजीवाधिकार ३९ वीं गाथासे लेकर ६८ वीं गाथातक चला है।

कर्तृकर्माधिकार

जीव और अजीव (पौद्गलिक कर्म) अनादि कालसे संबद्ध अवस्थाको प्राप्त हैं, इसलिए प्रश्न होना स्वाभाविक है कि इनके अनादि संबंधका कारण क्या है? जीवने कर्मको किया या कर्मने जीवको किया? यदि जीवने कर्मको किया तो जीवमें ऐसी कौनसी विशेषता थी कि जिससे उसने कर्मको किया? यदि बिना विशेषताके ही किया तो सिद्ध महाराज भी कर्मको करें, इसमें क्या आपत्ति है? और कर्मने जीवको किया तो कर्ममें ऐसी विशेषता कहाँसे आयी कि वे जीवको कर सकें -- उसमें रागादिक भाव उत्पन्न कर सकें। बिना विशेषताके ही यदि कर्म रागादिक करते हैं तो कर्मके अस्तित्वकालमें सदा रागादिक उत्पन्न होना चाहिए। इस प्रश्नावलीसे बचनेके लिए यह समाधान किया गया है कि जीवके रागादि परिणामोंसे पुद्गल द्रव्यमें कर्मरूप परिणमन होता है और पुद्गलके कर्मरूप परिणमन -- उनकी उदयावस्थाका निमित्त पाकर आत्मामें रागादिक भाव उत्पन्न होते हैं। इस समाधानमें जो अन्योन्याश्रय दोष आता है उसे अनादि संयोग मानकर दूर किया गया है। इस कर्तृकर्माधिकारमें कुंदकुंद स्वामीने इसी बातका बड़ी सूक्ष्मतासे वर्णन किया है।

अमृतचंद्र स्वामीने कर्ता, कर्म और क्रियाका लक्षण लिखते हुए कहा है --

यः परिणमति स कर्ता यः परिणामो भवेत्तु तत्कर्म ।
या परिणतिः क्रिया सा त्रयमपि भिन्नं न वस्तुतया।।५१।।

अर्थात् जो परिणमन करता है वह कर्ता कहलाता है, जो परिणाम होता है उसे कर्म कहते हैं और जो परिणति होती है वह क्रिया कहलाती है। वास्तवमें ये तीनों ही भिन्न नहीं हैं, एक द्रव्यकी ही परिणति है।

निश्चय नय, कर्तृ-कर्मभाव उसी द्रव्यमें मानता है जिसमें व्याप्य-व्यापक भाव अथवा उपादान-उपादेय भाव होता है। जो कार्यरूप परिणत होता है उसे व्यापक या उपादान कहते हैं और जो कार्य होता है उसे व्याप्य या उपादेय कहते हैं। 'मिट्टीसे घट बना' यहाँ मिट्टी व्यापक या उपादान है और घट व्याप्य या उपादेय है। यह व्याप्य-व्यापक भाव या उपादान-उपादेय भाव सदा एक द्रव्यमें ही होता है, दो द्रव्योंमें नहीं, क्योंकि एक द्रव्य दूसरे द्रव्यरूप परिणमन त्रिकालमें भी नहीं कर सकता। जो उपादानके कार्यरूप परिणमनमें सहायक होता है वह निमित्त कहलाता है, जैसे मिट्टी के घटाकार परिणमनमें कुंभकार तथा दंड, चक्र आदि। और उस निमित्तकी सहायतासे उपादानमें जो कार्य होता है वह नैमित्तिक कहलाता है, जैसे कुंभकार आदिकी सहायतासे मिट्टीमें हुआ घटाकार परिणमन। यह निमित्त-नैमित्तिक भाव दो विभिन्न द्रव्योंमें भी बन जाता

है, परंतु उपादान-उपादेय भाव या व्याप्य-व्यापक भाव एक द्रव्यमें ही बनता है। जीवके रागादि भावका निमित्त पाकर पुद्गलमें और पुद्गलकी उदयावस्थाका निमित्त पाकर जीवमें रागादि भाव उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार दोनोंमें निमित्त-नैमित्तिक भाव होनेपर भी निश्चयनय उनमें कर्तृ-कर्मभावको स्वीकृत नहीं करता। निमित्त-नैमित्तिक भावके होनेपर भी कर्तृ-कर्मभाव न माननेमें युक्ति यह दी है कि ऐसा माननेपर निमित्तमें द्विक्रियाकारित्वका दोष आता है अर्थात् निमित्त अपने परिणमनका भी कर्ता होगा और उपादानके परिणमनका भी कर्ता होगा, जो कि संभव नहीं है। कुंदकुंद स्वामीने कहा है --

जीवो ण करदि घडं, णेव पडं णेव सेसगे दव्वे।
जोगुवजोगा उप्पादगा, य तेसिं हवदि कत्ता।।१००।।

जीव न तो घटको करता है न पटको करता है और न बाकीके अन्य द्रव्योंको कहता है, जीवके योग और उपयोग ही उनके कर्ता है।

इसकी टीकामें अमृतचंद्र स्वामीने लिखा है -- जो घटादिक और क्रोधादिक परद्रव्यात्मक कर्म हैं, यदि इन्हें आत्मा व्याप्य-व्यापक भावसे करता है तो तद्रूपताका प्रसंग आता है और निमित्त-नैमित्तिक भावसे करता है तो नित्यकर्तृत्वका प्रसंग आता है परंतु ऐसा है नहीं, क्योंकि आत्मा उनसे न तो तन्मय ही है और न नित्यकर्ता ही है। अतः न तो व्याप्य-व्यापक भावसे कर्ता है और न निमित्त-नैमित्तिक भावसे। किंतु अनित्य जो योग और उपयोग हैं वे ही घट-पटादि द्रव्योंके निमित्त कर्ता हैं। उपयोग और योग आत्माके विकल्प और व्यापार हैं अर्थात् जब आत्मा ऐसा विकल्प करता है कि मैं घटको बनाऊँ, तब काय योगके द्वारा आत्माके प्रदेशोंमें चंचलता आती है और चंचलताकी निमित्तता पाकर हस्तादिकके व्यापार द्वारा दंडनिमित्तक चक्रभ्रमि होती है तब घटादिककी निष्पत्ति होती है। यह विकल्प और योग अनित्य हैं, कदाचित् अज्ञानके द्वारा करनेसे आत्मा इनका कर्ता हो भी सकता है परंतु परद्रव्यात्मक कर्मोंका कर्ता कदापि नहीं हो सका। यहाँ निमित्त कारणको दो भागोंमें विभाजित किया गया है -- एक साक्षात् निमित्त और दूसरा परंपरा निमित्त। कुंभकार अपने योग और उपयोगका कर्ता है, यह साक्षात् निमित्तकी अपेक्षा कथन है, क्योंकि इनके साथ कुंभकारका साक्षात् संबंध है और कुंभकारके योग तथा उपयोगसे दंड तथा चक्रादिमें जो व्यापार होता है तथा उससे जो घटादिककी उत्पत्ति होती है वह परंपरा निमित्तकी अपेक्षा कथन है। जब परंपरा निमित्तसे होनेवाले निमित्त-नैमित्तिक भावको गौण कर कथन किया जाता है तब यह बात कही जाती है कि जीव घट-पटादिका कर्ता नहीं है परंतु जब परंपरा निमित्तसे होनेवाले निमित्त-नैमित्तिक भावको प्रमुखता देकर कथन किया जाता है तब जीव घट-पटादिका कर्ता होता है। तात्पर्यवृत्तिकी निम्न पंक्तियोंसे यही भाव प्रकट होता है --

'इति परम्परया निमित्तरूपेण घटादिविषये जीवस्य कर्तृत्वं स्यात्। यदि पुनः मुख्यवृत्त्या निमित्तकर्तृत्वं भवति तर्हि जीवस्य नित्यत्वात् सर्वदैव कर्मकर्तृत्वप्रसङ्गाद् मोक्षाभावः।' गाथा १००

इस प्रकार परंपरा निमित्त रूपसे जीव घटादिकका कर्ता होता है, यदि मुख्य वृत्तिसे जीवको निमित्त कर्ता माना जावे तो जीवके नित्य होनेसे सदा ही कर्मकर्तृत्वका प्रसंग आ जायेगा और उस प्रसंगसे मोक्षका अभाव हो जावेगा।

'घटका कर्ता कुम्हार नहीं है, पटका कर्ता कुविंद नहीं है और रथका कर्ता बढ़ई नहीं है', यह कथन लोकविरुद्ध अवश्य प्रतीत होता है पर यथार्थ में जब विचार किया जाता है तब कुम्हार, कुविंद और बढ़ई अपने-अपने उपयोग और योगके कर्ता होते हैं। लोकमें जो उनका कर्तृत्व प्रसिद्ध है वह परंपरा निमित्तकी अपेक्षा संगत होता है।

मूल प्रश्न यह था कि कर्मका कर्ता कौन है? तथा रागादिकका कर्ता कौन है? इस प्रश्नके उत्तरमें जब व्याप्य-

व्यापकभाव या उपादान-उपादेयभावकी अपेक्षा विचार होता है तब यह बात आती है कि चूँकि कर्मरूप परिणमन पुद्गलरूप उपादानमें हुआ है इसलिए उसका कर्ता पुद्गलही है, जीव नहीं है। परंतु जब परंपरा नैमित्तिक भावकी अपेक्षा विचार होता है तब जीवके रागादिक भावोंका निमित्त पाकर पुद्गलमें कर्मरूप परिणमन हुआ है इसलिए उनका कर्ता जीव है। उपादान-उपादेयभावकी अपेक्षा रागादिकका कर्ता जीव है और परंपरा निमित्त-नैमित्तिकभावकी अपेक्षा उदयावस्थाको प्राप्त रागादिक द्रव्य कर्म।

जीवादिक नौ पदार्थोंके विवेचनके बीचमें कर्तृकर्मभावकी चर्चा छेड़नेमें कुंदकुंद स्वामीका इतना ही अभिप्राय ध्वनित होता है कि यह जीव अपने आपको किसी पदार्थका कर्ता, धर्ता तथा हर्ता मानकर व्यर्थ ही रागद्वेषके प्रपंचमें पड़ता है। अपने आपको परका कर्ता माननेसे अहंकार उत्पन्न होता है और परकी इष्ट अनिष्ट परिणतिमें हर्ष-विषादका अनुभव होता है। जब तक परपदार्थों और तन्निमित्तक वैभाविक भावोंमें हर्ष-विषादका अनुभव होता रहता है तब तक यह जीव अपने ज्ञाता द्रष्टा स्वभावमें सुस्थिर नहीं होता। वह मोहकी धारामें बहकर स्वरूपसे च्युत रहता है। मोक्षाभिलाषी जीवको अपनी यह भूल सबसे पहले सुधार लेनी चाहिए। इसी उद्देश्यसे आस्रवादि तत्त्वोंकी चर्चा करनेके पूर्व कुंदकुंद महाराजने सचेत किया है कि 'हे मुमुक्षु प्राणी ! तू कर्तृत्वके अहंकारसे बच, अन्यथा राग-द्वेषकी दलदलमें फँस जावेगा।'

'आत्मा कर्मोंका कर्ता और भोक्ता नहीं है' निश्चय करके इस कथनका विपरीत फलितार्थ निकालकर जीवोंको स्वच्छंद नहीं होना चाहिए। क्योंकि अशुद्ध निश्चयनयके जीव रागादिक भावोंका और व्यवहार नयसे कर्मोंका कर्ता तथा भोक्ता स्वीकार किया गया है। परस्परविरोधी नयोंका सामंजस्य पात्रभेदके विचारसे ही संपन्न होता है।

इसी कर्तृकर्माधिकारमें अमृतचंद्र स्वामीने अनेक नयपक्षोंका उल्लेख कर तत्त्ववेदी पुरुषको उनके पक्षसे अतिक्रांत -- परे रहनेवाला बताया है। आखिर, नय वस्तुस्वरूपको समझनेके साधन हैं, साध्य नहीं। एक अवस्था ऐसी भी आती है जहाँ व्यवहार और निश्चय दोनों प्रकारके नयोंके विकल्पोंका अस्तित्व नहीं रहता, प्रमाण अस्त हो जाता है और निक्षेप चक्रका तो पता ही नहीं चलता कि वह कहाँ गया --

उदयति न नयश्रीरस्तमेति प्रमाणं
क्वचिदपि च न विद्मो याति निक्षेपचक्रम्।
किमपरमभिदध्मो धाम्नि सर्वङ्कषेऽस्मि-
न्ननुभवमुपयाते भाति न द्वैतमेव।।९।।

पुण्यपापाधिकार

संसारचक्रसे निकलकर मोक्ष प्राप्त करनेके अभिलाषी प्राणीको पुण्यका प्रलोभन अपने लक्ष्यसे भ्रष्ट करनेवाला है। इसलिए कुंदकुंदस्वामी आस्रवाधिकारका प्रारंभ करनेके पहले ही इसे सचेत करते हुए कहते हैं कि हे मुमुक्षु! तू मोक्षरूपी महानगरके लिए निकला है। देख, कहीं बीचमेंही पुण्यके प्रलोभनमें नहीं पड़ जाना। यदि उसके प्रलोभनमें पड़ा तो एक झटकेमें ऊपरसे नीचे आ जायेगा और सागरोंपर्यंतके लिए उसी पुण्यमहलमें नज़रकैद हो जायेगा।

अधिकारके प्रारंभमें कुंदकुंद महाराज कहते हैं कि लोग अशुभको कुशील और शुभको सुशील कहते हैं। परंतु वह सुशील शुभ कैसे हो सकता है जो इस जीवको संसारमें ही प्रविष्ट रखता है -- उससे बाहर नहीं निकलने देता। बंधनकी अपेक्षा सुवर्ण और लोह -- दोनोंकी बेड़ियाँ समान हैं। जो बंधनसे बचना चाहता है उसे सुवर्णकी बेड़ी भी तोड़नी होगी।

वास्तवमें यह जीव पुण्यका प्रलोभन तोड़नेमें असमर्थ-सा हो रहा है। यदि अपने आत्मस्वातंत्र्य तथा शुद्धस्वभावकी

ओर इसका लक्ष्य बन जावे तो कठिन नहीं है। दया, दान, व्रताचरण आदिके भावलोकमें पुण्य कहे जाते हैं और हिंसादि पापोंमें प्रवृत्तिरूप भाव पाप कहे जाते हैं। पुण्यके फलस्वरूप पुण्यप्रकृतियोंका बंध होता है और पापके फलस्वरूप पाप प्रकृतियोंका। जब उन पुण्य और पाप प्रकृतियोंका उदयकाल आता है तब इस जीवको सुख दुःखका अनुभव होता है। परमार्थसे विचार किया जावे तो पुण्य और पाप दोनों प्रकारकी प्रकृतियोंका बंध इस जीवको संसारमें ही रोकनेवाला है। इसलिए इनसे बचकर उस तृतीयावस्थाको प्राप्त करनेका प्रयास करना चाहिए जो पुण्य और पाप दोनोंके विकल्पसे परे है। उस तृतीयावस्थामें पहुँचनेपर ही जीव कर्मबंधसे बच सकता है और कर्मबंधसे बचनेपर ही जीवका वास्तविक कल्याण हो सकता है। उन्होंने कहा है --

परमट्ठबाहिरा जे अण्णाणेण पुण्णमिच्छंति।
संसारगमण हेदुं वि मोक्खहेउं अजाणंता।।१५४।।

जो परमार्थसे बाह्य हैं अर्थात् ज्ञानात्मक आत्माके अनुभवसे शून्य है वे अज्ञानसे संसारगमनका कारण होनेपर भी पुण्यकी इच्छा करते हैं तथा मोक्षके कारणको जानते भी नहीं हैं।

यहाँ आचार्य महाराजने कहा है कि जो मनुष्य परमार्थज्ञानसे रहित हैं वे अज्ञानवश मोक्षका साक्षात् कारण जो वीतराग परिणति है उसे तो जानते नहीं हैं और पुण्यको मोक्षका साक्षात् कारण समझकर उसकी उपासना करते हैं जब कि यह पुण्य संसारकी ही प्राप्तिका कारण है। यहाँ पुण्यरूप आचारण का निषेध नहीं है किंतु पुण्याचरणको मोक्षका साक्षात् मार्ग माननेका निषेध किया है। ज्ञानी जीव अपने पदके अनुरूप पुण्याचरण करता है और उसके फलस्वरूप प्राप्त हुए इंद्र, चक्रवर्ती आदिके वैभवका उपयोग भी करता है परंतु श्रद्धामें यही भाव रखता है कि हमारा यह पुण्याचरण मोक्षका साक्षात् कारण नहीं है तथा उसके फलस्वरूप जो वैभव प्राप्त होता है वह मेरा स्वपद नहीं है। यहाँ इतनी बात ध्यानमें रखनेके योग्य है कि जिस प्रकार पापाचरण बुद्धिपूर्वक छोड़ा जाता है उस प्रकार बुद्धिपूर्वक पुण्याचरण नहीं छोड़ा जाता, वह तो शुद्धोपयोगकी भूमिकामें प्रविष्ट होनेपर स्वयं छूट जाता है।

जिनागमका कथन नयसापेक्ष होता है अतः शुद्धोपयोगकी अपेक्षा शुभोपयोगरूप पुण्यको त्याज्य कहा गया है परंतु अशुभोपयोगरूप पापकी अपेक्षा उसे उपादेय बताया गया है। शुभोपयोगमें यथार्थ मार्ग जल्दी मिल सकता है, परंतु अशुभोपयोगमें उसकी संभावना ही नहीं है। जैसे प्रातःकालसंबंधी सूर्यलालिमाका फल सूर्योदय है और सायंकालसंबंधी सूर्यलालिमाका फल सूर्यास्त है। इसी आपेक्षिक कथनको अंगीकृत करते हुए श्री कुंदकुंद स्वामीने मोक्षपाहुड में कहा है --

वर वयतवेहि सग्गो मा दुक्खं होउ णिरय इयरेहिं।
छायातवट्ठियाणं पडिवालंताण गुरुभेयं।।२५।।

और इसी अभिप्रायसे पूज्यपाद स्वामीने भी इष्टोपदेश में शुभोपयोगरूप व्रताचरणसे होनेवाले दैवपदको कुछ अच्छा कहा है और अशुभोपयोगरूप पापाचरणसे होनेवाले नारकपदको बुरा कहा है --

वरं व्रतैः पदं दैवं नाव्रतैर्बत नारकम्।
छायातपस्थयोर्भेदः प्रतिपालयतोर्महान्।।२।।

अर्थात् व्रतोंसे देवपद पाना कुछ अच्छा है परंतु अव्रतोंसे नारकपद पाना अच्छा नहीं है। क्योंकि छाया और धूपमें बैठकर प्रतीक्षा करनेवालोंमें महान् अंतर है।

अशुभोपयोग सर्वथा त्याज्य ही है और शुद्धोपयोग उपादेय ही है। परंतु शुभोपयोग पात्रभेदकी अपेक्षा हेय और

उपादेय दोनों रूप है। किन्हीं-किन्हीं[१] आचार्योंने सम्यग्दृष्टिके पुण्यको मोक्षका कारण बताया है और मिथ्यादृष्टिके पुण्यको बंधका कारण। उनका यह कथन भी नयविवक्षासे संगत होता है। वस्तुतत्त्वका यथार्थ विश्लेषण करनेपर यह बात अनुभवमें आती है कि सम्यग्दृष्टि जीवकी, मोहका आंशिक अभाव हो जानेसे जो आंशिक निर्मोह अवस्था हुई है वही उसकी निर्जराका कारण है और जो शुभ रागरूप अवस्था है वह बंधका ही कारण है। बंधके कारणोंकी चर्चा करते हुए कुंदकुंद स्वामीने तो एक ही बात कही है --

रत्तो बंधदि कम्मं मुंचदि जीवो विरागसंपत्तो।
ऐसो जिणोवएसो तम्हा कम्मेसु मा रज्ज।।१५०।।

रागी जीव कर्मोंको बाँधता है और विरागको प्राप्त हुआ जीव कर्मोंको छोड़ता है। यह भी जिनेश्वर का उपदेश है, इससे कर्मोंमें राग मत करो।

यहाँ आचार्यने शुभ अशुभ दोनों प्रकारके रागको ही बंधका कारण कहा है। यह बात जुदी है कि शुभ रागसे शुभ कर्मका बंध होता है और अशुभ रागसे अशुभ कर्मका। शुभ रागके समय शुभ कर्मोंमें स्थिति अनुभाग बंध अधिक होता है और अशुभ रागमें अशुभ कर्मोंमें स्थिति अनुभाग बंध अधिक होता है। वैसे प्रकृति और प्रदेश बंध तो यथासंभव व्युच्छित्तिपर्यंत सभी कर्मोंका होता रहता है।

यह पुण्यपापाधिकार १४५ से १६३ गाथा तक चलता है।

आस्रवाधिकार

संक्षेपमें जीव द्रव्यकी दो अवस्थाएँ हैं -- एक संसारी और दूसरी मुक्त। इनमें संसारी अवस्था अशुद्ध होनेसे हेय है और मुक्त अवस्था शुद्ध होनेसे उपादेय है। संसार अवस्थाका कारण आस्रव और बंधतत्त्व है तथा मोक्ष अवस्थाका कारण संवर और निर्जरा तत्त्व है। आत्माके जिन भावोंसे कर्म आते हैं उन्हें आस्रव कहते हैं। ऐसे भाव चार हैं -- मिथ्यात्व, अविरमण, कषाय और योग। यद्यपि तत्त्वार्थसूत्रकारने इन चारके सिवाय प्रमादका भी वर्णन किया है, परंतु कुंदकुंद स्वामी प्रमादको कषायका ही एक रूप मानते हैं अतः उन्होंने चार आस्रवोंका ही वर्णन किया है। इन्हीं चारके निमित्तसे आस्रव होता है। मिथ्यादृष्टि गुणस्थानमें चारों ही आस्रव हैं, उसके बाद अविरत सम्यग्दृष्टि तक अविरमण, कषाय और योग ये तीन आस्रव हैं। पंचम गुणस्थानमें एकदेश अविरमणका अभाव हो जाता है। छठवें गुणस्थानसे दसवें गुणस्थान तक कषाय और योग ये दो आस्रव हैं और उसके बाद ११, १२ और १३ वें गुणस्थानमें मात्र योग आस्रव है। तथा चौदहवें गुणस्थानमें आस्रव बिलकुल ही नहीं है।

इस अधिकारकी खास चर्चा यह है कि ज्ञानी अर्थात् सम्यग्दृष्टि जीवके आस्रव और बंध नहीं होते। जब कि करणानुयोगकी पद्धतिसे अविरत सम्यग्दृष्टिको आदि लेकर तेरहवें गुणस्थान तक क्रमसे ७७, ६७, ६३, ५९, ५८, २२, १७, १, १, १ प्रकृतियोंका बंध बताया है। यहाँ कुंदकुंद स्वामीका यह अभिप्राय है कि जिस प्रकार मिथ्यात्व और अनंतानुबंधीके उदयकालमें इस जीवके तीव्र अर्थात् अनंत संसारका कारण बंध होता था उस प्रकारका बंध सम्यग्दृष्टि जीवके नहीं होता। सम्यग्दर्शनकी ऐसी अद्भुत महिमा है कि उसके होनेके पूर्व ही बध्यमान कर्मोंकी स्थिति घटकर अन्तःकोडाकोडी सागर प्रमाण हो जाती है और सत्तामें स्थित कर्मोंकी स्थिति इससे भी संख्यात सागर कम रह जाती है। वैसे भी अविरत सम्यग्दृष्टि जीवके ४१ प्रकृतियोंका आस्रव और बंध तो रुक ही जाता है। वास्तविक बात यह है कि

---

१. सम्मादिट्ठी पुण्णं ण होइ संसारकारणं णियमा।
मोक्खस्स होइ हेउं जइवि णिदाणं ण सो कुणई।।४०।। -- भावसंग्रहे देवसेनस्य

सम्यग्दृष्टि जीवके सम्यग्दर्शन रूप परिणामोंसे बंध नहीं होता। उसके जो बंध होता है उसका कारण अप्रत्याख्यानावरणादि कषायोंका उदय है। सम्यग्दर्शनादि भाव मोक्षके कारण है वे बंधके कारण नहीं हो सकते किंतु उनके सद्भावकालमें जो रागादिक भाव हैं वे ही बंधके कारण हैं। इसी भावको अमृतचंद्रसूरिने निम्नांकित कलशमें प्रकट किया है --

रागद्वेषविमोहानां ज्ञानिनो यदसम्भवः।
तत एव न बन्धोऽस्ति ते हि बन्धस्य कारणम्।।११९।।

चूँकि ज्ञानी जीवके राग द्वेष और विमोहका अभाव है इसलिए उसके बंध नहीं होता। वास्तवमें रागादिक ही बंधके कारण हैं जहाँ जघन्य रत्नत्रयको बंधका कारण बतलाया है वहाँ भी यही विवक्षा ग्राह्य है कि उसके कालमें जो रागादिक भाव हैं वे बंधके कारण हैं। रत्नत्रयको उपचारसे बंधका कारण कहा गया है।

यह आस्रवाधिकार १६४ से १८० गाथा तक चलता है।

संवराधिकार

आस्रवका विरोधी तत्त्व संवर है अतः आस्रवके बाद ही उसका वर्णन किया जा रहा है। '[१]आस्रवनिरोधः संवरः' आस्रवका रुक जाना संवर है। यद्यपि अन्य ग्रंथकारोंने गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषहजय और चारित्रको संवर[२] कहा है किंतु इस अधिकारमें कुंदकुंद स्वामीने भेदविज्ञानको ही संवरका मूल कारण बतलाया है। उनका कहना है कि उपयोग, उपयोगमें ही है, क्रोधादिकमें नहीं है और क्रोधादिक क्रोधादिकमें ही हैं, उपयोगमें नहीं हैं। कर्म और नोकर्म तो स्पष्ट ही आत्मासे भिन्न हैं अतः उनसे भेदज्ञान प्राप्त करनेमें महिमा नहीं है। महिमा तो उस उस रागादिक भाव कर्मोंसे अपने ज्ञानोपयोगको भिन्न करनेमें है जो तन्मयीभावको प्राप्त होकर एक दिख रहे हैं। अज्ञानी जीव इस ज्ञानधारा और रागादिधाराको भिन्न-भिन्न नहीं समझ पाता इसलिए वह किसी पदार्थका ज्ञान होनेपर उसमें तत्काल राग-द्वेष करने लगता है परंतु ज्ञानी जीव उन दोनों धाराओंके अंतरको समझता है इसलिए वह किसी पदार्थको देखकर उसका ज्ञाता-द्रष्टा तो रहता है परंतु रागी-द्वेषी नहीं होता। जहाँ यह जीव रागादिकको अपने ज्ञाता द्रष्टा स्वभावसे भिन्न अनुभव करने लगता है वहीं उनके संबंधसे होनेवाले रागद्वेषसे बच जाता है। राग द्वेषसे बच जाना ही सच्चा संवर है। किसी वृक्षको उखाड़ना हो तो उसके पत्ते नोंचनेसे काम नहीं चलेगा, उसकी जड़ पर प्रहार करना होगा। राग द्वेषकी जड़ है भेद विज्ञानका अभाव। अतः भेद विज्ञानके द्वारा उन्हें अपने स्वरूपसे पृथक् समझना यही उनके नष्ट करनेका वास्तविक उपाय है। इस भेदविज्ञानकी महिमा का गान करते हुए अमृतचंद्रसूरिने कहा है --

भेदविज्ञानतः सिद्धाः सिद्धा ये किल केचन।
अस्यैवाभावतो बद्धा बद्धा ये किल केचन।।१३१।।

आजतक जितने सिद्ध हुए हैं वे सब भेदविज्ञानसे ही सिद्ध हुए हैं और जितने संसारमें बद्ध हैं वे भेदविज्ञानके अभावसे ही बद्ध हैं।

इस भेदविज्ञानकी भावना तबतक करते रहना चाहिए जब तक कि ज्ञान, परसे च्युत होकर ज्ञानमे ही प्रतिष्ठित नहीं हो जाता। परपदार्थसे ज्ञानको भिन्न करनेका पुरुषार्थ चतुर्थ गुणस्थानसे शुरू होता है और दशम गुणस्थानके अन्तिम समयमें समाप्त होता है। वहाँ वह परमार्थसे अपनी ज्ञानधाराको रागादिककी धारासे पृथक् कर लेता है। इस दशामें इस

---

१. तत्त्वार्थसूत्र नवमाध्याय सूत्र १। २. 'स गुप्तिसमितिधर्मानुप्रेक्षापरीषहजयचारित्रैः' तत्त्वार्थसूत्र नवमाध्याय सूत्र २।

जीवका ज्ञान, सचमुच ही ज्ञानमें प्रतिष्ठित हो जाता है और इसीलिए जीवके रागादिकके निमित्तसे होनेवाले बंधका सर्वथा अभाव हो जाता है। मात्र योगके निमित्तसे सातावेदनीयका आस्रव और बंध होता है सो भी सांपरायिक आस्रव और स्थिति तथा अनुभाग बंध नहीं, मात्र ईर्यापथ आस्रव और प्रकृति-प्रदेश बंध होता है। अंतर्मुहूर्तके भीतर ऐसा जीव नियमसे केवलज्ञान प्राप्त करता है। अहो भव्य प्राणियो! संवरके इस साक्षात् मार्गपर अग्रसर होओ जिससे आस्रव और बंधसे छुटकारा मिले।

संवराधिकार १८१ से १९२ गाथा तक चलता है।

निर्जराधिकार

सिद्धोके अनंतवें भाग और अभव्यराशिसे अनंतगुणित कर्म परमाणुओंकी निर्जरा संसारके प्रत्येक प्राणीके प्रतिसमय हो रही है। पर ऐसी निर्जरासे किसीका कल्याण नहीं होता। क्योंकि जितने कर्म परमाणुओंकी निर्जरा होती है उतने ही कर्मपरमाणु आस्रवपूर्वक बंधको प्राप्त हो जाते हैं। कल्याण उस निर्जरासे होता है जिसके होनेपर नवीन कर्मपरमाणुओंका आस्रव और बंध नहीं होता। इसी उद्देश्यसे यहाँ कुंदकुंद महाराजने संवरके बाद ही निर्जरा पदार्थका निरूपण किया है। संवरके बिना निर्जराकी कोई सफलता नहीं है।

निर्जराधिकारके प्रारंभमें ही कहा गया है --

उवभोगमिंदियेहिं दव्वामचेदणाणमिदराणं।
जं कुणदि सम्मदिट्ठी तं सव्वं णिज्जरणिमित्तं।।१९३।।

सम्यग्दृष्टि जीवके इंद्रियोंके द्वारा जो चेतन अचेतन पदार्थोंका उपभोग होता है वह निर्जराके निमित्त होता है। अहो! सम्यग्दृष्टि जीवकी कैसी उत्कृष्ट महिमा है कि उसके पूर्वबद्ध कर्म उदयमें आ रहे हैं उनके उदयकालमें होनेवाला उपभोग भी हो रहा है परंतु उससे नवीन बंध नहीं होता। किंतु पूर्वबद्ध कर्म अपना फल देकर खिर जाते हैं। सम्यग्दृष्टि जीव कर्म और कर्मके फलका भोक्ता अपने आपको नहीं मानता। उनका ज्ञायक तो होता है, परंतु भोक्ता नहीं। भोक्ता अपने ज्ञायक स्वभावका ही होता है। यही कारण है कि उसकी वह प्रवृत्ति निर्जराका कारण बनती है।

सम्यग्दृष्टि जीवके ज्ञान और वैराग्यकी अद्‌भुत सामर्थ्य है। ज्ञान सामर्थ्यकी महिमा बतलाते हुए कुंदकुंद स्वामीने कहा है कि जिस प्रकार विषका उपभोग करता हुआ वैद्य मरणको प्राप्त नहीं होता उसी प्रकार ज्ञानी पुरुष पुद्‌गल कर्मके उदयका उपभोग करता हुआ बंधको प्राप्त नहीं होता। वैराग्य सामर्थ्यकी महिमा बतलाते हुए कहा है कि जिस प्रकार अरति भावसे मदिराका पान करनेवाला मनुष्य मदको प्राप्त नहीं होता उसी प्रकार अरतिभावसे द्रव्यका उपभोग करनेवाला ज्ञानी पुरुष बंधको प्राप्त नहीं होता। कैसी अद्‌भुत महिमा ज्ञान और वैराग्यकी है कि उसके होनेपर सम्यग्दृष्टि जीव मात्र निर्जराको करता है, बंधको नहीं। अन्य ग्रंथोंमें इस अविद्याकी निर्जराका कारण तपश्चरण कहा गया है, परंतु कुंदकुंद स्वामीने तपश्चरणको यथार्थ तपश्चरण बनानेवाला जो जीव और वैराग्य है उसीका प्रथम वर्णन किया है। ज्ञान और वैराग्यके बिना तपश्चरण निर्जराका कारण न होकर शुभ बंधका कारण होता है। ज्ञान और वैराग्यसे शून्य तपश्चरणके प्रभावसे यह जीव अनंत वार मुनिव्रत धारण कर नौवें ग्रैवेयक तक उत्पन्न हो जाता है परंतु उतने मात्रसे संसारभ्रमणका अंत नहीं होता।

अब प्रश्न यह है कि सम्यग्दृष्टि जीवके क्या निर्जरा ही निर्जरा होती है? बंध बिल्कुल नहीं होता? इसका उत्तर करणानुयोगकी पद्धतिसे यह होता है कि सम्यग्दृष्टि जीवके निर्जराका होना प्रारंभ हो गया। मिथ्यादृष्टि जीवके ऐसी निर्जरा

आज तक नहीं हुई। किंतु सम्यग्दर्शनके होते ही वह ऐसी निर्जराका पात्र बन जाता है। 'सम्यग्दृष्टिविरतानन्तवियोजकददर्शनमोहक्षपकोपशमशान्तमोहक्षपकक्षीणमोहजिनाः क्रमशोऽसङ्ख्येयगुणनिर्जराः' -- आगममें गुणश्रेणि निर्जराके दस स्थान बतलाये हैं। इनमें निर्जरा उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है। सम्यग्दृष्टि जीवके निर्जरा और बंध दोनों चलते हैं। निर्जरा के कारणोंसे निर्जरा होती है और बंधके कारणोंसे बंध होता है। जहाँ बंधका सर्वथा अभाव होकर मात्र निर्जरा ही निर्जरा होती है होती है ऐसा तो सिर्फ चौदहवाँ गुणस्थान है। उसके पूर्व चतुर्थ गुणस्थानसे लेकर तेरहवें गुणस्थान तक निर्जरा और बंध दोनों चलते हैं। यह ठीक है कि जैसे-जैसे यह जीव उपरितन गुणस्थानोंमें चढ़ता जाता है वैसे-वैसे निर्जरामें वृद्धि और बंधमें न्यूनता होती जाती है। सम्यग्दृष्टि जीवके ज्ञान और वैराग्यशक्तिकी प्रधानता हो जाती है इसलिए बंधके कारणोंकी गौणता कर ऐसा कथन किया जाता है कि सम्यग्दृष्टिके निर्जरा होती है, बंध नहीं। इसी निर्जराधिकारमें कुंदकुंदस्वामीने सम्यग्दर्शनके आठ अंगोंका विशद वर्णन किया है।

यह अधिकार १९३ से २३६ गाथा तक चलता है।

बंधाधिकार

आत्मा और पौद्गलिक कर्म -- दोनोंही स्वतंत्र द्रव्य हैं और दोनोंमें चेतन अचेतनकी अपेक्षा पूर्व-पश्चिम जैसा अंतर है। फिर भी इनका अनादिकालसे संयोग बन रहा। जिस प्रकार चुंबकमें लोहाको खींचनेकी और लोहामें खिंचनेकी योग्यता है उसी प्रकार आत्मामें कर्मरूप पुद्गलको खींचनेकी और कर्मरूप पुद्गलमें खिंचनेकी योग्यता है। अपनी अपनी योग्यताके कारण दोनोंका एकक्षेत्रावगाह हो रहा है। इसी क्षेत्रावगाहको बंध कहते हैं। इस बंध दशाके कारणोंका वर्णन करते हुए आचार्यने स्नेह अर्थात् रागभावको ही प्रमुख कारण बतलाया है। अधिकारके प्रारंभमें ही वे एक दृष्टांत देते हैं कि जिस प्रकार धूलिबहुल स्थानमें कोई मनुष्य शस्त्रोंसे व्यायाम करता है, ताड़ तथा केले आदिके वृक्षोंको छेदता भेदता है, इस क्रियासे उसका धूलिसे संबंध होता है सो इस संबंधके होनेमें कारण क्या है? उस व्यायामकर्ताके शरीरमें जो स्नेह -- तेल लग रहा है वही उसका कारण है। इसी प्रकार मिथ्यादृष्टि जीव, इंद्रियविषयोंमें व्यापार करता है, उस व्यापारके समय जो कर्मरूपी धूलिका संबंध उसकी आत्माके साथ होता है, उसका कारण क्या है? उसका कारण भी आत्मामें विद्यमान स्नेह अर्थात् रागभाव है। यह रागभाव जीवका स्वभाव नहीं किंतु विभाव है और वह भी द्रव्य कर्मोंकी उदयावस्थारूप कारणसे उत्पन्न हुआ है।

आस्रवाधिकारमें आस्रवके जो चार प्रत्यय -- मिथ्यादर्शन, अविरमण, कषाय और योग बतलाये हैं वे ही बंधके भी प्रत्यय -- कारण हैं। इन्हीं प्रत्ययोंका संक्षिप्त नाम रागद्वेष अथवा अध्यवसान भाव है। इन अध्यवसान भावोंका जिनके अभाव हो जाता है वे शुभ अशभ कर्मोंके साथ बंधको प्राप्त नहीं होते। जैसा कि कहा है --

एदाणि णत्थि जेसिं अज्झवसाणाणि एवमादीणि।
ते असुहेण सुहेण व कम्मेण मुणे ण लिंपंति।।२७०।।

मैं किसीकी हिंसा करता हूँ तथा कोई अन्य जीव मेरी हिंसा करते हैं। मैं किसीको जिलाता हूँ तथा कोई अन्य जीव मुझे जिलाते हैं। मैं किसीको सुखदुःख देता हूँ तथा कोई अन्य मुझे सुखदुःख देते हैं -- यह सब भाव अध्यवसान भाव कहलाते हैं। मिथ्यादृष्टि जीव इन अध्यवसानभावोंको कर कर्मबंध करता है और सम्यग्दृष्टि जीव उससे दूर रहता है।

सम्यग्दृष्टि जीव बंधके इस वास्तविक कारणको समझता है इसलिए वह उसे दूर कर निर्बंध अवस्थाको प्राप्त होता है परंतु मिथ्यादृष्टि जीव इस वास्तविक कारणको समझ नहीं पाता इसलिए करोडों वर्षकी तपस्याके द्वारा भी वह

निर्बंध अवस्था प्राप्त नहीं कर पाता। मिथ्यादृष्टि जीव धर्मका आचरण -- तपश्चरण आदि करता भी है परंतु 'धम्मं भोगणिमित्तं ण दु सो कम्मक्खयणिमित्तं' धर्मको भोगके निमित्त करता है, कर्मक्षयके निमित्त नहीं।।

अरे भाई! सच्चा कल्याण यदि करना चाहता है तो अध्यवसानभावोंको समझ और उन्हें दूर करनेका पुरुषार्थ कर।

कितने ही जीव निमित्तकी मान्यतासे बचनेके लिए ऐसा व्याख्यान करते हैं कि आत्मामें रागादिक अध्यवसान स्वतः होते हैं, उनमें द्रव्य कर्मकी उदयावस्था निमित्त नहीं है। ऐसे जीवोंको बंधाधिकारकी निम्न गाथाओंका मनन कर अपनी श्रद्धा ठीक करनी चाहिए --

जह फलिहमणी सुद्धो ण सयं परिणमइ रायमाईहिं।
रंगिज्जइ अण्णेहिं दु सो रत्तादीहिं दव्वेहिं।।२७८।।
एवं णाणी सुद्धो ण सयं परिणमइ रायमाईहिं।
राइज्जइ अण्णेहिं दु सो रागादीहिं दोसेहिं।।२७९।।

जेसे स्फटिकमणि आप शुद्ध है, वह स्वयं ललाई आदि रंगरूप परिणमन नहीं करता किंतु लाल आदि द्रव्योंसे ललाई आदि रगरूप परिणमन करता है। इसी प्रकार ज्ञानी जीव आप शुद्ध है, वह स्वयं राग आदि विभावरूप परिणमन नहीं करता, किंतु अन्य राग आदि दोषों -- द्रव्यकर्मोदयजनित विकारोंसे रागादि विभावरूप परिणमन करता है।

श्री अमृतचंद्र स्वामीने भी कलशोंके द्वारा उक्त भाव प्रकट किया है --

न जातु रागादिनिमित्तभावमात्मात्मनो याति यथार्ककान्तः।
तस्मिन्निमित्तं परसङ्ग एव वस्तुस्वभावोऽयमुदेति तावत्।।१७५।।

जिस प्रकार अर्ककांत -- स्फटिकमणि स्वयं ललाई आदिको प्राप्त नहीं होता उसी प्रकार आत्मा स्वयं रागादिके निमित्त भावको प्राप्त नहीं होता, उसमें निमित्त परसंग ही है -- आत्माके द्वारा किया हुआ परका संग ही है।

ज्ञानी जीव स्वभाव और विभावके अंतरको समझता है। वह स्वभावको अकारण मानता है और विभावको सकारण मानता है। ज्ञानी जीव स्वभावमें स्वत्व बुद्धि रखता है और विभावमें परत्व बुद्धि। इसीलिए वह बंधसे बचता है।

यह अधिकार २३७ से लेकर २८७ गाथा तक चलता है।

मोक्षाधिकार

आत्माकी सर्वकर्मसे रहित जो अवस्था है उसे मोक्ष कहते हैं। मोक्ष शब्द ही इसके पूर्व रहनेवाली बद्ध अवस्थाका प्रत्यय कराता है। मोक्षाधिकारमें मोक्षप्राप्तिके कारणोंका विचार किया गया है। प्रारंभमें ही कुंदकुंद स्वामी लिखते हैं -- जिस प्रकार चिरकालसे बंधनमें पड़ा हुआ पुरुष उस बंधनके तीव्र या मंद या मध्यमभावको जानता है तथा उसके कारणोंको भी समझता है परंतु उस बंधनका -- बेड़ीका छेदन नहीं करता है तो उस बंधनसे मुक्त नहीं हो सकता। इसी प्रकार जो जीव कर्मबंधके प्रकृति, प्रदेश, स्थिति और अनुभाग बंधको जानता है तथा उनकी स्थिति आदिको भी समझता है परंतु उस बंधको छेदनेका पुरुषार्थ नहीं करता तो वह उस कर्मबंधसे मुक्त नहीं हो सकता।

इस संदर्भमें कुंदकुंद स्वामीने बड़ी उत्कृष्ट बात कही है। मेरी समझसे वह उत्कृष्ट बात महाव्रताचरणरूप सम्यक् चारित्र है। हे जीव! तुझे श्रद्धान है कि मैं कर्मबंधनसे बद्ध हूँ और बद्ध होनेके कारणोंको भी जानता है, परंतु तेरा यह श्रद्धान और ज्ञान तुझे कर्मबंधसे मुक्त करनेवाला नहीं है। मुक्त करनेवाला तो यथार्थ श्रद्धान और ज्ञानके साथ

होनेवाला सम्यक् चारित्ररूप पुरुषार्थ ही है। जब तक तू इस पुरुषार्थको अंगीकृत नहीं करेगा तब तक बंधनसे मुक्त होना दुर्भर है। मात्र ज्ञान और दर्शनको लिए हुए तेरा सागरोंपर्यंतका दीर्घकाल योंही निकल जाता है पर तू बंधनसे मुक्त नहीं हो पाता। परंतु उस श्रद्धान ज्ञानके साथ जहाँ चारित्ररूपी पुरुषार्थको अंगीकृत करता है वहाँ तेरा कार्य बननेमें विलंब नहीं लगता।।

हे जीव! तू मोक्ष किसका करना चाहता है? आत्माका करना चाहता है। पर संयोगी पर्यायके अंदर तूने आत्माको समझा या नहीं? इस बातका तो विचार कर। कहीं इस संयोगी पर्यायको ही तूने आत्मा नहीं समझ रक्खा है? मोक्षप्राप्तिका पुरुषार्थ करनेके पहले आत्मा और बंधको समझना आवश्यक है। कुंदकुंद स्वामीने कहा है --

जीवो बंधो य तहा छिज्जंति सलक्खणेहिं णियएहिं।
बंधो छेएदव्वो सुद्धो अप्पा य घेत्तव्वो।।२९५।।

जीव और बंध अपने अपने लक्षणोंसे जाने जाते हैं सो जानकर बंध तो छेदनेके योग्य है और जीव -- आत्मा ग्रहण करनेके योग्य है।

शिष्य कहता है, भगवन्! वह उपाय तो बताओ जिसके द्वारा मैं आत्माका ग्रहण कर सकूँ। उत्तरमें कुंदकुंद महाराज कहते हैं --

कह सो घिप्पइ अप्पा पण्णाए सो उ घिप्पए अप्पा।
जह पण्णाइ विहत्तो तह पण्णा एव घित्तव्वो।।२९६।।

उस आत्माका ग्रहण कैसे किया जावे? प्रज्ञा -- भेदज्ञानके द्वारा आत्माका ग्रहण किया जावे। जिस तरह प्रज्ञासे उसे विभक्त किया था उसी तरह उसे प्रज्ञासे ग्रहण करना चाहिए।

पण्णाए घित्तव्वो जो चेदा सो अहं तु णिच्छयदो।
अवसेसा जे भावा ते मज्झ परेत्ति णायव्वा।।२९७।।

प्रज्ञाके द्वारा ग्रहण करनेयोग्य जो चेतयिता है वही मैं हूँ और अवशेष जो भाव हैं वे मुझसे पर हैं।

इस प्रकार स्वपरके भेदविज्ञानपूर्वक जो चारित्र धारण किया जाता है वही मोक्षप्राप्ति का वास्तविक पुरुषार्थ है। मोह और क्षोभसे रहित आत्माकी परिणतिको चारित्र कहते हैं। व्रत, समिति, गुप्ति आदि, इसी वास्तविक चारित्रकी प्राप्तिमें साधक होनेसे चारित्र कहे जाते हैं।

यह अधिकार २८८ से लेकर ३०७ गाथातक चलता है।

सर्वविशुद्ध ज्ञानाधिकार

आत्माके अनंत गुणोंमें ज्ञान ही सबसे प्रमुख गुण है। उसमें किसी प्रकारका विकार शेष न रह जावे, इसलिए पिछले अधिकारोंमें उक्त अनुक्त बातोंका एक बार फिरसे विचार कर ज्ञानको सर्वथा निर्दोष बनानेका प्रयत्न इस सर्वविशुद्ध ज्ञानाधिकारमें किया गया है।

'आत्मा परद्रव्यके कर्तृत्वसे रहित है' इसके समर्थनमें कहा गया है कि प्रत्येक द्रव्य अपने ही गुण-पर्यायरूप परिणमन करता है, अन्य द्रव्यरूप नहीं, इसलिए वह परका कर्ता नहीं हो सकता, अपने ही गुण और पर्यायोंका कर्ता हो सकता है। यही कारण है कि आत्मा कर्मोंका कर्ता नहीं है। कर्मोंका कर्ता पुद्गल द्रव्य है क्योंकि ज्ञानावरणादि रूप परिणमन पुद्गल द्रव्यमें ही हो रहा है। इसी तरह रागादिकका कर्ता आत्मा ही है, परद्रव्य नहीं, क्योंकि रागादिरूप परिणमन आत्मा ही करता है। निमित्तप्रधान दृष्टिको लेकर पहले अधिकारमें पुद्गलजन्य होनेके कारण रागको पौद्गलिक

कहा है। यहाँ उपादानप्रधान दृष्टिको लेकर कहा गया है कि चूँकि रागादिरूप परिणमन आत्माका होता है , अतः आत्माके है। अमृतचंद्रसूरिने तो यहाँ तक कहा है कि जो जीव रागादिकी उत्पत्तिमें परद्रव्यको ही निमित्त मानते हैं वे 'शुद्धबोधविधुरांधबुद्धि' हैं तथा मोहरूपी नदीको नहीं तैर सकते --

रागजन्मनि निमित्ततां परद्रव्यमेव कलयन्ति ये तु ते।
उत्तरन्ति न हि मोहवाहिनीं शुद्धबोधविधुरान्धबुद्धयः।।२२१।।

कितने ही महानुभाव अपनी एकान्त उपादानकी मान्यताका समर्थन करनेके लिए इस कलशका अवतरण दिया करते हैं पर वे श्लोकमें पड़े हुए 'एव' शब्दकी ओर दृष्टिपात नहीं करते। यहाँ अमृतचंद्रसूरि 'एव' शब्दके द्वारा यह प्रकट कर रहे हैं कि जो रागकी उत्पत्ति में परद्रव्यको ही कारण मानते हैं, स्वद्रव्यको नहीं मानते वे मोहनदीको नहीं तैर सकते। रागादिककी उत्पत्तिमें परद्रव्य निमित्त कारण है और स्वद्रव्य उपादान कारण है। जो पुरुष स्वद्रव्यरूप उपादान कारण न मानकर परद्रव्यको ही कारण मानते हैं -- मात्र निमित्त कारणसे ही उनकी उत्पत्ति मानते हैं वे मोहनदीको नहीं तैर सकते। यह ठीक है कि निमित्त, कार्यरूप परिणत नहीं होता परंतु कार्यकी उत्पत्तिमें उसका साहाय्य अनिवार्य आवश्यक है। अंतरंग बहिरंग कारणोंसे कार्यकी उत्पत्ति होती है, यह जिनागमकी सनातन मान्यता है। यहाँ जिस निमित्तके साथ कार्यका अन्वय व्यतिरेक रहता है वही निमित्त शब्दसे विवक्षित है इसका ध्यान रखना चाहिए।

आत्मा परका -- कर्मका कर्ता नहीं है, यह सिद्ध कर जीवको कर्मचेतनासे रहित सिद्ध किया गया है। इस तरह ज्ञानी जीव अपने ज्ञायक स्वभावका ही भोक्ता है, कर्मफलका भोक्ता नहीं है, यह सिद्ध कर उसे कर्मफलचेतनासे रहित सिद्ध किया गया है। ज्ञानी तो एक ज्ञानचेतनासे ही सहित है, उसीके प्रति उसकी स्वत्वबुद्धि रहती है।

इस अधिकारके अंतमें एक बात और बड़ी सुंदर कही गयी है। कुंदकुंद स्वामी कहते हैं कि कितने ही लोग मुनिलिंग अथवा गृहस्थके नाना लिंग धारण करनेकी प्रेरणा इसलिए करते हैं कि ये मोक्षमार्ग हैं, परंतु कोई लिंग मोक्षका मार्ग नहीं है, मोक्षका मार्ग तो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रकी एकता है। इसलिए --

मोक्खपहे अप्पाणं ठवेहि तं चेव झाहि तं चेया।
तत्थेव विहर णिच्चं मा विहरसु अण्णदव्वेसु।।४१२।।

मोक्षमार्गमें आत्माको लगाओ, उसीका ध्यान करो, उसीका चिंतन करो और उसमें विहार करो। अन्य द्रव्योंमें नहीं।

इस निश्चयपूर्ण कथनका कोई यह फलितार्थ न निकाल ले कि कुंदकुंद स्वामी मुनिलिंग और श्रावकलिंगका निषेध करते हैं। इसलिए वे लगे हाथ अपनी नयविवक्षाको प्रकट करते हैं --

ववहारिओ पुण णओ दोण्णि वि लिंगाणि भणइ मोक्खपहे।
णिच्छयणओ ण इच्छइ मोक्खपहे सव्वलिंगाणि।।४१४।।

परंतु व्यवहार नय दोनों नयोंको मोक्षमार्गमें कहता है और निश्चय नय मोक्षमार्गमें सभी लिंगोंको इष्ट नहीं मानता।

इस तरह विवादके स्थलोंको कुंदकुंद स्वामी तत्काल स्पष्ट करते हुए चलते हैं।जिनागमका कथन नयविवक्षापर अवलंबित है, यह तो सर्वसम्मत बात है, इसलिए व्याख्यान करते समय वक्ता अपनी नयविवक्षाको प्रकट करता चलें और भोक्ता (श्रोता ?) भी उस नयविवक्षासे व्याख्यात तत्त्वको उसी नयविवक्षासे ग्रहण करनेका प्रयास करें तो विसंवाद होनेका अवसर ही नहीं आवे।

यह अधिकार ३०८ से लेकर ४१५ गाथा तक चलता है।

स्याद्वादाधिकार और उपायोपेय भावाधिकार

ये अधिकार अमृतचंद्र स्वामीने स्वरचित आत्मख्याति टीकाके अंगरूप लिखे हैं। इतना स्पष्ट है कि समयप्राभृत या समयसार अध्यात्म ग्रंथ है। अध्यात्म ग्रंथोंका वस्तुतत्त्व सीधा आत्मासे संबंध रखनेवाला होता है। इसलिए उसके कथनमें निश्चयनयका आलंबन प्रधानरूपसे लिया जाता है। परपदार्थसे संबंध रखनेवाले व्यवहारनयका आलंबन गौण रहता है। जो श्रोता दोनों नयके प्रधान और गौण भावपर दृष्टि नहीं रखते उन्हें भ्रम हो सकता है। उनके भ्रमका निराकरण करनेके उद्देश्यसे ही अमृतचंद्र स्वामीने इन अधिकारोंका अवतरण किया है।

स्याद्वाद अधिकारमें उन्होंने स्याद्वादके वाच्यभूत अनेकान्तका समर्थन करनेके लिए तत्-अतत्, सत्-असत्, एक-अनेक, नित्य-अनित्य आदि अनेक नयोंसे आत्मतत्त्वका निरूपण किया है। अंतमें कलशकाव्योंके द्वारा इसी बातका समर्थन किया है। अमृतचंद्र स्वामीने अनेकान्तको परमागमका जीव-- प्राण और समस्त नयोंके विरोधको नष्ट करनेवाला माना है। जैसा कि उन्होंने स्वरचित 'पुरुषार्थसिद्ध्युपाय' ग्रंथके मंगलाचरणमें कहा है --

परमागमस्य जीवं निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम्।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम्।।२।।

आत्मख्याति टीकाके प्रारंभमें भी उन्होंने यही आकांक्षा प्रकट की है --

अनन्तधर्मणस्तत्वं पश्यन्ती प्रत्यगात्मनः।
अनेकान्तमयी मूर्तिर्नित्यमेव प्रकाशताम्।।२।।

अनेक धर्मात्मक परमात्मतत्त्वके स्वरूपका अवलोकन करनेवाली अनेकान्तमयी मूर्ति निरंतर ही प्रकाशमान रहे।।

इसी अधिकारमें उन्होंने जीवत्वशक्ति, चितिशक्ति आदि ४७ शक्तियोंका निरूपण किया है जो नयविवक्षाके परिज्ञानसे ही सिद्ध होता है।

उपायोपेयाधिकारमें उपायोपायभावकी चर्चा की गयी है, जिसका सार यह है --

पानेयोग्य वस्तु जिससे प्राप्त की जा सकती है वह उपाय है और उस उपायके द्वारा जो वस्तु प्राप्त की जा सकती है वह उपेय है। आत्मारूप वस्तु यद्यपि ज्ञानमात्र वस्तु है तो भी उसमें उपायोपेय भाव विद्यमान है। क्योंकि उस आत्मवस्तुके एक होनेपर भी उसमे साधक और सिद्धके भेदसे दोनों प्रकारका परिणाम देखा जाता है अर्थात् आत्मा ही साधक है और आत्मा ही सिद्ध है। उन दोनों परिणामोंमें जो साधकरूप है वह उपाय कहलाता है और जो सिद्धरूप है वह उपेय कहलाता है। यह आत्मा अनादिकालसे मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्रके कारण संसारमें भ्रमण करता है। जबतक व्यवहार रत्नत्रयको निश्चलरूपसे अंगीकार कर अनुक्रमसे अपने स्वरूपानुभवकी वृद्धि करता हुआ निश्चय रत्नत्रयकी पूर्णताको प्राप्त होता है तब तक तो साधकभाव है और निश्चय रत्नत्रयकी पूर्णतासे समस्त कर्मोंका क्षय होकर जो मोक्ष प्राप्त होता है वह सिद्धभाव है। इन दोनों भावरूप परिणमन ज्ञानका ही है, इसलिए वही उपाय है और वही उपेय है। यह गुणकी प्रधानतासे कथन है।

प्रवचनसार

प्रथम संस्कृत टीकाकार श्री अमृतचंद्रसूरिके मतानुसार प्रवचनसारमें २७५ गाथाएँ हैं और वह ज्ञानाधिकार,

ज्ञेयाधिकार तथा चारित्राधिकारके भेदसे तीन श्रुतस्कंधोंमें विभाजित है। प्रथम श्रुतस्कंधमें ९२, दूसरे श्रुतस्कंधमें १०८ और तीसरे श्रुतस्कंधमें ७५ गाथाएँ हैं। द्वितीय संस्कृत टीकाकार श्री जयसेनाचार्यके मतानुसार प्रवचनसारमें ३११ गाथाएँ हैं। जिनमें प्रथम श्रुतस्कंधमें १०१, द्वितीय श्रुतस्कंधमें ११२ और तृतीय श्रुतस्कंधमें ९७ गाथाएँ हैं। इन स्कंधोंमें प्रतिपादित विषयोंकी संक्षिप्त जानकारी इस प्रकार है --

१. ज्ञानाधिकार

चारित्र दो प्रकारका है -- सराग चारित्र और वीतराग चारित्र। प्रारंभमें इन दोनों चारित्रोंका फल बतलाते हुए कहते हैं कि दर्शन और ज्ञानकी प्रधानतासे युक्त चारित्रसे जीवको देव, धरणेंद्र और चक्रवर्ती आदिके विभवके साथ निर्वाणकी प्राप्ति होती है अर्थात् सराग चारित्रसे स्वर्गादिक और वीतराग चारित्रसे निर्वाण प्राप्त होता है। दोनोंका फल बतलाते हुए फलितार्थ रूपमें यह भाव भी प्रकट किया गया है कि चूँकि जीवका परम प्रयोजन निर्वाण प्राप्त करना है, अतः उसका साधक वीतराग चारित्र ही उपादेय है और स्वर्गादिककी प्राप्तिका साधक सराग चारित्र हेय है।

चारित्रका स्वरूप बतलाते हुए कहा है --

चारित्तं खलु धम्मो धम्मो जो सो समो त्ति णिद्दिट्ठो।
मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो हु समो।।७।।

अर्थात् चारित्र ही वास्तवमें धर्म है, आत्माका जो समभाव है वह धर्म कहलाता है तथा मोह -- मिथ्यात्व एवं क्षोभ -- राग द्वेषसे रहित आत्माका जो परिणाम है वह समभाव है। इस तरह चारित्र और धर्ममें एकत्व बतलाते हुए कहा है कि आत्माकी जो मोहजन्य विकारोंसे रहित परिणति है वही चारित्र अथवा धर्म है। ऐसा चारित्र जब इस जीवको प्राप्त होता है तभी वह निर्वाणको प्राप्त होता है। यही भाव हिंदीके महान् कवि प. दौलतरामजीने 'छहढाला'में प्रकट किया है -

'जो भाव मोहते न्यारे दृग ज्ञान व्रतादिक सारे।
सो धर्म जबहि जिय धारे तब ही सुख अचल निहारे।'

मोहसे पृथक् जो दर्शन ज्ञान व्रत आदिक आत्माके भाव हैं वे ही धर्म कहलाते हैं। ऐसा धर्म जब यह जीव धारण करता है तब ही अचल -- अविनाशी -- मोक्षसुखको प्राप्त होता है।

धर्मकी इस परिभाषासे, उसका पुण्यसे पृथक्करण स्वयमेव हो जाता है अर्थात् शुभोपयोग परिणतिरूप जो आत्माका पुण्यभाव है वह मोहजन्य विकार होनेसे धर्म नहीं है। उसे निश्चय धर्मका कारण होनेसे व्यवहारसे धर्म कहते हैं।

चारित्ररूप धर्मसे परिणत आत्मा यदि शुद्धोपयोगसे युक्त है तो वह निर्वाण सुखको -- मोक्षके अनंत आनंदको प्राप्त होता है और यदि शुभोपयोगसे सहित है तो स्वर्गसुखको प्राप्त होता है। चूँकि स्वर्गसुख प्राप्त करना ज्ञानी जीवका लक्ष्य नहीं है अतः उसके लिए यह हेय है।अशुभ, शुभ और शद्धके भेदसे उपयोगके तीन भेद हैं। अशुभोपयोगके द्वारा यह जीव कुमनुष्य, तिर्यंच तथा नारकी होकर हजारों दुःखोंको भोगता हुआ संसारमें भ्रमण करता है। तथा शुभोपयोगके द्वारा देव और चक्रवर्ती आदि उत्तम मनुष्य गति के सुख भोगता है। शुद्धोपयोगका फल बतलाते हुए कुंदकुंद स्वामीने शुद्धोपयोगके धारक जीवोंके सुखका कितना हृदयहारी वर्णन किया है। देखिए --

अइसयमादसमुत्थं विसयातीदं अणोवममणंतं।
अव्वुच्छिण्णं च सुहं सुद्धुवयोगप्पसिद्धाणं।।१३।।

शुद्धोपयोगसे प्रसिद्ध -- कृतकृत्यताको प्राप्त हुए अरहंत और सिद्ध परमेष्ठीको जो सुख प्राप्त होता है वह अतिशयपूर्ण है, आत्मोत्थ है, विषयोंसे परे है , अनुपम है, अनंत है तथा कभी व्युच्छिन्न -- नष्ट होनेवाला नहीं है।

शुद्धोपयोगके फलस्वरूप यह जीव उस सर्वज्ञ अवस्थाको प्राप्त करता है जिसमें इसके लिए कुछ भी परोक्ष नहीं रह जाता है। वह लोकालोकके समस्त पदार्थोंको एक साथ जानने लगता है। सर्वज्ञता आत्माका स्वभाव है परंतु वह राग परिणतिके कारण प्रकट नहीं हो पाता। दशम गुणस्थानके अंतमें ज्योंही वह रागपरिणतिका सर्वथा क्षय करता है त्योंही अंतर्मुहूर्तके भीतर नियमसे सर्वज्ञ हो जाता है। आगममें छद्मस्थ वीतरागका काल अंतर्मुहूर्तही बतलाया है जबकि वीतराग सर्वज्ञका काल सिद्ध पर्यायकी अपेक्षा सादि अनंत है। वेदान्त आदि दर्शनोंमें आत्माको व्यापक कहा है, परंतु कुंदकुंद स्वामी ज्ञानकी अपेक्षा ही आत्माको व्यापक कहते हैं। चूँकि आत्मा लोक-अलोकको जानता है अतः वह लोक-अलोकमें व्यापक है। प्रदेश-विस्तारकी अपेक्षा प्राप्त शरीरके प्रमाण ही है।

ज्ञान ज्ञेयको जानता है फिर भी उन दोनोंमें पृथक् भाव है। यह ज्ञानकी स्वच्छताका ही फल है। देखिए, कितना सुंदर वर्णन है --

ण पविट्ठो णाणिट्ठो णाणी णेयेसु रूवमिव चक्खू।
जाणदि पस्सदि णियदं अक्खातीदो जगमसेसं।।२९।।

जिस प्रकार चक्षु रूपको जानता है परंतु रूपमें प्रविष्ट नहीं होता और न रूपही चक्षुमें प्रविष्ट होता है उसी प्रकार इंद्रियातीत ज्ञानका धारक आत्मा समस्त जगत्को जानता है फिर भी उसमें प्रविष्ट नहीं होता है। ज्ञान और ज्ञेयके प्रदेश एक-दूसरेमें प्रविष्ट नहीं होते मात्र ज्ञान-ज्ञेयकी अपेक्षा ही इनमें प्रविष्टका व्यवहार होता है।

केवलज्ञानका धारक शुद्धात्मा, पदार्थोंको जानता हुआ भी उन पदार्थोंके रूप न परिणमन करता है, न उन्हें ग्रहण करता है और न उनमें उत्पन्न होता है इसलिए अबंधक कहा गया है। यथार्थमें ज्ञानकी हीनाधिकता बंधका कारण नहीं है किंतु उसके कालमें पायी जानेवाली राग द्वेषरूप परिणति ही बंधका कारण है। चूँकि केवलज्ञानी आत्मा राग द्वेषकी परिणतिसे रहित है अतः अबंधक है। यद्यपि सयोगकेवली अवस्थामें साता वेदनीयका बंध कहा गया है तथापि स्थिति और अनुभाव बंधसे रहित होनेके कारण उसकी विवक्षा नहीं की गयी है। गाथा निम्न प्रकार है --

ण वि परिणमदि ण गेण्हदि उप्पज्जदि णेव तेसु अत्थेसु।
जाणण्णवि ते आदा अबंधगो तेण पण्णत्तो।।५२।।

जिस प्रकार ज्ञान आत्माका अनुजीवी गुण है उसी प्रकार सुख भी आत्माका अनुजीवी गुण है। प्रत्येक अवस्थाके अंदर सुखका असीम सागर लहरा रहा है पर उस ओर आत्माका लक्ष्य नहीं जाता। अज्ञानावस्थामें यह आत्मा शरीरादि परपदार्थोंमें सुखका अन्वेषण करता है और उन्हें सुखका स्थान समझ उनमें रागभाव करता है। आचार्य महाराज आत्माकी इस भूलको निरस्त करनेके लिए कहते हैं कि यह आत्मा स्पर्शनादि इंद्रियोंके द्वारा इष्ट विषयको प्राप्त कर स्वयं स्वभावसे ही सुखरूप परिणमन करता है, शरीर सुखरूप नहीं है और न शरीर सुखका कारण है। शरीरमें वैक्रियिक शरीर सुखोपभोगकी अपेक्षा उत्तम माना जाता है, परंतु वह भी सुखका कारण नहीं है और न सुखका कारण है। जड़रूप शरीरसे चैतन्यगुणके अविनाभावी सुखकी उद्भूति नहीं हो सकती। विषयोंसे सुख नहीं होता, इस विषयमें देखिए कितना स्पष्ट कथन है --

तिमिरहरा जइ दिट्ठी जणस्स दीवेण णत्थि कादव्वं।
तध सोक्खं सयमादा विसया किं तत्थ कुव्वंति।।६७।।

जिस प्रकार जिस जीवकी दृष्टि अंधकारको हरनेवाली होती है उसे दीपकसे क्या प्रयोजन है? इसी प्रकार जिसकी आत्मा स्वयं सुखरूप है उसे विषयोंसे क्या प्रयोजन है?

ज्ञान और सुखका प्रगाढ़ संबंध है। चूँकि अरहंत अवस्थामें अतींद्रिय ज्ञान प्रकट हुआ है अतः अतींद्रिय सुख भी

उनके प्रकट होता है। अनंत ज्ञान होते ही अनंत सुख प्रकट हो जाता है। अनंत सुख आत्मजन्य है, उसमें इंद्रियोंकी सहायता अपेक्षित नहीं होती। यह आत्मजन्य सुख अरहंत तथा सिद्ध अवस्थामें ही प्रकट होता है। स्वाभाविक सुख देवोंके नहीं होता, क्योंकि वे पंचेंद्रियोंके समूहरूप शरीरकी पीड़ासे दुःखी होकर रमणीय विषयोंमें प्रवृत्ति करते हैं। जब तक यह आत्मा सुखानुभवके लिए रमणीय पदार्थोंकी अपेक्षा करता है तब तक उसे स्वाभाविक सुख प्राप्त नहीं हुआ है यह निश्चयसे समझना चाहिए। यह आत्मजन्य सुख शुद्धोपयोगसे ही प्राप्त हो सकता है, शुभोपयोगसे नहीं। शुभोपयोगके द्वारा इंद्र तथा चक्रवर्तीके पदको प्राप्त हुए जीव सुखी जैसे मालूम होते हैं परंतु परमार्थसे सुखी नहीं है। यदि परमार्थसे सुखी होते तो विषयोंमें -- पंचेंद्रियसंबंधी भोगोपभोगोंमें झंपापात नहीं करते।

शुभोपयोगके फलस्वरूप प्राप्त होनेवाले इंद्रियजन्य सुखका वर्णन देखिए कितना मार्मिक है --

सपरं बाधासहियं विच्छिण्णं बंधकारणं विषमं।
जं इंदिएहि लद्धं तं सोक्खं दुक्खमेव तहा।।७३।।

इंद्रियोंसे प्राप्त होनेवाला जो सुख है वह सपर -- पराधीन है, बाधासहित -- क्षुधा तृषा आदिकी बाधासे सहित है, विच्छिन्न -- बीच-बीचमें विनष्ट होता रहता है, बंधका कारण है तथा विषम है। वास्तवमें वह दुःखरूप ही है।

जब इंद्रियजन्य सुखको परमार्थसे दुःखकी श्रेणीमें ही रख दिया तब पुण्य और पापमें अंतर नहीं रह जाता। दोनोंही सांसारिक दुःखके कारण होनेसे समान हैं। सांसारिक दुःखोंसे उत्तीर्ण होकर शाश्वत सुखकी प्राप्तिके लिए तो शुद्धोपयोग ही शरण ग्राह्य है। पुण्य और पापकी समानता को सिद्ध करते हुए कहा है --

ण हि मण्णदि जो एवं णत्थि विशेषो त्ति पुण्णपावाणं।
हिंडदि घोरमपारं संसारं मोहसंछण्णो।।७७।।

पुण्य और पापमें विशेषता नहीं है -- समानता है, ऐसा जो नहीं मानता है वह मोहसे आच्छादित होता हुआ भयंकर अपार संसारमें भ्रमण करता रहता है।

मोहसे किस प्रकार निर्मुक्त हुआ जा सकता है, इसका समाधान करते हुए लिखा है --

जो जाणदि अरहंतं दव्वत्तगुणत्तपज्जयत्तेहिं।
सो जाणदि अप्पाणं मोहो खलु जादि तस्स लयं।।८०।।

जो द्रव्य, गुण और पर्यायकी अपेक्षा अरहंतको जानता है वह आत्माको जानता है और जो आत्माको जानता है उसका मोह नियमसे नाशको प्राप्त होता है। भाव यह है कि मोहसे संबंध छुड़ानेके लिए इस जीवको सबसे पहले शुद्ध आत्मस्वभावकी ओर अपना लक्ष्य बनाना आवश्यक है। ज्योंही यह जीव अपने ज्ञाता द्रष्टा स्वरूपकी ओर लक्ष्य करता है, त्योंही बुद्धिपूर्वक होनेवाले रागादिक भाव नष्ट होने लगते हैं।

कहा भी है --

जीवो ववगदमोहो उवलद्धो तच्चमप्पणो सम्मं।
जहदि जदि रागदोसे सो अप्पाणं लहदि सुद्धं।।८१।।

मोहसे रहित और आत्मासे पृथक् स्वरूपको प्राप्त हुआ जीव यदि राग और द्वेषको छोड़ता है तो शुद्ध आत्माको प्राप्त हो जाता है। आजतक जितने अरहंत हुए हैं वे इसी कर्मोंके विविध अंशों -- चार घातिया कर्मोंको नष्ट कर अरहंत हुए हैं तथा उपदेश देकर अंतमें निर्वाणको प्राप्त हुए हैं।

मोहक्षयका दूसरा उपाय बतलाते हुए कहा है --

जिणसत्थादो अट्ठे पच्चक्खादीहिं बुज्झदो णियमा।
खीयदि मोहोवचयो तम्हा सत्थं समधिदव्वं।।८६।।

जो पुरुष प्रत्यक्षादि प्रमाणोंके द्वारा जिनप्रणीत शास्त्रसे जीवाजीवादि पदार्थोंका ज्ञान प्राप्त करता है उसके मोहका संचय नियमसे नष्ट हो जाता है, इसलिए शास्त्रका अध्ययन करना चाहिए।

द्रव्य, गुण और पर्यायको अर्थ कहते हैं। संसारका प्रत्येक पदार्थ इन तीन रूप ही है अतः इनका ज्ञान लेना आवश्यक है। चूँकि इनका यथार्थ ज्ञान जिनेंद्र प्रतिपादित शास्त्रसे ही हो सकता है इसलिए इन शास्त्रोंका अध्ययन करन आवश्यक है।

मोहक्षयका तीसरा उपाय बतलाते हुए कहा है --

माणप्पगमप्पाणं परं च दव्वत्तणाहिसंबद्धं।
जाणदि यदि णिच्छयदो जो सो मोहक्खयं कुणदि।।८९।।

जो जीव द्रव्यत्वसे संबद्ध ज्ञानस्वरूप आत्माको तथा शरीरादि परद्रव्यको जानता है वह निश्चयसे मोहका क्षय करता है। तात्पर्य यह है कि स्वपरका भेदविज्ञान मोहक्षयका कारण है।

उपर्युक्त पंक्तियोंमें मोहक्षयके जो तीन उपाय बतलाये हैं वे पृथक्-पृथक् न होकर एक-दूसरेसे संबंद्ध हैं। प्रथम उपायमें आत्मलक्ष्यकी ओर जोर दिया गया है और उसका माध्यम अरहंतका ज्ञान बताया गया है अर्थात् अरहंतके द्रव्य गुण पर्याय और अपने द्रव्य गुण पर्यायका तुलनात्मक मनन करनेसे इस जीवका लक्ष्य परसे हटकर स्वकी ओर आकृष्ट होता है और जब स्वकी ओर लक्ष्य आकृष्ट होने लगा तब मोहको नष्ट होनेमें विलंब नहीं लगता। जो मनुष्य दर्पणके माध्यमसे अपने चेहरेपर लगे हुए कालुष्यको देख रहा है वह उसे नष्ट करनेका पुरुषार्थ न करे यह संभव नहीं है। जो जीव मोह -- मिथ्यात्वको नष्ट कर चुकता है वह मोहके आश्रयसे रहनेवाले राग द्वेषको स्थिर नहीं रख सकता। मिथ्यात्व यदि जड़के समान है तो राग द्वेष उसकी शाखाओंके समान हैं। जड़के नष्ट होनेपर शाखाएँ हरी-भरी नहीं रह सकतीं। प्रथम उपायमें इस जीवका लक्ष्य स्वरूपकी ओर आकृष्ट किया गया था परंतु स्वरूपमें लक्ष्यकी स्थिरता आगम ज्ञानके बिना संभव नहीं है इसलिए द्वितीय उपायमें शास्त्राध्ययनकी प्रेरणा की गयी है। मूलतः वीतराग सर्वज्ञ देवके द्वारा प्रतिपादित और परतः संसार-शरीर भोगोंसे निर्विण्ण परमर्षियोंके द्वारा रचित शास्त्रोंके स्वाध्यायसे स्वरूपकी श्रद्धामें बहुत स्थिरता आती है। तृतीय उपायमें स्वपर भेदविज्ञानकी ओर प्रेरित किया है। स्वाध्यायका फल तो स्व -- अपने शुद्ध स्वरूपका जानना ही है। जिसने ग्यारह अंग और नौ पूर्वोंका अध्ययन करके भी स्वको नहीं जाना उसका उतना भारी अध्ययन भी निष्फल ही कहा जाता है। जहाँ स्वका ज्ञान होता है वहाँ परका ज्ञान अवश्य होता है, अतः स्वपर भेदविज्ञानही शास्त्रस्वाध्यायका फल है तथा यही मोहक्षयका प्रमुख साधन है। इस प्रकार तीनों उपायोंमें अपृथक्ता है।

इस स्कंध (अध्याय)के अंतमें कहा गया है --

जो णिहदमोहदिट्ठी आगमकुसलो विरागचरियम्मि।
अब्भुट्ठिदो महप्पा धम्मो त्ति विसेसिदो समणो।।९२।।

जिसने मोहदृष्टि -- मिथ्यात्वको नष्ट कर दिया है, जो आगममें कुशल है -- आगमका यथार्थ ज्ञाता है और विरागचर्या -- वीतराग चारित्रमें उद्यमवंत है ऐसा महान् -- श्रेष्ठ आत्माका धारक श्रमण -- साधु 'धर्म है' इस प्रकार कहा गया है। यहाँ धर्म-धर्मीमें अभेद विवक्षा कर धर्मीको ही धर्म कहा गया है।

ज्ञेयतत्त्वाधिकार

जो ज्ञानका विषय हो उसे ज्ञेय तत्त्व कहते हैं। सामान्य रूपसे ज्ञानका विषय अर्थ है। अर्थ द्रव्यमय है और द्रव्य गुण-पर्यायरूप है। इस तरह विस्तारसे द्रव्य, गुण और पर्यायका त्रिक ही ज्ञानका विषय है, वही ज्ञेय है, इसीका इस द्वितीय श्रुतस्कंधमें वर्णन किया गया है। गुण, सामान्य और विशेषके भेदसे दो प्रकारके होते हैं। अस्तित्व, वस्तुत्व, प्रमेयत्व, अगुरुलघुत्व आदि सामान्य गुण हैं क्योंकि ये सभी द्रव्योंमें पाये जाते हैं और चेतनत्व, मूर्तत्व, अमूर्तत्व आदि विशेष गुण हैं। क्योंकि ये खास-खास द्रव्योंमें ही पाये जाते हैं। गुण, द्रव्यका सहभावी विशेष है और पर्याय क्रमभावी परिणमन है। जो जीव, पर्यायको ही सबकुछ समझकर उसीमें मूढ़ रहता है -- इष्ट-अनिष्ट पर्यायमें राग द्वेष करता है उसे **'पज्जयमूढा हि परसमया'** इन शब्दोंके द्वारा पर्यायमूढ और परसमय कहा गया है। स्वसमय और परसमयका विभाग करते हुए कुंदकुंद स्वामीने कहा है--

जे पज्जयेसु विरदा जीवा परसमयिगत्ति णिद्दिट्ठा।
आदासहावम्मि ठिदा ते सगसमया मुणेयव्वा।।२।।

जो जीव पर्यायोंमें निरत -- लीन हैं वे परसमय कहे गये हैं और जो आत्मस्वभावमें स्थित हैं वे स्वसमय जाननेयोग्य हैं। ज्ञाता, द्रष्टा रहना आत्माका स्वभाव है, रागी द्वेषी होना विभाव है तथा नर नारकादि अवस्थाएँ धारण करना आत्माकी पर्यायें हैं। जो जीव, पदार्थोंका ज्ञाता द्रष्टा है अर्थात् उन्हें विराग भावसे जानता देखता है वह स्वसमय है किंतु जो इससे विपरीत पदार्थोंको जानता हुआ राग द्वेष करता है और उसके फलस्वरूप कर्मबंध कर नर नारकादि पर्यायोंमें भ्रमण करता है वह परसमय है।

द्रव्यका लक्षण बतलाते हुए कहा है

अपरिचत्त सहावेणुप्पादव्वयधुवत्तसंबद्धं।
गुणवं च सपज्जायं जत्तं दव्वत्ति वुच्चंति।।३।।

जो अपने स्वभावको न छोड़ता हुआ उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यसे संबद्ध है अथवा गुण और पर्यायोंसे सहित है उसे द्रव्य कहते हैं। सामान्य रूपसे द्रव्यका लक्षण 'सत्' कहा है और सत् वह है जो उत्पाद व्यय और ध्रौव्यसे तन्मय हो। उत्पादके विना व्यय नहीं हो सकता ओर व्ययके बिना उत्पाद नहीं हो सकता और ध्रौव्यके बिना उत्पाद व्यय -- दोनों नहीं हो सकते। इससे सिद्ध है कि उत्पादादि तीनों परस्पर अविनाभावको प्राप्त हैं। यद्यपि उत्पादादि तीनों पर्यायोंमें होते हैं, परंतु पर्याय द्रव्यसे अभिन्न है इसलिए द्रव्यके कहे जाते हैं। द्रव्य गुणी है सत्ता गुण है। गुणगुणीमें प्रदेशभेद नहीं होता इसलिए इनमें पृथक्त्व नहीं है। परंतु गुण और गुणीका भेद है, संज्ञा लक्षण आदिकी विभिन्नता है इसलिए अन्यत्व विद्यमान है। पृथक्त्व और अन्यत्वका लक्षण इस प्रकार बतलाया है --

पविभत्तपदेसत्तं पुथत्तमिदि सासणं हि वीरस्स।
अण्णत्तमतब्भावो ण तब्भवं भवदि कथमेगं।।१४।।

अविभक्त प्रदेशोंका होना 'पृथक्त्व' है और प्रदेशभेद न होनेपर भी तद्रूप नहीं होना 'अतद्भाव' है।

इस तरह सामान्य रूपसे द्रव्यका लक्षण कहकर उसके चेतन और अचेतनकी अपेक्षा दो भेद किये हैं। चेतन द्रव्य सिर्फ जीव ही है और अचेतन द्रव्य, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और कालके भेदसे पाँच प्रकारका है। इन्हीं द्रव्योंके लोक और अलोककी तथा मूर्त और अमूर्तकी अपेक्षा भी दो-दो भेद किये हैं। अलोक सिर्फ आकाशरूप है और लोक षड्द्रव्यमय है। मूर्त, पुद्गल द्रव्य है और अमूर्त शेष पाँच द्रव्यरूप है। चूँकि पुद्गल द्रव्य मूर्त है इसलिए उसके

स्पर्श, रस, गंध और रूप नामक गुण भी मूर्त हैं और जीवादि पाँच द्रव्य अमूर्त हैं इसलिए उनके गुण भी अमूर्त हैं।

जीवादिक समस्त द्रव्य अपना-अपना स्वतःसिद्ध अस्तित्व रखते हैं और लोकाकाशमें एक क्षेत्रावगाह रूपसे स्थित होनेपर भी अपनी-अपनी स्वतंत्र सत्ताको नहीं छोड़ते हैं। इन जीवादि द्रव्योंमें काल द्रव्य एकप्रदेशी है क्योंकि वह एकप्रदेशी होकर भी अपना कार्य करनेमें पूर्ण समर्थ है। परंतु अन्य पाँच द्रव्य बहुप्रदेशी है क्योंकि उनका एकप्रदेश स्वद्रव्य रूपसे कार्य करनेमें समर्थ नहीं है अथवा स्वभावसे ही कालद्रव्य एकप्रदेशी और शेष पाँच द्रव्य बहुप्रदेशी हैं। बहुप्रदेशी द्रव्योंको अस्तिकाय कहा है और एकप्रदेशी द्रव्यको अनस्तिकाय कहा है।

यद्यपि जीवद्रव्य स्वभावकी अपेक्षा कर्मरूप पुद्गल द्रव्यके संबंधसे रहित है तथापि अनादिकालसे इनका परस्पर संयोग संबंध चला आ रहा है। कर्मरूप पुद्गल द्रव्यके संबंधसे जीव मलिन हो रहा है और मलिन होनेके कारण बार-बार इंद्रियादि प्राणोंको धारण करता है। देखिए, कितना मार्मिक वचन है --

आदा कम्ममलिमसो धारदि पाणे पुणो पुणो अण्णे।
ण जहदि जाव ममत्तं देहपधाणेसु विसयेसु।।५८।।

कर्मसे मलिन आत्मा जब तक शरीरादि विषयोंमें ममत्वभावको नहीं छोड़ता तब तक बार-बार अन्य प्राणोंको धारण करता रहता है।

इसके विपरीत प्राणधारण करनेसे कौन छूटता है, इसका वर्णन देखिए --

जो इंदियादिविजई भवीय उवओगमप्पगं ज्ञादि।
कम्मेहि सो ण रज्जदि किह तं पाणा अणुचरंति।।५९।।

जो इंद्रियादिका विजयी होकर उपयोगस्वरूप आत्माका ध्यान करता है वह कर्मोंसे रक्त नहीं होता तथा जो कर्मोंसे रक्त नहीं होता, प्राण उसका अनुचरण -- पीछा कैसे कर सकते हैं?

छह द्रव्योंमें प्रयोजनभूत द्रव्य जीव ही है अतः उसका विशेष विस्तारसे वर्णन करना आचार्यको अभीष्ट है। जीव द्रव्यकी विशेषता बतलाते हुए उन्होंने कहा है कि आत्मा -- जीव उपयोगात्मक है अर्थात् उपयोग ही आत्माका लक्षण है। वह उपयोग, ज्ञान और दर्शनके भेदसे दो प्रकारका कहा गया है। यही उपयोग अशुद्ध और शद्धके भेदसे दो प्रकारका होता है। अशुद्ध उपयोगके शुभ और अशुभकी अपेक्षा दो भेद हैं। जीवका जो उपयोग अरहंत, सिद्ध तथा साधु परमेष्ठियोंको जानता है , उनकी श्रद्धा तथा भक्ति करता है तथा अन्य जीवोंपर अनुकंपासे सहित होता है वह शुभ उपयोग कहलाता है और जो विषयकषायोंसे परिपूर्ण है, मिथ्या शास्त्रश्रवण, दुर्ध्यान और दुष्ट जनोंकी गोष्ठीसे सहित है, उग्र है तथा उन्मार्गमें तत्पर है वह अशुभ उपयोग है। तथा जो अशुभ विकल्पसे हटकर मध्यस्थ भावसे अपने ज्ञान दर्शन स्वभावका ध्यान करता है वह शुद्ध उपयोग है। जब जीवके शुभोपयोग होता है तब वह पुण्यका संचय करता है। जब अशुभोपयोग होता है तब पापका संचय करता है और जब शुभ अशुभ -- दोनों उपयोगोंका अभाव होकर जीव स्वयं शुद्धोपयोग होता है तब किसी भी कर्मका संचय नहीं करता। अर्थात् शुद्धोपयोग कर्मबंधका कारण नहीं है।

शुद्धोपयोगी बननेके लिए इस जीवको शरीरादि परद्रव्योंसे पृथग्भावका चिंतन करना होता है। जैसा कि कहा है

नाहं देहो न मणो ण चेव वाणी ण कारणं तेसिं।
कत्ता ण ण कारयिता अणुमंता णेव कत्तीणं।।६८।।

ऐसा चिंतन करना चाहिए कि "मैं शरीर नहीं हूँ। मन नहीं हूँ। वाणी नहीं हूँ। तथा इन सबके जो कारण हैं मैं उनका न कर्ता हूँ, और न अनुमंता ही हूँ।" क्योंकि ये सब पुद्गल द्रव्यके परिणमन हैं, उनका कर्ता मैं कैसे हो सकता हूँ।

पुद्गलके, परमाणु और स्कंधकी अपेक्षा दो भेद हैं। परमाणु एकप्रदेशी है, एक रूप, एक रस, एक गंध और दो स्पर्शों -- शीत उष्ण अथवा स्निग्ध-रूक्षमेंसे एक एकसे सहित है, शब्दरहित है। तथा दो से लेकर संख्यात, असंख्यात और अनंत परमाणुओंका जो पिंड है वह स्कंध कहलाता है। परमाणु, अपने स्निग्ध और रूक्षगुणके कारण दूसरे परमाणुओंके साथ मिलकर स्कंध अवस्थाको प्राप्त होता है। परमाणुमें पाये जानेवाले स्निग्ध और रूक्ष गुणोंके एकसे लेकर अनंत तक अविभाग प्रतिच्छेद होते हैं। इन सभी प्रतिच्छेदोंमें अगुरुलघुगुणरूप अंतरंग कारण और कालद्रव्यरूप बहिरंग कारणके सहयोगसे षड्गुणी हानि और वृद्धि होती रहती है। हानि चलते चलते जब स्निग्ध और रूक्ष गुणका एक अविभाग प्रतिच्छेद रह जाता है तब वह परमाणु जघन्य गुणवाला परमाणु कहलाता है। ऐसे परमाणुका दूसरे परमाणुके साथ बंध नहीं होता। पुनः वृद्धिका दौर शुरू होनेपर जब वह अविभाग प्रतिच्छेद एकसे बढ़कर अधिक संख्याको प्राप्त हो जाता है तब सामान्य अपेक्षासे फिर उस परमाणुका बंध होने लगता है। दो अधिक गुणवाले परमाणुओंमें बंध योग्यता होती है, गुणोंकी समानता होनेपर सदृश गुणवाले परमाणुओंका बंध नहीं होता। यह बंध स्निग्ध स्निग्धका, रूक्ष रूक्षका, तथा स्निग्ध और रूक्षका भी होता है। अविभाग प्रतिच्छेदोंकी संख्या तीन पाँच आदि विषय हो अथवा दो चार आदि सम हो, दोनों ही अवस्थाओंमें बंध होता है। विशेषता इतनी है कि जघन्य गुणवाले परमाणुओंका बंध नहीं होता। इसके लिए कुंदकुंद स्वामीकी निम्न गाथा है --

णिद्धा वा लुक्खा वा अणुपरिणामा समा व विसमा वा।
समदो दुराधिगा जदि वज्झंति हि आदि परिहीणा।।७३।।

अर्थ ऊपरके विवेचनसे स्पष्ट है।

इसी संदर्भमें अमृतचंद्र स्वामीने ७४ वीं गाथाकी संस्कृत टीकामें निम्नांकित प्राचीन श्लोक 'उक्तं च' कहकर उद्धृत किये हैं --

'णिद्धा णिद्धेण बज्झंति लुक्खा लुक्खा य पोग्गला।
णिद्ध लुक्खा य बज्झंति रूवा रूवी य पोग्गला।।'
'णिद्धस्स णिद्धेण दुराहियेण लुक्खस्स लुक्खस्स दुराहियेण।
णिद्धस्स लुक्खेण हवेइ बंधो जहण्णवज्जे विसमे समे वा।।'

पुद्गल परमाणुओंके बंधकी यह प्रक्रिया अनादिकालसे चली आ रही है।

इस प्रकार नोकर्म वर्गणाओंके परस्पर संबंधसे निर्मित शरीरसे ममत्वभाव छोड़कर जो स्थिर रहता है वह कर्म और नोकर्मके संबंधसे दूर हटकर निर्वाण अवस्थाको प्राप्त होता है। नोकर्मरूप शरीरादि परद्रव्योंसे आत्माको पृथक् करनेके लिए उसके शुद्ध स्वरूपपर बार-बार दृष्टि देना चाहिए।

आत्माके साथ कर्मोंका बंध क्यों हो रहा है? इसका समाधान आचार्य महाराजने बहुत ही सारपूर्ण शब्दोंमें दिया है। देखिए --

रत्तो बंधदि कम्मं मुंचदि कम्मेहिं रागरहिदप्पा।
एसो बंधसमासो जीवाणं जाण णिच्छयदो।।८७।।

रागी जीव कर्मोंको बांधता है और रागसे रहित आत्मा कर्मोंसे मुक्त होता है, निश्चय नयसे जीवोंके कर्मबंधका यह संक्षिप्त कथन है।

वास्तवमें जीवकी रागपरिणति ही कर्मबंधका कारण है, अतः आत्माके वीतराग भावका लक्ष्य कर रागको दूर

करनेका पुरुषार्थ करना चाहिए।

'शरीर, धन, सांसारिक सुख-दुःख, शत्रु तथा मित्र आदि, इस जीवके नहीं हैं, क्योंकि ये सब अध्रुव -- विनश्वर हैं। एक उपयोगरूप ध्रुव आत्मा ही आत्माका है' ऐसा विचार कर जो स्वपरका भेदज्ञान करता हुआ 'स्व'का ध्यान करता है वही मोहकी सुदृढ़ गाँठको नष्ट करता है। जो मोहकी गाँठको नष्ट कर चुकता है अर्थात् मिथ्यात्वको छोड़ चुकता है -- 'परपदार्थ सुख-दुःखके कर्ता हैं' इस मिथ्या मान्यताको निरस्त कर चुकता है वही रागद्वेषको नष्ट कर श्रमण अवस्थामें, सुख-दुःखमें समताभाव रखता हुआ अविनाशी स्वाधीन सुखको प्राप्त होता है।

इस प्रकार द्वितीय श्रुतस्कंधमें ज्ञेयतत्त्वोंका विस्तारसे वर्णन कर जीवको स्वयं स्वसन्मुख होनेका उपदेश दिया गयाहै। आत्मासे अतिरिक्त पदार्थ ज्ञेय तो हो सकते हैं, पर ग्राह्य नहीं हो सकते। ग्राह्य एक स्वकीय शुद्ध आत्मा ही हो सकता है।

चारित्राधिकार

चारित्राधिकारका प्रारंभ करते हुए कुंदकुंद स्वामी कहते हैं --

'पडिवज्जइ सामण्णं जदि इच्छसि दुक्खपरिमोक्खं'।।१।।

दुःखोंसे यदि परिमोक्ष -- पूर्ण मुक्ति चाहते हो तो श्रामण् -- मुनिपद धारण करो।

सम्यग्दर्शनसे मोक्षमार्ग शुरू होता है और सम्यक्चारित्रसे उसकी पूर्णता होती है।[१] जबतक सम्यक्चारित्र -- परम यथाख्यात चारित्र नहीं होता तब तक यह जीव मोक्षको प्राप्त नहीं होता। इसलिए मोक्षका साक्षात् मार्ग चारित्र है, यह जानकर चारित्र धारण करनेका प्रयास करना चाहिए। यहाँ इतना स्मरणीय है कि कुंदकुंद स्वामी प्रारंभमें ही चारित्रकी परिभाषा कहते हुए लिख चुके हैं कि मोह और क्षोभसे रहित आत्माकी परिणति ही साम्यभाव है और ऐसा साम्यभाव ही चारित्र कहलाता है। ऐसे चारित्रसे ही कर्मोंका क्षय होकर शाश्वत सुखकी प्राप्ति होती है। चारित्रगुणका पूर्ण विकास मुनिपदमें होता है अतः मुनिपद धारण करनेके लिए आचार्यने भव्यजीवोंको संबोधित किया है। जो भव्य जीव मुनिपदको धारण करनेके लिए उत्सुक होता है उसे सर्वप्रथम क्या करना चाहिए? इसका उल्लेख करते हुए कहा है --

आपिच्छ बंधुवग्गं विमोइदो गुरुकलत्तपुत्तेहिं।
आसिज्ज णाणदंसणचरित्ततववीरियासारं।।२।।

बंधुवर्गसे पूछकर तथा माता पिता स्त्री पुत्रोंसे छुटकारा पाकर ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और वीर्य इन पाँच आचारोंको प्राप्त करें। बंधुवर्ग तथा माता-पिता आदि गुरुजनोंसे किस प्रकार आज्ञा प्राप्त करे इसका वर्णन अमृतचंद्र स्वामीने बहुत ही सुंदर किया है --

'एवं बन्धुवर्गमापृच्छते -- अहो इदंजनशरीरबन्धुवर्गवर्तिन आत्मानः अस्य जीवस्य आत्मा न किञ्चिदपि युष्माकं भवतीति निश्चयेन यूयं जानीत। तत आपृष्टा यूयं अयमात्मा अद्योदि्भन्नज्ञानज्योतिः आत्मानमेवात्मनोऽनादिबन्धुमुपसर्पति।'

१. अत्राह शिष्यः -- केवलज्ञानोत्पत्तौ मोक्षकारणभूतरत्नत्रयपरिपूर्णतायां सत्यां तस्मिन्नेव क्षणे मोक्षेण भाव्यं सयोग्ययोगिजिनगुणस्थानद्वये कालो नास्तीति। परिहारमाह -- यथाख्यातचारित्रं जातं परं किन्तु परमयथाख्यातं नास्ति। अत्र दृष्टान्तः -- यथा चौरव्यापाराभावेऽपि पुरुषस्य चौरसंसर्गो दोषं जनयति तथा चारित्रविनाशक-चारित्रमोहोदयाभावेऽपि सयोगकेवलिनां निष्क्रियशुद्धात्मचरणविलक्षणो योगत्रयव्यापारश्चारित्रमलं जनयति, योगत्रयगते पुनरयोगिजिने चरमसमयं विहाय शेषघातिकर्मोदयश्चारित्रमलं जनयति, चरमसमये तु मन्दोदये सति चारित्रमलाभावान्मोक्षं गच्छति। -- बृहद्द्रव्यसंग्रहे गाथा १३.

'मुनिपद धारनेके लिए इच्छुक भव्य अपने बंधुवर्गसे पूछता है -- हे इस जनके शरीरसंबंधी बंधुजनोंके शरीरमे रहनेवाले आत्माओ! इस जनका आत्मा आप लोगोंका कुछ भी नहीं है यह आप निश्चयसे जानो, इसीलिए आपसे पूछा जा रहा है। आज इस जनकी ज्ञानज्योति प्रकट हुई है अतएव यह आत्मा अनादि बंधुस्वरूप जो स्वकीय आत्मा है उसीके समीप जाता है।'

इस तरह समस्त लोगोंसे आज्ञा प्राप्त कर गृहबंधनसे मुक्त हो, गुणी तथा कुल रूप वय आदिसे विशिष्ट योग्य गणी -- आचार्यके पास जाकर उनसे प्रार्थना करता है -- हे भगवन्! मुझे स्वीकृत करो -- चरणोंमें आश्रय प्रदान करो। मैंने निश्चय कर लिया है कि मैं अन्य लोगोंका नहीं हूँ और अन्यलोग मेरे नहीं हैं -- मेरा किसीके साथ ममत्वभाव नहीं है, इसलिए मैं यथाजात -- दिगंबर मुद्राका धारक बनना चाहता हूँ।

शिष्यकी योग्यता देखकर आचार्य उसे पाँच महाव्रत, पाँच समिति, पाँच इंद्रियदमन, छह आवश्यक, केशलोच, आचेलक्य, अस्नान, भूमिशयन, अदंतधावन, खड़े-खड़े भोजन करना और दिनमें एक ही बार भोजन करना .... इन अट्ठाईस मूलगुणोंका उपदेश देकर उसे यथाजात -- निर्ग्रंथवेषको प्रदान करते हैं जो मूर्च्छा तथा आरंभ आदिसे रहित है और अपुनर्भव -- मोक्षका कारण है।

मुनिमुद्राको धारण कर भव्य जीव अपने ज्ञानदर्शन स्वभावमें लीन रहता हुआ बाह्यमें अट्ठाईस मूलगुणोंका निरतिचार पालन करता है। वह सदा प्रमाद छोड़कर गमनागमन आदि क्रियाओंको करता है। क्योंकि जिनागमका कथन है कि जीव मरे अथवा न मरे जो अयत्नाचारपूर्वक चलता है उसके हिंसा निश्चित रूपसे होती है और जो यत्नाचारपूर्वक चलता है उसके जीवघात होनेपर भी हिंसाजनित बंध नहीं होता है।

साधुको यह त्याग परनिरपेक्ष -- परपदार्थोंकी अपेक्षासे रहित होकर ही करना चाहिए, क्योंकि जो साधु परपदार्थोंकी अपेक्षा रखता है उसके अभिप्रायकी निर्मलता नहीं हो सकती और अभिप्रायकी निर्मलताके बिना कर्मोंका क्षय नहीं हो सकता। गृहीत प्रवृत्तिमें दोष लगनेपर आचार्यके समीप उसका प्रतिक्रमण करता है और आगामी कालके लिए उस दोषका प्रत्याख्यान करता है।

निर्ग्रंथ साधु आगमका अध्ययन कर अपनी श्रद्धाको सुदृढ़ और चारित्रको निर्दोष बनाता है। आगमके स्वाध्यायकी उपयोगिता बतानेके लिए कुंदकुंद स्वामी कहते हैं --

आगमहीणो समणो णेवप्पाणं परं वियाणादि।
अविजाणंतो अत्थे खवेदि कम्माणि किध भिक्खू।।३३।।

आगमसे रहित साधु निज और परको नहीं जानता तथा जो निज और परको नहीं जानता अर्थात् भेदज्ञानसे रहित है वह कर्मोंका क्षय कैसे कर सकता है?

आगमचक्खू साहू इंदियचक्खूणि सव्वभूदाणि।
देवा य ओहिचक्खू सिद्धा पुण सव्वदो चक्खू।।३४।।

मुनि आगमचक्षु है, संसारके समस्त प्राणी इंद्रियचक्षु हैं, देव अवधिचक्षु हैं और सिद्ध सर्वतश्चक्षु हैं, अर्थात् मुनि आगमसे सब कुछ जानते हैं, संसारके साधारण प्राणी इंद्रियोंसे जानते हैं, देव अवधिज्ञानसे जानते हैं और सिद्ध भगवान् केवलज्ञानके द्वारा समस्त पदार्थोंको जानते हैं।

आगमपुव्वा दिट्ठी ण भवदि जस्सेह संजमो तस्स।
णत्थित्ति भणइ सुत्तं असंजदो हवदि किध समणो।।३६।।

जिसके आगमपूर्वक दृष्टि नहीं है अर्थात् आगमका स्वाध्याय कर जिसने अपनी तत्त्वश्रद्धाको सुदृढ़ नहीं किया है उसके संयम नहीं होता, ऐसा जिनशास्त्र कहते हैं। फिर भी जो असंयमी है -- संयमसे रहित है वह श्रमण -- साधु कैसे हो सकता है?

आगमका अध्ययनमात्र ही कार्यकारी नहीं है, तत्त्वार्थका श्रद्धान भी कार्यकारी है और मात्र श्रद्धान ही कार्यकारी नहीं है उसके साथ संयमका आचरण भी कार्यकारी है। इस विषयको देखिए, कुंदकुंद स्वामी कैसा स्पष्ट करते हैं --

ण हि आगमेण सिज्झदि सद्दहणं जदि ण अत्थि अत्थेसु ।
सद्दहमाणो अत्थे असंजदो वा ण णिव्वादि।।३७।।

यदि पदार्थविषयक श्रद्धान नहीं है तो सिर्फ आगमके ज्ञानसे यह जीव सिद्ध नहीं हो सकता और पदार्थका श्रद्धान करता हुआ भी यदि असंयत है -- संयमसे रहित है तो वह निर्वाणको प्राप्त नहीं हो सकता।

ज्ञानकी महिमा बतलाते हुए कहा है --

जं अण्णाणी कम्मं खवेइ भवसयसहस्सकोडीहिं।
तं णाणी तिहिं गुत्तो खवेइ उस्सासमेत्तेण।।३८।।

अज्ञानी जीव सैकड़ों, हजारों तथा करोड़ों भवमें जिस कर्मको खिपाता है, तीन गुप्तियोंका धारक ज्ञानी जीव उसे उच्छ्वासमात्रमें खिपा देता है। यहाँ 'तीन गुप्तियोंका धारक' इस विशेषणसे सम्यक् चारित्रकी सत्ता अनिवार्य बतलायी गयी है। विना सम्यक् चारित्रके अंग और पूर्वका पाठी जीव भी सर्व कर्मक्षय करनेमें समर्थ नहीं है।

आगमज्ञानका प्रयोजन स्वपरका ज्ञान कर परपदार्थमें मूर्च्छाको छोड़ना है। यदि आगमका ज्ञाता होकर भी कोई परपदार्थोंमें मूर्च्छाको नहीं छोड़ता है तो वह मोक्षको प्राप्त नहीं हो सकता। कुंदकुंद स्वामीके वचन देखिए --

परमाणुपमाणं वा मुच्छा देहादिएसु जस्स पुणो।
विज्जदि जदि सो सिद्धिं ण लहदि सव्वागमधरो वि।।३९।।

जिसके शरीरादि परपदार्थोंमें परमाणुप्रमाण भी मूर्च्छा -- आत्मीय बुद्धि है वह समस्त आगमका धारक होनेपर भी सिद्धिको प्राप्त नहीं होता।

साधुको श्रमण कहते हैं अतः श्रमणकी परिभाषा करते हुए कुंदकुंद स्वामी कहते हैं --

समसत्तुबंधुवग्गो समसुहदुक्खो पसंसणिंदसमो।
समलोट्ठकंचणो पुण जीविदमरणे समो समणो।।४१।।

जो शत्रु और बंधुवर्गमें समानबुद्धि है, जो सुख-दुःख, प्रशंसा तथा निंदामें समान है, पत्थरके ढेले और सुवर्णमें समभाव है तथा जीवन और मरणमें समान है वह श्रमण कहलाता है।

कैसा श्रमण कर्मक्षय कर सकता है? इसका समाधान देखिए --

अत्थेसु जो ण मुज्झदि ण हि रज्जदि णेव दोषमुवयादि।
समणो जदि सो णियदं खवेदि कम्माणि विविधाणि।।४४।।

जो श्रमण परपदार्थोंमें मोहको प्राप्त नहीं होता -- उनमें आत्मबुद्धि नहीं करता और न उनमें राग द्वेष करता है वह निश्चित ही नाना प्रकारके कर्मोंका क्षय करता है।

शुभोपयोगी और शुद्धोपयोगीके भेदसे मुनियोंके दो भेद हैं। इनमें शुद्धोपयोगी मुनि आस्रवसे रहित होते हैं और शेष मुनि आस्रवसे सहित। शुभोपयोगी मुनि अरहंत आदिक परमेष्ठियोंकी भक्ति करते हैं तथा प्रवचन -- परमागमसे

मुक्त शुद्धात्म स्वरूपके उपदेशक महामुनियोंमें गोवत्सके समान वात्सल्यभाव रखते हैं। गुरुजनोंके आनेपर उठकर उनका सत्कार करते हैं, जानेपर अनुगमनके द्वारा उनके प्रति आदर प्रकट करते हैं, दर्शन और ज्ञानका उपदेश देते हैं, शिष्योंको दीक्षा देते हैं, उनका पोषण करते हें, जिनेंद्रपूजाका उपदेश देते हैं, ऋषि मुनि यति और अनगार इन चार प्रकारके मुनिसंघोंका उपकार करते हैं, अपने पदके अनुकूल उनका वैयावृत्त्य करते हैं, रोग अथवा तृषा आदिसे पीड़ित श्रमणके प्रति आत्मीय भाव प्रकट कर उनकी दुःखनिवृत्तिका प्रयास करते हैं, ग्लान वृद्ध, बालक आदि मुनियोंकी सेवाके निमित्त लौकिक जनों -- गृहस्थोंके साथ संभाषण आदि करते हैं। शुभोपयोगी मुनियोंकी यह प्रशस्त चर्या अपुनर्भव अर्थात् मोक्षका साक्षात् कारण नहीं है, परंतु उससे सांसारिक सुखरूप स्वर्गकी प्राप्ति होती है। उनकी यह प्रशस्त चर्या परंपरासे मोक्षका कारण है।

शुद्धोपयोगी मुनि इन सब विकल्पोंसे दूर हटकर शुद्धात्म स्वरूपके चिंतनमें लीन रहते हैं। करणानुयोगकी पद्धतिसे यह शुद्धोपयोग श्रेणिसे प्रारंभ होता है तथा अपनी उत्कृष्ट सीमापर पहुँचकर कर्मक्षयका कारण होता है।

मुनिमुद्रा धारण कर भी जो लौकिक जनोंके संपर्कमें हर्ष मानते हैं तथा उन्मार्गमें प्रवृत्ति करते हैं वे श्रमणाभास हैं तथा अनंत संसारके पात्र होते हैं। भावलिंग सहित मुनिमुद्रा इस जीवको बत्तीस बारसे अधिक धारण नहीं करनी पड़ती, उसीके भीतर वह मोक्षको प्राप्त हो जाता है[१], परंतु मात्र द्रव्यलिंग सहित मुनिमुद्रा धारण करनेकी संख्या निश्चित नहीं है। अनंत बार भी वह यह पद धारण करता है परंतु उसके द्वारा नवम ग्रैवेयकसे अधिकका पद प्राप्त नहीं कर सकता।

अंतमें अमृतचंद्र स्वामीने ४७ नयोंका अवलंबन लेकर आत्माका दिग्दर्शन कराया है। इस तरह प्रवचनसार सचमुच ही प्रवचनसार -- आगमका सार है। इसकी रचना अत्यंत प्रौढ़ सारगर्भित है।

नियमसार

नियमसारमें १८७ गाथाएँ हैं और १२ अधिकार हैं। अधिकारोंके नाम इस प्रकार हैं -- १. जीवाधिकार, २. अजीवाधिकार, ३. शुद्ध भावाधिकार, ४. व्यवहार चारित्राधिकार, ५. परमार्थ प्रतिक्रमणाधिकार, ६. निश्चय प्रत्याख्यानाधिकार, ७. परमालोचनाधिकार, ८. शुद्धनिश्चय प्रायश्चित्ताधिकार, ९. परमसमाध्यधिकार, १०. परम भक्त्यधिकार, ११. निश्चय परमावश्यकाधिकार और १२. शुद्धोपयोगाधिकार।

१. जीवाधिकार

नियमका अर्थ लिखते हुए कुंदकुंदाचार्य लिखते हैं --

णियमेण य कज्जं तण्णियमं णाणदंसणचरित्तं।
विपरीय परिहरत्थं भणिदं खलु सारमिदि वयणं ।।३।।

जो नियमसे करनेयोग्य हों उन्हें नियम कहते हैं। नियमसे करनेयोग्य ज्ञान दर्शन और चारित्र हैं। विपरीत ज्ञान, दर्शन और चारित्रका परिहार करनेके लिए नियम शब्दके साथ सार पदका प्रयोग किया है। इस तरह नियमसारका अर्थ सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र है। संस्कृत टीकाकार श्री पद्मप्रभमलधारी देवने भी कहा है --

'नियमशब्दस्तावत् सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रेषु वर्तते, नियमसार इत्यनेन शुद्धरत्नत्रयस्वरूपमुक्तम्।'

---

१. चत्तारि वारमुवसमसेढिं समरुहदि खविदकम्मंसो।
बत्तीसं वाराइं संजममुवलहिय णिव्वादि।।६१९।। -- कर्मकांड

अर्थात् नियम शब्द सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रमें आता है तथा नियमसार इस शब्दमें शुद्ध रत्नत्रयका स्वरूप कहा गया है।

जिनशासनमें मार्ग और मार्गका फल इन दो पदार्थोंका कथन है। उनमें मार्ग -- मोक्षका उपाय --सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र कहलाता है और निर्वाण, मार्गका फल कहलाता है। इन्हीं तीनका वर्णन इस ग्रंथमें किया गया है। सर्वप्रथम सम्यग्दर्शनका लक्षण लिखते हुए कहा है --

अत्तागमतच्चाणं सद्दहणादो हवेइ सम्मत्तं।
ववगयअसेसदोसो सयलगुणप्पाह वे अत्तो।।५।।

आप्त, आगम और तत्त्वोंके श्रद्धासे सम्यक्त्व -- सम्यग्दर्शन होता है। जिसके समस्त दोष नष्ट हो गये हैं तथा जो सकल गुणस्वरूप है वह आप्त है। क्षुधा तृषा आदि अठारह दोष कहलाते हैं और केवलज्ञान आदि गुण कहे जाते हैं। आप्त भगवान् क्षुधा तृषा आदि समस्त दोषोंसे रहित हैं तथा केवलज्ञानादि परमविभव -- अनंत गुणरूप ऐश्वर्यसे सहित हैं। यह आप्त ही परमात्मा कहलाता है। इससे विपरीत आत्मा परमात्मा नहीं हो सकता।

आगम और तत्त्वका वर्णन करते हुए लिखा है --

तस्स मुहग्गदवयणं पुव्वावरदोसविरहियं सुद्धं।
आगममिदि परिकहियं तेण दु कहियं हवंति तच्चत्था।।८।।

उन आप्त भगवानके मुखसे उद्गत -- दिव्यध्वनिसे प्रकटित तथा पूर्वापरविरोधरूप दोषसे रहित जो शुद्ध वचन है वह आगम कहलाता है और आगमके द्वारा कथित जो जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, काल और आकाश हैं ये तत्त्वार्थ हैं। ये तत्त्वार्थ नाना गुण और पर्यायोंसे सहित हैं। इन तत्त्वार्थोंमें स्वपरावभासी होनेसे जीवतत्त्व प्रधान है। उपयोग सुखका लक्षण है। उपयोगके ज्ञानोपयोग और दर्शनीय योगकी अपेक्षा दो भेद हैं। ज्ञानोपयोग स्वभाव और विभावके भेदसे दो प्रकारका है। केवलज्ञान स्वभाव ज्ञानोपयोग है और विभाव ज्ञानोपयोग सम्यग्ज्ञान तथा मिथ्याज्ञानकी अपेक्षा दो प्रकारका है। विभाव सम्यग्ज्ञानोपयोगके मति, श्रुत, अवधि और मनःपर्ययके भेदसे चार भेद हैं और विभाव मिथ्याज्ञानोपयोगके कुमति, कुश्रुत और कुअवधिकी अपेक्षा तीन भेद हैं। इसी तरह दर्शनोपयोगके भी स्वभाव और विभावकी अपेक्षा दो भेद हैं। उनमें केवल दर्शनोपयोग है तथा चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन और अवधिदर्शन ये तीन दर्शन विभाव दर्शनोपयोग हैं।

पर्याय भी परकी अपेक्षासे सहित और परकी अपेक्षासे रहित, इस तरह दो भेद हैं। अर्थपर्याय और व्यंजनपर्यायके भेदसे भी पर्याय दो प्रकारकी होती है। परके आश्रयसे होनेवाली षड्गुणी हानि-वृद्धिरूप जो संसारी जीवकी परिणति है वह विभाव अर्थ पर्याय है तथा सिद्ध परमेष्ठीकी जो षड्गुणी हानिवृद्धिरूप परिणति है वह जीवकी स्वभाव अर्थ पर्याय है। प्रदेशवत्त्व गुणके विकाररूप जो जीवकी परिणति है अर्थात् जिसमें किसी आकारकी अपेक्षा रक्खी जाती है उसे व्यंजनपर्याय कहते हैं। इसके भी स्वभाव और विभावकी अपेक्षा दो भेद होते हैं। अंतिम शरीरसे किंचिदून जो सिद्ध परमेष्ठीका आकार है वह जीवकी स्वभाव व्यंजन पर्याय है और कर्मोपाधिसे रचित जो नरनारकादि पर्याय है वह विभाव व्यंजन पर्याय है।

व्यवहार नयसे आत्मा पुद्गल कर्मका कर्ता और भोक्ता है तथा अशुद्ध निश्चयनयसे कर्मजनित रागादि भावोंका कर्ता है। संस्कृत टीकाकारने नयविवक्षासे कर्तृत्व और भोक्तृत्व भावको स्पष्ट करते हुए कहा है कि निकटवर्ती अनुपिचरित असद्भूत व्यवहार नयकी अपेक्षा आत्मा द्रव्यकर्मोंका कर्ता है तथा उनके फलस्वरूप प्राप्त होनेवाले सुख दुःखका भोक्ता है। अशुद्ध निश्चय नयकी अपेक्षा समस्त मोह-राग-द्वेषरूप भावकर्मोंका कर्ता है तथा उन्हींका भोक्ता है। अनुपचरित असद्भूत व्यवरहार नयकी अपेक्षा शरीररूप नोकर्मोंका कर्ता और भोक्ता है तथा उपचरित असद्भूत

व्यवहार नयसे घटपटादिका कर्ता और भोक्ता है। जहाँ निश्चय नय और व्यवहार नयके भेदसे नयके दो भेद ही विवक्षित हैं वहाँ आत्मा निश्चयनयकी अपेक्षा अपने ज्ञानादि गुणोंका कर्ता भोक्ता होता है और व्यवहार नयसे रागादि भावकर्मोंका।

श्री पद्मप्रभमलधारी देवने कहा है --

द्वौ हि नयौ भगवदर्हत्परमेश्वरेण प्रोक्तौ द्रव्यार्थिकः पर्यायार्थिकश्चेति। द्रव्यमेवार्थः प्रयोजनमस्येति द्रव्यार्थिकः। पर्याय एव प्रयोजनमस्येति पर्यायार्थिकः। न खलु एकनयायत्तोपदेशो ग्राह्यः किन्तु तदुभयायत्तोपदेशः।

भगवान् अर्हंत परमेश्वरने दो नय कहे हैं -- एक द्रव्यार्थिक और दूसरा पर्यायार्थिक। द्रव्य ही जिसका प्रयोजन है वह द्रव्यार्थिक नय है और पर्याय ही जिसका प्रयोजन है वह पर्यायार्थिक नय है। एक नयके अधीन उपदेश ग्राह्य नहीं है किंतु दोनों नयोंके अधीन उपदेश ग्राह्य है।

यह उल्लेख पीछे किया जा चुका है कि नय वस्तुस्वरूपको समझनेके साधन हैं, वक्ता पात्रकी योग्यता देखकर विवक्षानुसार उभय नयोंको अपनाता है। यह ठीक है कि उपदेशके समय एक नय मुख्य तथा दूसरा नय गौण होता है, परंतु सर्वथा उपेक्षित नहीं होता।

इस परिप्रेक्ष्य में जब त्रैकालिक स्वभावको ग्रहण करनेवाले द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा कथन होता है तब जीव द्र्व्य रागादिक विभाव परिणति तथा नरनारकादिक व्यंजन पर्यायोंसे रहित है यह बात आती है और जब पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा कथन होता है तब जीव इन सबसे सहित है यह बात आती है।

२. अजीवाधिकार

पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये पाँच अजीव पदार्थ हैं। पुद्गल द्रव्य अणु और स्कंधके भेदसे दो प्रकारका होता है। उनमें स्कंधके अतिस्थूल, स्थूल, स्थूलसूक्ष्म, सूक्ष्मसूक्ष्म, सूक्ष्म और अतिसूक्ष्मके भेदसे ६ भेद हैं। पृथिवी, तेल आदि, छाया, आतप आदि, चक्षुके सिवाय चार इंद्रियोंके विषय, कार्मण वर्गणा और द्व्यणुक स्कंध ये अतिस्थूल आदि स्कंधोंके उदाहरण हैं। अणुके कारण अणु और कार्य अणुके भेदसे दो भेद हैं। पृथिवी, जल, अग्नि और वायु इन चार धातुओंकी उत्पत्तिका जो कारण है उसे **कारण परमाणु और कार्य परमाणु** कहते हैं। परमाणुका लक्षण इस प्रकार कहा है --

अत्तादि अत्तमज्झं अत्तंतं णेव इंदिये गेज्झं।
अविभागी जं दव्वं परमाणुं तं विजाणाहि।।२६।।

वही जिसका आदि है, वही मध्य है, वही अंत है, जिसका इंद्रियोंके द्वारा ग्रहण नहीं होता तथा जिसका दूसरा विभाग नहीं हो सकता उसे परमाणु जानना चाहिए।

इस परमाणुमें एक रस, एक रूप, एक गंध और शीत उष्णमेंसे कोई एक तथा स्निग्ध और रूक्षमेंसे कोई एक इस प्रकार दो स्पर्श पाये जाते हैं। दो या उससे अधिक परमाणुओंके पिंडको स्कंध कहते हैं। अणु और स्कंधके भेदसे पुद्गल द्रव्य के दो भेद हैं।

जीव और पुद्गलके गमनका जो निमित्त है उसे धर्मद्रव्य कहते हैं। जीव और पुद्गलकी स्थितिका जो निमित्त है उसे अधर्मद्रव्य कहते हैं। जीवादि समस्त द्रव्योंके अवगाहनका जो निमित्त है उसे आकाश कहते हैं। समस्त द्रव्योंकी अवस्थाओंके बदलनेमें जो सहकारी कारण है वह कालद्रव्य है। यह कालद्रव्य समय और आवलीके भेदसे दो प्रकारका होता है। अथवा अतीत, वर्तमान और भावी (भविष्यत्)की अपेक्षा तीन प्रकारका है। संख्यात आवलियोंसे गुणित सिद्ध राशिका जितना प्रमाण है उतना अतीत काल है। वर्तमानकाल समय मात्र है और भावी (भविष्यत्) काल, समस्त

जीवराशि तथा समस्त पुद्गल द्रव्योंसे अनंतगुणा है।

नियमसारमें कालद्रव्य वर्णनकी ३१ और ३२ वीं गाथामें परमपरागत अशुद्ध पाठ चला आ रहा है। संस्कृत टीकाकारका भी उस ओर लक्ष्य गया नहीं जान पड़ता है। ३१ वीं गाथामें 'तीदो संखेज्जावलिहदसंठाणप्पमाणं तु' ऐसा पाठ नियमसारमें है, परंतु गोम्मटसार जीवकांडमें 'तीदो संखेज्जावलिहदसिद्धाणं पमाणं तु' ऐसा पाठ है। नियमसारकी एतद्विषयक संस्कृत टीका भी भ्रांत मालूम पड़ती है। ३२ वीं गाथामें 'जीवादु पुग्गलादोऽणंतगुणा चावि संपदा समया' ऐसा पाठ है, परंतु इस पाठसे समस्त अर्थ गड़बड़ा गया है। इसका सही पाठ ऐसा है 'जीवादु पुग्गलादोऽणंतगुणा भावि संपदा समया' इस पाठके माननेपर भावी कालका वर्णन भी गाथोक्त हो जाता है और उसका जीवकांड मेल खा जाता है। इस पाठमें गाथाका अर्थ होता है कि भावी काल जीव तथा पुद्गल राशिसे अनंतगुणा है और संपदा अर्थात् सांप्रत -- वर्तमानकाल समयमात्र है। लोकाकाशमें -- लोकाकाशके प्रत्येक प्रदेशोंपर जो कालाणु स्थित हैं वे परमार्थ --निश्चयकाल द्रव्य है। जानकर 'भावि' के स्थानपर 'चावि' के पाठ लेखकोंके प्रमादसे आ गया जान पड़ता है।

धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन चार द्रव्योंका परिणमन सदा शुद्ध ही रहता है परंतु जीव और पुद्गल द्रव्यमें शुद्ध अशुद्ध -- दोनों प्रकारका परिणमन होता है। मूर्त अर्थात् पुद्गल द्रव्यके संख्यात असंख्यात और अनंत प्रदेश होते हैं। धर्म, अधर्म और एक जीव द्रव्यके असंख्यात प्रदेश होते हैं, लोकाकाशके भी असंख्यात प्रदेश हैं परंतु आकाशके अनंत प्रदेश हैं। कालद्रव्य एकप्रदेशी है। उपर्युक्त छह द्रव्योंमें पुद्गल द्रव्य मूर्त है, शेष पाँच द्रव्य अमूर्त हैं। एक जीव द्रव्य चेतन है, शेषपाँच द्रव्य अचेतन हैं। पुद्गलका परमाणु आकाशके जितने अंशको घेरता है उसे प्रदेश कहते हैं।

३. शुद्धभावाधिकार

जब तत्त्वोंको हेय और उपादेय इन दो भेदोंमें विभाजित करते हैं तब परजीवादि बाह्य तत्त्व हेय हैं और कर्मरूप उपाधिसे रहित स्वकीय स्वयं अर्थात् शुद्ध आत्मा उपादेय है। जब तत्त्वोंको हेय उपादेय तथा ज्ञेय तीन भेदोंमें विभाजित करते हैं तब जीवादि बाह्य तत्त्व ज्ञेय हैं, स्वकीय शुद्ध आत्मा उपादेय है और उसका विभाव परिणमन हेय है। तात्पर्य यह है कि आत्मद्रव्यका परिणमन स्वभाव और विभावके भेदसे दो प्रकारका होता है। जो स्वमें स्वके निमित्तसे होता है। वह स्वभाव परिणमन कहलाता है जेसे जीवका ज्ञान दर्शनरूप परिणमन। और जो स्वमें परके निमित्तसे होतै है वह विभाव परिणमन कहलाता है जैसे जीवका रागद्वेषादिरूप परिणमन। इन दोनों प्रकारके परिणमनोंमें स्वभाव परिणमन उपादेय है और विभाव परिणमन हेय है।

शुद्ध भावाधिकारमें आत्माको इन्हीं परिणामोंसे पृथक् सिद्ध करनेके लिए कहा गया है कि निश्चयसे रागादिक विभाव स्थान, मान अपमानके स्थान, सांसारिक सुखरूप हर्षभावके स्थान, सांसारिक दुःखरूप अहर्षभावके स्थान, स्थितिबंध स्थान, प्रकृतिबंध स्थान, प्रदेशबंध स्थान और अनुभागबंध स्थान आत्माके नहीं हैं।[१] क्षायिक क्षायोपशमिक, औपशमिक और औदयिक भावके स्थान आत्माके नहीं हैं। चातुर्गतिक परिभ्रमण, जन्म, जरा, मरण, भय, शोक, कुल, योनि, जीवसमास तथा मार्गणास्थान जीवके नहीं हैं। नहीं होनेका कारण यही एक है कि ये परके निमित्तसे होते हैं। यद्यपि वर्तमानमें ये आत्माके साथ तन्मयीभावको प्राप्त हो रहे हैं तथापि उनका यह तन्मयीभाव त्रैकालिक नहीं है। ज्ञानदर्शनादि गुणोंके साथ जैसा त्रैकालिक तन्मयीभाव है वैसा रागादिकके साथ नहीं है। अग्निके संबंधसे पानीमें जो उष्णता आयी है

---

१. णो खइयभावठाणा णो खयउवसम सहावठाणा य।

ओदइयभावठाणा णो उवसमणे सहावठाणा य।।४१।। -- नियमसार

वह यद्यपि पानीके साथ तन्मयीभावको प्राप्त हुई जान पड़ती है तथापि अग्निका संबंध दूर हो जानेपर नष्ट हो जानेके कारण वह सर्वथा तन्मयीभावको प्राप्त नहीं होती। यही कारण है कि शीत स्पर्श तो पानीका स्वभाव कहा जाता है और उष्ण स्पर्श विभाव।

स्वभावकी दृष्टिसे आत्मा निर्दंड -- मन वचन कायके व्यापाररूप योगसे रहित, निर्द्वंद्व, निर्मम, निष्कलंक, नीराग, निर्द्वेष, निर्मूढ़, निर्भय, निर्ग्रंथ, निःशल्य, निर्दोष, निष्काम, निःक्रोध, निर्मान और निर्मद है। रूप रस गंध स्पर्श, स्त्री-पुरुष-नपुंसक पर्याय, संस्थान तथा संहनन जीवके नहीं है। तात्पर्य यह है कि आत्मा, द्रव्यकर्म भावकर्म और नोकर्मसे रहित है। आत्मा रस रूप गंध और स्पर्शसे रहित है, चेतना गुणवाला है, शब्दरहित है, अलिंगग्रहण है और अनिर्दिष्टसंस्थान है। स्वरूपोपादानकी अपेक्षा आत्मा चेतनागुणसे सहित है और पररूपापोहनकी अपेक्षा रसरूपादिसे रहित है।

स्वभावदृष्टिसे कहा गया है --

जारिसया सिद्धप्पा भवमल्लिय जीव तारिसा होंति।
जरमरणजम्ममुक्का अट्ठगुणालंकिया जेण।।४७।।

अर्थात् जैसे सिद्ध जीव हैं वैसे ही संसारस्थ जीव भी हैं। जैसे सिद्ध जीव जरा मरण और जन्मसे रहित तथा अष्टगुणोंसे अलंकृत हैं वैसे ही संसारी जीव भी जरामरणादिसे रहित तथा अष्ट गुणोंसे अलंकृत हैं। यहाँ इतना स्मरण रखना आवश्यक है कि यह कथन मात्र स्वभावदृष्टिसे है, वर्तमानकी व्यक्ततासे नहीं। संसारी जीवमें सिद्ध परमेष्ठीके समान होनेकी योग्यता है; इसका इतना ही तात्पर्य है। वर्तमानमें जीवका संसारी पर्याय रूप अशुद्ध परिणमन चल रहा है। चूँकि एक कालमें एक ही परिणमन हो सकता है अतः जिस समय जीवका अशुद्ध परिणमन चल रहा है उस समय शुद्ध परिणमनका अभाव ही है परंतु शुद्ध परिणमनकी योग्यता जीवमें सदा रहती है इसलिए अशुद्ध परिणमनके समय भी उसका शुद्ध परिणमन कहा जाता है। वर्तमानमें दुःख भोगते रहनेपर भी संसारी जीवको सिद्धात्माके सदृश कहनेका तात्पर्य इतना है कि आचार्य इस जीवको आत्मस्वरूपकी ओर आकृष्ट करना चाहते हैं। जैसे किसी धनिक व्यक्तिका पुत्र, माता-पिताके मरनेपर स्वकीय संपत्तिका बोध न होनेसे भिखारी बना फिरता है, उसे कोई ज्ञानी पुरुष समझाता है कि तू भिखारी क्यों बन रहा है, तू तो अमुक सेठके समान लक्षाधीश है, अपने धनको प्राप्त कर इस भिखारी दशासे मुक्ति पा। इसी प्रकार अपने ज्ञान दर्शन स्वभावको भूलकर यह जीव वर्तमानकी अशुद्ध परिणतिमें आत्मीय बुद्धि कर दुःखी हो रहा है, उसे ज्ञानी आचार्य समझाते हैं -- अरे भाई! तू तो सिद्ध भगवानके समान है, जन्म-मरणके चक्रको अपना मानकर दुःखी क्यों हो रहा है? आचार्यके उपदेशसे निकट भव्य जीव अपने स्वभावकी ओर लक्ष्य बनाकर सिद्धात्माके समान शुद्ध परिणतिको प्राप्त कर लेते हैं परंतु दीर्घ संसारी जीव स्वभावकी ओर लक्ष्य न देनेके कारण इसी संसारमें परिभ्रमण करते रहते हैं। शुद्धभावाधिकारमें शुद्ध भावकी ओर भी आत्माका लक्ष्य जावे इसी अभिप्रायसे वर्णन किया गया है। यह कथन द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा है। पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा वर्तमानमें जीवकी जो पर्याय है उससे नकारा नहीं किया जा रहा है। मात्र उस ओरसे दृष्टिको हटाकर स्वभावकी ओर लगानेका प्रयास किया जा रहा है।

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और सम्यक् तप ये चारों उपाय स्वभावसिद्धिको प्राप्त करनेमें परम सहायक हैं। इसीलिए इन्हें प्राप्त करनेका पुरुषार्थ करना चाहिए। विपरीताभिनिवेशसे रहित आत्मतत्त्वका जो श्रद्धान है वह सम्यग्दर्शन है। संशय, विभ्रम तथा अनध्यवसायसे रहित आत्मतत्त्वका जो ज्ञान है वह सम्यग्ज्ञान है। आत्मस्वरूपमें स्थिर रहना सम्यक्चारित्र है और उसीमें प्रतपन करना सम्यक् तप है। यह निश्चय नयका कथन है। चल, मलिन और

अगाढ़ दोषोंसे रहित तत्त्वोंका श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है। हेयोपादेय तत्त्वोंको जानना सम्यग्ज्ञान है। महाव्रतादि रूप आचरण सम्यक्चारित्र है और उपवासादि तप करना सम्यक् तप है। यह व्यवहारनयका कथन है।

कार्यकी उत्पत्ति बहिरंग और अंतरंग कारणोंसे होती है अतः सम्यक्त्वकी उत्पत्तिके बहिरंग और अंतरंग कारणोंका कथन करते हुए कुंदकुंद स्वामीने कहा है --

सम्मत्तस्स णिमित्तं जिणसुत्तं तस्स जाणया पुरिसा।
अंतरहेऊ भणिदा दंसणमोहस्स खय पहुदी।।५३।।

अर्थात् सम्यग्दर्शनका बाह्य निमित्त जिनागम तथा उसके ज्ञाता पुरुष हैं और अंतरंग निमित्त दर्शनमोह कर्मका क्षय आदिक हैं।

अंतरंग निमित्त होनेपर कार्य नियमसे होता है परंतु बहिरंग निमित्तके होनेपर कार्यकी उत्पत्ति होनेका नियम नहीं है। हो भी और नहीं भी हो।

इस अधिकारमें कर्मजनित अशुद्ध भावोंको अनात्मीय बतलाकर शुद्ध भावको आत्मीय बतलाया है।

४. व्यवहार चारित्राधिकार

इस अधिकारमें अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह इन पाँच महाव्रतोंका, ईर्या, भाषा, एषणा, आदाननिक्षेपण और प्रतिष्ठापन इन पाँच समितियोंका, मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति इन तीन गुप्तियोंका तथा अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु इन पाँच परमेष्ठियोंका स्वरूप बतलाया गया है। हिसा, असत्य, चोरी, व्यभिचार और परिग्रह ये पाँच पापके पनाले हैं। इनके माध्यमसे आत्मामें कर्मोंका आस्रव होता है अतः इनका निरंतर निरोध करना सम्यक्चारित्र है। पाँच पापोंका पूर्ण त्याग हो जानेपर पाँच महाव्रत प्रकट होते हैं, उनकी रक्षाके लिए ईर्या आदि पाँच समितियों और तीन गुप्तियोंका पालन करना आवश्यक है। महाव्रतोंकी रक्षाके लिए प्रवचन -- आगममें इन आठको माताकी उपमा दी गयी है इसीलिए उन्हें अष्ट प्रवचन मातृका कहा गया है। व्यवहार नयसे यह तेरा प्रकारका चारित्र कहा जाता है। इस अधिकारमें इसी व्यवहार चारित्रका वर्णन है।

५. परमार्थ प्रतिक्रमणाधिकार

इस अधिकारमें कर्म और नोकर्मसे भिन्न आत्मस्वरूपका वर्णन करते हुए सर्वप्रथम कहा गया है कि 'मैं नारकी नहीं हूँ, तिर्यंच नहीं हूँ, मनुष्य नहीं हूँ, देव नहीं हूँ, गुणस्थान, मार्गणा तथा जीवसमास नहीं हूँ, न इनका करनेवाला हूँ न करानेवाला हूँ और न अनुमोदना करनेवाला हूँ। बाल वृद्ध आदि अवस्थाएँ तथा राग द्वेष मोह क्रोध मान माया लोभरूप विकारी भाव भी मेरे नहीं हैं। मैं तो एक ज्ञायक स्वभाववाला जीव द्रव्य हूँ।' इस प्रकार भेदाभ्यास करनेसे जीव मध्यस्थ होता है और माध्यस्थ भावसे चारित्र होता है। उस चारित्रको दृढ़ करनेके लिए प्रतिक्रमण होता है। यथार्थमें प्रतिक्रमण किसके होता है? इसका कितना स्पष्ट वर्णन कुंदकुंद स्वामीने किया है? देखिए --

मोत्तूण वयणरयणं रागादी भाववारणं किच्चा।
अप्पाणं जो झायदि तस्स दु होदित्ति पडिकमणं।।८२।।

जो वचनरचनाको छोड़कर तथा रागादिभावोंका निवारण कर आत्माका ध्यान करता है उसके प्रतिक्रमण होता है और ऐसे परमार्थ प्रतिक्रमणके होनेपर ही चारित्र निर्दोष हो सकता है।

६. निश्चय प्रत्याख्यानाधिकार

प्रत्याख्यानका अर्थ है त्याग। वह त्याग विकारी भावोंकाही किया जा सकता है, स्वभावका नहीं -- ऐसा विचार

करता हुआ जो समस्त वचनोंके विस्तारको छोड़कर शुभ-अशुभ भावोंका निवारण करता है तथा आत्माका ध्यान करता है उसीके प्रत्याख्यान होता है। शुभ-अशुभ भाव, इस जीवके आत्मध्यानमें बाधक हैं अतः प्रत्याख्यान करनेवालेको सबसे पहले शुभ-अशुभ भावोंको समझ उन्हें दूर करनेका प्रयास करना चाहिए। निश्चय प्रत्याख्यानकी सिद्धिके लिए आचार्य महाराजने इस प्रकारकी भावनाओंका होना आवश्यक बतलाया है --

ममत्तिं परिवज्जामि निम्ममत्तिमुवट्ठिदो।
आलंबणं च मे आदा अवसेसं च वोसरे।।९९।।

मैं निर्ममत्व भावको प्राप्त कर ममत्व भावको छोड़ता हूँ। मेरा आलंबन आत्मा ही है, शेष आलंबनोंको मैं छोड़ता हूँ।

आदा खु मज्ज णाणे आदा मे दंसणे चरित्ते य।
आदा पच्चक्खाणे आदा मे संवरे जोगे।।१००।।

मेरे ज्ञानमें आत्मा है, मेरे दर्शनमें आत्मा है, मेरे चारित्रमें आत्मा है। मेरे प्रत्याख्यानमें आत्मा है, मेरे संवर तथा योग -- शुद्धोपयोगमें आत्मा है।

एगो मे सासदो अप्पा णाणदंसणलक्खणो।
सेसा मे बाहिरा भावा सव्वे संजोगलक्खणा।।१०२।।

ज्ञान दर्शन स्वभाववाला एक आत्मा ही मेरा है। परपदार्थोंके संयोगसे होनेवाले शेष सब भाव मुझसे बाह्य हैं -- मेरे स्वभावभूत नहीं हैं।

सम्मं मे सव्वभूदेसि वेरं मज्झ ण केणवि।
आसाए वोसरित्ता णं समाहिं पडिवज्जए।।१०४।।

सब जीवोंमें मेरे साम्यभाव है, किसीके साथ मेरा वैरभाव नहीं है, मैं सब आशाओंको छोड़कर निश्चयसे समाधिको प्राप्त होता हूँ।

णिक्कसायस्स दंतस्स सूरस्स ववसायिणो।
संसारभयभीदस्स पच्चक्खाणं सुहं हवे।।१०५।।

जो कषायरहित है, इंद्रियोंका दमन करनेवाला है, शूरवीर है, उद्यमवंत है और संसारके भयसे भीत है उसीके सुखस्वरूप प्रत्याख्यान होता है।

७. परमालोचनाधिकार

परमालोचना किसके होती है? इसका उत्तर देते हुए कहते हैं --

णोकम्मकम्मरहियं विहावगुणपज्जएहिं वदिरित्तं।
अप्पाणं जो झायदि समणस्सालोयणं होदि।।१०७।।

जो नोकर्म और कर्मसे रहित तथा विभावगुण और पर्यायोंसे भिन्न आत्माका ध्यान करता है ऐसे श्रमण -- मुनिके ही आलोचना होती है।

आगममे १. आलोचन, २. आलुंछन, ३. अविकृतीकरण और ४. भावशुद्धिके भेदसे आलोचनाके चार अंग कहे गये हैं। इन अंगोंके पृथक् पृथक् लक्षण इस प्रकार हैं --

जो पस्सदि अप्पाणं समभावे संठवित्तु परिणामं।
आलोयणमिदि जाणह परम जिणंदस्स उवएसं।।१०९।।

जो जीव अपने परिणामको समभावमें स्थापित कर आत्माको देखता है -- अनुभवता है वह आलोचन है ऐसा जिनेंद्र भगवान्का उपदेश जानो।

कम्ममहीरुहमूलच्छेदसमत्थो सकीयपरिणामो।
साहीणो समभावो आलुंछणमिदि समुद्दिट्ठं।।११०।।

कर्मरूप वृक्षका मूलच्छेद करनेमें समर्थ जो समभावरूप स्वाधीन निज परिणाम है वह आलुंछन है।

कम्मादो अप्पाणं भिण्णं भावेइ विमलगुणणिलयं।
मज्झत्थभावणाए वियडीकरणं त्ति विण्णेयं।।१११।।

जो मध्यस्थ भावनामें स्थित हो कर्मसे भिन्न तथा निर्मलगुणोंके आलयरूप अपनी आत्माका ध्यान करता है वह अविकृतीकरण है अर्थात् ऐसा विचार करना कि कर्मोदयजनित विकार मेरे नहीं हैं।

मदमाणमायलोहविवज्जियभावो दु भावसुद्धित्ति।
परिकहियं भव्वाणं लोयालोयप्पदरिसीहिं।।११२।।

मद, मान, माया और लोभसे रहित जो निजका भाव है वही भावशुद्धि है ऐसा सर्वत्र जिनेंद्र भगवान्ने भव्य जीवोंके लिए कहा है।

व्यवहार नयसे भूतकालसंबंधी दोषोंका पश्चात्ताप करना प्रतिक्रमण है। वर्तमानकाल संबंधी दोषोंका निराकरण करना आलोचना है और भविष्यत्काल संबंधी दोषोंका त्याग करना प्रत्याख्यान है। व्यवहार नय संबंधी प्रतिक्रमणादिकी सफलता तब ही है जब निश्चयनयसंबंधी प्रतिक्रमणादि प्राप्त हो जावें।

८. शुद्धनयप्रायश्चित्ताधिकार

व्यवहार दृष्टिसे प्रायश्चित्तके अनेक रूप सामने आते हैं, परंतु निश्चय नयसे उसका क्या रूप होना चाहिए इसका दिग्दर्शन श्री कुंदकुंदाचार्यने इस अधिकारमें किया है। वे कहते हैं कि व्रत, समिति, शील और संयमरूप परिणाम तथा इंद्रियदमनका भावही वास्तविक प्रायश्चित्त है। यह प्रायश्चित्त निरंतर करते रहना चाहिए। आत्मीय गुणोंके द्वारा विकारी भावोंपर विजय प्राप्त करना सच्चा प्रायश्चित्त है। इसीलिए कहा है --

कोहं खमया माणं समद्दवेणज्जवेण मायं च।
संतोसेण य लोहं जयदि खु ए चउविहकसाए।।११५।।

क्षमासे क्रोधको, मार्दवसे मानको, आर्जवसे मायाको और संतोषसे लोभको -- इस प्रकार श्रमण इन चार कषायोंको जीतता है।

कषाय विकारी भाव हैं, उनके रहते हुए प्रायश्चत्तकी कोई प्रतिष्ठा नहीं होती, इसलिए क्षमादि गुणोंके द्वारा कषायरूप विकारी भावोंको जीतनेका उपदेश दिया गया है। इसी अधिकारमें कहा है कि अधिक कहनेसे क्या, उत्कृष्ट तपश्चरण ही साधुओंका प्रायश्चित्त है। यह प्रायश्चित्त उनके अनेक कर्मोंके क्षयका हेतु है। अनंतानंत भवोंमें इस जीवने जो शुभाशुभ कर्मोंका समूह संचित किया है वह तपश्चरणरूप प्रायश्चित्तके द्वारा नष्ट हो सकता है, इसलिए तपश्चरण अवश्य ही करना चाहिए। ध्यान भी प्रायश्चित्तका सर्वोपरि रूप है, क्योंकि यह जीव आत्मस्वरूपके आलंबनसे ही समस्त विकारी भावोंका परिहार कर सकता है। ध्यानका फल बतलाते हुए कहा है कि जो शुभ-अशुभ वचनोंकी रचना तथा

रागादि भावोंका निवारण कर आत्माका ध्यान करता है उसके अवश्य ही प्रायश्चित्त होता है।

९. परमसमाधि अधिकार

आत्मपरिणामोंका स्वरूपमें सुस्थिर होना परमसमाधि है। इसकी प्राप्ति भी आत्मध्यानसे ही होती है। कहा है -

वयणोच्चारणकिरियं परिचत्ता वीयरायभावेण।
जो झायदि अप्पाणं परमसमाही हवे तस्स।।१२२।।

जो मुनि समताभावसे रहित है उसके लिए वनवास, आतापनयोग आदि कायक्लेश, नाना प्रकारके उपवास और अध्ययन तथा मौन आदि क्या लाभ पहुँचा सकते हैं? अर्थात् कुछ भी नहीं। कुंदकुंदके वचन देखिए --

किं काहदि वणवासो कायकिलेसो विचित्त उववासो।
अज्झयणमौणपहुदी समदारहियस्स समणस्स।।१२४।।

सामायिक और परमसमाधिको पर्यायवाचक मानते हुए कुंदकुंद स्वामीने १२५-१३३ तक नौ गाथाओंमें स्पष्ट किया है कि स्थायी सामायिक किसके हो सकती है? परमसमाधिका अधिकारी कौन है? उन गाथाओंका भाव यह है कि जो समस्त सावद्य -- पापसहित कर्मोंसे विरक्त है, तीन गुप्तियोंका धारक है तथा इंद्रियोंका दमन करनेवाला है, जो समस्त त्रस-स्थावर जीवोंमें समताभाव रखता है, जिसकी आत्मा सदा संयम, नियम और तपमें लीन रहती है, राग और द्वेष जिसके विकार उत्पन्न नहीं कर सकते , जो आर्त-रौद्र नामक दुर्ध्यानोंसे सदा दूर रहता है, जो पुण्य और पाप भावका निरंतर त्याग करता है और जो धर्म्य तथा शुक्लध्यानको सतत धारण करता है उसीके स्थायी सामायिक -- परमसमाधि हो सकती है, अन्यके नहीं।

१०. परमभक्ति अधिकार

'भजनं भक्तिः' इस व्युत्पत्तिके अनुसार उपासनाको भक्ति कहते हैं। **'पूज्यानां गुणेष्वनुरागो भक्तिः'** पूज्य पुरुषोंके गुणोंमें अनुराग होना भक्ति है यह भक्तिका वाच्यार्थ है। सर्वश्रेष्ठ भक्ति निर्वृतिभक्ति है अर्थात् मुक्तिकी उपासना है। निर्वृतिभक्ति, योगभक्ति शुद्धस्वरूपके ध्यानसे संपन्न होती है। निर्वृतिभक्ति किसके होती है? इसका समाधान कुंदकुंद स्वामीके शब्दोंमें देखिए --

सम्मत्तणाणचरणे जो भत्तिं कुणइ सावगो समणो।
तस्स दु णिव्वुदिभत्ती होदित्ति जिणेहिं पण्णत्तं।।१३४।।

जो श्रावक अथवा श्रमण सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान अथवा सम्यक्चारित्रकी भक्ति करता है उसीके निर्वृति भक्ति होती है ऐसा जिनेंद्र भगवान्ने कहा है।

योगभक्ति किसके होती है? इसका समाधान देखिए --

रागादीपरिहारे अप्पाणं जो दु जुंजदे साहू।
सो जोगभत्तिजुत्तो इदरस्स य कह हवे जोगो।।१३७।।

जो साधु अपने आपको रागादिके परिहारमें लगाता है अर्थात् रागादि विकारी भावोंपर विजय प्राप्त करता है वही योगभक्तिसे युक्त होता है। अन्य साधुके योग कैसे हो सकता है?

११. निश्चयपरमावश्यकाधिकार

जो अन्यके वश नहीं है वह अवश है तथा अवशका जो कार्य है वह आवश्यक है। अवश -- सदा स्वाधीन रहनेवाला श्रमण ही मोक्षका पात्र होता है। जो साधु शुभ या अशुभ भावमें लीन है वह अवश नहीं है, किंतु अन्यवश है,

उसका कार्य आवश्यक कैसे होगा? जो परभावको छोड़कर निर्मल स्वभाववाले आत्माका ध्यान करता है वह आत्मवश -- स्ववश -- स्वाधीन है, उसका कार्य आवश्यक कहलाता है। आवश्यक प्राप्त करनेके लिए कुंदकुंदस्वामी कितनी महत्त्वपूर्ण देशना देते हैं, देखिए --

आवासं जइ इच्छसि अप्प सहावेसु कुणदि थिरभावं।
तेण दु सामण्णगुणं संपुण्णं होदि जीवस्स।।१४७।।

हे श्रमण! यदि तू आवश्यककी इच्छा करता है तो आत्मस्वभावमें स्थिरता कर, क्योंकि जीवका श्रामण्य -- श्रमणपन उसीसे पूर्ण होता है।

और भी कहा है कि जो श्रमण आवश्यकसे रहित है वह चारित्रसे भ्रष्ट माना जाता है इसलिए पूर्वोक्त विधिसे आवश्यक करना चाहिए। आवश्यकसे सहित श्रमण अंतरात्मा होता है और आवश्यकसे रहित श्रमण बहिरात्मा होता है।

समता, वंदना, स्तुति, प्रतिक्रमण, स्वाध्याय और कायोत्सर्ग ये छह आवश्यक कहलाते हैं, इनका यथार्थ रीतिसे पालन करनेवाला श्रमण ही यथार्थ श्रमण है।

१२ शुद्धोपयोगाधिकार

इस अधिकारके प्रारंभमें ही कुंदकुंद स्वामीने निम्नलिखित महत्त्वपूर्ण गाथा लिखी है --

जाणदि पस्सदि सव्वं ववहारणयेण केवली भगवं।
केवलणाणी जाणदि पस्सदि णियमेण अप्पाणं।।१५९।।

केवलज्ञानी व्यवहार नयसे सबको जानते देखते हैं, परंतु निश्चयनयसे आत्माको ही जानते देखते हैं।

इस कथनका फलितार्थ यह नहीं लगाना चाहिए कि केवली निश्चयनयसे सर्वज्ञ नहीं हैं, मात्र आत्मज्ञ हैं, क्योंकि आत्मज्ञानमें ही सर्वज्ञता गर्भित है। वास्तवमें आत्मा किसी भी पदार्थको तब ही जानता है जबकि उसका विकल्प आत्मामें प्रतिफलित होता है। जिस प्रकार दर्पणमें प्रतिबिंबित घटपटादि पदार्थ दर्पणरूप ही होते हैं उसी प्रकार आत्मामें प्रतिफलित पदार्थोंके विकल्प आत्मरूप ही होते हैं। परमार्थसे आत्मा उन विकल्पोंसे परिपूर्ण आत्माको ही जानता है अतः आत्मज्ञ कहलाता है। उन विकल्पोंके प्रतिफलित होनेमें लोकालोकके समस्त पदार्थ कारण होते हैं अतः व्यवहारमें उन सबका भी ज्ञाता अर्थात् सर्वज्ञ सर्वदर्शी कहलाता है।

जब जीवका उपयोग -- ज्ञानदर्शन स्वभाव, शुभ-अशुभ रागादिभावोंसे रहित हो जाता है तब वह शुद्धोपयोग कहा जाता है। परिपूर्ण शुद्धोपयोग यथाख्यात चारित्रका अविनाभावी है। यथाख्यात चारित्रसे अविनाभावी शुद्धोपयोगके होनेपर वह जीव अंतर्मुहूर्तके अंदर नियमसे केवलज्ञानी बन जाता है। इस अधिकारमें कुंदकुंद स्वामीने ज्ञान और दर्शनके स्वरूपका सुंदर विश्लेषण किया है।

इसी शुद्धोपयोगके फलस्वरूप जीव अष्ट कर्मोंका क्षय कर अव्याबाध, अनिंद्रिय, अनुपम, पुण्य-पापके विकल्पसे रहित, पुनरागमनसे रहित, नित्य, अचल और परके आलंबनसे रहित निर्वाणको प्राप्त होता है। कर्मरहित आत्मा लोकाग्रतक ही जाता है, क्योंकि धर्मास्तिकायका अभाव होनेसे उसके आगे गमन नहीं हो सकता।

अष्टपाहुड

प्रसिद्ध है कि कुंदकुंद स्वामीने चौरासी पाहुड़ोंकी रचना की थी, पर वे सब उपलब्ध नहीं हैं। संस्कृत टीकाकार श्री श्रुतसागर सूरिको सर्वप्रथम इसके १. दंसणपाहुड, २. चरित्तपाहुड, ३. सुत्तपाहुड, ४. बोधपाहुड, ५. भावपाहुड और

६. मोक्खपाहुड ये छह पाहुड उपलब्ध हुए होंगे इसलिए उन्होंने इनपर संस्कृत टीका लिखकर 'षट्प्राभतम्' के नामसे उनका संकलन कर दिया और माणिकचंद ग्रंथमाला, बंबईसे उसका प्रकाशन हुआ। पीछे चलकर शीलपाहुड और लिंगपाहुड ये दो पाहुड और मिल गये इसलिए पूर्वोक्त छह पाहुडोंमें जोड़कर सबका 'अष्टपाहुड' नामसे संकलन प्रकाशित किया गया। इनपर पं. जयचंद्रजी छाबड़ाने हिंदी वचनिका लिखी तथा बंबई, दिल्ली और मारोठ आदि स्थानोंसे उसका प्रकाशन हुआ। इन सबका संस्कृत और हिंदी टीकासहित एक विशाल संकलन हमारे द्वारा संपादित होकर महावीरजीसे प्रकाशित हो चुका है। ये अष्टपाहुड स्वतंत्र-स्वतंत्र ग्रंथ हैं, परंतु एक संकलनमें प्रकाशित होनेके कारण वे 'अष्टपाहुड' इस एक ग्रंथके रूपमें प्रसिद्ध हो चुके हैं। यहाँ संक्षेपसे इन प्राभृत ग्रंथोंका प्रतिपाद्य विषय निरूपित किया है।

१. दंसणपाहुड

इसमें ३६ गाथाएँ हैं। आत्माके समस्त गुणोंमें सम्यग्दर्शनकी महिमा सबसे महान् है। सम्यग्दर्शन ही धर्मका मूल कारण है ऐसी कुंदकुंद स्वामीकी देशना है। दंसणपाहुडके प्रारंभमें ही वे लिखते हैं --

दंसणमूलो धम्मो उवइट्ठो जिणवरेहिं सिस्साणं।
तं सोऊण सकण्णे दंसणहीणो ण वंदिव्वो।।२।।

जिनेंद्र भगवान्ने शिष्योंके लिए सम्यग्दर्शनमूलक धर्मका उपदेश दिया है सो उसे अपने कानोंसे सुनकर सम्यग्दर्शनसे रहित मनुष्यकी वंदना नहीं करना चाहिए।

जो मनुष्य सम्यग्दर्शनसे भ्रष्ट हैं वास्तवमें वे ही भ्रष्ट हैं क्योंकि सम्यग्दर्शनसे भ्रष्ट मनुष्यको निर्वाणकी प्राप्ति नहीं हो सकती है किंतु जो चारित्रसे भ्रष्ट हैं वे सम्यग्दर्शनका अस्तित्व रहनेसे पुनः चारित्रको प्राप्त कर निर्वाण प्राप्त कर सकते हैं। जो मनुष्य सम्यग्दर्शनरूपी रत्नसे भ्रष्ट हैं वे अनेक शास्त्रोंको जानते हुए भी आराधनासे रहित होनेके कारण उसी संसारमें परिभ्रमण करते रहते हैं। सम्यग्दर्शनसे रहित जीव करोड़ों वर्ष तक उग्र तपश्चरण करनेके बाद भी बोधिको प्राप्त नहीं कर सकता जबकि भरत चक्रवर्ती जैसे भव्य जीव दीक्षा लेते ही अंतर्मुहूर्तके अंदर केवलज्ञान प्राप्त कर लेते हैं। जिस प्रकार मूलके नष्ट हो जानेपर वृक्षके परिवारकी वृद्धि नहीं होती उसी प्रकार सम्यक्त्वके नष्ट हो जानेपर मनुष्यकी श्रीवृद्धि नहीं होती, वह निर्वाणको प्राप्त नहीं कर सकता।

स्वयं सम्यक्त्वसे रहित होकर भी जो दूसरे सम्यक्त्वसहित जीवोंसे अपनी पादवंदना कराते हैं वे मरकर लूले और गूँगे होते हैं अर्थात् स्थावर होते हैं तथा उन्हें बोधिकी प्राप्ति दुर्लभ रहती है। इसी प्रकार जो जानकर भी लज्जा भय या गौरवके कारण मिथ्यादृष्टि जीवकी पादवंदना करते हैं वे पापकी ही अनुमोदना करते हैं, उन्हें भी बोधिकी प्राप्ति नहीं होती।

कुंदकुंद स्वामीने बताया है कि सम्यक्त्वसे ज्ञान होता है, ज्ञानसे समस्त पदार्थोंकी उपलब्धि होती है और समस्त पदार्थोंकी उपलब्धिको प्राप्त मनुष्य श्रेय तथा अश्रेयको जानता है। इसी दंसणपाहुडमें सम्यग्दृष्टि जीवका लक्षण बतलाते हुए कहा है कि जो छह द्रव्य, नौ पदार्थ, पंच अस्तिकाय तथा सात तत्त्वोंका श्रद्धान करता है उसे ही सम्यग्दृष्टि जानना चाहिए। जीवादि पदार्थोंका श्रद्धान करना व्यवहार नयसे सम्यग्दर्शन है और आत्माका श्रद्धान करना निश्चय सम्यग्दर्शन है। वह सम्यग्दर्शन समस्त गुणरूपी रत्नोंमें सारभूत है तथा मोक्षमहल की पहली सीढ़ी है।

जो असंयमी है वह वंदनीय नहीं है भले ही वह वस्त्रोंसे रहित हो। वस्त्रका त्याग देना ही संयमकी परिभाषा नहीं है किंतु उसके साथ सम्यग्दर्शनादि गुणोंका प्रकट होना ही संयमकी परिभाषा है। सम्यग्दर्शनादि गुणोंके विना वस्त्ररहित और वस्त्रसहित -- दोनों ही एक समान हैं, उनमें एक भी संयमी नहीं है।

२. चारित्र पाहुड

चारित्र पाहुडमें ४४ गाथाएँ हैं। इनमें चारित्रका निरूपण किया गया है। चारित्र पाहुडका प्रारंभ करते हुए कुंदकुंद महाराज कहते हैं कि मोक्षाराधनाका साक्षात् कारण सम्यक् चारित्र ही है । सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र आत्माके अविनाशी -- अनंत भाव हैं। इन्हींमें शुद्धता लानेके लिए जिनेंद्र भगवान्ने दो प्रकारके चारित्रका कथन किया है। चारित्रके दो भेद ये हैं -- एक सम्यक्त्वाचरण और दूसरा संयमाचरण। निःशंकित, निःकांक्षित, निर्विचिकित्सित, अमूढ़दृष्टि, उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावना ये सम्यक्त्वके आठ अंग हैं। इन आठ अंगोंमें विशुद्धता प्राप्त हुआ सम्यक्त्व **जिन सम्यक्त्व** कहलाता है। ज्ञानसहित जिनसम्यक्त्वका आचरण **सम्यक्त्वाचरण** नामका चारित्र है। इसे **दर्शनाचार** भी कहते हैं। सम्यक्त्वाचरणके सागार और अनगारके भेदसे दो भेद हैं। गृहस्थोंका आचरण **सागाराचरण** और मुनियोंका आचरण **अनगाराचरण** कहलाता है। सागाराचरणके दर्शन, व्रत, सामायिक, प्रोषध, सचित्तत्याग, रात्रिभक्तत्याग, ब्रह्मचर्य, आरंभत्याग, परिग्रहत्याग, अनुमतित्याग और उद्दिष्टत्याग ये ग्यारह भेद हैं, इन्हींको ग्यारह प्रतिमा कहते हैं। समंतभद्राचार्यने 'रत्नकरंड श्रावकाचार' में जो ग्यारह प्रतिमाओंका वर्णन किया है उसका मूलाधार यही मालूम होता है सागार संयमाचरण, पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रतके और चार शिक्षाव्रतोंके भेदसे बारह भेदोंमें विभाजित है। उपर्युक्त ग्यारह प्रतिमाओंमें इसी बारह प्रकारके सागाराचरणका पालन होता है।

स्थूलहिंसा, स्थूलमृषा, स्थूल चौर्य तथा परदारसे निवृत्त होना और परिग्रह तथा आरंभका परिमाण करना -- सीमा निश्चित करना ये क्रमशः अहिंसादि पाँच अणुव्रत हैं। दसों दिशाओंमें यातायातका परिमाण करना, अनर्थदंडका त्याग करना और भोगोपभोगकी वस्तुओंका परिमाण करना -- ये तीन गुणव्रत हैं। सामायिक, प्रोषध, अतिथिपूजा और सल्लेखना ये चार शिक्षाव्रत हैं। तत्त्वार्थसूत्रकारने दिग्व्रत, देशव्रत और अनर्थदंडव्रत इन तीनको गुणव्रत तथा सामायिक, प्रोषधोपवास, उपभोग परिभोग परिमाण और अतिथिसंविभाग इन चारको शिक्षाव्रत कहा है। समंतभद्र स्वामीने दिग्व्रत, अनर्थदंडव्रत और भोगोपभोग परिमाण इन्हें तीन गुणव्रत तथा सामायिक, देशावकाशिक, प्रोषधोपवास और वैयावृत्त्य इन्हें चार शिक्षाव्रत कहा है। इन दोनों आचार्योंने सल्लेखनाका वर्णन अलगसे किया है।

पंच इंद्रियोंको वश करना, पंच महाव्रत धारण करना, पंच समितियोंका पालन करना और तीन गुप्तियोंको धारण करना यह अनगाराचरण अर्थात् मुनियोंका चारित्र है। मनोज्ञ और अमनोज्ञ विषयोंमें रागद्वेष न कर मध्यस्थभाव धारण करना स्पर्शनादि पाँच इंद्रियोंका वश करना है। हिंसादि पाँच पापोंका सर्वथा त्याग करना अहिंसादि पाँच महाव्रत हैं। ये महान् प्रयोजनको साधते हैं, महापुरुष इन्हें धारण करते हैं अथवा स्वयं ये महान हैं इसलिए इन्हें महाव्रत कहते हैं। इन अहिंसादि व्रतोंकी रक्षाके लिए पच्चीस भावनाएँ होती हैं। ये वही पच्चीस भावनाएँ हैं जिनके आधारपर तत्त्वार्थसूत्रकारने सप्तमाध्यायमें अहिंसादि व्रतोंकी पाँच पाँच भावनाओंका वर्णन किया है। ईर्या, भाषा, एषणा, आदान और निक्षेपण ये पाँच समितियाँ हैं। ग्रंथांतरोंमें आदाननिक्षेपको एक समिति मानकर प्रतिष्ठापन अथवा व्युत्सर्ग नामकी अलग समिति स्वीकृत की गयी है।

इस तरह संयमाचरणका वर्णन करनेके बाद कुंदकुंद स्वामीने कहा है कि जो जीव परम श्रद्धासे दर्शन, ज्ञान, और चारित्रको जानता है वह शीघ्र ही निर्वाणको प्राप्त होता है।

सुत्तपाहुड [१]

सुत्तपाहुड -- सूत्र प्राभृतमें २७ गाथाएँ हैं। प्रारंभमें सूत्रकी परिभाषा दिखलाते हुए कहा गया है कि अरहंत

१. कुछ ग्रंथोंमें चारित्र पाहुड और सुत्त पाहुड में क्रमभेद है।

भगवानने जिसका अर्थ स्पष्ट रूपसे निरूपण किया है, गणधर देवोंने जिसका गुंफन किया है तथा शास्त्रका अर्थ खोजना ही जिसका प्रयोजन है उसे सूत्र कहते हैं। ऐसे सूत्रके द्वारा साधु पुरुष परमार्थको साधते हैं। सूत्रकी महिमा बतलाते हुए कहा है कि सूत्रको जाननेवाला पुरुष शीघ्र ही भव -- संसारका नाश करता है। जिस प्रकार सूत्र अर्थात् सूतसे रहित सूई नाशको प्राप्त होती है उसी प्रकार सूत्र आगमज्ञानसे रहित मनुष्य नाशको प्राप्त होता है। जो जिनेंद्र प्रतिपादित सूत्रके अर्थको, जीवाजीवादि नाना प्रकारके पदार्थोंको और हेय तथा उपादेयोंको जानता है वही सम्यग्दृष्टि है, निश्चय नयसे आत्माका शुद्ध स्वभाव उपादेय -- ग्रहण करनेके योग्य है और अशुद्ध -- रागादिक विभाव हेय -- छोड़नेके योग्य हैं। व्यवहार नयसे मोक्ष तथा उसके साधक संवर और निर्जरा तत्त्व उपादेय हैं तथा अजीव, आस्रव और बंधतत्त्व हेय हैं। जिनेंद्र भगवान्ने जिस सूत्रका कथन किया है वह व्यवहार तथा निश्चयरूप है। उसे जानकरही योगी वास्तविक सुखको प्राप्त होता है तथा पापपुंज तो नष्ट करता है। सम्यक्त्वके बिना हरिहर तुल्य भी मनुष्य स्वर्ग जाता है और वहाँसे आकर करोड़ों भव धारण करता है, परंतु मोक्षको प्राप्त नहीं होता।

इसी सुत्तपाहुडमें कहा है कि जो मुनि सिंहके समान निर्भय रहकर उत्कृष्ट चारित्र धारण करते हैं, अनेक प्रकारके व्रत उपवास आदि करते हैं, तथा आचार्य आदिके गुरुतर भार धारण करते हैं परंतु स्वच्छंद करते हैं अर्थात् आगमकी आज्ञाका उल्लंघन कर मनचाही प्रवृत्ति करते हैं वे पापको प्राप्त होते हैं तथा मिथ्यादृष्टि कहलाते हैं। कुंदकुंद स्वामीने इस सूत्रपाहुडमें घोषणा की है कि जिनेंद्र भगवान्ने निर्ग्रंथ मुद्राको ही मोक्षमार्ग कहा है, अन्य सब प्रकारके सवस्त्र -- सपरिग्रह वेष मोक्षके अमार्ग हैं। निर्ग्रंथ साधुओंके बालके अग्रभागकी अनीके बराबर भी नहीं है, इसलिए वे एक ही स्थानपर पाणिपात्रमे श्रावकके द्वारा दिये हुए अन्नको ग्रहण करते हैं। मुनि, नग्नमुद्राको धारण कर तिलतुषके बराबर भी परिग्रहको ग्रहण नहीं करते। यदि कदाचित् ग्रहण करते हैं तो उसके फलस्वरूप निगोदको प्राप्त होते हैं। जिनशासनमें तीन लिंग ही कहे गये हैं -- एक निर्ग्रंथ साधुका, दूसरा उत्कृष्ट श्रावकोंका और तीसरा आर्यिकाओंका। इनके सिवाय अन्य लिंग मोक्षमार्गमें ग्राह्य नहीं है। वस्त्रधारी मनुष्य भले ही तीर्थंकर हो, सिद्ध अवस्थाको प्राप्त नहीं हो सकता। तीर्थंकर भी तब ही मोक्षको प्राप्त होते हैं जब वस्त्ररहित होकर निर्गंथ मुद्रा धारण करते हैं। स्त्रीके निर्ग्रंथ दीक्षा संभव नहीं है इसलिए वह उस भवसे मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकतीं।

४. बोधपाहुड

इसमें ६२ गाथाएँ हैं। जिनमें आयतन, चैत्यगृह, जिनप्रतिमा, दर्शन, जिनबिंब, जिनमुद्रा, ज्ञान, देव, अर्हंत तथा प्रव्रज्याका स्वरूप समझाया है। प्रव्रज्याका वर्णन करते हुए मुनिचर्याका बहुत ही मार्मिक वर्णन किया है। उन्होंने कहा है कि जो ग्रह तथा परिग्रहके मोहसे रहित है, बाईस परीषहोंको जीतनेवाली है, कषायरहित है तथा पापारंभसे वियुक्त है ऐसी प्रव्रज्या -- दीक्षा हो सकती है। जो शत्रु और मित्रमें समभाव रखती है, प्रशंसा-निंदा, लाभ-अलाभमें समभावसे सहित है तथा तृण और सुवर्णके बीच जिसमें समानभाव होता है वही प्रव्रज्या कहलाती है। जो उत्तम-अनुत्तम घरों तथा दरिद्र तथा संपन्न व्यक्तियोंमें निरपेक्ष है; जिसमे निर्धन और सधन -- सभीके घर आहार लिया जाता है वह प्रव्रज्या है। जिसमें तिलतुषमात्र भी परिग्रह नहीं रहता, सर्वदर्शी भगवान्ने उसीको प्रव्रज्या कहा है। इस बोधपाहुडके अंतमें कुंदकुंद स्वामीने अपने आपको भद्रबाहुका शिष्य बतलाते हुए उनका जयकार किया है। इस संदर्भकी पिछले साम्यमें समन्वयात्मक चर्चा विस्तारसे की गयी है।

५. भावपाहुड

इसमें १६३ गाथाएँ हैं। कुंदकुंद महाराजने मंगलाचरणके बाद कहा है कि भाव ही प्रथम लिंग है, द्रव्यलिंग

परमार्थ नहीं है अर्थात् भावलिंगके बिना द्रव्यलिंग परमार्थकी सिद्धि करनेवाला नहीं है। गुण और दोषोंका कारण भाव ही है। भाव विशुद्धिके लिए बाह्य परिग्रहका त्याग किया जाता है। जो आभ्यंतर परिग्रहसे सहित है उसका बाह्य त्याग निष्फल है। भावरहित साधु यद्यपि कोटिकोटि जन्मतक हाथोंको नीचे लटकाकर तथा वस्त्रका परित्याग कर तपश्चरण करता है तो भी सिद्धिको प्राप्त नहीं होता। भावके बिना इस जीवने नरकादि गतियोंमें दुःख भोगे हैं। भावके बिना इस जीवने अनंत जन्म धारण कर माताओंका इतना दूध पिया है कि उसका परिमाण समुद्रोंके सलिलसे भी अधिक है। भावोंके बिना इस जीवने मरण कर अपनी माताओंको इतना रुलाया है कि उनके नेत्रोंका जल समस्त समुद्रोंके जलसे कहीं अधिक हो जाता है। भावोंके बिना इस जीवने अंतर्मुहूर्तमें छ्यासठ हजार तीन सौ छत्तीस बार जन्ममरण प्राप्त किया है। बाहुबली तथा मधुपिंगके दृष्टांत देकर मुनिको भावशुद्धिके लिए प्रेरित किया गया है। भव्यसेन मुनि अंग और पूर्वके पाठी होकर भी भावश्रमण अवस्थाको प्राप्त नहीं हो सके और शिवभूति मुनि मात्र तुषमाषका बारबार उच्चारण करते हुए केवलज्ञानी बन गये। निष्कर्षके रूपमें कुंदकुंद स्वामीने बतलाया है कि भावसे नग्न हुआ जाता है। बाह्य लिंगरूप मात्र नग्नवेषसे क्या साध्य है? भावसहित द्रव्यलिंगके द्वारा ही कर्मप्रकृतियोंके समूहका नाश होता है।

भावलिंगी साधु कौन होता है? इसके उत्तरमें कहा है -- जो शरीर आदि परिग्रहसे रहित हैं, मान कषायसे पूर्णतया निर्मुक्त है, तथा जिसकी आत्मा आत्मस्वरूपमें लीन है वही साधु भावलिंगी होता है। भावलिंगी साधु विचार करता है कि 'ज्ञानदर्शन लक्षणवाला एक नित्य आत्मा ही मेरा है, कर्मोंके संयोगसे होनेवाले भाव मुझसे बाह्यभाव हैं, वे मेरे नहीं हैं' जिनधर्मकी उत्कृष्टताका वर्णन करते हुए कहा है कि जिस प्रकार रत्नोंमें हीरा और वृक्षोंके समूहमें चंदन उत्कृष्ट हैं उसी प्रकार धर्मोंमें संसारको नष्ट करनेवाला जिनधर्म उत्कृष्ट है। पुण्य और धर्मकी पृथक्ता सिद्ध करते हुए श्री कुंदकुंदाचार्य कहते हैं कि [१] पूजा आदि शुभकार्योंमें व्रतसहित प्रवृत्ति करना पुण्य है, ऐसा जिनमतमें जिनेंद्रदेवने कहा है और मोह तथा क्षोभसे रहित आत्माका जो परिणाम है वह धर्म है। धर्मका यही लक्षण इन्होंने 'चारित्तं खलु धम्मो' इस गाथा द्वारा प्रवचनसारमें कहा है। लोकमें जो पुण्यको धर्म कहा जाता है वह कारणमें कार्यका उपचार कर कहा जाता है।

६. मोक्खपाहुड

इसमें १०६ गाथाएँ हैं। मंगलाचरण और प्रतिज्ञावाक्यके अनंतर उस अर्थ -- आत्मद्रव्यकी महिमा गायी गयी है जिसे जानकर योगी अव्याबाध अनंत सुखको प्राप्त होता है। वह आत्मद्रव्य, बहिरात्मा, अंतरात्मा और परमात्माके भेदसे तीन प्रकारका कहा गया है। उनमें बहिरात्माको छोड़ने और और अंतरात्माके उपायसे परमात्माके ध्यान करनेकी बात कही गयी है। इंद्रियाँ बहिरात्मा हैं अर्थात् इंद्रियोंके समूहस्वरूप शरीरमें आत्मबुद्धि करना बहिरात्मा है, आत्मसंकल्प अंतरात्मा है और कर्मकलंकसे विमुक्त देव परमात्मा है। बहिरात्मा -- मूढ़दृष्टि जिनस्वरूपसे च्युत होकर स्वकीय शरीरको ही आत्मा समझता है। यही अज्ञान उसके मोहको बढ़ाता है। इसके विपरीत जो योगी शरीरसे निरपेक्ष, निर्द्वंद्व, निर्मल और निरहंकार रहता है वही निर्माणको प्राप्त होता है। परद्रव्यमें रत रहनेवाला जीव नाना प्रकारके कर्मोंसे बँधता है और परद्रव्यसे विरत रहनेवाला नाना कर्मोंसे छूटता है, यह बंध और मोक्षविषयक संक्षेपमय जिनोपदेश है। तपसे स्वर्ग सभी प्राप्त करते हैं, पर जो ध्यानसे स्वर्ग प्राप्त करता है उसका स्वर्ग प्राप्त करना कहलाता है। ऐसा जीव परभवमें शाश्वत सुख -- मोक्षको प्राप्त होता है।

---

१ पूयादिसु वयसहियं पुण्णं हि जिणेहि सासणे भणियं।
मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो धम्मो।।८१।।

व्रत और तपके द्वारा स्वर्ग प्राप्त कर लेना अच्छा है किंतु नरकके दुःख भोगना अच्छा नहीं हुआ, क्योंकि छाया और धूपमें बैठकर इष्ट स्थानकी प्रतीक्षा करनेवालोंमें महान अंतर है।[२] जो व्यवहारमें सोता है वह आत्मकार्यमें जागता है और जो आत्मकार्यमें जागता है वह व्यवहारमें सोता है। जिस प्रकार स्फटिक मणि स्वभावसे शुद्ध है परंतु परद्रव्यके संयोगसे विभिन्न वर्णका हो जाता है उसी प्रकार जीव स्वभावसे शुद्ध है, परंतु परद्रव्यके संयोगसे रागादियुक्त हो जाता है। अज्ञानी जीव उग्र तपके द्वारा अनेक भवोंमें जिन कर्मोंको खपाता है, तीन गुप्तियोंका धारी जीव उन्हें अंतर्मुहूर्तमें खिपा देता है। जिसका ज्ञान चारित्रसे रहित है और जिसका तप सम्यग्दर्शनसे रहित है उसको लिंग ग्रहण -- मुनिवेष धारण करनेसे क्या होनेवाला है? आत्मज्ञानके बिना बहुत शास्त्रोंको पढ़ना बालश्रुत है और आत्मस्वभावके विपरीत चारित्र पालन करना बालचारित्र है।

इत्यादि विविध उपदेशोंके साथ मोक्षका स्वरूप तथा उसकी प्राप्तिके साधन बतलाये गये हैं। इन छह पाहुडोंपर भी श्रुतसागरसूरिकृत संस्कृत टीका है।

७. लिंगपाहुड

इसमे २२ गाथाएँ हैं। मंगलाचरण और प्रतिज्ञावाक्यकी प्रथम गाथासे इसका पूरा नाम 'श्रमणलिंगपाहुड' है ऐसा प्रकट होता है। श्रमणका अर्थ मुनि है, इसमें मुनियोंके लिंग अर्थात् वेषकी चर्चा की गयी है। बताया गया है कि रत्नत्रय धर्मसे ही लिंग होता है। अर्थात् लिंगकी सार्थकता रत्नत्रयरूप धर्मसे है। मात्र लिंग धारण करनेसे धर्मकी प्राप्ति नहीं होती। जो पापी जीव जिनेंद्रदेवके लिंगको धारण कर लिंगीके यथार्थ भावकी हँसी कराता है वह यथार्थ वेषको नष्ट करता है। जो निर्ग्रंथ लिंग धारण कर नाचता है, गाता है और बजाता है वह पापी पशु है, श्रमण नहीं है। जो लिंग धारण कर दर्शन, ज्ञान और चारित्रको उपधान तथा ध्यानका आश्रय नहीं बनाता है किंतु इससे विपरीत आर्तध्यान करता है वह अनंत संसारी बनता है। जो मुनि होकर कांदर्पी आदि कुत्सित भावनाओंको करता है और भोजनमें रसविषयक गृध्रता करता है वह मायावी पशु है, मुनि नहीं है। जो मुनिलिंग धारण कर अदत्त वस्तुका ग्रहण करता है अर्थात् दातारकी इच्छाके विना अड़कर किसी वस्तुको लेता है तथा परोक्ष दूषण लगाकर दूसरेकी निंदा करता है वह चोरके समान है। जो स्त्रीसमूहके प्रति राग करता है तथा दूसरोंको दोष लगाता है वह पशु है, मुनि नहीं है। जो पुंश्चली स्त्रियोंके घर भोजन करता है तथा उनकी प्रशंसा करता है वह बालस्वभावको प्राप्त होता है और भावसे विनष्ट है अर्थात् द्रव्यलिंगी है। अंतमें कहा गया है कि जो मुनि सर्वज्ञदेवके द्वारा उपदिष्ट धर्मका पालन करता है वही उत्तम स्थानको प्राप्त होता है।

८. सीलपाहुड

इसमें ४० गाथाएँ हैं। प्रथम ही भगवान् महावीरको नमस्कार कर शीलगुणोंके वर्णन करनेकी प्रतिज्ञा की गयी है। बताया गया है कि शील और ज्ञानमें विरोध नहीं है किंतु सहभाव है। शीलके बिना विषय, ज्ञानको नष्ट कर देते हैं। ज्ञान बड़ी कठिनाईसे जाना जाता है तथा जानकर उसकी भावना और भी अधिक कठिनाईसे होती है। जब तक यह जीव विषयोंमें लीन रहता है तब तक ज्ञानको नहीं जानता और ज्ञानको जाने बिना विषयोंसे विरक्त जीव, पुरातन कर्मोंको नष्ट नहीं कर सकता। चारित्ररहित ज्ञान, दर्शनरहित लिंगग्रहण और संयमरहित तप ये सभी निरर्थक हैं। जिस प्रकार सुहागा

---

२. वर वयतवेहि सग्गो मा दुक्खं होउ निरय इयरेहि।
छायातवट्ठियाणं पडिपालंताण गुरुभेयं।।२५।। -- मोक्षपाहुड
वरं व्रतैः पदं दैवं नाव्रतैर्बत नारकम्।
छायातपस्थयोर्भेदः प्रतिपालयतोर्महान्।। -- इष्टोपदेश

और नमकके लेपसे फूँका हुआ स्वर्ण शुद्ध हो जाता है उसी प्रकार ज्ञानरूपी जलके द्वारा जीव शुद्ध हो जाता है। यदि कोई ज्ञानसे गर्वित होकर विषयोंमें राग करता है तो यह ज्ञानका अपराध नहीं है किंतु उस मंदबुद्धि पुरुषका अपराध है। जो शीलकी रक्षा करते हैं और विषयोंसे विरक्त रहते हैं उन्हें नियमसे निर्वाणकी प्राप्ति होती है। शीलरहित मनुष्यका जन्म निरर्थक है।

वारसणुवेक्खा

इसका संस्कृत नाम द्वादशानुप्रेक्षा है। ९१ गाथाओंके इस ग्रंथमें वैराग्योत्पादक द्वादश अनुप्रेक्षाओंका बहुत ही सुंदर वर्णन हुआ है। 'अनु+प्र+ईक्षणं अनुप्रेक्षा' इस व्युत्पत्तिके अनुसार पदार्थके स्वरूपको प्रकर्षताके साथ बार-बार देखना -- विचार करना अनुप्रेक्षा कहलाती है। ये अनुप्रेक्षाएँ लोकमें बारह भावनाओंके नामसे प्रचलित हैं। कुंदकुंद स्वामीने बारह अनुप्रेक्षाओंका क्रम इस प्रकार रक्खा है --

अद्धुवमसरणमेगत्तमण्णसंसारलोगमसुचित्तं।
आसवसंवरणिज्जरधम्मं बोहिं च चिंतेज्जो।।२।।

१. अध्रुव, २. अशरण, ३. एकत्व, ४. अन्यत्व, ५. संसार, ६. लोक, ७. अशुचित्व, ८. आस्रव, ९. संवर, १०. निर्जरा, ११. धर्म और बोधि -- इन भावनाओंका निरंतर चिंतन करना चाहिए।

तत्त्वार्थसूत्रकार श्री उमास्वामी महाराजने इन अनुप्रेक्षाओंके क्रममें कुछ परिवर्तन किया है --

'अनित्याशरणसंसारैकत्वान्यत्वाशुच्यास्रवसंवरलोकबोधिदुर्लभधर्मस्वाख्याततत्त्वानुचिन्तनमनुप्रेक्षाः।'

१. अनित्य, २. अशरण, ३. संसार, ४. एकत्व, ५. अन्यत्व, ६. अशुचि, ७. आस्रव, ८. संवर, ९. निर्जरा, १०. लोक, ११. बोधिदुर्लभ और १२. धर्म -- इनके स्वरूप चिंतन करना बारह अनुप्रेक्षाएँ हैं।

आज आम जनता में तत्त्वार्थसूत्रकारके द्वारा निर्धारित क्रमही प्रचलित है। संभव है छंदकी परतंत्रताके कारण कुंदकुंदस्वामीको अनुप्रेक्षाओंके क्रममें परिवर्तन करनेके लिए विवश होना पड़ा हो। पर उमास्वामीके सामने गद्यरूप रचना होनेसे छंदकी कोई विवशता नहीं थी।

इस ग्रंथमें अनित्य आदि अनुप्रेक्षाओंके चिंतन द्वारा श्रमणके वैराग्यभावको दृढ

दृढ़ किया गया है। इसकी कुछ गाथाएँ स्वयं कुंदकुंद स्वामीके अन्य ग्रंथोंमें पायी जाती हैं और कितनी ही गाथाएँ उत्तरवर्ती ग्रंथकारोंके द्वारा 'उक्तं च' कहकर उद्धृत की गयी हैं या अपने ग्रंथका अंग ही बना ली गयी हैं। जैसे --

दंसणभट्टा भट्टा दंसणभट्टस्स णत्थि णिव्वाणं।
सिज्झंति चरियभट्टा दंसणभट्टा ण सिज्झंति।।१९।।

यह गाथा दंसणपाहुडकी तीसरी गाथा है।

सव्वे वि पोग्गला खलु एगे भुत्तुज्झिया हु जीवेण।
असुयं अणंतखुत्तो पुग्गलपरियट्टसंसारे।।२५।।
सव्वम्हि लोयखेत्ते कमसो तं णत्थि जं च उप्पण्णं।
उग्गाहणेण बहुसो परिभमिदो खेत्तसंसारे।।२६।।
अवसप्पिणिउवसप्पिणिसमयावलियासु णिरवसेसासु।
जादो मुदो य बहुसो परिभमिदो कालसंसारे।।२७।।

णिरयाउजहण्णादिसु जाव दु उवरिल्लया दु गेवेज्जा।
मिच्छत्तसंसिदेण दु बहुसो वि भवट्ठिदी भमिदो।।२८।।
सव्वे पयडिट्ठिदिओ अणुभागप्पदेसबंधठाणाणि।
जीवो मिच्छत्तवसा भमिदो पुण भाव संसारे।।२९।।

ये गाथाएँ पूज्यपाद स्वामीने सर्वार्थसिद्धि द्वितीयाध्यायके 'संसारिणो मुक्ताश्च' इस सूत्रमें उद्धृत की हैं और उन्हींका अनुसरण जीवकांडकी संस्कृत टीकाकी भव्यमार्गणामें किया गया है।

णिच्चिदरधादु सत्त य तरुदसवियलिंदिएसु छच्चेव।
सुरणिरयतिरियचउरो चोद्दसमणुए सदसहस्सा।। ३५।।

यह गाथा भी सर्वार्थसिद्धिमें पूज्यपादस्वामीने 'सचित्तशीतसंवृताः सेतरा मिश्राश्चैकशस्तद्योनयः' इस सूत्रकी व्याख्यामें उद्धृत की है। यही गाथा जीवकांडकी ८९ वीं गाथा बन गयी है।

इगतीस सत्त चत्तारि दोण्णि एक्केक्कछक्कचदुकप्पे।
तित्तियएक्केकेंदियणामा उडुआदि तेसट्ठी।।४१।।

यह गाथा त्रिलोकसारकी ४६३ वीं गाथा बन गयी है तथा बृहद्द्रव्यसंग्रहकी लोकभावनामें 'उक्तं च' कहकर उद्धृत की गयी है।

तत्त्वार्थसूत्रकारने व्रत-अणुव्रत और महाव्रतोंका शुभास्रवमें वर्णन किया है, परंतु कुंदकुंद स्वामीने

पंचमहव्वयमणसा अविरमणणिरोहणं हवे णियमा।
कोहादि आसवाणं दाराणि कसायरहियपल्लगेहिं।।६२।।

इस गाथा द्वारा कहा है कि अहिंसादि पाँच महाव्रतोंके परिणामसे हिंसादि पाँच प्रकारके अविरमणका निरोध नियमसे हो जाता है अर्थात् इसे संवरका कारण बतलाया है। इसी प्रकार जीवकांड और बृहद् द्रव्यसंग्रहमें भी व्रतको संवरमें परिगणित किया गया है। व्रतमें प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों रहती हैं। तत्त्वार्थसूत्रकारने निवृत्ति अंशको प्रधानता देकर संवरमें सम्मिलित किया है।

शुभोपयोगकी प्रवृत्ति सर्वथा निःसार नहीं है, उससे अशुभोपयोगका निराकरण होता है और शुद्धोपयोगके द्वारा शुभोपयोगका विरोध होता है -- यह भाव कुंदकुंद स्वामीने निम्न गाथामें प्रकट किया है --

सुहजोगस्स पवित्ती संवरणं कुणदि असुहजोगस्स।
सुहजोगस्स णिरोहो सुद्धुवजोगेण संभवदि।।६३।।

निर्जरानुप्रेक्षाकी निम्नलिखित गाथा स्वामीकार्तिकेयानुप्रेक्षाकी १०४ वीं गाथा बन गयी है --

सा पुण दुविहा णेया सकालपक्का तवेण कयमाणा।
चदुगदियाणं पढमा वयजुत्ताणं हवे बिदिया।।६७।।

धर्मभावनाकी निम्नांकित गाथा भी उत्तरवर्ती आचार्योंके द्वारा अपने ग्रंथोंका अंग बनायी गयी है --

दंसणवयसामाइयपोसहसच्चित्तरायभत्ते य।
बम्हारंभपरिग्गह अणुमणमुद्दिट्ठदेसविरदेदे।।६९।।

यह गाथा वसुनन्दिश्रावकाचारमें चतुर्थ नंबरकी गाथा बन गयी है।

उत्तम क्षमादि दश धर्मोंके वर्णनमें कुंदकुंद स्वामीने सत्य धर्मका वर्णन पहले किया है और शौच धर्मका उसके

बाद। परवर्ती ग्रंथकारोंमें किसीने शौचका वर्णन पहले किया है और किसीने सत्यका। जैसे --

परसंतावयकारणवयणं मोत्तूण सपरहिदवयणं।
जो वददि भिक्खु तुरियो तस्स दु धम्मं हवे सच्चं।।७४।।
कंखाभावणिवित्तिं किच्चा वेरग्गभावणाजुत्तो।
जो वट्टदि परममुणी तस्स दु धम्मो हवे सौच्चं।।७५।।

इस 'वारसणुवेक्खा' के अंतमें कुंदकुंद स्वामीने अपना नाम भी दिया है। जैसे --

इदि णिच्छयववहारं जं भणियं कुंदकुंदमुणिणाहे।
जो भावइ सुद्धमणो सो पावइ परमणिव्वाणं।।९१।।

यह रचना अल्पकाय होनेपर भी आत्मकल्यामकी भावनासे परिपूर्ण होनेके कारण अत्यंत महत्त्वपूर्ण है।

भत्तिसंगहो

सिद्धभक्तिकी संस्कृत टीकामें श्री प्रभाचंद्रने लिखा है कि **'संस्कृताः सर्वा भक्तयः पूज्यपादस्वामिकृताः प्राकृतास्तु कुन्दकुन्दाचार्यकृताः।'**

संस्कृत भाषाकी समस्त भक्तियाँ पूज्यपाद स्वामीकृत हैं और प्राकृतकी समस्त भक्तियाँ कुंदकुंदाचार्यकृत हैं। प्रभाचंद्रजीके इस उल्लेखके आधारपर ही यहाँ प्राकृत भाषाकी निम्नलिखित भक्तियोंका संग्रह किया गया है --

१. सिद्धभक्ति, २. श्रुतभक्ति, ३. चारित्रभक्ति, ४. योगिभक्ति, ५. आचार्यभक्ति, ६. निर्वाणभक्ति, ७. पंचपरमेष्ठिभक्ति और ८. तीर्थकरभक्ति।

ये भक्तियाँ प्राकृत पद्यात्मक हैं। इन सबके अंतमें अचलिका रूपमें 'इच्छामि भंते' आदि संक्षिप्त गद्य दिया है। नन्दीश्वर भक्ति और शान्तिभक्ति केवल गद्यमें हैं, इन्हें सम्मिलित कर देनेसे दश भक्तियाँ हो जाती हैं। समाजमें 'दशभक्ति संग्रह' नामसे इनके अनेक संग्रह प्रकाशित हुए हैं। ये भक्तियाँ मुनियोंके नित्यपाठमें सम्मिलित हैं। भक्तियोंका विषय उनके नामसे ही स्पष्ट हैं।

आभार प्रदर्शन

इस तरह हम देखते हैं कि कुंदकुंद स्वामीने अपने समस्त ग्रंथोंमें जो तत्त्वका निरूपण किया है वह मुमुक्षु मानवके लिए अत्यंत ग्राह्य है। कुंदकुंद स्वामीकी वाणी सितोपल -- मिश्रीके समान सब ओरसे -- शब्द, अर्थ और भावकी दृष्टिसे सुमधुर है। इनके ग्रंथोंका स्वाध्याय विद्वत्समाजमें बड़ी श्रद्धासे होता है। कितने ही विद्वानोंमें इन ग्रंथोंके पुण्यपाठकी परंपरा प्रचलित है। पुण्यपाठके समय अर्थपाठपर भी दृष्टि जा सके इस अभिप्रायसे प्रत्येक गाथाओंके नीचे उनका सरल भाषामें संक्षिप्त हिंदी अर्थ दिया गया है। जहाँ आवश्यक प्रतीत हुआ वहाँ भावार्थ भी दिया गया है। प्रस्तावनामें कुंदकुंद स्वामीके जीवनपथका यथाशक्य परिचय दिया गया है। साथ ही प्रत्येक ग्रंथका संक्षिप्त सार भी दिया है। इसे मनोयोगसे पढ़नेपर ग्रंथका संपूर्ण भाव हृदयपर अंकित हो जाता है। प्रत्येक ग्रंथका सार देनेसे यद्यपि प्रस्तावनाका कलेवर बढ़ गया है तो भी ऐतिहासिक गुप्तियोंकी विस्तारकी अपेक्षा इसे देना मैंने सार्थक समझा, क्योंकि जनसाधारण इससे लाभ उठा सकता है। परिशिष्टमें प्रत्येक ग्रंथकी पृथक् पृथक् अनुक्रमणिकाएँ तथा प्रारंभमें प्रत्येक ग्रंथकी पृथक् पृथक् विषयसूचियाँ भी दी गयी हैं इससे प्रत्येक अध्येताको इष्ट विषयके अन्वेषणमें साहाय्य प्राप्त होगा।

प्रस्तावना लेखमें श्रीमान् स्व. आचार्य जुगलकिशोरजी मुख्त्यारके 'पुरातन वाक्यसूची', श्रीमान् पं. कैलाशचंद्र

शास्त्रीके 'कुंदकुंद प्राभृत संग्रह' और श्रीमान डॉ. ए. एन्. उपाध्येके 'प्रवचनसार'की प्रस्तावनासे यथेष्ट सामग्री ली गयी है इसलिए इन सबका मैं अत्यंत आभारी हूँ। इसका प्रकाशन १०८ चारित्र चक्रवर्ती आचार्य शांतिसागर दि. जैन जिनवाणी जीर्णोद्धारक संस्थाकी ओरसे हो रहा है इसलिए उसके मंत्री श्री. वालचंद देवचंदजी शहा तथा अन्य अधिकारियोंका आभार मानता हूँ। श्रीमान् पं. जिनदासजी शास्त्री सोलापुरने पांडुलिपिका सूक्ष्म दृष्टिसे अवलोकन कर उक्त संस्थाको प्रकाशित करनेकी आज्ञा दी इसलिए उनका आभारी हूँ। श्री ब्रह्मचारिणी पद्मश्री सुमतिबाई शहा सोलापुरका भी आभारी हूँ जिनकी प्रेरणासे इस ग्रंथके प्रकाशनकी ओर संस्थाके मंत्री महोदयका ध्यान आकृष्ट हुआ। श्री. उदयचंद्रजी सर्वदर्शनाचार्य एम्. ए. प्राध्यापक हिंदू विश्वविद्यालय वाराणसी और श्री. पं. महादेवजी चतुर्वेदीने प्रूफ देखकर इसके सुंदर प्रकाशनमें जो सहयोग दिया है उसके लिए उनके प्रति आभार प्रकट करता हूँ। जिनवाणीके संवर्धन, संरक्षण, संशोधन और प्रकाशनमें जो भाग लेते हैं उन सबके प्रति मेरे हृदयमें अगाध श्रद्धाका भाव है।

मैं अल्पज्ञानी तो हूँ ही, साथमें मुझे अनेक कार्योंमें व्यस्त रहना पड़ता है इससे संपादन तथा अनुवादमें त्रुटि रह जाना संभव है इसके लिए मैं ज्ञानी जनोंसे क्षमाप्रार्थी हूँ। मेरे द्वारा जिनवाणीके अर्थमें विपर्यास न हो इसका हृदयमें सदा भय रहता है।

सागर
दीपावली
२४९७ वीरनिर्वाण संवत्

विनीत
पन्नालाल जैन
साहित्याचार्य

विषय-सूची

पंचास्तिकाय

प्रथम स्कंध	गाथा	पृष्ठ
मंगलाचरण	१	३
ग्रंथप्रतिज्ञा	२	३
लोक और अलोकका स्वरूप	३	३
अस्तिकायोंकी गणना	४	३
अस्तिकायका स्वरूप	५	४
द्रव्योंकी गणना	६	४
एकक्षेत्रावगाह होनेपर भी द्रव्य अपना स्वभाव नहीं छोड़ते	७	४
सत्ताका स्वरूप	८	४
द्रव्यका लक्षण	९-१०	५
पर्यायकी अपेक्षा उत्पादादिकी सिद्धि	११	५
द्रव्य और पर्यायका अभेद	१२	५
द्रव्य और गुणका अभेद	१३	५
सात अंगोंका निरूपण	१४	६
गुण और पर्यायोंमें उत्पादादि	१५	६
द्रव्योंके गुण और पर्यायोंका वर्णन	१६	६
दृष्टांतद्वारा उत्पादादिका वर्णन	१७-१८	६
सत्का विनाश और असत्की उत्पत्तिका अभाव	१९	७
ज्ञानावरणादि कर्मोंके अभावसे सिद्ध पर्यायकी प्राप्ति	२०	७
भाव, अभाव, भावाभाव और अभावका वर्णन	२१	७
अस्तिकायोंके नाम	२२	७
कालद्रव्यके अस्तित्वकी सिद्धि	२३	७
कालद्रव्यका लक्षण	२४	८
व्यवहारकालका वर्णन	२५	८
पुद्गलके निमित्तसे व्यवहारकालकी उत्पत्तिका वर्णन	२६	८
जीवका स्वरूप	२७	८
मुक्त जीवका स्वरूप	२८	९
मुक्त जीवकी विशेषता	२९	९
जीव शब्दकी निरुक्ति	३०	९
जीवकी विशेषता	३१-३२	१०
जीव शरीरप्रमाण है	३३	१०
द्रव्यकी अपेक्षा जीवद्रव्य अपने समस्त पर्यायोंमें रहता है	३४	१०
सिद्ध जीवका स्वरूप	३५	११
सिद्ध जीव कार्यकारण व्यवहारसे रहित है	३६	११
मोक्षमें जीवका असद्भाव नहीं है	३७	११
विविध चेतनाकी अपेक्षा जीवके तीन भेद	३८	१२
कर्मफल, कर्म और ज्ञानचेतनाके स्वामी	३९	१२
उपयोगके दो भेद	४०	१२
ज्ञानोपयोगके आठ भेद	४१	१२
दर्शनोपयोगके चार भेद	४२	१२
जीव और ज्ञानमें अभिन्नता	४३	१३
गुण और गुणीमें अभेद	४४	१३
द्रव्य और गुणोंमें भेदाभेदका निरूपण	४५-४६	१३
पृथक्त्व और एकत्वका वर्णन	४७	१३
ज्ञान और ज्ञानीमें सर्वथा भेदका निषेध	४८	१४
ज्ञानके समवायसे आत्मा ज्ञानी है इस मान्यताका निषेध	४९	१४
द्रव्य और गुणोंमें अयुतसिद्धिका वर्णन	५०	१५
दृष्टांत द्वारा ज्ञानदर्शन गुण और जीव में भेदाभेदका वर्णन	५१-५२	१५
जीवकी अनादिनिधनता तथा सादि सांतताका वर्णन	५३	१५
विवक्षावश सत्के विनाश और असत्के उत्पादका कथन	५४	१६
सत्के विनाश और असत्के उत्पादका कारण	५५	१६
जीवके औपशमिकादि भावोंका वर्णन	५६	१६
विवक्षावश औदयिक भावोंका कर्ता जीव है	५७	१७

	गाथा	पृष्ठ
औदयिक भावद्रव्य कर्मकृत है	५८-६०	१७
आत्मा निजभावका कर्ता है, परका नहीं	६१-६२	१८
जब आत्मा कर्ता नहीं है तब उसका फल कैसे भोगता है	६३-६८	१८-१९
संसार परिभ्रमणका कारण	६९	१९
मोक्षप्राप्तिका उपाय	७०	२०
जीवके अनेक भेद	७१-७२	२०
मुक्त जीवोंके ऊर्ध्वगमन स्वभावका वर्णन	७३	२०
पुद्गल द्रव्यके चार भेद	७४	२१
स्कंध आदिके लक्षण	७५	२१
स्कंधके छह भेदोंका वर्णन	७६	२१
परमाणुका लक्षण	७७	२१
परमाणुकी विशेषता	७८	२२
शब्दका कारण	७९	२२
परमाणुकी अन्य विशेषताओं का वर्णन	८०	२२
परमाणुमें रस गंध आदिका वर्णन	८१	२३
पुद्गल द्रव्यका विस्तार	८२	२३
धर्मास्तिकायका वर्णन	८३-८५	२३
अधर्मास्तिकायका वर्णन	८६	२३
धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकायोंकी विशेषताका वर्णन	८७-८९	२४
आकाशास्तिकायका लक्षण	९०	२४
लोक और अलोकका विभाग	९१	२४
आकाशको ही गति और स्थितिका कारण माननेमें दोष	९२-९५	२५
धर्म, अधर्म और आकाशकी एकरूपता तथा अनेकरूपता	९६	२५
द्रव्योंमें मूर्त और अमूर्त द्रव्यका विभाग	९७	२६
जीव और पुद्गल द्रव्यही क्रियावंत हैं	९८	२६
मूर्तिक और अमूर्तिकका लक्षण	९९	२६
काल द्रव्यका कथन	१००-१०१	२६
जीवादि द्रव्य अस्तिकाय हैं काल नहीं	१०२	२७
पंचास्तिकाय संग्रहके जाननेका फल	१०३-१०४	२७

द्वितीय स्कंध

	गाथा	पृष्ठ
मोक्षमार्गके कथनकी प्रतिज्ञा	१०५	२७
सम्यग्दर्शनादिकी एकता ही मोक्षका मार्ग है	१०६	२८
सम्यग्दर्शनादिका स्वरूप	१०७	२८
नौ पदार्थोंके नाम	१०८	२८
जीवोंके भेद	१०८	२८
स्थावरकायका वर्णन	११०	२८
स्थावर और त्रसका विभाग	१११	२९
पृथिवीकायिक आदि स्थावर एकेंद्रिय जीव हैं	११२	२९
एकेंद्रियोंमें जीवके अस्तित्वका वर्णन	११३	२९
द्वींद्रिय जीवोंका वर्णन	११४	२९
त्रींद्रिय जीवोंका वर्णन	११५	३०
चतुरिंद्रिय जीवोंका वर्णन	११६	३०
पंचेंद्रिय जीवोंका वर्णन	११७-११८	३०
जीवोंका अन्य पर्यायोंमें गमन	११९	३०
संसारी, मुक्त, भव्य तथा अभव्योंका वर्णन	१२०	३१
इंद्रियादिक जीव नहीं है	१२१	३१
जीवकी विशेषता	१२२-१२३	३१
द्रव्योंमें चेतन अचेतनका वर्णन	१२४	३१
अजीवका लक्षण	१२५	३१
शरीररूप पुद्गल और जीवमें पृथक्त्वका वर्णन	१२६-१२७	३२
जीवके संसारभ्रमणका कारण	१२८-१३०	३२
जीवके शुभ अशुभ भावोंका वर्णन	१३१	३२
पुण्य और पापका लक्षण	१३२	३३
कर्म मूर्तिक है	१३३	३६
पूर्व मूर्त कर्मोंके साथ नवीन मूर्त कर्मोंका बंध होता है	१३४	३६
पुण्यकर्मका आस्रव किसके होता है	१३५	३६
प्रशस्त रागका लक्षण	१३६	३६
अनुकंपाका लक्षण	१३७	३४
कालुष्यका लक्षण	१३८	३४
पापास्रवके कारण	१३९-१४०	३४

	गाथा	पृष्ठ
पापास्रवको रोकनेनाले जीवोंका वर्णन	१४१	३४
शुद्धोपयोगी जीवोंका वर्णन	१४२-१४६	४२
कर्मबंधका कारण	१४७-१४८	३६
कर्मबंधके चार प्रत्यय -कारण	१४९	३६
आस्रवनिरोध - संवरका वर्णन	१५०-१५१	३६
ध्यान निर्जराका कारण है	१५२	३६
मोक्षका कारण	१५३	३७
तृतीय स्कंध		
ज्ञान, दर्शन और चारित्रका स्वरूप	१५४	३७
जीवके स्वसमय और परसमयकी अपेक्षा भेद	१५५	३७
परसमयका लक्षण	१५६-१५७	३७-३८
स्वसमयका लक्षण	१५८	३८
स्वसमयका आचरण कौन करता है?	१५९	३८
व्यवहार मोक्षमार्गका वर्णन	१६०	३८
निश्चय मोक्षमार्गका वर्णन	१६१	३८
अभेद रत्नत्रयका वर्णन	१६२-१६३	३८-३९
सम्यग्दर्शनादि ही मोक्षके मार्ग हैं	१६४	३९
पुण्य मोक्षका साक्षात् कारण नहीं है	१६५-१६६	३९
अणुमात्र भी राग स्वसमयका बाधक है	१६७	३९
शुद्धात्म स्वरूपके सिवाय अन्यत्र विषयोंमें चित्तका भ्रमण संवरका बाधक है	१६८-१६९	४०
भक्तिरूप शुभ राग मोक्षप्राप्तिका साक्षात् कारण नहीं है	१७०-१७१	४०
वीतराग आत्मा ही संसारसे पार होता है	१७२	४०
समारोपवाक्य	१७३	४०

समयसार

	गाथा	पृष्ठ
जीवाजीवाधिकार		
मगलाचरण और प्रतिज्ञावाक्य	१	४५
स्वसमय और परसमयकी अपेक्षा दो भेद	२	४५
एकत्वके निश्चयको प्राप्त स्वसमय सुंदर है और बंधकथा विसंवादिनी है	३	४५
आत्मद्रव्यका एकत्वपना सुलभ नहीं है	४	४६
स्वसमयके दिखानेकी प्रतिज्ञा	५	४६
शुद्धात्मा कौन है? इसका वर्णन	६	४६
ज्ञानीके ज्ञानदर्शन चारित्र व्यवहारसे है	७	४७
व्यवहारके विना परमार्थका उपदेश अशक्य है	८	४७
व्यवहारनय परमार्थका प्रतिपादक किसप्रकार है इसका उत्तर	९-१०	४७
व्यवहारका अनुसरण क्यों नहीं करना चाहिए?	११	४७
शुद्ध निश्चयनयसे जाने हुए जीवाजीवादि पदार्थ ही सम्यक्त्व है	१३	४८
शुद्धनयका स्वरूप	१४	४८
आत्माको अबद्धस्पृष्ट जाननेवाला ही जिनशासनको जानता है	१६	४८
दर्शन ज्ञान चारित्र निरंतर सेवन करनेयोग्य हैं	१६	४९
उक्त बातका दृष्टांत और दार्ष्टांतद्वारा स्पष्टीकरण	१७-१८	४९
आत्मा कबतक अप्रतिबुद्ध रहता है?	१९	४९
अप्रतिबुद्ध और प्रतिबुद्ध जीवका लक्षण	२०-२२	५०
अप्रतिबुद्धको समझानेके लिए उपाय	२३-२५	५०
अज्ञानीका प्रश्न और आचार्यका उत्तर	२६-२७	५१
व्यवहारनयकी अपेक्षा शरीरके स्तवनसे आत्माका स्तवन	२८	५१
व्यवहारस्तवन निश्चयकी दृष्टिसे ठीक नहीं है	२९-३०	५१

	गाथा	पृष्ठ
निश्चयनयसे किस प्रकार होती है?	३१-३३	५२
ज्ञान ही प्रत्याख्यान है इसका दृष्टांत सहित कथन	३४-३५	५२
परपदार्थोंमें भिन्नपना किस प्रकार होता है?	३६-३७	५३
रत्नत्रयरूप परिणत आत्माका चिंतन किस प्रकार होता है?	३८	५३
मिथ्यादृष्टि दुर्बुद्धि जीव आत्माको नहीं जानते हैं	३९-४४	५३-५४
रागादिक भाव चैतन्यसे संबद्ध होनेपर भी पुद्गलके किस प्रकार कहे जाते हैं?	४५	५४
अध्यवसान भाव व्यवहारसे जीवके हैं इसका दृष्टांतसहित कथन	४६-४८	५४-५५
जीवका वास्तविक स्वरूप क्या है?	४९	५५
जीवके रसादिक नहीं हैं	५०-५५	५५-५६
वर्णादिक व्यवहारसे जीवके हैं निश्चयसे नहीं	५६	५६
वर्णादिक जीवके क्यों नहीं हैं इसका उत्तर	५७	५६
दृष्टांतद्वारा व्यवहार और निश्चयका अविरोध	५८-६०	५६-५७
वर्णादिके साथ जीवका तादात्म्य क्यों नहीं है? इसका उत्तर	६१-६६	५७-५८
ज्ञानधन आत्माको छोड़कर अन्यको जीव कहना व्यवहार है	६७	५८
रागादि भाव जीव नहीं है	६८	५८

कर्तृकर्माधिकार

	गाथा	पृष्ठ
जबतक यह जीव आत्मा और आस्रवकी विशेषताको नहीं जानता है तबतक कर्मबंध करता है	६९-७०	५९
कर्ताकर्मकी प्रवृत्तिका अभाव कब होता है? इसका उत्तर	७१	५९
ज्ञानभावसे बंधका अभाव किस प्रकार होता है ?	७२	५९
यह जीव आस्रवोंसे किस विधिसे निवृत्त होता है?	७३	६०
भेदज्ञान और आस्रवकी निवृत्ति एक ही समय होती है	७४	६०
ज्ञानी आत्माकी पहिचान	७५	६०
पौद्गलिक कर्मको जाननेवाले जीवका पुद्गलके साथ कर्ता कर्मभाव है या नहीं? इसका उत्तर	७६	६०
अपने परिणामको जाननेवाले जीवका पुद्गलके साथ कर्तृकर्मभाव है या नहीं? इसका उत्तर	७७	६१
पुद्गलकर्मके फलको जाननेवाले जीव पुद्गलके साथ कर्ता कर्मभाव है या नहीं? इसका उत्तर	७८	६१
जीवके परिणामको, अपने परिणामको और अपने परिणामके फलको नहीं जाननेवाले पुद्गल द्रव्यका जीवके साथ कर्तृकर्मभाव है या नहीं? इसका उत्तर	७९	६१
जीव और पुद्गलमें परस्पर निमित्तपना होनेपर भी कर्तृकर्मभाव नहीं है	८०-८१	६१
निश्चयनयसे आत्माके कर्तृकर्मभाव और भोक्तृभोग्य भावका वर्णन	८२-८३	६१-६२
व्यवहार नयसे आत्माके कर्तृकर्मभाव और भोक्तृभोग्यभावका वर्णन	८४	६२
व्यवहार नयका मत दोषयुक्त क्यों है?	८५	६२
दो क्रियाओंका अनुभव करनेवाला जीव मिथ्यादृष्टि क्यों है? इसका उत्तर	८६	६२
मिथ्यात्व आदिका जीव-अजीवके भेदसे दो भेद हैं	८७	६३
मिथ्यात्वादिक अजीव और जीवका पृथक् पृथक् वर्णन	८८	६३
मिथ्यात्व आदि भाव चैतन्यपरिणामके विकार क्यों हैं? इसका उत्तर	८९-९०	६३-६४
जब आत्मा मिथ्यात्वादि तीन विकाररूप परिणमन करता है तब पुद्गल स्वयं कर्मरूप परिणत हो जाता है	९१	६४
अज्ञान ही कर्मोंका करनेवाला है	९२	६४
ज्ञानसे कर्म उत्पन्न नहीं होते	९३	६४
अज्ञानसे कर्म क्यों उत्पन्न होते हैं?		

	गाथा	पृष्ठ
इसका उत्तर	९४-९६	६४-६५
ज्ञानसे जीवका कर्तापन नष्ट होता है	९७	६५
व्यवहारी लोगोंके कथनका निरूपण	९८-९९	६५
निमित्तनैमित्तिक भावसे भी आत्मा घटादि परद्रव्योंका कर्ता नहीं है	१००	६६
ज्ञानी ज्ञानका ही कर्ता है	१०१	६६
अज्ञानी भी परभावका कर्ता नहीं है	१०२	६६
परभाव किसीके द्वारा नहीं किया जा सकता	१०३	६६
आत्मा पुद्गल कर्मोंका अकर्ता है	१०४	६६
आत्मा द्रव्यकर्म करता है यह उपचार कथन है	१०५-१०८	६७
यदि पुद्गलकर्मको जीव करता है तो दूसरा कौन करता है?	१०९-११२	६८
जीव और प्रत्ययोंमें एकपना नहीं है	११३-११५	६८
सांख्यमतानुयायी शिष्यके प्रति पुद्गल द्रव्यका परिणाम स्वभाव किस प्रकार सिद्ध होता है?	११६-१२०	६९
सांख्य मतानुयायी शिष्यके प्रति जीवका परिणामीपना किस प्रकार सिद्ध होता है?	१२१-१२५	६९-७०
आत्मा जिस समय जो भाव करता है उस समय वह उसका कर्ता होता है	१२६	७०
अज्ञानमय भावसे क्या होता है और ज्ञानमय भावसे क्या होता है?	१२७	७१
ज्ञानी जीवके ज्ञानमय भाव होता है और अज्ञानी जीवके अज्ञानमय भाव,इसका कारण क्या है?	१२८-१३६	७१-७२
जीवका परिणाम पुद्गलद्रव्यसे जुदा है	१३७-१३८	७२
पुद्गल द्रव्यका कार्यरूप परिणमन जीवसे जुदा है	१३९-१४०	७३
कर्म आत्मामें बद्धस्पृष्ट है या अबद्धस्पृष्ट?		
इसका नयविवक्षासे उत्तर	१४१	७३
समयसार नयपक्षोंसे परे है	१४२	७३
पक्षातिक्रांतका स्वरूप	१४३	७३
पक्षातिक्रांत ही समयसार है	१४४	७३
पुण्यपापाधिकार		
शुभाशुभ कर्मोंका स्वभाव	१४५	७५
शुभाशुभ कर्मबंधके कारण हैं	१४६-१४९	७५
राग बंधका कारण है	१५०	७६
ज्ञानही मोक्षका हेतु है	१५१	७६
परमार्थमें स्थित न रहनेवाले पुरुषोंका तपश्चरण बालतप है	१५२	७६
ज्ञान मोक्षका और अज्ञान बंधका कारण है	१५३	७६
परमार्थसे बाह्य पुरुष अज्ञानसेपुण्यकी इच्छा करते हैं	१५४	७६
परमार्थभूत मोक्षका कारण	१५५	७७
व्यवहारमार्गसे कर्मोंका क्षय नहीं होता	१५६	७७
कर्म, मोक्षके कारणभूत सम्यग्दर्शनादि गुणोंका आच्छादन करते हैं इसका दृष्टांत द्वारा समर्थन	१५७-१५८	७७-७८
आस्रवाधिकार		
आस्रवका स्वरूप	१६४-१६५	७८
ज्ञानी जीवके आस्रवोंका अभाव होता है	१६६	७९
राग, द्वेष, मोह ही आस्रव हैं	१६७	७९
रागिदिरहित शुद्ध भाव असंभव नहीं हैं	१६८	७९
ज्ञानी जीवके द्रव्यास्रवका अभाव है	१६९	७९
ज्ञानी जीव निरास्रव क्यों है?	१७०	८०
ज्ञानगुणका जघन्य परिणाम बंधका कारण कैसे है? इसका उत्तर	१७१-१७२	८०
द्रव्यप्रत्ययके रहते हुए भी ज्ञानी निरास्रव किस प्रकार है? इसका उत्तर	१७३-१८०	८१-८२
संवराधिकार		
संवरका श्रेष्ठ उपाय भेद विज्ञानहै	१८१-१८३	८२
भेदविज्ञानसे शुद्धात्माकी उपलब्धि किस प्रकार होती है? इसका उत्तर	१८४-१८५	८२-८३

	गाथा	पृष्ठ
शुद्धात्माकी उपलब्धिसे ही संवर क्यों होता है? इसका उत्तर	१८६	८३
संवर किस प्रकार होता है? इसका उत्तर	१८७-१८९	८३
संवर किस क्रमसे होता है?	१९०-१९२	८४

निर्जराधिकार

निर्जराका स्वरूप	१९३	८५
भावनिर्जराका स्वरूप	१९४	८५
ज्ञानकी सामर्थ्य	१९५	८५
वैराग्यकी सामर्थ्य	१९६-१९७	८५
सम्यग्दृष्टि जीव सामान्य रूपसे निज और परको इस प्रकार जानता है	१९८	८६
सम्यग्दृष्टि जीव विशेष रूपसे निज और परको इस प्रकार जानता है	१९९-२००	८६
समदृष्टि रागी क्यों नहीं होता है? इसका उत्तर	२०१-२०३	८६-८७
ज्ञानमें भेद क्षयोपशमनिमित्तक है	२०४	८७
यदि कर्मोंसे छुटकारा चाहता है तो ज्ञानको ग्रहण कर	२०५-२०६	८७
ज्ञानी परद्रव्यको ग्रहण क्यों नहीं करता? इसका उत्तर	२०७ -२०८	८८
शरीरादि परद्रव्य मेरा परिग्रह किसी भी प्रकार नहीं है	२०९-२१५	८८-८९
ज्ञानी जीव अनागत भोगोंकी आकांक्षा क्यों नहीं करता?	२१६	८९
ज्ञानी जीव सभी उपभोगोंसे विरक्त रहता है	२१७	९०
ज्ञानी कर्मबंधसे रहित होता है	२१८-२२३	९०-९१
सराग परिणामोंसे बंध और वीतराग परिणामोंसे मोक्ष होता है	२२४-२२७	९१
सम्यग्दृष्टि जीव निःशंक तथा निर्भय रहता है	२२८	९२
निःशंकित अंगका स्वरूप	२२९	९२
निःकांक्षित अंगका स्वरूप	२३०	९२
निर्विचिकित्सित अंगका स्वरूप	२३१	९२
अमूढदृष्टि अंगका स्वरूप	२३२	९३
उपगूहन अंगका स्वरूप	२३३	९३
स्थितिकरण अंगका स्वरूप	२३४	९३
वात्सल्य अंगका स्वरूप	२३५	९३
प्रभावना अंगका स्वरूप	२३६	९३

बंधाधिकार

बंधका कारण रागादि भाव हैं	२३७-२४१	९४
उपयोगमें रागादिभाव न होनेसे सम्यग्दृष्टिके कर्मबंध नहीं होता इसका दृष्टांत द्वारा स्पष्टीकरण	२४२-२४६	९४-९५
अज्ञानी और ज्ञानी जीवकी विचारधारा	२४७	९५
'मैं दूसरेकी हिंसा करता हूँ' इत्यादि विचार अज्ञान क्यों हैं?	२४८-२५९	९५-९७
मिथ्याध्यवसाय बंधका कारण है	२६०-०६१	९७
हिंसाका अध्यवसाय ही हिंसा है	२६२	९८
असत्य वचन आदिका अध्यवसाय भी बंधका कारण है	२६३-२६४	९८
बाह्य वस्तु बंधका कारण नहीं है	२६५	९८
अध्यवसायके अनुसार कार्यकी परिणति नहीं होती	२६६-२६७	९८-९९
रागादिके अध्यवसायसे मोहितहुआ जीव समस्त परद्रव्योंको अपना समझता है	२६८-२६९	९९
अध्यवसानसे रहित मुनि कर्मबंधसे लिप्त नहीं है	२७०	१००
अध्यवसानकी नामावली	२७१	१००
व्यवहार नय निश्चय नयके द्वारा प्रतिषिद्ध है	२७२	१००
अभव्यके द्वारा व्यवहार नयका आश्रय क्यों किया जाता है?	२७३	१००
अभव्य ग्यारह अंगोंका पाठी होकर भी अज्ञानी है	२७४-२७५	१०१-१०२
व्यवहार और निश्चयका स्वरूप तथा प्रतिषेध्य-प्रतिषेधकपना	२७६-२७७	१०१
रागादि होनेका कारण क्या है?	२७८-२७९	१०१

	गाथा	पृष्ठ
ज्ञानी रागादिका कर्ता क्यों नहीं है?	२८०	१०२
अज्ञानी रागादिका कर्ता है	२८१-२८२	१०२
ज्ञानीको रागादिका अकर्ता क्यों कहते हैं? इसका उत्तर	२८३-२८५	१०२-१०३
द्रव्य और भावमें निमित्त नैमित्तिकपनका दृष्टांत द्वारा समर्थन	२८६-२८७	१०३

मोक्षाधिकार

बंधका स्वरूप और कारण जानने मात्रसे मोक्ष नहीं होता	२८८-२९०	१०४
बंधकी चिंता करनेपर भी बंध नहीं कटता	२९१-२९२	१०४
बंधकसे विरक्त रहनेवाला भी कर्ममोक्ष करता है	२९३	१०५
आत्मा और बंध पृथक् पृथक् किससे किये जाते हैं	२९४	१०५
आत्मा और बंधक पृथक् करनेका प्रयोजन	२९५	१०५
प्रज्ञाके द्वारा आत्माका ग्रहण किस प्रकार करना चाहिए?	२९६-३००	१०५-१०६
अपराध बंधका कारण है इसकी दृष्टांत द्वारा सिद्धि	३०१-३०३	१०६
अपराध क्या है?	३०४-३०५	१०७
विषकुंभ और अमृतकुंभ	३०६-३०७	१०८

सर्वविशुद्ध ज्ञानाधिकार

आत्मा अकर्ता है इसका दृष्टांतपूर्वक कथन	३०८-३११	१०९
आत्माका ज्ञानावरणादिके साथ बंध होना अज्ञानका माहात्म्य है	३१२-३१३	१०९
आत्मा, अज्ञानी, मिथ्यादृष्टि कब तक रहता है?	३१४-३१५	११०
अज्ञानी ही कर्मफलका वेदन करता है, ज्ञानी नहीं	३१६	११०
अज्ञानी ही भोक्ता है	३१७	११०
ज्ञानी अभोक्ता ही है	३१८-३२०	११८-१२०
आत्माको कर्ता माननेवाले अज्ञानी हैं	३२१-३२३	१११
	गाथा	पृष्ठ
निश्चय नयसे आत्माका पुद्गल कर्मके साथ कर्ताकर्म संबंध नहीं है	३२४-३२७	११२
जीवके मिथ्यात्व भावका कर्ता कौन है? यह युक्तिसे सिद्ध है	३२८-३३१	११३
इसीका विस्तारसे स्पष्टीकरण	३३२-३४४	११३-११४
क्षणिकवादका निषेध	३४५-३४८	११५
क्षणिकवादका दृष्टांतद्वारा निषेध	३४९-३५५	११६
निश्चय और व्यवहारके कथनका दृष्टांत द्वारा स्पष्टीकरण	३५६-३६५	११७
अज्ञानसे आत्मा अपना ही घात करता है	३६६-३७१	११८
सभी द्रव्य स्वभावसे उपजते हैं	३७२	११९
आत्मा स्वयं ही अज्ञानी और मोही होकर शब्दादिको ग्रहण करता है	३७३-३८२	११९-१२०
प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, आलोचना और चारित्रका स्वरूप	३८३-३८६	१२०-१२१
कर्मफलको जाननेवाला जीव अष्टविध कर्मोंको बाँधता है	३८७-३८९	१२१
ज्ञान, ज्ञेयसे पृथक् है	३९०-४०७	१२२-१२४
लिंग मोक्षका मार्ग नहीं है	४०८-४११	१२४
मोक्षमार्गमें रत रहनेका उपदेश	४११	१२४
बाह्य लिंगोंमें ममता रखनेवाले जीव समयसारको नहीं जानते हैं	४१३	१२५
व्यवहारनय, मुनि और श्रावकके लिंग-वेषको मोक्षमार्ग मानता है, परंतु निश्चयनय नहीं।	४१४	१२५
समयसारके पढ़नेका फल	४१५	१२५

प्रवचनसार

	गाथा	पृष्ठ
मंगलाचरण और गंथका उद्देश्य	१-५	१२९
वीतरागऔर सराग चारित्रका फल	६	१२९
चारित्रका स्वरूप	७	१३०
चारित्र और आत्माकी एकता	८	१३०
जीवकी शुभ, अशुभ और शुद्ध दशाका वर्णन	९	१३०
परिणाम, वस्तुका स्वभाव है	१०	१३०
शुभ और शुद्ध परिणामका फल	११	१३१
अशुभ परिणामका फल अत्यंत हेय है	१२	१३१
शुद्धोपयोगका फल और उसकी प्रशंसा	१३	१३१
शुद्धोपयोगरूप परिणत आत्माका स्वरूप	१४	१३१
शुद्धोपयोगपूर्वक ही शुद्ध आत्मका लाभ होता है	१५	१३१
शुद्धात्मरूप जीव सर्वथा स्वाधीन है	१६	१३२
शुद्धात्मस्वरूपकी नित्यता तथा कथंचित् उत्पादादिका वर्णन	१७	१३२
उत्पादादि तीनों शुद्ध आत्मामें भी होते हैं	१८	१३२
इंद्रियोंके बिना ज्ञान और आनंद कैसे होता है इसका उत्तर	१९	१३२
अतींद्रिय होनेसे शुद्धात्माके शारीरिक सुखदुःख नहीं होते	२०	१३३
केवली भगवान्को अतींद्रिय ज्ञानसे सब वस्तुका प्रत्यक्ष ज्ञान होता है	२१	१३३
केवलीके कुछ भी परोक्ष नहीं है	२२	१३३
आत्मा ज्ञानप्रमाण तथा ज्ञान सर्वव्यापक है	२३	१३४
आत्माको ज्ञानप्रमाण न मानने पर दोष	२४-२५	१३४
ज्ञानकी भाँति आत्मा भी सर्व व्यापक है	२६	१३४
आत्मा और ज्ञानमें एकता तथा अन्यताका विचार	२७	१३४
निश्चयनयसे ज्ञान, न ज्ञेयमें जाता है और न ज्ञेय ज्ञानमें आता है	२८	१३४
व्यवहारसे ज्ञेय ज्ञानमें प्रविष्ट जान पड़ते हैं	२९-३१	१३५-१३६
ज्ञान और पदार्थमें ग्राहकग्राह्य संबंध होनेपर भी दोनों निश्चय नयसे पृथक् हैं	३२	१३६
केवलज्ञानी और श्रुतकेवलीमें समानता	३३-३४	१३६-१३७
आत्मा और ज्ञानमें कर्ता और करणका भेद नहीं है	३५	१३७
ज्ञान क्या है? ज्ञेय क्या है? इसका विवेक	३६	१३७
अतीत-अनागत पर्यायें ज्ञानमें वर्तमान की तरह प्रतिभासित होती हैं	३७	१३८
अविद्यमान पर्यायें भी किसीकी अपेक्षा विद्यमान हैं	३८	१३८
असद्भूत पर्यायें ज्ञानमें प्रत्यक्ष होती हैं इसका पुष्टीकरण	३९	१३८
इंद्रियजन्य ज्ञान अतीत अनागत पर्यायोंको जाननेमें असमर्थ है	४०	१३८
अतींद्रिय ज्ञान सब कुछ जानता है	४१	१३९
अतींद्रिय ज्ञानमें पदार्थाकार परिणमनरू क्रिया नहीं होती	४२	१३९
ज्ञान बंधका कारण नहीं है किंतु		

	गाथा	पृष्ठ
आत्माकी रागद्वेषरूप परिणति ही बंधका कारण है	४३	१३९
रागादिकका अभाव होनेसे केवलीकी धर्मोपदेश आदि क्रियाएँ वंधका कारण नहीं हैं	४४	१३९
अरहंत भगवान्‌के पुण्यकर्मका उदय बंधका कारण नहीं है	४५	१४०
केवलियोंकी तरह सभी जीवोंके स्वभावका घात नहीं होता	४६	१४०
अतींद्रिय ज्ञान सबको जानता है	४७	१४०
जो सबको नहीं जानता वह एकको भी नहीं जानता	४८	१४१
जो एकको नहीं जानता वह सबको नहीं जानता	४९	१४१
क्रमपूर्वक जाननेसे ज्ञानमें सर्व-गतपना सिद्ध नहीं होता	५०	१४१
युगपत् जाननेवाले ज्ञानमें ही सर्वगतपना होता है	५१	१४२
केवलीके ज्ञानक्रिया होनेपर भी बंध नहीं होता	५२	१४२
अमूर्तिक और मूर्तिक ज्ञान तथा सुखकी हेयोपादेयता	५३	१४२
अतींद्रिय सुखका कारण अतींद्रिय ज्ञान उपादेय है	५४	१४३
इंद्रियसुखका कारण इंद्रियज्ञान हेय है	५५	१४३
इंद्रियोंकी अपने विषयमें भी एक साथ प्रवृत्ति होना संभव नहीं है	५६	१४३
इंद्रियज्ञान प्रत्यक्ष नहीं है	५७	१४४
परोक्ष और प्रत्यक्ष ज्ञानका लक्षण	५८	१४४
अतींद्रिय प्रत्यक्ष ज्ञान ही निश्चय सुख है	५९	१४४
अनंत पदार्थोंका जानना केवल-ज्ञानीको खेदका कारण नहीं है	६०	१४४
केवलज्ञान सुखरूप है	६१	१४४
केवलज्ञानियोंके ही परमार्थिक सुख है	६२	१४५
परोक्षज्ञानियोंका इंद्रियजन्य सुख अपारमार्थिक है	६३	१४५
इंद्रियाँ स्वभावसेही दुःखरूप हैं	६४	१४५
शरीर सुखका साधन नहीं है	६५-६७	१४५-१४६
ज्ञान और सुख आत्माका स्वभाव है	६८	१४६
शुभोपयोगीका लक्षण	६९	१४७
इंद्रियजन्य सुख शुभोपयोगके द्वारा साध्य है	७०	१४७
इंद्रियजन्य सुख यथार्थमें दुःख ही है	७१	१४७
शुभोपयोग और अशुभोपयोगमें समानता	७२	१४७
शुभोपयोगसे उत्पन्न हुआ पुण्य दोषाधायक है	७३	१४७
शुभोपयोग पुण्य दुःखका कारण है	७४	१४८
पुण्य दुःखका बीज है	७५	१४८
पुण्यजनित सुख वास्तवमें दुःखरूप ही है	७६	१४८
पुण्य और पापमें समानता न माननेवाला घोर संसारमें भ्रमण करता है	७७	१४८
रागद्वेषको छोड़नेवाला ही दुःखोंका क्षय करता है	७८	१४९
मोहादिके उन्मूलनके बिना शुद्धताका लाभ नहीं होता	७९	१४९
मोहके नाशका उपाय	८०-८३	१४९-१५०
बंधके कारण होनेसे रागद्वेष नष्ट करनेके योग्य हैं	८४	१५१
मोहके लिंग जानकर उसे नष्ट करनेका उपदेश	८५	१५१
मोहक्षयका अन्य उपाय	८६	१५१
जिनप्रणीत शब्दब्रह्ममें पदार्थोंकी व्यवस्था	८७	१५१

	गाथा	पृष्ठ
मोह और रागद्वेषको नष्ट करनेवाला ही सर्वदुःखोंसे छुटकारा पाता है	८८	१५२
स्वपरका भेदविज्ञान ही मोहक्षयका उपाय है	८९-९०	१५२
जिनप्रणीत पदार्थोंकी श्रद्धाके बिना धर्मलाभ नहीं होता	९१	१५३
मोहादिको नष्ट करनेवाला श्रमण ही धर्म है	९२	१५३
ज्ञेयतत्त्वाधिकार		
ज्ञानका विषयभूत पदार्थ द्रव्य, गुण और पर्यायरूप है	१	१५४
स्वसमय और परसमयकी व्यवस्था	२	१५४
द्रव्यका लक्षण	३	१५५
स्वरूपास्तित्वका स्वरूप	४	१५५
सादृश्यास्तित्वका स्वरूप	५	१५५
द्रव्यस्वभाव सिद्ध	६	१५५
उत्पादादि तीनरूप होनेपर ही सत् द्रव्य होता है	७	१५५
उत्पादादि तीनों साथ होते हैं	८-१०	१५६
पर्यायोंके द्वारा द्रव्यमें उत्पादादिका विचार	११	१५६
द्रव्यके द्वारसे उत्पादादिका विचार	१२	१५७
सत्ता और द्रव्यमें अभिन्नता	१३	१५७
पृथक्त्व और अन्यत्वके भेदसे द्रव्य और सत्तामें भिन्नताका वर्णन	१४	१५८
अतद्भावरूप अन्यत्वका लक्षण	१५	१५८
अतद्भाव सर्वथा अभावरूप है इसका निषेध	१६	१५९
सत्ता और द्रव्यमें गुणगुणी भाव है	१७	१५९
गुण और गुणीमें नानापनका निराकरण	१८	१५९
सदुत्पाद और असदुत्पादमें अविरोध	१९	१५९
द्रव्यार्थिक नयसे सदुत्पादका वर्णन	२०	१६०
पर्यायार्थिक नयसे असदुत्पादका वर्णन	२१	१६०
एक ही द्रव्यमें अन्यत्वभाव और अनन्यत्वभाव किस प्रकार रहते हैं	२२	१६१
सप्तभंगीका अवतार	२३	१६१
मनुष्यादि पर्याय मोहक्रियाके फल हैं	२४-२५	१६२
मनुष्यादि पर्यायोंमें जीवके स्वभावका आच्छादन किस प्रकार होता है	२६	१६२
जीव, द्रव्यकी अपेक्षा अवस्थित और पर्यायकी अपेक्षा अनवस्थित है	२७	१६३
जीवकी अस्थिर दशाका वर्णन	२८	१६३
जीवके साथ अस्थिरताका संबंध किस प्रकार होता है	२९	१६४
यथार्थमें आत्मा द्रव्यकर्मोंका अकर्ता है	३०	१६४
आत्मा तीन चेतनारूप परिणमन करता है	३१	१६४
तीन चेतनाओंका स्वरूप	३२	१६५
ज्ञान, कर्म और कर्मके फल अभेद नयसे आत्मा ही है	३३	१६५
अभेदभावनाका फल शुद्धात्म तत्त्वकी प्राप्ति करना है	३४	१६५
द्रव्यके जीव-अजीव भेदोंका वर्णन	३५	१६५
लोक और अलोकके भेदसे दो भेद	३६	१६६

	गाथा	पृष्ठ
क्रिया और भावकी अपेक्षा द्रव्योंमें विशेषता	३७	१६६
गुणोंकी विशेषतासे द्रव्यमें विशेषता होती है	३८	१६७
मूर्त और अमूर्त गुणोंके लक्षण	३९	१६७
मूर्त पुद्गल द्रव्योंके गुणोंका वर्णन	४०	१६७
अन्य पाँच अमूर्त द्रव्योंके गुणोंका वर्णन	४१-४२	१६८
छह द्रव्योंमें प्रदेशवत्त्व और अप्रदेश-वत्त्वकी अपेक्षा विशेषता	४३	१६८
प्रदेशवान् और अप्रदेशवान् द्रव्योंका निवासक्षेत्र	४४	१६९
आकाशके समान धर्म, अधर्म, एक जीव द्रव्य और पुद्गलमें भी प्रदेशोंका सद्भाव है	४५	१६९
कालाणु प्रदेशरहित है	४६	१७०
कालपदार्थके द्रव्य और पर्यायोंका विश्लेषण	४७	१७०
आकाशप्रदेशका लक्षण	४८	१७०
तिर्यक्प्रचय और ऊर्ध्वप्रचयका लक्षण	४९	१७१
कालद्रव्यका ऊर्ध्वप्रचय निरन्वय नहीं है	५०	१७१
वर्तमान समयके समान काल द्रव्यके अतीत और अनागत सभी समयोंमें उत्पादादि होते हैं	५१	१७१
कालद्रव्य सर्वथा प्रदेशरहित नहीं किंतु एकप्रदेशी है	५२	१७२
व्यवहार नयसे जीवका लक्षण	५३	१७२
चार प्राणोंका वर्णन	५४	१७२
जीव शब्दकी निरुक्ति	५५	१७३
प्राण पौद्गलिक हैं	५६	१७३
प्राण पौद्गलिक कर्मके कारण हैं	५७	१७३
पौद्गलिक प्राणोंकी संतति चलनेका अंतरंग कारण	५८	१७४
पौद्गलिक प्राणोंकी संतति रोकनेका अंतरंग कारण	५९	१७४
व्यवहार जीवकी चतुर्गतिरूप पर्यायका स्वरूप	६०	१७४
जीवकी नर-नारकादि पर्यायें स्वभावपर्यायसे भिन्न विभावरूप हैं	६१	१७५
जीवका स्वरूपास्तित्व स्वपर विभागका कारण है	६२	१७५
आत्माका परद्रव्यके साथ संयोग होनेका कारण	६३	१७५
कौन उपयोग किस कर्मका कारण है	६४	१७६
शुभोपयोगका स्वरूप	६५	१७६
अशुभोपयोगका स्वरूप	६६	१७६
शुद्धोपयोगका स्वरूप	६७	१७६
शरीरादि परद्रव्योंमें आत्माका मध्यस्थभाव रहता है	६८	१७७
शरीर, वचन और मन तीनोंही परद्रव्य हैं	६९	१७७
आत्माके परद्रव्य और उसके कर्तृत्वका अभाव है	७०	१७७
स्कंध किस प्रकार बनता है	७१-७४	१७८-१७९
आत्मा द्विप्रदेशादि स्कंधोंका कर्ता नहीं है	७५	१८०
आत्मा पुद्लस्कंधोको खींचकर लानेवाला नहीं है	७६	१८०
आत्मा पुद्गलपिंडको कर्मरूप नहीं परिणमाता	७७	१८०
शरीराकार परिणत पुद्गलपिंडोंका कर्ता जीव नहीं है	७८	१८१
आत्माके शरीरका अभाव है	७९	१८१
जीवका असाधारण लक्षण	८०	१८१
अमूर्त आत्माका मूर्त पौद्गलिक कर्मोंके साथ बंध कैसे होता है इस विषयपर पूर्वपक्ष ओर सिद्धातपक्ष	८१-८२	१८२

	गाथा	पृष्ठ
भावबंधका स्वरूप	८३	१८३
द्रव्यबंध का स्वरूप	८४	१८३
पुद्गलबंध, जीवबंध ओर उभयबंधका स्वरूप	८५	१८४
द्रव्यबंध भावबंधहेतुक है	८६	१८४
रागादि परिणामरूप भावबंधही निश्चयसे बंध है	८७	१८४
जीवका परिणाम ही बंधका कारण है	८८	१८५
शुभ परिणाम पुण्य, अशुभ परिणाम पाप और शुद्ध परिणाम कर्मक्षयका कारण है	८९	१८५
स्थावर और त्रस निकाय जीवसे भिन्न हैं	९०	१८५
स्वपरका भेदविज्ञानही स्वप्रवृत्ति और पर निवृत्तिका कारण है	९१	१८५
आत्मा स्वभावका ही कर्ता है, पुद्गल द्रव्यरूप कर्मादिका नहीं	९२	१८६
पुद्गलपरिणाम आत्माका कर्म नहीं है	९३	१८६
आत्मा पुद्गल कर्मोंके द्वारा क्यों ग्रहण किया जाता और क्यों छोड़ा जाता है? इसका उत्तर	९४	१८६
पुद्गल कर्मोंमें ज्ञानावरणादिकी विचित्रता किसकी की हुई है इसका उत्तर	९५	१८७
अभेदनयसे रागादिरूप परिणमन करनेवाला आत्मा ही बंध कहलाता है	९६	१८७
निश्चयबंध और व्यवहार बंधका स्वरूप	९७	१८८
अशुद्ध नयसे अशुद्ध आत्माकी ही प्राप्ति होती है	९८	१८८
शुद्ध नयसे शुद्ध नयका लाभ होता है	९९	१८८
नित्य होनेसे शुद्ध आत्मा ही ग्रहण करनेयोग्य है	१००	१८९
विनाशीक होनेके कारण आत्मासे भिन्न पदार्थ ग्राह्य नहीं हैं	१०१	१८९
शुद्धात्माकी उपलब्धिसे मोहकी गाँठ खुलती है	१०२	१८९
मोहकी गाँठ खुलनेसे अक्षय सुख प्राप्त होता है	१०३	१८९
आत्मध्यान किसके हो सकता है इसका उत्तर	१०४	१९०
केवली भगवान् किसका ध्यान करते हैं इस विषयपर पूर्वपक्ष ओर उत्तरपक्ष	१०५-१०६	१९०
शुद्धात्माकी प्राप्ति ही मोक्षका मार्ग है	१०७-१०८	१९१

चारित्राधिकार

यदि दुःखसे छुटकारा चाहते हो तो मुनिपद ग्रहण करो	१	१९२
मुनि होनेका इच्छुक पहले क्या-क्या करे इसका उपदेश	२-४	१९२
सिद्धिके कारण भूत बाह्यलिंग और अंतरलिंगका वर्णन	५-६	१९३
श्रमण कौन होता है?	७	१९३
मुनिके मूलगुणोंका वर्णन इनमें प्रमाद करनेवाला मुनि छेदोपस्थापक होता है	८-९	१९३-१९४
आचार्योंके प्रव्रज्यादायक और छेदोपस्थापक इन दो भेदोंका वर्णन	१०	१९४
संयमका भंग होनेपर उसके पुनः जोड़नेकी विधि	११-१२	१९४
मुनिपदके भंगका कारण होनेसे पर-पदार्थोंका संबंध छोड़ना चाहिए	१३	१९५
आत्मद्रव्यमें संबद्ध होनेसे ही मुनिपदकी पूर्णता होती है	१४	१९५
मुनिपदके भंगका कारण होनेसे		

	गाथा	पृष्ठ
मुनिको प्रासुक आहार आदिमें भी ममत्व नहीं करना चाहिए	१५	१९६
प्रसादपूर्ण प्रवृत्ति ही मुनिपदका अंग है	१६	१९६
मुनिपदक अंग, अंतरंग और बहिरंगके भेदसे दो प्रकारका है	१७	१९६
भावहिंसारूप अंतरंग भंग सब प्रकारसे छोड़नेयोग्य है	१८	१९७
अंतरंग भंगका कारण होनेसे परिग्रह सर्वथा छोड़नेयोग्य है	१९	१९७
निरपेक्ष त्यागके बिना मुनिका आशय शुद्ध नहीं होता	२०	१९७
अंतरंग संयमका घात परिग्रहसे होता है	२१	१९८
परमोपेक्षारूप संयम धारण करनेकी शक्ति न होनेपर मुनि आहार तथा संयम, शौच और ज्ञानके उपकरण रख सकता है	२२	१९९
अपवादमार्गी मुनिके द्वारा ग्रहण करनेयोग्य परिग्रहका वर्णन	२३	२००
उत्सर्गमार्ग ही वस्तुधर्म है अपवाद मार्ग नहीं	२४	२००
यथार्थ उपकरण कौन है?	२५	२००
इस लोकसे निरपेक्ष और परलोककी आसक्तिसे रहित मुनि योग्य आहारविहार कर सकता है	२६	२००
अनासक्त भावसे आहार करनेवाले मुनि निराहार कहलाते हैं	२७	२०२
मुनि युक्ताहारपन कैसे होता है?	२८	२०२
मुक्ताहारका स्वरूप	२९	२०३
उत्सर्गमार्ग और अपवादमार्गकी मित्रतासे ही चारित्रकी स्थिरता होती है	३०	२०३
उत्सर्गमार्ग और अपवादमार्गके विरोधसे चारित्रमें स्थिरता नहीं आ सकती	३१	२०४
मुनिको एकाग्रताका साधन होनेसे आगममें चेष्टा करनी चाहिए	३२	२०४
आगमसे हीन मुनि कर्मोंका क्षय नहीं कर सकता	३३	२०४
मोक्षमार्गी मुनिके आगम ही चक्षु है	३४	२०५
आगमचक्षुके द्वारा ही सब पदार्थोंका ज्ञान होता है	३५	२०५
जिसे आगमज्ञान नहीं है वह मुनि नहीं है	३६	२०५
जब तक आगमज्ञान, तत्त्वार्थश्रद्धान और संयम इन तीनोंकी एकता नहीं होती तब तक मोक्षमार्ग प्रकट नहीं होता	३७	२०५
आत्मज्ञानी जीवकी महिमा	३८	२०६
आत्मज्ञानशून्य मनुष्यका तत्त्वार्थश्रद्धान और आगमज्ञान भी अकार्यकारी है	३९	२०६
कैसा मुनि संयत कहलाता है?	४०	२०६
दर्शन, ज्ञान और चारित्रमें एकसाथ प्रवृत्ति करनेवाला मुनिही एकाग्रताको प्राप्त होता है	४२	२०७
एकाग्रताका अभाव मोक्षमार्ग नहीं है	४३	२०७
एकाग्रताही मोक्षका मार्ग है	४४	२०७
शुभोपयोगी और शुद्धोपयोगीके भेदसे मुनियोंके दो भेद	४५	२०७
शुभोपयोगी मुनिका लक्षण	४६	२०८
शुभोपयोगी मुनियोंकी प्रवृत्तिका वर्णन	४७-५८	२०८-२१०
पात्रभूत तपोधनका लक्षण	५९-६०	२११
गुणाधिक मुनियोंके प्रति कैसी प्रवृत्ति करना चाहिए	६१-६३	२११
श्रमणाभासका लक्षण	६४	२१२
समीचीन मुनिको दोष लगानेवाला मुनि चारित्रहीन है	६५	२१२

जो स्वयं गुणहीन होकर अधिक गुणवालोंसे अपनी विनय कराता है वह अनंत संसारी है	६६	२१२
हीन गुणवाले मुनियोंकी वंदना आदि करनेवाला मुनि मिथ्यादृष्टि तथा चारित्रसे भ्रष्ट है	६७	२१२
मुनिको असत्संगसे बचना चाहिए	६८	२१३
लौकिक मनुष्यका लक्षण	६९	२१३
यदि दुःखसे छुटकारा चाहते हो तो गुणाधिक या गुणसमान मुनिका सत्संग करो	७०	२१३
संसारतत्त्वका स्वरूप	७१	२१३
मोक्षतत्त्वका स्वरूप	७२	२१४
मोक्षतत्त्वका साधन तत्त्व शुद्धोपयोगी मुनियोंका लक्षण	७३	२१४
शुद्धोपयोगी मुनियोंको नमस्कार	७४	२१४
शास्त्रका फल तथा ग्रंथका समारोप	७५	२१४

नियमसार

	गाथा	पृष्ठ
जीवाधिकार		
मगलाचरण और प्रतिज्ञावाक्य	१	२१७
मोक्षमार्ग और उसका फल	२	२१७
नियमसार पदकी सार्थकता	३	२१७
नियम और उसका फल	४	२१७
व्यवहार सम्यग्दर्शनका स्वरूप	५	२१८
अठारह दोषोंका वर्णन	६	२१८
परमात्माका स्वरूप	७	२१८
आगम और तत्त्वार्थका स्वरूप	८	२१८
तत्त्वार्थोंका नामोल्लेख	९	२१८
जीवका लक्षण तथा उपयोगके भेद	१०	२१९
स्वभावज्ञान और विभाव ज्ञानका विवरण	११	२१९
सम्यग्विभाव ज्ञान और मिथ्या विभाव ज्ञानके भेद	१२	२१९
दर्शनोपयोगके भेद	१३	२१९
विभाव दर्शनोपयोगके भेद	१४	२१९
विभाव पर्याय और स्वभाव पर्यायका विवरण	१५	२१९
मनुष्यादि पर्यायोंका विस्तार	१६-१७	२१९
आत्माके कर्तृत्व-भोक्तृत्वका वर्णन	१८	२१९
द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नयसे जीवकी पर्यायोंका वर्णन	१९	२१९
अजीवाधिकार		
पुद्गल द्रव्यके भेदोंका कथन	२०	२२१
स्कंधोंके छह भेद	२१-२४	२२१-२२२
कारणपरमाणु और कार्य परमाणुका लक्षण	२५	२२२
परमाणुका लक्षण	२६	२२३
परमाणुके स्वभावगुण और विभावगुणका वर्णन	२७	२२३
पुद्गलकी स्वभाव और विभाव पर्यायका वर्णन	२८	२२४
परमाणुमें द्रव्यस्वरूपताका वर्णन	२९	२२४
धर्म, अधर्म और आकाश द्रव्यका लक्षण	३०	२२४
व्यवहार कालका वर्णन (भूतकाल का वर्णन)	३१	२२५

	गाथा	पृष्ठ
भविष्यत् तथा वर्तमानकालका लक्षण और और निश्चय कालका स्वरूप	३२	२२५
जीवादि द्रव्योंके परिवर्तनका कारण तथा धर्मादि चार द्रव्योंकी स्वभाव गुण पर्याय रूपताका वर्णन	३३	२२५
अस्तिकाय तथा उसका लक्षण	३४	२२६
द्रव्योंके प्रदेशोंका वर्णन	३५-३६	२२६
द्रव्योमें मूर्तिक, अमूर्तिक तथा चेतन अचेतनका विभाग	३७	२२६
शुद्धभावाधिकार		
हेय उपादेय तत्त्वोंका वर्णन	३८	२२७
निर्विकल्प तत्त्वका स्वरूप	३९-४५	२२७-२२८
तब फिर जीव कैसा है? (जीवका स्वरूप)	४६-४९	२२८-२२९
परद्रव्य हेय है और स्वद्रव्य उपादेय है	५०	२२९
सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानके कारण तथा उनकी उत्पत्तिके कारण	५१-५५	२२९
व्यवहार चारित्राधिकार		
अहिंसा महाव्रतका स्वरूप	५६	२३१
सत्य महाव्रतका स्वरूप	५७	२३१
अचौर्य महाव्रतका स्वरूप	५८	२३१
ब्रह्मचर्य महाव्रतका स्वरूप	५९	२३१
परिग्रहत्याग महाव्रतका स्वरूप	६०	२३१
ईर्या समितिका स्वरूप	६१	२३२
भाषा समितिका स्वरूप	६२	२३२
एषणा समितिका स्वरूप	६३	२३२
आदाननिक्षेपण समितिका स्वरूप	६४	२३२
प्रतिष्ठापन समितिका स्वरूप	६५	२३२
मनोगुप्तिका लक्षण	६६	२३३
वचनगुप्तिका लक्षण	६७	२३३
कायगुप्तिका लक्षण	६८	२३३
निश्चयनयसे मनोगुप्ति और वचनगुप्ति का स्वरूप	६९	२३३
निश्चयनयसे कायगुप्तिका स्वरूप	७०	२३३
अर्हत्परमेष्ठीका स्वरूप	७१	२३३
सिद्ध परमेष्ठीका स्वरूप	७२	२३४
आचार्य परमेष्ठीका स्वरूप	७३	२३४
उपाध्याय परमेष्ठीका स्वरूप	७४	२३४
साधु परमेष्ठीका स्वरूप	७५	२३४
व्यवहार नयके चारित्रका वर्णन करनेकी प्रतिज्ञा	७६	२३४
परमार्थप्रतिक्रमणाधिकार		
मैं नारकी आदि नहीं हूँ	७७-८२	२३५
प्रतिक्रमण किसको होता है	८३-९१	२३६-२३७
आत्मध्यान ही प्रतिक्रमण है	९२-९३	२३७
व्यवहार प्रतिक्रमणका वर्णन	९४	२३७
निश्चयप्रत्याख्यानाधिकार		
प्रत्याख्यान किसके होता है	९५	२३८
आत्माका ध्यान किस प्रकार किया जाता है?	९६-१००	२३८-२३९
जीव अकेला ही जन्म-मरण करता है	१०१	२३९
ज्ञानी जीवकी भावना	१०२	२४०
आत्मगत दोषोंसे छूटनेका उपाय	१०३-१०४	२३९-२४०
निश्चय प्रत्याख्यानका अधिकारी कौन है?	१०५-१०६	२४०
परमालोचनाधिकार		
आलोचना किसको होती है?	१०७	२४०
आलोचनाके चार रूप	१०८	२४१
आलोचनाका स्वरूप	१०९	२४१
आलुंछनका स्वरूप	११०	२४१
अविकृतीकरणका स्वरूप	१११	२४१
भावविशुद्धिका स्वरूप	११२	२४१
शुद्धनिश्चयप्रायश्चित्ताधिकार		
निश्चय प्रायश्चित्तका स्वरूप	११३-११४	२४२
कषायोंपर विजय प्राप्त करनेका उपाय	११५	२४२
निश्चय प्रायश्चित्त किसके होता है	११६	२४२

	गाथा	पृष्ठ
तपश्चरण ही कर्मक्षयका कारण	११७	२४२
तप प्रायश्चित्त क्यों है?	११८	३४६
ध्यान ही सर्वस्व क्यों है?	११९-१२०	२४३
कायोत्सर्ग किसके होता है?	१२१	२४३
परमसमाध्यधिकार		
परम समाधि किसके होती है?	१२२-१२३	२४४
समताके विना सब व्यर्थ है	१२४	२४४
स्थायी सामायिक किसके होती है?	१२५-१३३	२४४-२४५
परमभक्त्यधिकार		
निर्वृत्ति भक्ति किसके होती है?	१३४-१३६	२४६
योगभक्ति किसके होती है?	१३७-१३८	२४६
योगका लक्षण	१३९-१४०	२४७
निश्चयपरमावश्यकाधिकार		
आवश्यक शब्दकी निरुक्ति	१४१	२४७
आवश्यक युक्तिका निरुक्तार्थ	१४२	२४७
आवश्यक किसके नहीं है?	१४३-१४५	२४८
आत्मवश कौन है?	१४६	२४८
शुद्ध निश्चय आवश्यक प्राप्तिका उपाय	१४७	२४८
आवश्यक करनेकी प्रेरणा	१४८	२४९
बहिरात्मा और अंतरात्मा कौन है	१४९-१५१	२४९
प्रतिक्रमण आदि क्रियाओंकी सार्थकता	१५२-१५५	२४९-२५०
विवाद वर्जनीय है	१५६	२५०
सहज तत्त्वकी आराधनाकी विधि	१५७-१५८	२५०
शुद्धोपयोगाधिकार		
निश्चय और व्यवहार नयसे केवलीकी व्याख्या	१५९	२५१
केवलज्ञान और केवलदर्शन साथ साथ होते हैं	१६०	२५१
ज्ञान और दर्शनके स्वरूपकी समीक्षा	१६१-१६६	२५१-२५२
प्रत्यक्ष ज्ञानका वर्णन	१६७	२५२
परोक्ष ज्ञानका वर्णन	१६८	२५२
ज्ञान दर्शन दोनों स्वपरप्रकाशक हैं	१६९	२५३
केवलज्ञानीके बंध नहीं है	१७२	२५३
केवलज्ञानीके वचन बंधके कारण नहीं हैं	१७३-१७४	२५३
कर्मक्षयसे मोक्ष प्राप्त होता है	१७५	२५४
कारण परमतत्त्वका स्वरूप	१७६-१७७	२५४
निर्वाण कहाँ होता है ?	१७८-१८०	२५४
सिद्ध भगवान्का स्वरूप	१८१	२५५
निर्वाण और सिद्धमें अभेद	१८२	२५५
कर्मवियुक्त आत्मा लोकाग्रपर्यंत ही क्यों जाता है?	१८३	२५५
ग्रंथका समारोप	१८४-१८७	२५५-२५६

अष्टपाहुड

	गाधा	पृष्ठ
दंसणपाहुड (दर्शन प्राभृत)		
मंगलाचरण और ग्रंथप्रतिज्ञा	१	२५९
धर्म दर्शनमूलक है	२	२५९
दर्शनसे भ्रष्ट ही भ्रष्ट है	३	२५९
सम्यक्त्वसे भ्रष्ट जीव संसारमें ही घूमते हैं	४	२५९

	गाथा	पृष्ठ
सम्यक्त्वसे रहित जीव करोड़ों वर्षमें भी बोधिको प्राप्त नहीं होते	५	२५९
उत्कृष्ट ज्ञानी कौन होते हैं	६	२६०
सम्यक्त्वरूप सलिलका प्रवाहही बंधको नष्ट करता है	७	२६०
भ्रष्टोंमें भ्रष्ट जीवोंका वर्णन	८	२६०
धर्मात्मा मनुष्योंके दोषोंको कहनेवाले स्वयं भ्रष्ट हैं	९	२६०
जिनदर्शनसे भ्रष्ट मनुष्य मूल विनष्ट है	१०	२६०
मोक्षमार्गका मूल जिनदर्शन है	११	२६०
स्वयं दर्शनसे भ्रष्ट होकर जो दूसरे सम्यग्दृष्टि जीवोंसे पैर पड़ाते हैं वे लूले और गूँगे होते हैं	१२	२६०
दर्शनभ्रष्ट मनुष्योंकी पादवंदना करनेवाला बोधिका प्राप्त नहीं होता	१३	२६१
सम्यग्दर्शन कहाँ होता है?	१४	२६१
सम्यक्त्वसे ही सेव्य और असेव्यका बोध होता है	१५	२६१
सेव्य और असेव्यको जाननेवाला ही निर्वाणको प्राप्त होता है	१६	२६१
जिनवचनरूप औषध समस्त दुःखोंका क्षय करती है	१७	२६१
जिनमतमें तीन लिंग ही हैं	१८	२६१
सम्यग्दृष्टिका लक्षण	१९	२६२
व्यवहार और निश्चय नयसे सम्यग्दर्शनका लक्षण	२०	२६२
सम्यग्दर्शन मोक्षकी प्रथम सीढ़ी है	२१	२६२
शक्तिके अनुसार क्रिया करना चाहिए	२२	२६२
दर्शन ज्ञान चारित्र तप तथा विनयमें लीन पुरुषही वंदनीय है	२३	२६२
जो दिगंबर वेषको दर्शनीय नहीं मानता वह संयमधारी होकर भी मिथ्या है	२४	२६२
देववंदित जिनेंद्रके रूपको देखकर जो गर्व करते हैं वे सम्यक्त्वसे रहित हैं	२५	२६३
असंयमी वंदनीय नहीं है	२६	२६३
गुणहीन वंदनीय नहीं है	२७	२६३
तपस्वी साधुओंको कुंदकुंद स्वामीकी वंदना	२८	२६३
तीर्थंकर परम देव वंदना करनेके योग्य हैं	२९	२६३
ज्ञान दर्शन चारित्र और नयके संयोगसे ही जिनशासनमें मोक्ष बताया है	३०	२६३
ज्ञान मनुष्य जीवनका सार है	३१	२६३
सम्यक्त्वसहित ज्ञान दर्शन चारित्र और तपसे ही जीव सिद्ध होते हैं	३२	२६४
सम्यग्दर्शनरूपी रत्न देव दानवोंके द्वारा पूज्य है	३३	२६४
उत्तम गोत्रके साथ मनुष्यजन्म पाकर जो सम्यग्दर्शन प्राप्त करते हैं वे मोक्षसुखको प्राप्त होते हैं	३४	२६४
स्थावर प्रतिमा किसे कहते हैं	३५	२६४
सर्वोत्कृष्ट निर्वाणको कौन प्राप्त होते हैं?	३६	२६४

सुत्तपाहुड (सूत्रप्राभृत)

सूत्रका लक्षण	१	२६५
शब्द अर्थके भेदसे द्विविध श्रुतको जानकर जो मोक्षमार्गमें प्रवृत्त होता है वह भव्य है	२	२६५
सूत्ररहित मनुष्य सूत्र -सूतरहित सूईके समान नष्ट हो जाता है	३	२६५
सूत्रसहित मनुष्य संसारमें नष्ट नहीं होता	४	२६५
जो जिनकथित सूत्रके अर्थ तथा जीवजीवादि पदार्थोंको जानता है		

	गाथा	पृष्ठ
वह सम्यग्दृष्टि है	५	२६५
जिनसूत्रके व्यवहार और निश्चय नयसे जाननेका फल	६	२६५
सूत्रके अर्थ और पदसे रहित जीव मिथ्यादृष्टि है	७	२६६
हरिहरके तुल्य मनुष्य सिद्धिको प्राप्त नहीं होते	८	२६६
स्वच्छंद -आगमके प्रतिकूल चर्चा करनेवाला पापी तथा मिथ्यादृष्टि है	९	२६६
दिगंबर मुद्रा ही मोक्षका मार्ग है, अन्य सब अमार्ग है	१०	२६६
संयमसे सहित और आरंभ तथा परिग्रहसे रहित मनुष्य वंदनीय है	११	२६६
बाईस परिषहोंको सहनेवाले मुनि वंदना करनेयोग्य हैं	१२	२६६
दिगंबर मुद्राके सिवाय जो वस्त्रधारी संयमी है उनसे इच्छाकार करना चाहिए	१३	२६६
इच्छाकारके महत्त्वको जाननेका फल	१४	२६७
आत्माको जाने बिना यह जीव संसारी ही कहा गया है	१५	२६७
आत्माके श्रद्धान करनेकी प्रेरणा	१६	२६७
साधुके बालकी अनी बराबर भी परिग्रह नहीं होता	१७	२६७
दिगंबर मुद्राका धारी होकर जो तिलतुषमात्र भी परिग्रह रखता है वह निगोदको प्राप्त होता है	१८	२६७
जिस लिंगमें परिग्रहका ग्रहण है वह गर्हणीय है	१९	२६७
पंच महाव्रत और तीन गुप्तियोंको धारण करनेवाला संयमी ही वंदनीय है	२०	२६८
दूसरा लिंग उत्कृष्ट श्रावकोंका है	२१	२६८
तीसरा लिंग क्षुल्लिका तथा आर्यिकाओंका है	२२	२६८
वस्त्रधारक, तीर्थंकर भी हो तो भी मोक्षको प्राप्त नहीं होता	२३	२६८
स्त्रियोंके दिगंबर दीक्षा न होनेका कारण	२४-२६	२६८-२६९
इच्छारहित मनुष्यही सब दुःखोंसे निवृत्त होते हैं	२७	२६९

चारित्तपाहुड (चारित्र प्राभृत)

मंगलाचरण और गंथ करनेकी प्रतिज्ञा	१-२	२६९
ज्ञान, दर्शन और चारित्रका स्वरूप	३	२६९
सम्यक्त्वाचरण और संयमाचरणके भेदसे दो प्रकारके चारित्रका कथन	४-५	२७०
सम्यक्त्वाचरणका वर्णन	६-२०	२७०-२७२
संयमाचरणके दो भेद -- सागार और अनगार	२१	२७२
सागार - गृहस्थाचरणके ग्यारह भेद	२२	२७२
सागार संयमाचरणके अंतर्गत बारह व्रतोंका वर्णन	२३	२७२
पाँच अणुव्रतोंका वर्णन	२४	२७२
तीन गुणव्रतोंका वर्णन	२५	२७३
चार शिक्षाव्रतोंका वर्णन	२६	२७३
सागाराचरणका समारोप	२७	२७३
अनगार संयमाचरणका वर्णन	२८	२७३
पंचेंद्रिय संयमका वर्णन	२९	२७३
पाँच महाव्रतोंका वर्णन	३०	२७३
महाव्रतका निरुक्तार्थ	३१	२७४
अहिंसाव्रतकी पाँच भावनाएँ	३२	२७४
सत्यमहाव्रतकी पाँच भावनाएँ	३३	२७४
अचौर्य महाव्रतकी पाँच भावनाएँ	३४	२७४
ब्रह्मचर्य महाव्रतकी पाँच भावनाएँ	३५	२७४
अपरिग्रह महाव्रतकी पाँच भावनाएँ	३६	२७४
पाँच समितियोंका वर्णन	३७	२७४
सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन तथा		

	गाथा	पृष्ठ
सम्यक्चारित्ररूप मोक्षमार्गको प्राप्त करनेका उपदेश	३८-४३	२७५
चारित्राधिकारका समारोप	४४-४५	२७५-२७६
बोधपाहुड (बोधप्राभृत)		
मंगलाचरण और ग्रंथप्रतिज्ञा	१-२	२७६
आयतन आदि ग्यारह स्थानोंके नामनिर्देश	३-४	२७६
आयतनका वर्णन	५-६	२७७
चैत्यगृहका वर्णन	७-८	२७७
जिनप्रतिमाका वर्णन	९-१२	२७७
दर्शनका वर्णन	१३-१४	२७८
जिनबिंबका वर्णन	१५-१६	२७८
जिनमुद्राका वर्णन	१७-१८	२७८
ज्ञानका वर्णन	१९-२२	२७९
देवका वर्णन	२३-२४	२७९
तीर्थका वर्णन	२५-२६	२७९
अरहंतका वर्णन	२७-४०	२८०-२८२
मुनियोंके निवासयोग्य स्थान आदिका वर्णन	४१-४३	२८२
जिनदीक्षाका वर्णन	४४-५७	२८२-२८४
बोधपाहुड ग्रंथका समारोप और श्रुतज्ञानी भद्रबाहुका जयघोष	५८-६१	२८४-२८१
भावपाहुड (भावप्राभृत)		
मंगलाचरण और ग्रंथप्रतिज्ञा	१	२८५
भावलिंग ही प्रथम लिंग है	२	२८५
भावशुद्धिके लिए ही बाह्य परिग्रह का त्याग किया जाता है	३	२८५
भावरहित जीव सिद्ध नहीं होता	४	२८६
भावहीन यतिका बाह्य परिग्रहत्याग व्यर्थ है	५	२८६
भावलिंगही शिवपुरीका मार्ग है	६	२८६
भावलिंगके बिना द्रव्यलिंग अनेक बार धारण किये हैं	७	२८६
भावके बिना जीवने नरकगतिके दुःख भोगे हैं	८-९	२८६
भावके बिना तिर्यंचगतिके दुःख भोगे हैं।	१०	२८६
भावके बिना मनुष्यगतिके दुःख भोगे हैं	११	२८७
भावके बिना देवगतिके दुःख भोगे हैं	१२-१६	२८७
भावके बिना गर्भवास आदिके दुःख भोगे हैं	१७-२४	२८८-२८९
भावके बिना विषवेदना आदिसे कुमरण प्राप्त किया है	२५-२७	२८९
भावके बिना निगोद आदिके क्षुद्रभव प्राप्त किये हैं	२८-२९	२८९
रत्नत्रयके बिना जीवने दीर्घ संसारमें भ्रमण किया है	३०	२८९
सम्यग्दर्शनादिका स्वरूप	३१	२९०
भावके बिना जीवने कुमरण प्राप्त किये हैं	३२	२९०
भावके बिना जीवने क्षेत्रादि परिवर्तन पूर्ण किये हैं	३३	२८०
भावके बिना अनेक रोग प्राप्त किये हैं	३७-३८	२९०-२९१
भावके बिना गर्भवास तथा बाल्यावस्थाके दुःख प्राप्त किये हैं	३९-४१	२९१
भावके बिना दुर्गंधयुक्त शरीर प्राप्त होता है	४२	२९१
भावसे मुक्त ही मुक्त कहलाता है, बांधवादि मात्रसे विमुक्त मुक्त नहीं	४३	२९१
मानकषायमें बाहुबलीका दृष्टांत	४४	२९१
निदानमें मधुपिंग और वसिष्ठमुनिका दृष्टांत	४५-४६	२९२
भावके बिना ८४ लाख योनियोंमें भ्रमण होता है	४७	२९२
भावलिंगसे ही जिनलिंग होता है	४८	२९२
बाहुमुनिका दृष्टांत	४९	२९२
द्वैपायन मुनिका दृष्टांत	५०	२९२

	गाथा	पृष्ठ
शिवकुमार मुनिका दृष्टांत	५१	२९३
भव्यसेन मुनिका दृष्टांत	५२	२९३
शिवभूति मुनिका दृष्टांत	५३	२९३
भावसे ही नग्न मुनिकी सार्थकता है	५४-५५	२९३
भावलिंगी साधुका लक्षण	५६	२९३
भावलिंगी साधुके विचार	५७-५९	२९३-२९४
अविनाशी सुखके लिए आत्मभावना आवश्यक है	६०-६१	२९४
ज्ञानस्वभावी जीव ही कर्मक्षय करता है	६२-६३	२९४
आत्माका लक्षण	६४	२९४
पाँच प्रकारकी ज्ञानभावना करनेकी प्रेरणा	६५	२९५
भावरहित पढ़नेसे क्या होता है	६६	२९५
मात्र द्रव्य नग्न रहनेसे लाभ नहीं है	६७	२९५
जिनभावनाके बिना मात्र नग्नत्व दुःखका कारण है	६८-६९	२९५
भावदोषसे रहित होकर जिनलिंग धारण करनेका उपदेश	७०	२९५
नट श्रमणका वर्णन	७१	२९५
रागरूप परिग्रहसे युक्त मुनि समाधि और बोधिको प्राप्त नहीं करते	७२	२९६
पहले भावनग्न होनेका उपदेश	७३	२९६
भावही स्वर्गमोक्ष आदिका कारण है	७४-७५	२९६
तीन प्रकारके भावोंका वर्णन	७६-७७	२९६
भावादि कषायोंसे रहित ही त्रिलोकश्रेष्ठ रत्नत्रयको प्राप्त होता है	७८	२९७
विषयविरक्त साधु ही तीर्थंकर प्रकृतिका बंध करता है	७९	२९७
मनरूपी मत्त हाथीको वश करनेका उपदेश	८०	२९७
निर्मल जिनलिंगका वर्णन	८१	२९७
जिनधर्मकी श्रेष्ठताका वर्णन	८२	२९७
पुण्य और धर्मका विश्लेषण	८३	२९७
पुण्य भोगका ही कारण है, कर्मक्षयका नहीं	८४	२९७
आत्मस्वरूपमें लीन रहनेवाला ही संसारसे पार होता है	८५	२९८
आत्मश्रद्धान आदिकी उपयोगिता	८६-८७	२९८
अशुद्ध भावके कारण शालिसिक्थ मच्छ सातवें नरक गया	८८	२९८
भावरहित मुनिका बाह्य त्याग व्यर्थ है	८९	२९८
भावशुद्धि किस प्रकार प्राप्त होती है?	९०-९९	२९८-३००
भावश्रमण ही कल्याणपरंपराको प्राप्त होते हैं	१००	३००
दूषिक आहारादि करनेके कारण तिर्यंच गतिके दुःख उठाये हैं	१०१-१०३	३००
पाँच प्रकारके विनयको धारण करनेका उपदेश	१०४	३००
दश प्रकारके वैयावृत्त्य करनेका उपदेश	१०५	३०१
दोषोंकी आलोचना करनेका उपदेश	१०६	३०१
क्षमा धारण करनेका उपदेश	१०७-११०	३०१
अंतरंगकी शुद्धिपूर्वक द्रव्यलिंग धारण करनेका उपदेश	१११	३०१
आहारादि संज्ञाओंसे मोहित हुआ जीव भववनमें भटकता है	११२	३०२
पूजालाभ आदिकी चाह न रखकर ही उत्तरगुणोंके पालन करनेका उपदेश	११३	३०२
तत्त्वोंके चिंतन करनेका उपदेश	११४-११५	३०२
परिणामसे ही पाप और पुण्य होते हैं	११६	३०२

	गाथा	पृष्ठ
जिनवचनसे पराङ्मुख जीव अशुभ कर्म बाँधता है	११७	३०२
भावशुद्धिको प्राप्त हुआ जीव शुद्ध कर्म बाँधता है	११८	३०३
ज्ञानावरणादि कर्मोंको जलाकर अनंतज्ञानादि गुणोंकी चिंताका उपदेश	११९	३०३
शीलके अठारह हजार भेदोंका चिंतन करनेका उपदेश	१२०	३०३
आर्त-रौद्र ध्यान छोड़कर धर्म्य-शुक्ल ध्यान करनेका उपदेश	१२१	३०३
भावलिंगी मुनि ही संसाररूपी वृक्षको काटते हैं	१२२	३०३
रागरूप हवासे रहित होनेपर ही ध्यानरूपी दीपक जलता है	१२३	३०३
पंचगुरुओं -परमेष्ठियोंके ध्यानका उपदेश	१२४	३०३
ज्ञानमय शीतल जलके पानसे व्याधि जन्म जरा आदिकी दाह मिटती है	१२५	३०४
भावलिंगी मुनिकी महिमा	१२६-१३१	३०४
जब तक बुढ़ापा नहीं आया तब तक आत्महित करनेका उपदेश	१३२	
षट्कायके जीवोंपर दया करनेका उपदेश	१३३-१३४	३०५
प्राणिवधके कारण चौरासी लाख योनियोंमें दुःख उठाता है	१३५	३०५
जीवोंको अभयदान देनेका उपदेश	१३६	३०५
३६३ मिथ्यादृष्टियोंके भेद	१३७	३०५
अभव्य जीव अपनी प्रकृति नहीं छोड़ता	१३८	३०५
मिथ्यादृष्टि जीवको जिनप्रणीत धर्म नहीं रुचता	१३९	३०६
कत्सित धर्ममें लीन हुआ जीव कुगतिका भाजन होता है	१४०	३०६
मिथ्यानय और मिथ्या शास्त्रोंसे मोहित हुआ जीव अनादिसे भ्रमण कर रहा है	१४१	३०६
३६३ पाखंडियोंके मतको छोड़नेका उपदेश	१४२	३०६
सम्यग्दर्शनादि रहित जीव चलता फिरता शव है	१४३	३०६
सम्यग्दर्शनकी प्रधानताका वर्णन	१४४-१४७	३०६-३०७
आत्मा कर्ता भोक्ता आदि है	१४८	३०७
जिनभावनासे युक्त भव्य जीव ही घातिया कर्मोंका क्षय करता है	१४९	३०७
घातिचतुष्कके क्षयसे अनंत चतुष्टय प्रकट होते हैं	१५०	३०७
अरहंत परमेष्ठीके नाम	१५१	३०७
अरहंत परमेष्ठी मुझे उत्तम बोधि प्रदान करें	१५२	३०८
जिन चरणकमल वंदनाका फल	१५३	३०८
भावके द्वारा जीव कषाय और विषयसे लिप्त नहीं होते	१५४	३०८
शीलसंयमादि गुणोंसे युक्त मुनि ही मुनि है	१५५	३०८
कषायरूपी योद्धाओंके जीतनेवाले ही धीर वीर हैं	१५६	३०८
विषयरूपी समुद्रसे तारनेवाले मुनि धन्य हैं	१५७	३०८
मुनि, ज्ञानरूपी शस्त्रके द्वारा मायारूपी वेलको काटते हैं	१५८	३०९
मुनि चारित्ररूपी तलवारसे पापरूपी स्तंभको काटते हैं	१५९	३०९
मुनींद्ररूपी चंद्रमाकी शोभाका वर्णन	१६०	३०९
विशुद्ध भावोंके धारक मुनि सांसारिक और पारमार्थिक सुखको प्राप्त करते हैं	१६१-१६२	३०९

	गाथा	पृष्ठ
उत्तम स्थानको कौन साधु प्राप्त कर सकता है?	१०२	३२७
तीर्थंकर भी जिस आत्मतत्त्वका ध्यान करते हैं उसके ध्यान करनेका उपदेश	१०३	३२७
अरहंत आदि पंचपरमेष्ठी जिस आत्मामें स्थित हैं वही आत्मा मेरे लिए शरण है	१०४	३२७
सम्यग्दर्शनादि चार आराधनाएँ जिस आत्मामें स्थित हैं वही आत्मा मेरे लिए शरण है	१०५	३२७
मोक्षपाहुडका समारोप	१०६	३२७
लिंगपाहुड (लिंग प्राभृत)		
मंगलाचरण और प्रतिज्ञावाक्य	१	३२८
धर्मसे ही लिंग होता है, भावरहित लिंगसे क्या होनेवाला है?	२	३२८
जो पापमोहित जीव जिनवरका लिंग धारण कर उसका उपहास कराता है वह यथार्थ लिंगको नष्ट करता है	३	३२८
यथार्थ लिंगका उपहास करानेवाले कार्योंका वर्णन	४-७	३२८-३२९
आर्तध्यान करनेवाला साधु अनंत संसारका पात्र होता है	८	३२९
जो जिनलिंग धारण कर दूसरोंके विवाहसंबंध जोड़ता है वह नरकको प्राप्त होता है	९	
कुलिंगियोंका विस्तारसे वर्णन	१०-२१	३२९-३३२
लिंग प्राभृतका समारोप	२२	३३२
सीलपाहुड (शीलप्राभृत)		
मंगलाचरण और प्रतिज्ञावाक्य	१	३३२
शील और ज्ञानका विरोध नहीं है	२	३३२
ज्ञान, आत्मभावना और विषय-विरक्ति उत्तरोत्तर कठिन हैं	३	३३३
विषयोंके वशीभूत जीव ज्ञानको नहीं प्राप्त होता और विषयोंसे विरक्त जीव विना ज्ञानके कर्मोंका क्षय नहीं कर सकता	४	३३३
चारित्रसे हीन ज्ञान, दर्शनसे रहित लिंगग्रहण और संयमसे रहित तप निरर्थक है	५	३३३
चारित्रसे शुद्ध ज्ञा, दर्शनसे विशुद्ध लिंगग्रहण और संयमसे रहित तप अल्प होनेपर भी महाफलदायक है	६	३३३
ज्ञानको प्राप्त कर जो विषयोंमें लीन रहते हैं वे चातुर्गतिक संसारमें भ्रमण करते रहते हैं	७	३३३
विषयोंसे विरक्त जीव, ज्ञानका प्राप्त कर संसारको छेदते हैं	८	३३४
जिस प्रकार सुहागासे स्वर्ण निर्मल होता है उसी प्रकार ज्ञानजलसे आत्मा निर्मल होता है	९	३३४
यदि कोई मंदबुद्धि पुरुष ज्ञानगर्वित होकर विषयोंमें प्रवृत्ति करते हैं तो यह ज्ञानका अपराध नहीं है	१०	३३४
ज्ञान दर्शन चारित्र और तपसे ही निर्वाण होता है	११	३३४
शीलके रक्षक, सम्यक्त्वसे शुद्ध एवं दृढ़ चारित्रके धारक जीवोंको निर्वाण नियमसे प्राप्त होता है	१२	३३४
इष्ट लक्ष्यको देखनेवाले विषयोंमें मोही जीव भी मार्गको प्राप्त कहे जाते हैं	१३	३३४
शील, व्रत और ज्ञानसे रहित जीव आराधक नहीं हैं	१४	३३५
शीलगुणसे रहित जीवोंका मनुष्यजन्म निरर्थक है	१५	३३५
शील ही उत्तम श्रुत है	१६	३३५
शीलगुणसे सुशोभित मनुष्योंके देव भी प्रिय होते हैं और शीलरहित		

	गाथा	पृष्ठ
मनुष्य तुच्छ होते हैं	१७	३३५
उत्तम शीलके धारक मुनियोंका जीवन सुजीवन है	१८	३३६
जीवदया, इंद्रियदमन आदि शीलका परिवार है	१९	३३६
शील मोक्षका सोपान है	२०	३३६
विषय, विषसे भी अधिक दुःखदायक हैं	२१-२२	३३३-३३७
विषयासक्त जीव चारों गतियोंमें दुःख भोगते हैं	२३	३३७
तप और शीलके धारक मनुष्य विषय ओर विषको खलके समान नष्ट कर देते हैं	२४	३३७
शील ही सबमें उत्तम है	२५	३३७
विषयी जीव अरहटकी घड़ीके समान संसारमें घूमते रहते हैं	२६	३३७
ज्ञानी जीव, तप संयम और शीलके द्वारा ही कर्मोंकी गाँठको खोलते हैं	२७	३३७
जिस प्रकार जलसे समुद्रकी शोभा है उसी प्रकार शीलसे मनुष्यकी शोभा है	२८	३३८
यदि शीलके बिना मोक्ष होता तो कुत्तों तथा गधा आदि पशुओंको भी उसकी प्राप्ति होती	२९	३३८
यदि विषयोंके लोभी ज्ञानी पुरुषको मोक्ष होता तो फिर दस पूर्व का पाठी रुद्र नरक क्यों गया?	३०-३१	३३८-३३९
विषयोंसे विरक्त जीव नरकोंकी वेदनाको दूर कर अरहंत पदको प्राप्त होता है	३२-३३	३३९
सम्यग्दर्शनादि पंचाचार पवनसहित अग्निके समान पुराने कर्मोंको भस्म कर देते हैं	३४	३३९
विषयोंसे विरक्त जीव ही सिद्ध गतिको प्राप्त होते हैं	३५	३४०
	गाधा	पृष्ठ
शीलवान् मनुष्य ही महात्मा बनता है	३६	३४०
सम्यग्दर्शनकी महिमा	३७	३४०
शीलरूपी सलिल से स्नान करनेवाले जीव ही सिद्धालयके सुखको प्राप्त होते है	३८	३४०
आराधनाओंको प्रकट करनेवाले कौन होते है?	३९	३४०
सम्यग्दर्शन तथा शील ही ज्ञान है	४०	३४०

बारसणुवेक्खा (द्वादशानुप्रेक्षा)

	गाथा	पृष्ठ
मंगलाचरण और प्रतिज्ञावाक्य	१	३४५
बारह अनुप्रेक्षाओं के नाम	२	३४५
अध्रुव अनुप्रेक्षा	३-७	३४५-३४६
अशरण अनुप्रेक्षा	८-१३	३४६-३४७
एकत्व अनुप्रेक्षा	१४-२०	३४७-३४८
अन्यत्वानुप्रेक्षा	२१-२३	३४८
संसारानुप्रेक्षा	२४	३४९
द्रव्यपरिवर्तनका स्वरूप	२५	३४९
क्षेत्रपरिवर्तनका स्वरूप	२६	३४९
कालपरिवर्तनका स्वरूप	२७	३४९
भवपरिवर्तनका स्वरूप	२८	३४९
भावपरिवर्तनका स्वरूप	२९	३५०
जो जीव पापबुद्धिसे स्त्रीपुत्रादि के निमित्त धन अर्जित करता है		

	गाथा	पृष्ठ
वह संसारमें भ्रमण करता है	३०	३५०
संसारभ्रमणके कारण	३१-३४	३५०-३५१
चौरासी लाख योनियोंका वर्णन	३५	२५१
संसारमें जीवोंको संयोगवियोग आदि प्राप्त होते हैं	३६	२५१
कर्मोंके निमित्तसे जीव संसार-वनमें भटकता है	३७	३५१
संसारसे अतीत जीव उपादेय हैं और संसारसे आक्रांत जीव हेय हैं ऐसा ध्यान करना चाहिए	३८	३५१
लोकानुप्रेक्षा	३९-४२	३५२
अशुचित्वानुप्रेक्षा	४३-४६	३५२-३५३
आस्रवानुप्रेक्षा	४७-६०	३५३-३५५
संवरानुप्रेक्षा	६१-६५	३५५-३५६
निर्जरानुप्रेक्षा	६६-६७	३५६
धर्मानुप्रेक्षा	६८	३५७
गृहस्थके ११ धर्म	६९	३५७
मुनिधर्मके १० भेद	७०	३५७
उत्तम क्षमाका लक्षण	७१	३५७
मार्दव धर्मका लक्षण	७२	३५७
आर्जव धर्मका लक्षण	७३	३५८
सत्य धर्मका लक्षण	७४	३५८
शौच धर्मका लक्षण	७५	३५८
संयम धर्मका लक्षण	७६	३५८
तप धर्मका लक्षण	७७-७८	३५८
आकिंचन्य धर्मका लक्षण	७९	३५९
ब्रह्मचर्य धर्मका लक्षण	८०	३५९
मुनिधर्म मोक्षका कारण	८१	३५९
निश्चय नयसे धर्म गृहस्थ और मुनिधर्मसे भिन्न है	८२	३५९
बोधिदुर्लभानुप्रेक्षा		
जिस उपायसे सम्यग्ज्ञान होता है		
उस उपायकी चिंता बोधि है	८३	३६०
कर्मोदयजनित पर्याय होनेसे		
क्षायोपशमिक ज्ञान हेय है	८४	३६०
कर्मोंकी मूलोत्तर प्रकृतियाँ		
परद्रव्य हैं	८५	३६०
निश्चयनयमें हेय-उपादेय का		
विकल्प नहीं है	८६	३६०
बारह अनुप्रेक्षाएँ ही प्रत्याख्यान		
तथा प्रतिक्रमण आदि हैं	८७-८८	३६०
बारह अनुप्रेक्षाओंका फल	८९-९०	३६१
समारोप	९१	३६२

भत्तिसंगहो (भक्तिसंग्रह)

	गाथा	पृष्ठ
१. तीर्थंकर भक्ति	१-८	३६५-३६६
	अंचलिका	३६६
२. सिद्ध भक्ति	१-१२	३६७-३६९
	अंचलिका	३६९
३.श्रुत भक्ति	१-११	३६९-३७१
	अंचलिका	३७१
४. चारित्र भक्ति	१-१०	३७२-३७३
	अंचलिका	३७३
५. योगि भक्ति	१-२३	३७४-३७८
	अंचलिका	३७८
६.आचार्य भक्ति	१-१०	३७८-३८०
	अंचलिका	३९०
७. निर्वाण भक्ति	१-२१	३८०-३८४
	अंचलिका	३८४
८. नंदीश्वर भक्ति	अंचलिकामात्र	३८६
९ शांति भक्ति	अंचलिकामात्र	३८६
१०. समाधि भक्ति	अंचलिकामात्र	३८७
११. पंचगुरु भक्ति	१-७	३८७-३८८
	अंचलिका	३८८
१२. चैत्य भक्ति	अंचलिकामात्र	३८९

पंचास्तिकाय

*

नमः सिद्धेभ्यः

पंचास्तिकायः

मंगलाचरण

इंदसदवंदियाणं, तिहुअणहिदमधुरविशदवक्काणं।
अंतातीदगुणाणं, णमो जिणाणं जिदभवाणं।।

सौ इंद्र जिनकी वंदना करते हैं, जिनके वचन तीन लोकके जीवोंका हित करनेवाले मधुर एवं विशद हैं, जो अनंत गुणोंके धारक हैं और जिन्होंने चतुर्गतिरूप संसारको जीत लिया है, मैं उन जिनेंद्रदेवको नमस्कार करता हूँ।।१।।

ग्रंथ करनेकी प्रतिज्ञा

समणमुहुग्गदमट्ठं, चदुग्गदिणिवारणं सणिव्वाणं।
एसो पणमिय सिरसा, समयमिमं सुणह वोच्छामि।।२।।

जो सर्वज्ञ-वीतराग देवके प्रकट हुआ है, चारों गतियोंका निवारण करनेवाला है और निर्वाणका कारण है, उस जीवादि पदार्थ समूहको अथवा अर्थ समयसारको शिरसे नमस्कार कर मैं इस पंचास्तिकायरूप समयसारको कहूँगा। हे भव्यजन! उसे तुम सुनो।।२।।

लोक और अलोकका स्वरूप

समवाओ पंचण्हं, समउत्ति जिणुत्तमेहिं पण्णत्तं।
सो चेव हवदि लोओ, तत्तो अमिओ अलोओ खं।।३।।

जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाश इन पाँचोंका समुदाय है ऐसा श्रीजिनेंद्रदेवने कहा है। उक्त पाँचका समुदाय ही लोक है और उसके आगे अपरिमित आकाश अलोक है।।३।।

अस्तिकायोंकी गणना

जीवा पुग्गलकाया, धम्माधम्मा तहेव आयासं।
अत्थित्तम्हि य णियदा, अणण्णमइया [1]अणुमहंता।।४।।

---

१. अणवोऽत्र प्रदेशा मूर्तामूर्ताश्च निर्विभागांशास्त्रैर्महान्तोऽणुमहान्तः प्रदेशप्रचयात्मका इति सिद्धं तेषां कायत्वम्। अणुभ्यां महान्त इति व्युत्पत्त्या द्व्यणुकपुद्गलस्कन्धानामपि तथाविधत्वम्। अणवश्च महान्तश्च व्यक्तिशक्तिरूपाभ्यामिति परमाणूनामेकप्रदेशात्मकत्वेऽपि तत्सिद्धिः।। -- त. प्र. वृ. ।

अनंत जीव, अनंत पुद्गल, एक धर्म, एक अधर्म और एक आकाश ये पाँचों अपने सामान्य विशेष अस्तित्वमें सदा नियत हैं, द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा उस अस्तित्वगुणसे अभिन्नरूप हैं तथा बहुप्रदेशी हैं। [अतः इन्हें अस्तिकाय कहते हैं।]।।४।।

अस्तिकायका स्वरूप

जेसिं अत्थिसहावो, गुणेहिं सह पज्जएहिं विविहेहिं।
ते होंति अत्थिकाया, णिप्पण्णं जेहिं तइलुक्कं।।५।।

जिनका स्वभाव अनेक गुण और अनेक पर्यायोंके साथ सुनिश्चित है वे अस्तिकाय कहलाते हैं। यह त्रैलोक्य उन्हीं अस्तिकायोंसे बना हुआ है।।५।।

द्रव्योंकी गणना

ते चेव अत्थिकाया, तेकालियभावपरिणदा णिच्चा।
गच्छंति दवियभावं, [१]परियट्टणलिंगसंजुत्ता।।६।।

ऊपर कहे हुए जीवादि पाँच अस्तिकाय परिवर्तनलिंग अर्थात् कालके साथ मिलकर द्रव्य व्यवहारको प्राप्त हो जाते हैं -- द्रव्य कहलाने लगते हैं। ये सभी पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा त्रिकालवर्ती पर्यायोंमें परिणमन करनेके कारण अनित्य हैं -- उत्पाद-व्ययरूप हैं और द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा स्वरूपमें विश्रांत होनेके कारण नित्य हैं -- ध्रौव्यरूप हैं।।६।।

एकक्षेत्रावगाहरूप होकर भी द्रव्य अपना स्वभाव नहीं छोड़ते हैं

अण्णोण्णं पविसंता, दिंता ओगासमण्णमण्णस्स।
मेलंता वि य णिच्चं, सगं सभावं ण विजहंति।।७।।

उक्त छहों द्रव्य यद्यपि परस्पर एक-दूसरेमें प्रवेश कर रहे हैं, एक दूसरेको अवकाश दे रहे हैं, और निरंतर एक दूसरेसे मिल रहे हैं, तथापि अपना स्वभाव नहीं छोड़ते।।७।।

सत्ताका स्वरूप

सत्ता सव्वपयत्था, सविस्सरूवा अणंतपज्जाया।
भंगुप्पादधुवत्ता, सप्पडिवक्खा हवदि एक्का।।८।।

सत्ता संपूर्ण पदार्थोंमें स्थित है, अनेकरूप है, अनंत पर्यायोंसे सहित है, उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य स्वरूप है, एक है तथा प्रतिपक्षी धर्मोंसे युक्त है।।८।।

---

१. 'परिवर्तनमेव जीवपुद्गलादिपरिणमनमेवाग्नेर्धूमवत् कार्यभूतं लिङ्गं चिह्नं गमकं ज्ञापकं सूचनं यस्य स भवति परिवर्तनलिङ्गः कालाणुर्द्रव्यकालस्तेन संयुक्ताः।' -- ता. वृ.।

द्रव्यका लक्षण

दवियदि गच्छदि ताइं, ताइं सब्भावपज्जयाइं जं।
दवियं तं भण्णंते, अणण्णभूदं तु सत्तादो।।९।।

जो उन गुण-पर्यायोंको प्राप्त होता है उसे द्रव्य कहते हैं, यह द्रव्य सत्तासे अभिन्न रहता है। सत्ता[१] ही द्रव्य कहलाती है।।९।।

द्रव्यका दूसरा लक्षण

दव्व[२] सल्लक्खणियं, उप्पादव्वयधुवत्तसंजुत्तं।
गुणपज्जायसयं वा, जं तं भण्णंति सव्वण्हू।।१०।।

जो सत्तारूप लक्षणसे सहित है, अथवा उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यसे युक्त है, अथवा गुण और पर्यायोंका आश्रय है उसे सर्वज्ञदेव द्रव्य कहते हैं।।१०।।

पर्यायकी अपेक्षा उत्पाद व्यय और ध्रौव्यकी सिद्धि

उप्पत्तीव विणासो, दव्वस्स य णत्थि अत्थि सब्भावो।
विगमुप्पादधुवत्तं, करेंति तस्सेव पज्जाया।।११।।

द्रव्यका न उत्पाद होता है और न विनाश। वह सदा अस्तित्वरूप रहता है। उसकी पर्याय ही उत्पाद, व्यय तथा ध्रौव्यरूप परिणमन करती है। [द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा द्रव्य अपरिणामी है और पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा परिणामी है।] ।।११।।

द्रव्य और पर्यायका अभेद निरूपण

पज्जयविजुदं दव्वं, दव्वविजुत्ता य पज्जया णत्थि।
दोण्हं अणण्णभूदं, भावं समणा परूविंति।।१२।।

न द्रव्य पर्यायसे रहित होता है और न पर्यायही द्रव्यसे रहित होते हैं। महामुनि दोनोंका अभेदरूप वर्णन करते हैं।।१२।।

द्रव्य और गुणका अभेद

दव्वेण विणा ण गुणा, गुणेहिं दव्वं विणा ण संभवदि।
अव्वदिरित्तो भावो, दव्वगुणाणं हवदि तम्हा।।१३।।

द्रव्यके बिना न गुण ठहर सकते हैं और न गुणोंके बिना द्रव्य ही ठहर सकता है, अतः द्रव्य और गुणोंके बीच अव्यतिरिक्त भाव होता है -- दोनों अभिन्न रहते हैं।।१३।।

---

१. 'तत्त्वं सल्लाक्षणिकं सन्मात्रं वा यतः स्वतः सिद्धम्।' -- पंचाध्यायी।

२. 'सद्द्रव्यम्', 'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्', 'गुणपर्यवद् द्रव्यम्'। -- त. सू. ।

सात भंगोंका निरूपण

सिय अत्थि णत्थि उहयं, अव्वत्तव्वं पुणो य तत्तिदयं।
दव्वं खु सत्तभंगं, आदेसवसेण संभवदि।।१४।।

निश्चयसे द्रव्य, विवक्षाके वश निम्नलिखित सप्तभंगरूप होता है। जैसे -- स्यादस्ति -- किसी प्रकार है, २. स्यान्नास्ति -- किसी प्रकार नहीं है, ३. स्यादुभयम् -- किसी प्रकार अस्ति-नास्ति दोनों रूप है, ४. स्यादवक्तव्यम् -- किसी प्रकार अवक्तव्य है, ५. स्यादस्ति अवक्तव्यम् -- किसी प्रकार अस्तिरूप होकर अवक्तव्य है, ६. स्यान्नास्ति अवक्तव्यम् -- किसी प्रकार नास्तिरूप होकर अवक्तव्य है, और ७. स्यादस्ति नास्ति अवक्तव्यम् -- किसी प्रकार अस्ति-नास्ति दोनों रूप होकर अवक्तव्य है।।१४।।

गुण और पर्यायोंमें उत्पाद तथा व्ययका वर्णन

भावस्स णत्थि णासो, णत्थि अभावस्स चेव उप्पादो।
गुणपज्जयेसु भावा, उप्पादवए पकुव्वंति।।१५।।

सत् पदार्थका नाश नहीं होता और न असत् पदार्थका उत्पाद ही। पदार्थ गुण और पर्यायोंमें ही उत्पाद तथा व्यय करते हैं।।१५।।

द्रव्योंके गुण और पर्यायोंका वर्णन

भावा जीवादीया, जीवगुणा चेदणा य उवओगो।
सुरणरणारयतिरिया, जीवस्स य पज्जया बहुगा।।१६।।

जीव आदि छह पदार्थ भाव हैं, चेतना और उपयोग जीवके गुण हैं, देव मनुष्य नारकी और तिर्यंच ये जीवके अनेक पर्याय हैं।।१६।।

दृष्टांत द्वारा उत्पाद व्यय और ध्रौव्यकी सिद्धि

मणुसत्तणेण णट्ठो, देही देवो हवेदि इदरो वा।
उभयत्त जीवभावो, ण णस्सदि ण जायदे अण्णो।।१७।।

मनुष्यपर्यायसे नष्ट हुआ जीव देव अथवा अन्य पर्यायरूप हो जाता अवश्य है, परंतु जीवत्वभावका सद्भाव दोनों ही पर्यायोंमें रहता है। पूर्व जीवका न तो नाश ही होता है और न अन्य जीवका उत्पाद ही।।१७।।

सो चेव जादि मरणं, जादि ण णट्ठो ण चेव उप्पण्णो।
उप्पण्णो य विणट्ठो, देवो मणुसो त्ति पज्जाओ।।१८।।

वही जीव उपजता है जो कि मरणको प्राप्त होता है। स्वभावसे जीव न नष्ट होता है और न उपजता ही है। देव उत्पन्न हुआ और मनुष्य नष्ट हुआ, यह पर्याय ही तो उत्पन्न हुआ और पर्याय ही नष्ट

हुआ।।१८।।

सत्का विनाश और असत्की उत्पत्ति नहीं होती

एवं सदो विणासो, असदो जीवस्स णत्थि उप्पादो।
तावदिओ जीवाणं, देवो मणुसो त्ति गदिणामो।।१९।।

इस प्रकार सत् रूप जीवका न नाश होता है और न असत्रूप जीवका उत्पाद ही। जीवोंमें जो देव अथवा मनुष्यका व्यवहार होता है वह सब गति नामकर्मके उदयसे होनेवाला विकार है।।१९।।

ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्मोंके अभावसे सिद्ध पर्यायकी प्राप्ति होती है

णाणावरणादीया, भावा जीवेण सुट्ठु अणुबद्धा।
तेसिमभावं किच्चा, अभूदपुव्वो हवदि सिद्धो।।२०।।

इस संसारी जीवने अनादिकालसे ज्ञानावरणादि कर्मपर्यायोंका अतिशय बंध कर रखा है अतः उनका अभाव - क्षय करके ही यह जीव अभूतपूर्व सिद्धपर्यायको प्राप्त हो सकता है।।२०।।

भाव, अभाव, भावाभाव और अभावभावका उल्लेख

एवं भावमभावं, भावाभावं अभावभावं च।
गुणपज्जयेहिं सहिदो, संसरमाणो कुणदि जीवो।।२१।।

इस प्रकार गुण और पर्यायोंके साथ पाँच परावर्तनरूप संसारमें भ्रमण करता हुआ यह जीव कभी भावको करता है -- देवादि नवीन पर्यायको धारण करता है, कभी अभावको करता है -- मनुष्यादि पूर्व पर्यायका नाश करता है, कभी भावका अभाव करता है -- वर्तमान देवादि पर्यायका नाश करता है और कभी अभावका भाव करता है -- मनुष्यादि अभावरूप पर्यायका उत्पाद करता है।।२१।।

अस्तिकायोंके नाम

जीवा पुग्गलकाया, आयासं अत्थिकाइया सेसा।
अमया[१] अत्थित्तमया, कारणभूदा हि लोगस्स।।२२।।

जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाश ये पाँच द्रव्य अस्तिस्वरूप तथा बहुप्रदेशी होनेके कारण अस्तिकाय कहलाते हैं। ये अकृत्रिम हैं, शाश्वत हैं और लोकके कारणभूत हैं।।२२।।

कालद्रव्यके अस्तित्वकी सिद्धि

सब्भावसभावाणं, जीवाणं तह य पोग्गलाणं च।
परियट्टणसंभूदो, कालो णियमेण पण्णत्तो।।२३।।

---

१. अमया अकृत्रिमा न केनापि पुरुषविशेषेण कृताः।। -- ता. वृ।

सत् अर्थात् उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यरूप स्वभावसे संयुक्त जीव और पुद्गलोंका जो परिणमन दृष्टिगोचर होता है उससे कालद्रव्यका अस्तित्व सिद्ध हो जाता है।।२३।।

काल द्रव्यका लक्षण

ववगदपण्णवण्णरसो, ववगददोगंधअट्ठफासो य।
अगुरुलहुगो अमुत्तो, वट्टणलक्खो य कालो त्ति।।२४।।

काल द्रव्य पाँच वर्ण, पाँच रस, दो गंध और आठ स्पर्शोंसे रहित है, षड्गुणी हानि वृद्धिरूप अगुरुलघु गुणसे युक्त है, अमूर्तिक है और वर्तनालक्षणसे सहित है।।२४।।

व्यवहारकालका वर्णन

समओ णिमिसो कट्ठा, कला य णाली तदो दिवारत्ती।
मासो दु अयण संवच्छरो त्ति कालो परायत्तो।।२५।।

समय, निमेष, काष्ठा, कला, नाड़ी, दिन-रात, मास, ऋतु, अयन और वर्ष यह सब व्यवहारकाल है। चूँकि यह व्यवहारकाल सूर्योदय, सूर्यास्त आदि पर पदार्थोंके निमित्तसे अनुभवमें आता है अतः पराधीन है।।२५।।

पुद्गलद्रव्यके निमित्तसे व्यवहारकालकी उत्पत्तिका वर्णन

णत्थि चिरं वा खिप्पं, मत्तारहिदं तु सा वि खलु मत्ता।
पुग्गलदव्वेण विणा, तम्हा कालो दु पडुच्चभवो।।२६।।

कालकी मात्रा -- मर्यादाके बिना विलंब और शीघ्रताका व्यवहार नहीं हो सकता, अतः उसका वर्णन अवश्य करना चाहिए और चूँकि कालकी मात्रा पुद्गल द्रव्यके बिना प्रकट नहीं हो सकती इसलिए उसे पुद्गल द्रव्यके निमित्तसे उत्पन्न हुआ माना जाता है।।२६।।

इस प्रकार श्री कुंदकुंददेव द्वारा विरचित पंचास्तिकाय ग्रंथमें षड्द्रव्य और पंचास्तिकायके सामान्य स्वरूपको कहनेवाला 'पीठबंध' समाप्त हुआ।

***

जीवका स्वरूप

जीवोत्ति हवदि चेदा, उपओगविसेसिदो पहू कत्ता।
भोत्ता य देहमत्तो, ण हि मुत्तो कम्मसंजुत्तो।।२७।।

जो निश्चयनयकी अपेक्षा भावप्राणोंसे और व्यवहारनयकी अपेक्षा द्रव्यप्राणोंसे जीवित रहता है वह जीव कहलाता है। यह जीव निश्चय नयकी अपेक्षा चेतनामय है और व्यवहार नयकी अपेक्षा

चेतनागुणसंयुक्त है। निश्चयनयकी अपेक्षा केवलज्ञान, केवलदर्शनरूप उपयोगसे और अशुद्ध निश्चयनयकी अपेक्षा मतिज्ञान आदि क्षायोपशमिक उपयोगसे विशिष्ट है। निश्चयकी अपेक्षा मोक्ष और मोक्षके कारणरूप शुद्ध परिणामोंके परिणमनमें समर्थ होनेसे तथा अशुद्ध नयकी अपेक्षा संसार और उसके कारणस्वरूप अशुद्ध परिणामोंके परिणमनमें समर्थ होनेसे प्रभु है। शुद्ध निश्चय नयसे शुद्ध भावोंका, अशुद्ध निश्चय नयसे रागादि भावोंका और व्यवहार नयसे द्रव्य कर्मोंका कर्ता होनेके कारण कर्ता है। शुद्ध निश्चय नयसे शुद्धात्मदशामें उत्पन्न होनेवाले वीतराग परमानंदरूप सुखका, अशुद्ध निश्चय नयसे कर्मजनित सुख-दुःखादिका और अनुपचरित असद्भूत व्यवहार नयसे सुख-दुःखके साधक इष्ट-अनिष्ट विषयोंका भोगनेवाला होनेके कारण भोक्ता है। निश्चय नयसे लोकाकाशके बराबर असंख्यातप्रदेशी होनेपर भी व्यवहार नयसे नामकर्मोदयजनित शरीरके बराबर रहनेसे स्वदेहमात्र है, मूर्तिसे रहित है और कर्मसंयुक्त है। यह संसारी जीवका स्वरूप है।।२७।।

मुक्त जीवका स्वरूप

कम्ममलविप्पमुक्को, उड्ढं लोगस्स अंतमधिगंता।
सो सव्वणाणदरिसी, लहदि सुहमणिंदियमणंतं।।२८।।

यह जीव कर्ममलसे विप्रमुक्त होता है तब सर्वज्ञ और सर्वदर्शी होकर ऊर्ध्वगति स्वभावके कारण लोकके अंतिम भाग -- सिद्धक्षेत्रमें जा पहुँचता है और वहाँ अनंत अतींद्रिय सुख प्राप्त करने लगता है।।२८।।

मुक्त जीवकी विशेषता

जादो य सयं चेदा, सव्वण्हू सव्वलोगदरसी य।
पप्पोदि सुहमणंतं, अव्वाबाधं सगममुत्तं।।२९।।

जो आत्मा पहले संसार अवस्थामें इंद्रियजनित बाधा सहित पराधीन और मूर्तिक सुखका अनुभव करता था अब वही चिदात्मा मुक्त अवस्थामें सर्वज्ञ और सर्वदर्शी होकर अनंत, अव्याबाध, स्वाधीन और अमूर्तिक सुखका अनुभव करता है।।२९।।

जीव शब्दकी निरुक्ति

पाणेहिं चदुहिं जीवदि, जीवस्सदि जो हु जीविदो पुव्वं।
सो जीवो पाणा पुण, बलमिंदियमाउ उस्सासो।।३०।।

जो चार प्राणोंके द्वारा वर्तमानमें जीवित है, आगे जीवित होगा और पहले जीवित था वह जीव है। जीवके चार प्राण हैं -- बल, इंद्रिय, आयु और उच्छ्वास।।३०।।

जीवकी विशेषता

अगुरुलहुगा अणंता, तेहिं अणंतेहिं परिणदा सव्वे।
देसेहिं असंखादा, सियलोगं सव्वमावण्णा।।३१।।
केचित्तु अणावण्णा, मिच्छादंसणकसायजोगजुदा।
विजुदा य तेहिं बहुगा, सिद्धा संसारिणो जीवा।।३२।। (जुम्मं)

अगुरुलघुगुण अनंत हैं, समस्त जीव उन अनंत अगुरुलघुगुणोंके कारण परिणमन करते रहते हैं, सभी जीव, प्रदेशोंकी अपेक्षा असंख्यात हैं-- असंख्यात प्रदेशोंके धारक हैं। उनमेंसे कितने ही जीव लोकपूर्ण समुद्घातके समय संपूर्ण लोकमें व्याप्त होते हैं और कितने ही अपने शरीरके प्रमाण अवस्थित रहते हैं, कितने ही मिथ्यादर्शन, कषाय और योगोंसे युक्त होनेके कारण संसारी हैं और कितने ही उनसे रहित होकर सिद्ध हुए हैं।।३१-३२।।

जीव शरीरप्रमाण है

जह पउमरायरयणं, खित्तं खीरे पभासयदि खीरं।
तह देही देहत्थो, सदेहमत्तं पभासयदि।।३३।।

जिस प्रकार दूधमें पड़ा हुआ पद्मरागमणि समस्त दूधको व्याप्त कर लेता है, उसी प्रकार शरीरमें स्थित आत्मा समस्त शरीरको व्याप्त कर लेता है। [यहाँ पद्मराग शब्दसे पद्मरागकी प्रभा ली जाती है, न कि रत्न। जिस प्रकार दूधमें पड़े हुए पद्मराग रत्नकी प्रभाका समूह समस्त दूधको व्याप्त कर लेता है उसी प्रकार यह जीव भी जिस शरीरमें स्थित रहता है उसे सब ओरसे व्याप्त कर लेता है। अथवा जिस प्रकार विशिष्ट अग्निके संयोगसे दूध बढ़नेपर पद्मरागरत्नकी प्रभाका समूह बढ़ने लगता है और घटनेपर घटने लगता है उसी प्रकार यह जीव भी पौष्टिक आहारादिके निमित्तसे शरीरके बढ़नेपर बढ़ने लगता है और दुर्बलता आदि के समय शरीरके घटनेपर घटने लगता है। अथवा जिस प्रकार वही रत्न उस दूधसे निकालकर किसी दूसरे छोटे बड़े बर्तनमें रखे हुए अल्प अथवा बहुत दूधमें डाल दिया जाता है तब वह उसे भी व्याप्त कर लेता है। इसी प्रकार यह जीव जब एक शरीरसे निकलकर नामकर्मोदयसे प्राप्त हुए किसी दूसरे छोटे-बड़े शरीरमें पहुँचता है तब उसे भी व्याप्त कर लेता है।]।।३३।।

द्रव्यकी अपेक्षा जीव द्रव्य अपने समस्त पर्यायोंमें रहता है

सव्वत्थ अत्थि जीवो, ण य एक्को एक्ककाय एक्कट्ठो।
अज्झवसाणविसिट्ठो, चिट्ठदि मलिणो रजमलेहिं।।३४।।

यह जीव त्रिकालवर्ती समस्त पर्यायोंमें विद्यमान रहता है-- नवीन पर्यायका उत्पाद होनेपर भी नवीन जीवका उत्पाद नहीं होता। यद्यपि यह जीव एक शरीरमें क्षीर-नीरकी तरह परस्पर मिलकर रहता है

तथापि उस शरीरसे एकरूप नहीं होता -- अपना अस्तित्व पृथक् रखता है। यह जीव रागादि भावोंसे युक्त होनेके कारण द्रव्यकर्मरूपी मलसे मलिन हो जाता है और इसी कारण इसे एक शरीरसे दूसरे शरीरमें संचार करना पड़ता है।।३४।।

सिद्ध जीवका स्वरूप

जेसिं जीवसहावो, णत्थि अभावो य सव्वहा तस्स।
ते होंति भिण्णदेहा, सिद्धा वचिगोयरमदीदा।।३५।।

जिनके कर्मजनित द्रव्यप्राणरूप जीव स्वभावका सद्भाव नहीं है और शुद्ध चैतन्यरूप भाव प्राणोंसे युक्त होनेके कारण सर्वथा उसका अभाव भी नहीं है, जो शरीरसे रहित हैं और जिनकी महिमा वचनके अगोचर है वे सिद्ध जीव हैं।।३५।।

सिद्ध जीव कार्यकारण व्यवहारसे रहित हैं

ण कुदोचि वि उप्पण्णो, जम्हा कज्जं ण तेण सो सिद्धो।
उप्पादेदि ण किंचि वि, कारणमवि तेण ण स होदि।।३६।।

चूँकि सिद्ध जब किसी बाह्य कारणसे उत्पन्न नहीं हुए हैं अतः वे कार्य नहीं हैं और न किसी कार्यको वे उत्पन्न ही करते हैं अतः कारण भी नहीं हैं।।३६।।

मोक्षमें जीवका असद्भाव नहीं है

सस्सधमध उच्छेदं, भव्वमभव्वं च सुण्णमिदरं च।
विण्णाणमविण्णाणं, ण वि जुज्जदि असदि सब्भावे।।३७।।

यदि मोक्षमें जीवका सद्भाव नहीं माना जाय तो उसमें निम्नलिखित आठ भाव संभव नहीं हो सकेंगे। १. शाश्वत, २. उच्छेद, ३. भव्य, ४. अभव्य, ५. शून्य, ६. अशून्य, ७. विज्ञान और ८. अविज्ञान। इनका विवरण इस प्रकार है -- (१) द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा जीव द्रव्यका सदा ध्रौव्य रहना शाश्वतभाव है। (२) पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा अगुरुलघु गुणके द्वारा प्रतिसमय षड्गुणी हानि-वृद्धिरूप परिणमन होना उच्छेदभाव है। (३) निर्विकार चिदानंद स्वभावसे परिणमन करना भव्यत्व भाव है। (४) मिथ्यात्व रागादि विभाव परिणामरूप नहीं होना अभव्यत्व भाव है। (५) स्वशुद्धात्मद्रव्यसे विलक्षण पर द्रव्य क्षेत्र काल भावरूप चतुष्टयका अभाव होना शून्यभाव है। (६) स्व द्रव्य क्षेत्र काल भावरूप चतुष्टयका सद्भाव रहना अशून्यभाव है। (७) समस्त द्रव्य गुण पर्यायोंको एक साथ प्रकाशित करनेमें समर्थ निर्मल केवलज्ञानसे युक्त होना विज्ञानभाव है और (८) मतिज्ञानादि क्षायोपशमिक ज्ञानोंसे रहित होना अविज्ञान भाव है। उक्त आठ भावोंका सद्भाव तभी संभव हो सकता है जबकि आत्माका सद्भाव माना जाय। सिद्ध जीवके शाश्वत आदि सभी भाव संभव हैं अतः सौगतोंने मोक्ष अवस्थामें भी जीवका जो अभाव

माना है वह मिथ्या है।।३७।।

त्रिविध चेतनाकी अपेक्षा जीवके तीन भेद

कम्माणं फलमेक्को, एक्को कज्जं तु णाणमध एक्को।
चेदयदि जीवरासी, चेदगभावेण तिविहेण।।३८।।

कुछ जीव प्रच्छन्नसामर्थ्य होनेके कारण केवल कर्मफलका अनुभव करते हैं, कुछ सामर्थ्य प्रकट होनेके कारण इष्टानिष्ट विकल्परूप कर्मका अनुभव करते हैं और कुछ विशुद्ध ज्ञानका ही अनुभव करते हैं। इस प्रकार जीवराशि तीन प्रकारके चेतक भावसे पदार्थका अनुभव करती है। चेतना के तीन भेद हैं -- १. कर्मफल चेतना, २. कर्मचेतना और ३. ज्ञानचेतना।।३८।।

कर्म, कर्मफल और ज्ञानचेतना के स्वामी

सव्वे खलु कम्मफलं, थावरकाया तसा हि कज्जजुदं।
पाणित्तमदिक्कंता, णाणं विंदंति ते जीवा।।३९।।

सब स्थावर जीव कर्मफलका अनुभव करते हैं, त्रसजीव इष्टानिष्ट पदार्थोंमें आदान हानरूप कर्म करते हुए कर्मका उपभोग करते हैं और प्राणिपनेके व्यवहारसे परे रहनेवाले अतींद्रिय ज्ञानी अरहंतसिद्ध ज्ञानमात्रका वेदन करते हैं।।३९।।

उपयोगके दो रूप

उवओगो खलु दुविधो, णाणेण य दंसणेण संजुत्तो।
जीवस्स सव्वकालं, अणण्णभूदं वियाणीहि।।४०।।

ज्ञान और दर्शनसे युक्त होनेके कारण उपयोग दो प्रकारका होता है, यह उपयोग सदा काल जीवसे अनन्यभूत - अभिन्न रहता है। आत्माके चैतन्यगुणके परिणमनको उपयोग कहते हैं, उसके दो भेद हैं -- १. ज्ञानोपयोग और २. दर्शनोपयोग।।४०।।

ज्ञानोपयोगके आठ भेद

आभिणिसुदोधिमणकेवलाणि णाणाणि पंचभेयाणि।
कुमदिसुदविभंगाणि य, तिण्णि वि णाणेहिं संजुत्ते।।४१।।

मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान ये पाँच सम्यग्ज्ञान तथा कुमति, कुश्रुत और विभंगावधि ये तीन मिथ्याज्ञान सब मिलाकर ज्ञानोपयोगके आठ भेद हैं।।४१।।

दर्शनोपयोगके चार भेद

दंसणमवि चक्खुजुदं, अचक्खुजुदमवि य ओहिणा सहियं।
अणिधणमणंतविसयं, केवलियं चावि पण्णत्तं।।४२।।

चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन और अंतरहित तथा अनंत पदार्थोंको विषय करनेवाला केवलदर्शन ये चार दर्शनोपयोगके भेद हैं।।४२।।

जीव और ज्ञानमें अभिन्नता

ण वियप्पदि णाणादो, णाणी णाणाणि होंति णेगाणि।
तम्हा दु विस्सरूवं, भणियं दवियत्ति णाणीहि।।४३।।

चूँकि ज्ञानी ज्ञानगुणसे पृथक् नहीं है और ज्ञान मति आदिके भेदसे अनेकरूप है, इसलिए ज्ञानी-महर्षियोंने जीवद्रव्यको अनेकरूप कहा है।।४३।।

गुण और गुणीमें अभेद

जदि हवदि दव्वमण्णं, गुणदो य गुणा य दव्वदो अण्णे।
दव्वाणंतियमधवा, दव्वाभावं पकुव्वंति।।४४।।

यदि द्रव्य, गुणसे पृथक् हो और गुण भी द्रव्यसे पृथक् हो तो या तो द्रव्यमें अनंतता आ जावेगी या द्रव्यसे पृथक् रहनेवाले गुण द्रव्यका अभाव ही कर देंगे।।४४।।

द्रव्य और गुणोंमें अभेद तथा भेदका निरूपण

अविभत्तमणण्णत्तं, दव्वगुणाणं विभत्तमण्णत्तं।
णिच्छंति णिच्चयण्हू, तव्विवरीदं हि वा तेसिं।।४५।।

द्रव्य और गुणोंमें जो अनन्यत्व - एकरूपता है वह प्रदेशभेदसे रहित है। निश्चयके जाननेवाले महर्षि द्रव्य और गुणोंके बीच प्रदेश भेदरूप अन्यत्वको नहीं मानते हैं - द्रव्य और गुणोंमें प्रदेशभेद न होनेसे अभेद है और संज्ञा संख्या प्रयोजन आदिकी विभिन्नता होनेसे भेद है। निश्चयज्ञ पुरुष इनके भेद और अभेदको उक्त प्रकारसे विपरीत नहीं मानते हैं।।४५।।

ववदेसा संठाणा, संखा विसया य होंति ते बहुगा।
ते तेसिमणण्णत्ते, अण्णत्ते चावि विज्जंते।।४६।।

उन द्रव्य और गुणोंके व्यपदेश - कथनके भेद, आकार, संख्या एवं विषय बहुत प्रकारके होते हैं और वे द्रव्य तथा गुणोंकेअभेद और भेद दोनों प्रकारकी दशाओंमें विद्यमान रहते हैं।।४६।।

पृथक्त्व और एकत्वका वर्णन

णाणं धणं च कुव्वदि, धणिणं जह णाणिणं च दुविधेहिं।
भण्णंति तह पुधत्तं, एयत्तं चावि तच्चण्हू।।४७।।

जैसे धन पुरुषको धनवान करता है और ज्ञान ज्ञानी। यहाँ धन जुदा है और पुरुष जुदा है। परंतु धनके संबंधसे पुरुष धनवान नाम पाता है और ज्ञान तथा ज्ञानी दोनोंमें यद्यपि प्रदेशभेद नहीं है तथापि

गुणगुणीके व्यवहारकी अपेक्षा ज्ञानगुणके द्वारा पुरुष ज्ञानी नाम पाता है। वैसे ही इन दो प्रकारके भेदाभेद कथनके द्वारा वस्तुस्वरूपको जाननेवाले पुरुष पृथक्त्व और एकत्वका निरूपण करते हैं। जहाँ प्रदेशभेद होता है वहाँ पृथक्त्व व्यवहार होता है और जहाँ उसका अभाव होता है वहाँ एकत्व व्यवहार होता है।।४७।।

ज्ञान और ज्ञानीमें सर्वथा भेदका निषेध

णाणी णाणं च सदा, अत्थंतरिदो दु अण्णमण्णस्स।
दोण्हं अवेदणत्तं, पसजदि सम्मं जिणावमदं।।४८।।

ज्ञान और ज्ञानी दोनोंका सदा अर्थांतर -सर्वथा विभिन्न माननेपर दोनोंमें जड़ताका प्रसंग आता है और वह जड़ता यथार्थमें श्री जिनेंद्रदेवको अभिमत नहीं है। जिस प्रकार उष्ण गुणवान् अग्निसे यदि उष्णगुणको सर्वथा जुदा माना जावे तो अग्नि शीतल होकर दाहक्रियाके प्रति असमर्थ हो जावे इसीप्रकार जीवसे यदि ज्ञानगुणको सर्वथा जुदा माना जावे तो जीव जड़ होकर पदार्थोंके जाननेमें असमर्थ हो जावे। पर ऐसा देखा नहीं जाता। यहाँ कोई यह कह सकता है कि जिसप्रकार देवदत्त अपने शरीरसे भिन्न रहनेवाले दात्र (हंसिया) के द्वारा तृणादिका छेदक हो जाता है उसीप्रकार जीव भी भिन्न रहनेवाले ज्ञानके द्वारा पदार्थोंका ज्ञायक हो सकता है। पर उसका ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि छेदनक्रियाके प्रति दात्र बाह्य उपकरण है और वीर्यांतराय कर्मके क्षयोपशमसे उत्पन्न हुई पुरुषकी शक्तिविशेष आभ्यंतर उपकरण है। इस आभ्यंतर उपकरणके अभावमें दात्र तथा हस्तव्यापार आदि बाह्य उपकरणके रहनेपर भी जिसप्रकार छेदनक्रिया नहीं हो सकती उसीप्रकार बाह्य उपकरणके रहनेपर भी ज्ञानरूप आभ्यंतर उपकरणके अभावमें जीव पदार्थोंका ज्ञाता नहीं हो सकता। सार यह है कि बाह्य उपकरण यद्यपि कर्तासे भिन्न है तथापि आभ्यंतर उपकरण उससे अभिन्न ही रहता है। यदि कोई यह कहे कि ज्ञान और ज्ञानी यद्यपि जुदे-जुदे हैं तथापि संयोगसे जीवमें चेतना आ जावेगी तो यह कहना ठीक नहीं मालूम होता, क्योंकि ज्ञानगुणरूप विशेषतासे रहित जीव और जीवसे भिन्न रहनेवाला निराश्रय ज्ञान, दोनों ही शून्यरूप सिद्ध होते हैं - दोनोंका अस्तित्व नहीं है।।४८।।

ज्ञानके समवायसे आत्मा ज्ञानी होता है इस मान्यता का निषेध

ण हि सो समवायादो, अत्थंतरिदो दु णाणदो णाणी।
अण्णाणीति य वयणं, एगत्तप्पसाधगं होदि।।४९।।

जब कि ज्ञानी - आत्मा ज्ञानसे सर्वथा विभिन्न है तब वह उसके समवायसे भी ज्ञानी नहीं हो सकता, क्योंकि यहाँ यह प्रश्न उपस्थित होता है कि ज्ञानके साथ समवाय होनेके पहले आत्मा ज्ञानी था या अज्ञानी? यदि ज्ञानी था तो ज्ञानका समवाय मानना किसलिए? यदि अज्ञानी था तो अज्ञानी होनेका कारण

क्या है? क्या अज्ञानके साथ उसका समवाय है? या एकत्व? समवाय तो हो नहीं सकता, क्योंकि अज्ञानीका अज्ञानके साथ समवाय मानना निष्फल है, अतः अगत्या 'आत्मा अज्ञानी है'[१] ऐसा कथन अज्ञानके साथ उसका एकत्व सिद्ध कर देता है और इस प्रकार अज्ञानके साथ एकत्व सिद्ध होनेपर ज्ञानके साथ भी उसका एकत्व अवश्य सिद्ध हो जाता है।।४९।।

द्रव्य और गुणोंमें अयुतसिद्धिका वर्णन

समवत्ती समवाओ, अपुधब्भूदो य अजुदसिद्धो य।
तम्हा दव्वगुणाणं, अजुदा सिद्धित्ति णिद्दिट्ठा।।५०।।

गुण और गुणीके बीच अनादि कालसे जो समवर्तित्व - तादात्म्य संबंध पाया जाता है वही जैनमतमें समवाय कहलाता है। चूँकि समवाय ही अपृथग्भूतत्व और अयुतसिद्धत्व कहलाता है इसलिए द्रव्य और गुण अथवा गुण और गुणीमें अयुतसिद्धि होती है। उनमें पृथक् प्रदेशत्व नहीं होता। ऐसा श्री जिनेंद्रदेवने निर्देश किया है।

दृष्टांतद्वारा ज्ञान-दर्शनगुण और जीवमें अभेद तथा भेदका कथन

वण्णरसगंधफासा, परमाणुपरूविदा विसेसा हि।
दव्वादो य अणण्णा, अण्णत्तपगासगा होंति।।५१।।
दंसणणाणाणि तहा, जीवणिबद्धाणि णण्णभूदाणि।
ववदेसदो पुधत्तं, कुव्वंति हि णो सभावादो।।५२।।

जिसप्रकार परमाणु में कहे गये वर्ण रस गंध स्पर्शरूप विशेष गुण परमाणुरूप पुद्गलद्रव्यसे अभिन्न और भिन्न दोनों रूप हैं - निश्चयकी अपेक्षा प्रदेशभेद न होनेसे एक हैं और व्यवहारकी अपेक्षा संज्ञा, संख्या, लक्षण आदिमें भेद होनेसे अनेक हैं - पृथक् हैं उसीप्रकार जीवके साथ समवाय संबंधसे निबद्ध होकर रहनेवाले ज्ञान और दर्शन अभिन्न और भिन्न दोनों रूप हैं। निश्चयकी अपेक्षा प्रदेशभेद न होनेसे एक हैं और व्यवहारकी अपेक्षा संज्ञा, संख्या, लक्षण आदिमें भेद होनेसे अनेक हैं -- पृथक् हैं।।५१-५२।।

जीवकी अनादि-निधनता तथा सादि-सांतता आदिका कथन

जीवा अणाइणिहणा, संता णंता[३] य जीव[२]भावादो।
सब्भावदो अणंता[३], पंचग्गगुणप्पधाणा य।।५३।।

---

१. साद्यनन्ताः। २. जीवभावतः क्षायिको भावस्तस्मात्।

३. अनन्ता विनाशरहिताः अथवा द्रव्यस्वभावगणनया पुनरनन्ताः। सान्तानन्तशब्दयोर्द्वितीयव्याख्यानं क्रियते -- सहान्तेन संसारविनाशेन वर्तन्ते सान्ता भव्याः, न विद्यन्तेऽन्तः संसार विनाशो येषां ते पुनरनन्ता अभव्याः, ते चाभव्या अनन्तसंख्यास्तेभ्योऽपि भव्या अनन्तगुणसंख्यास्तेभ्योऽप्यभव्यसमानभव्या अनन्तगुणा इति।। -- ज. वृ.

जीव, सहज चैतन्यलक्षण पारिणामिकभावकी अपेक्षा अनादि-निधन है। औदयिक, क्षायोपशमिक और औपशमिक भावकी अपेक्षा सादि सांत हैं। क्षायिकभावकी अपेक्षा सादि अनंत हैं। सत्ता स्वरूपकी अपेक्षा अनंत हैं, विनाशरहित हैं अथवा द्रव्यसंख्याकी अपेक्षा अनंत हैं और व्यवहारकी अपेक्षा औदयिक औपशमिक क्षायिक क्षायोपशमिक तथा पारिणामिक इन पाँचों भावोंकी प्रधानता लिये हुए प्रवर्तमान हैं।।५३।।

विवक्षावशसे सत्के विनाश और असत्के उत्पादनका कथन

एवं सदो विणासो, असदो जीवस्स होइ उप्पादो।
इदि जिणवरेहिं भणिदं, अण्णोण्णविरुद्धमविरुद्धं।।५४।।

इसप्रकार विवक्षावश विद्यमान जीवका विनाश होता है और अविद्यमान जीवका उत्पाद भी। जिनेंद्रदेवका यह कथन परस्परमें विरुद्ध होनेपर भी नयविवक्षासे अविरुद्ध है।

'मनुष्य मरकर देव हुआ' यहाँ मनुष्यपर्यायसे उपलक्षित जीवद्रव्यका नाश हुआ और देव पर्यायसे अनुपलक्षित जीवद्रव्यका उत्पाद हुआ। द्रव्यार्थिक नयसे यह सिद्धांत ठीक है कि 'नैवासतो जन्म सतो न नाशः' अर्थात् असत्का जन्म और सत्का नाश नहीं होता, परंतु पर्यायार्थिक नयसे विद्यमान पर्यायका नाश और अविद्यमान पर्यायका उत्पाद होता ही है, क्योंकि क्रमवर्ती होनेसे एक कालमें दो पर्याय विद्यमान नहीं रह सकते। इसलिए पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा जिनेंद्रदेवका गाथोक्त कथन अविरुद्ध है।।५४।।

सत्के विनाश और असत्के उत्पाद का कारण

णेरइयतिरियमणुआ, देवा इदि णामसंजुदा पयडी।
कुव्वंति सदो णासं, असदो भावस्स उप्पादं।।५५।।

नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देव इन नामोंसे युक्त कर्मप्रकृतियाँ विद्यमान पर्यायका नाश करती हैं और अविद्यमान पर्यायका उत्पाद करती हैं।।५५।।

जीवके औपशमिक आदि भावोंका वर्णन

उदयेण उवसमेण य, खयेण दुहिं मिस्सिदेहिं परिणामे।
जुत्ता ते जीवगुणा, बहुसु य अत्थेसु विच्छिण्णा।।५६।।

जीवके जो भाव कर्मोंके उदय, उपशम, क्षय और क्षयोपशमसे तथा आत्मीय निज परिणामोंसे युक्त हैं वे उसके क्रमशः औदयिक, औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक और पारिणामिक नामसे प्रसिद्ध पाँच सामान्य गुण हैं। ये पाँचों ही गुण -- भाव उपाधिभेदसे अनेक अर्थोंमें विस्तृत हैं -- अनेक भेदयुक्त हैं अथवा '[१]बहुसुदअत्थेसु वित्थिण्णा' पाठमें बहुज्ञानियोंके शास्त्रोंमें विस्तारके साथ वर्णित हैं।।५६।।

---

१. बहुसुदअत्थेसु वित्थिण्णा -- बहुश्रुतशास्त्रेषु तत्त्वार्थादिषु विस्तीर्णाः।। -- ज. वृ.

विवक्षावश औदयिक भावोंका कर्ता जीव है

कम्मं वेदयमाणो, जीवो भावं करेदि जारिसयं।
सो तेण तस्स कत्ता, हवदित्ति य सासणे पढिदं।।५७।।

उदयागत द्रव्यकर्मका वेदन करनेवाला जीव जैसा भाव करता है वह उसका कर्ता होता है ऐसा जिनशासनमें कहा गया है।।५७।।

औदयिक आदि भाव द्रव्यकर्मकृत हैं

कम्मेण विणा उदयं, जीवस्स ण विज्झदे उवसमं वा।
खइयं खओवसमियं, तम्हा भावं तु कम्मकदं।।५८।।

यतः द्रव्यकर्मके बिना आत्माके रागादि विभावोंका उदय और उपशम नहीं हो सकता तथा क्षायिक और क्षायोपशमिक भाव भी नहीं हो सकते अतः जीवके उल्लिखित चारों भाव द्रव्यकर्मके किये हुए हैं।।५८।।

प्रश्न

भावो जदि कम्मकदो, अत्ता कम्मस्स होदि किध कत्ता।
ण कुणदि अत्ता किंचिवि, मुत्ता अण्णं सगं भावं।।५९।।

यदि औदयिक आदि भाव द्रव्यकर्मके द्वारा किये हुए हैं तो आत्मा द्रव्यकर्मका कर्ता कैसे हो सकता है? क्योंकि वह निजभावको छोड़कर अन्य किसीका कर्ता नहीं है। यदि सर्वथा द्रव्यकर्मको औदयिक आदि भावोंका कर्ता माना जाय तो आत्मा अकर्ता हो जायगा और ऐसी दशामें संसारका अभाव हो जायेगा। यदि यह कहा जाय कि आत्मा द्रव्यकर्मका कर्ता है अतः संसारका अभाव नहीं होगा तो द्रव्यकर्मको जो कि पुद्गलका परिणाम है आत्मा कैसे कर सकता है? और उस हालतमें, जबकि आत्मा निज स्वभावको छोड़कर अन्य किसीका कर्ता नहीं है।।५९।।

उत्तर

भावो कम्मणिमित्तो, कम्मं पुण भावकारणं हवदि।
ण दु तेसिं खलु कत्ता, ण विणा भूदा दु कत्तारं।।६०।।

व्यवहार नयसे जीवके औदयिक आदि भावोंका कर्ता द्रव्य कर्म है और द्रव्यकर्मका कर्ता भावकर्म है परंतु निश्चय नयसे द्रव्यकर्म औदयिक आदि भावोंका कर्ता नहीं है और न औदयिक आदि भावकर्म द्रव्यकर्मका कर्ता है। इसके सिवाय वे दोनों -- द्रव्यकर्म भावकर्म कर्ताके बिना भी नहीं होते हैं।

कारणके दो भेद हैं -- उपादान और निमित्त। भावकर्मका उपादान कारण आत्मा है और निमित्त कारण द्रव्यकर्म। इसी प्रकार द्रव्यकर्मका उपादान कारण पुद्गल द्रव्य है और निमित्त कारण औदयिक

आदि भावकर्म।।६०।।

आत्मा निजभावका कर्ता है परभावका नहीं

कुव्वं सगं सहावं, अत्ता कत्ता सगस्स भावस्स।
ण हि पोग्गलकम्माणं, इदि जिणवयणं मुणेयव्वं।।६१।।

'अपने निजभावको करता हुआ आत्मा निजभावका ही कर्ता है, पुद्गलरूप द्रव्यकर्मोंका कर्ता नहीं है' ऐसा जिनेंद्रदेवका वचन जानना चाहिए।।६१।।

कम्मं पि सगं कुव्वदि, सेण सहावेण सम्ममप्पाणं।
जीवो वि य तारिसओ, कम्मसहावेण भावेण।।६२।।

जिस प्रकार कर्म स्वकीय स्वभाव द्वारा यथार्थमें अपने आपको करता है उसी प्रकार जीवद्रव्य भी स्वकीय अशुद्ध स्वभाव -- रागादि परिणाम द्वारा अपने आपको करता है। निश्चय नयसे कर्मका कर्ता कर्म है और जीवका कर्ता जीव है। जीव पुद्गल द्रव्यमें होनेवाले कर्मरूप परिणमनका कर्ता है और कर्म, जीवद्रव्यमें होनेवाले नर नारकादि परिणमनका कर्ता है' यह सब औपचारिक कथन है।।६२।।[१]

प्रश्न

कम्मं कम्मं कुव्वदि, जदि सो अप्पा करेदि अप्पाणं।
किध तस्स फलं भुंजदि, अप्पा कम्मं च देदि फलं।।६३।।

यदि कर्म कर्मका कर्ता है और आत्मा आत्माका कर्ता है तो आत्मा कर्मके फलको किस प्रकार भोगता है? और कर्म भी आत्माको किस प्रकार फल देता है?।।६३।।

उत्तर

मोगाढगाढणिचिदो, पोग्गलकायेहिं सव्वदो लोगो।
सुहुमेहिं बादरेहिं, णंताणंतेहिं विविहेहिं।।६४।।
अत्ता कुणदि सहावं, तत्थ गदा पोग्गला सहावेहिं।
गच्छंति कम्मभावं, अण्णोण्णागाहमवगाढा।।६५।।
जह पुग्गलदव्वाणं, बहुप्पयारेहिं खंधणिव्वत्ती।
अकदा परेहिं दिट्ठा, तह कम्माणं वियाणाहि।।६६।।

---

१. जीवकृतं परिणामं निमित्तमात्रं प्रपद्य पुनरन्ये।
स्वयमेव परिणमन्तेऽत्र पुद्गलाः कर्मभावेन।।१२।।
परिणममाणस्य चितःश्चिदात्मकैः स्वयमपि स्वकैर्भावैः।
भवति हि निमित्तमात्रं पौद्गलिकं कर्म तस्यापि ।। -- पुरुषार्थसिद्ध्युपाये अमृचन्द्रसूरेः

जीवा पुग्गलकाया, अण्णोण्णागाढगहणपडिबुद्धा।
काले विजुज्जमाणा, सुह दुक्खं दिंति भुंजंति।।६७।।

यह लोक सब ओरसे सूक्ष्म और बादर भेदको लिये हुए, विविध प्रकारके अनंतानंत पुद्गलस्कंधोंसे ठसाठस भरा हुआ है।।६४।। जब यह जीव अशुद्ध रागादि परिणामको करता है तब उस जीवके स्थानोंमें नीर-क्षीरकी तरह एकावगाह होकर रहनेवाले कार्मणवर्गणारूप पुद्गल स्कंध स्वयं ही कर्मभावको प्राप्त हो जाते हैं।।६५।। जिस प्रकार अन्य पुद्गलद्रव्यमें विविध प्रकारके स्कंधोंकी रचना दूसरे द्रव्योंके द्वारा न की हुई स्वयमेव उत्पन्न देखी जाती है उसी प्रकार कार्मणवर्गणारूप पुद्गलद्रव्यमें भी कर्मरूप रचना स्वयमेव हो जाती है ऐसा जानो।।६६।। जीव और कर्मरूप पुद्गल स्कंध परस्परमें एकक्षेत्रावगाहके द्वारा अत्यंत सघन संबंधको प्राप्त हो रहे हैं। जब वे उदयकालमें बिछुड़ने लगते हैं -- एक दूसरेसे जुदे होने लगते हैं तब जीवमें सुख-दुःखादिका अनुभव होता है। बस, इसी निमित्त नैमित्तिक संबंधसे कहा जाता है कि कर्म सुख-दुःखरूप फल देते हैं और जीव उन्हें भोगते हैं।।६७।।

तम्हा कम्मं कत्ता, भावेण हि संजुदोध जीवस्स।
भोत्ता दु हवदि जीवो, चेदगभावेण कम्मफलं।।६८।।

इस कथनसे यह बात सिद्ध हुई कि जीवके मिथ्यात्व रागादिभावोंसे युक्त द्रव्यकर्म, सुख-दुःखादि रूप कर्मफलका कर्ता है, परंतु उसका भोक्ता चेतकभावके कारण जीव ही है।

पूर्वोक्त उद्देश्यसे यह बात फलित हुई कि निश्चय नयसे कर्म अपने आपका कर्ता है और व्यवहार नयसे जीवका। इसी प्रकार जीव भी निश्चय नयसे अपने आपका कर्ता है और व्यवहार नयसे कर्मका। यहाँ कर्म और कर्तृत्वका व्यवहार विवक्षावश जिस प्रकार जीव और कर्म दोनोंपर निर्भर ठहरता है उस प्रकार भोक्तृत्वका व्यवहार दोनोंपर निर्भर नहीं ठहरता। क्योंकि भोक्ता वही हो सकता है जिसमें चेतनगुण पाया जाता हो। चूँकि चेतनगुणका सद्भाव जीवमें ही है अतः वही अशुद्ध चेतकभावसे कर्मके फलका भोक्ता है।।६८।।

संसारपरिभ्रमणका कारण

एवं कत्ता भोत्ता, होज्झं अप्पा सगेहिं कम्मेहिं।
हिंडंति पारमपारं, संसारं मोहसंछण्णो।।६९।।

इस प्रकार यह जीव अपने ही शुभाशुभ कर्मोंसे मोहके द्वारा आच्छन्न हो कर्ताभोक्ता होता हुआ [१]सांत और अनंत संसारमें परिभ्रमण करता रहता है।।६९।।

---

१. भव्यापेक्षया सपारं (सान्तं) अभव्यापेक्षया त्वपारं (अनन्तं)। -- ज. वृ.

मोक्षप्राप्तिका उपाय

उवसंतखीणमोहो, मग्गं जिणभासिदेण समुपगदो।
णाणाणुमग्गचारी, णिव्वाणपुरं वजदि धीरो।।७०।।

जब यह जीव जिनेंद्रप्रणीत आगमके द्वारा सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप मार्गको प्राप्त हो स्वसंवेदनज्ञानरूप मार्गमें विचरण करता है और विविध उपसर्ग तथा परिषह सहन करनेमें धीर वीर हो मोहनीय कर्मका उपशम अथवा क्षय करता है तब मोक्षनगरको प्राप्त करता है।।७०।।

जीवके अनेक भेद

एको चेव महप्पा, सो दुवियप्पो त्तिलक्खणो होदि।
चदुचंकमणो भणिदो, पंचग्गगुणप्पधाणो य।।७१।।
छक्कापक्कमजुत्तो, उवजुत्तो सत्तभंगसब्भावो।
अट्ठासओ णवत्थो, जीवो दसट्ठाणगो भणिदो।।७२।। जुम्मं

अविनाशी चैतन्यगुणसे युक्त रहनेके कारण वह जीवरूप महात्मा सामान्यकी अपेक्षा एक प्रकारका है। ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोगके भेदसे दो प्रकारका है। कर्मचेतना, कर्मफलचेतना और ज्ञानचेतनासे युक्त अथवा उत्पत्ति, विनाश और ध्रौव्यसे युक्त होनेके कारण तीन प्रकारका है। चार गतियोंमें चंक्रमण करनेके कारण चार प्रकारका है। औपशमिक आदि पाँच भावोंका धारक होनेसे पाँच प्रकारका है। चार दिशा तथा ऊपर और नीचे इस प्रकार छह ओर अपक्रम करनेके कारण छह प्रकारका है। स्यादस्ति आदि सात भंगोंसे युक्त होनेके कारण सात प्रकारका है। आठ कर्म अथवा आठ गुणोंका आश्रय होनेसे आठ प्रकारका है। नवपदार्थरूप प्रवृत्ति होनेसे नव प्रकारका है और पृथिवी, जल, तेज, वायु, साधारण वनस्पति, प्रत्येकवनस्पति, द्वींद्रिय, त्रींद्रिय, चतुरिंद्रिय तथा पंचेंद्रिय इन दश भेदोंसे युक्त होनेके कारण दश प्रकारका है।।७१-७२।।

मुक्त जीवोंके ऊर्ध्वगमन स्वभावका वर्णन

पयडिट्ठिदिअणुभागप्पदेसबंधेहिं सव्वदो मुक्को।
उड्ढं गच्छदि सेसा, विदिसा वज्जं गदिं जंति।।७३।।

प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश इन चार प्रकारके बंधोंसे सर्वथा निर्मुक्त हुआ जीव केवल ऊपरकी ओर जाता है -- ऊर्ध्वगमन ही करता है और बाकीके जीव चार विदिशाओंको छोड़कर छह ओर गमन करते हैं।।७३।।

पुद्गल द्रव्यके चार भेद

खंधा य खंधदेसा, खंधपदेसा य होंति परमाणू।
इदि ते चदुव्वियप्पा, पुग्गलकाया मुणेयव्वा।।७४।।

स्कंध, एकस्कंध, स्कंधप्रदेश और परमाणु इस प्रकार पुद्गल द्रव्यके चार भेद हैं।।७४।।

स्कंध आदिके लक्षण

खंधं सयलसमत्थं, तस्स दु अद्धं भणंति देसोत्ति।
अद्धद्धं च पदेसो, परमाणू चेव अविभागी।।७५।।

समस्त परमाणुओंसे मिलकर बना हुआ पिंड स्कंध, स्कंधसे आधा स्कंधदेश, स्कंधदेशसे आधा स्कंधप्रदेश और अविभागी अंशको परमाणु कहते हैं।।७५।।

स्कंधोंके छह भेदोंका वर्णन

बादरसुहुमगदाणं, खंधाणं पुग्गलोत्ति ववहारो।
ते होंति छप्पयारा, तेलोक्कं जेहिं णिप्पण्णं।।७६।।

बादर और सूक्ष्म परिणमनको प्राप्त हुए स्कंधोंका पुद्गल शब्दसे व्यवहार होता है। वे स्कंध १. बादरबादर, २. बादर, ३. बादरसूक्ष्म, ४. सूक्ष्मबादर, ५. सूक्ष्म और ६. सूक्ष्मसूक्ष्मके भेदसे छह प्रकारके हैं। इन्हीं छह स्कंधोंसे तीन लोककी रचना हुई है।

जो पुद्गलपिंड दो खंड करनेपर अपने आप फिर न मिल सकें ऐसे काष्ठ, पाषाण आदिको **बादरबादर** कहते हैं। जो पुद्गल स्कंध खंड खंड होनेपर फिर भी अपने आपमें मिल जावें ऐसे जल, घृत आदि आदि पुद्गलोंको **बादर** कहते हैं। जो पुद्गलस्कंध देखनेमें स्थूल होनेपर भी ग्रहणमें न आवें ऐसे धूप, छाया, चाँदनी आदिको **बादरसूक्ष्म** कहते हैं। जो स्कंध नेत्रइंद्रियसे ग्रहणमें न आनेके कारण सूक्ष्म हैं परंतु अन्य इंद्रियोंके द्वारा ग्रहणमें आनेसे स्थूल हैं ऐसे स्पर्श रस गंधादिको **सूक्ष्मबादर** कहते हैं। जो स्कंध अत्यंत सूक्ष्म होनेके कारण किसी भी इंद्रियके द्वारा ग्रहणमें नहीं आवे ऐसे कार्मण वर्गणाके द्रव्यको **सूक्ष्म** कहते हैं। और कार्मण वर्गणासे नीचे द्व्यणुकस्कंध पर्यंतके पुद्गलद्रव्यको **सूक्ष्मसूक्ष्म** कहते हैं।।७६।।

परमाणुका लक्षण

सव्वेसिं खंधाणं, जो अंतो तं वियाण परमाणू।
सो सस्सदो असद्दो, एक्को अविभागी मुत्तिभवो।।७७।।

समस्त स्कंधोंका जो अंतिम भेद है उसे परमाणु जानना चाहिए। वह परमाणु नित्य है, शब्दरहित है, एक है, अविभागी है, मूर्तस्कंधसे उत्पन्न हुआ है और मूर्त स्कंधका कारण भी है।।७७।।

परमाणुकी विशेषता

आदेशमत्तमुत्तो, धादुचदुक्कस्स कारणं जो दु।
सो णेओ परमाणू, परिणामगुणो समयसद्दो।।७८।।

जो गुण-गुणीके संज्ञादि भेदोंसे मूर्तिक है, पृथ्वी, जल, अग्नि और वायुका समान कारण है, परिणमनशील है और स्वयं शब्दरहित है उसे परमाणु जानना चाहिए।

परमाणुको मूर्त सिद्ध करनेमें कारण स्पर्श, रस, गंध और वर्ण हैं। ये स्पर्शादि विवक्षा मात्रसे ही परमाणुसे भिन्न हैं, यथार्थमें प्रदेशभेद नहीं होनेसे अभिन्न हैं। परमाणुसे पृथिवी, जल, अग्नि और वायुकी उत्पत्ति समानरूपसे होती है। पृथिवी आदिके परमाणुओंकी जातियाँ पृथक्-पृथक् नहीं हैं। यह परमाणु परिणमन स्वभाववाला है इसलिए उसमें कालकृत परिणमन होनेसे पृथ्वी जल आदि रूप परिणमन स्वयं हो जाता है। इसके सिवाय स्कंधमें जिस प्रकार शब्द होते हैं उस प्रकार परमाणुमें शब्द नहीं होते क्योंकि वह एकप्रदेशी होनेसे शब्दोत्पत्ति में कारण नहीं है।।७८।।

शब्दका कारण

सद्दो खंधप्पभवो, खंधो परमाणुसंगसंघादो।
पुट्ठेसु तेसु जायदि, सद्दो उप्पादगो णियदो।।७९।।

शब्द स्कंधसे उत्पन्न होता है, स्कंध अनेक परमाणुओंके समुदायको कहते हैं। जब वे स्कंध परस्पर स्पर्शको प्राप्त होते हैं तभी शब्द उत्पन्न होता है। शब्दके उत्पादक -- भाषावर्गणाके स्कंध निश्चित हैं अर्थात् शब्दकी उत्पत्ति भाषावर्गणाके स्कंधोंसे ही होती है, आकाशसे नहीं। [१]अथवा उस शब्दके दो भेद हैं -- उत्पादित -- पुरुषप्रयोगोत्पन्न और नियत -- वैश्रसिक -- मेघादिसे उत्पन्न होनेवाला शब्द।।७९।।

परमाणुकी अन्य विशेषताओंका वर्णन

णिच्चो णाणवकासो, ण सावकासो पदेसदो भेत्ता।
खंधाणं पि य कत्ता, पविहत्ता कालखंधाणं।।८०।।

वह परमाणु अपने एक प्रदेशरूप परिणमनसे कभी नष्ट नहीं होता इसलिए नित्य है। स्पर्शादि गुणोंको अवकाश देनेके कारण सावकाश है। द्वितीयादि प्रदेशोंको अवकाश न देनेके कारण अनवकाश है। समुदायसे बिछुड़कर अलग हो जाता है इसलिए स्कंधोंका भेदक है। समुदायमें मिल जाता है इसलिए स्कंधोंका कर्ता है और चूँकि मंदगतिके द्वारा आकाशके एक प्रदेशसे दूसरे प्रदेशपर पहुँचकर समयका विभाग करता है इसलिए कालका तथा द्रव्य क्षेत्र काल भावरूप चतुर्विध संख्याओंका विभाजक है।।८०।।

---

१. अथवा उप्पादिगो प्रायोगिकः पुरुषादिप्रयोगप्रभवः णियदो नियतो वैश्रसिको मेघादिप्रभवः। -- ज. वृ.

परमाणुमें रस गंध आदि गुणोंका वर्णन

एयरसगंधवण्णं, दो फासं सद्दकारणमसद्दं।
खंधंतरिदं दव्वं, परमाणुं तं वियाणेहि।।८०।।

जो द्रव्य एकरस, एकवर्ण, एकगंध और स्पर्शोंसे रहित है, शब्दका कारण है, स्वयं शब्दसे रहित है और स्कंधसे जुदा है अथवा स्कंधके अंतर्गत होनेपर भी स्वस्वभावकी अपेक्षा उससे पृथक् है उसे परमाणु जानो।।८१।।

पुद्गल द्रव्यका विस्तार

उवभोज्जमिंदियेहिं य, इंदिय काया मणो य कम्माणि।
जं हवदि मुत्तमण्णं, तं सव्वं पुग्गलं जाणे।।८२।।

पाँच इंद्रियोंके उपभोग्य विषय, पाँच इंद्रियाँ, शरीर, मन, कर्म तथा अन्य जो कुछ मूर्तिक द्रव्य है वह सब पुद्गल द्रव्य जानना चाहिए।।८२।।

धर्मास्तिकायका वर्णन

धम्मत्थिकायमरसं, अवण्णगंधं असद्दमप्फासं।
लोगोगाढं पुट्ठं, पिहुलमसंखादियपदेसं।।८३।।

धर्मास्तिकाय रसरहित है, वर्णरहित है, गंधरहित है, शब्दरहित है, स्पर्शरहित है, समस्त लोकमें व्याप्त है, अखंडप्रदेशी होनेसे स्पृष्ट है -- परस्पर प्रदेशव्यवधान रहित होनेसे निरंतर है, विस्तृत है और असंख्यातप्रदेशी है।।८३।।

अगुरुलघुगेहिं सया, तेहिं अणंतेहिं परिणदं णिच्चं।
गदिकिरियाजुत्ताणं, कारणभूदं सयमकज्जं।।८४।।

वह धर्मास्तिकाय अपने अनंत अगुरुलघु गुणोंके द्वारा निरंतर परिणमन करता रहता है, स्वयं गति क्रियासे युक्त जीव और पुद्गलोंकी गति क्रियाका कारण है और स्वयं अकार्य रूप है।।८४।।

उदयं जह मच्छाणं, गमणाणुग्गहयरं हवदि लोए।
तह जीवपुग्गलाणं, धम्मं दव्वं वियाणेहि।।८५।।

जिस प्रकार लोकमें जल मछलियोंके गमन करनेमें अनुग्रह करता है उसी प्रकार धर्मद्रव्य जीव और पुद्गल द्रव्यके गमन करनेमें अनुग्रह करता है।।८५।।

अधर्मास्तिकायका वर्णन

जह हवदि धम्मदव्वं, तह तं जाणेह दव्वमधमक्खं।
ठिदिकिरियाजुत्ताणं, कारणभूदं तु पुढवीव।।८६।।

जैसा धर्मास्तिकायका स्वरूप ऊपर कहा गया है वैसा ही अधर्मास्तिकायका स्वरूप जानना चाहिए। विशेषता इतनी ही है कि यह स्थितिक्रियासे युक्त जीव और पुद्गल द्रव्यके स्थिति करनेमें ठहरनेमें पृथिवीकी तरह कारण है।।८६।।

धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकायकी विशेषताओंका वर्णन

जादो अलोगलोगो, तेसिं सब्भावदो य गमणठिदी।
दो वि य मया विभत्ता, अविभत्ता लोयमेत्ता य।।८७।।

जिनके सद्भावसे लोक और अलोक हुआ है तथा गमन और स्थिति होती है वे धर्म और अधर्म दोनों ही अस्तिकाय परस्परविभक्त हैं -- जुदे-जुदे हैं, एक क्षेत्रावगाही होनेसे अविभक्त हैं और लोकप्रमाण हैं।।८७।।

ण य गच्छदि धम्मत्थी, गमणं ण करेदि अण्णदवियस्स।
हवदि गती सप्पसरो, जीवाणं पुग्गलाणं च।।८८।।

धर्मास्तिकाय न स्वयं गमन करता है और न प्रेरक होकर अन्य द्रव्यका गमन कराता है। वह केवल उदासीन रहकर ही जीवों और पुद्गलोंकी गतिका प्रवर्तक होता है।।८८।।

विज्जदि जेसिं गमणं, ठाणं पुण तेसिमेव संभवदि।
ते सगपरिणामेहिं दु, गमणं ठाणं च कुव्वंति।।८९।।

जिन जीव और पुद्गलोंका चलना तथा स्थिर होना होता है उन्हींका फिर स्थिर होना तथा चलना होता है। इससे सिद्ध होता है कि वे अपने-अपने उपादान कारणोंसे ही गमन तथा स्थिति करते हैं। धर्म और अधर्म द्रव्य केवल सहायक कारण हैं। यदि इन्हें प्रेरक कारण माना जाय तो जो जीव या पुद्गल चलते वे चलते ही जाते और जो ठहरते वे ठहरते ही रहते, क्योंकि विरुद्ध प्रवृत्तिसे दोनोंमें परस्पर मत्सर होना संभव है।।८९।।

आकाशास्तिकायका लक्षण

सव्वेसिं जीवाणं, सेसाणं तह य पुग्गलाणं च।
जं देदि विवरमखिलं, तं लोए हवदि आयासं।।९०।।

समस्त जीवों और पुद्गलोंको तथा धर्म, अधर्म और कालको जो संपूर्ण अवकाश देता है अर्थात् जिसके समस्त प्रदेशोंमें जीवादि द्रव्य व्याप्त हैं वह लोकके भीतरका आकाश है -- लोकाकाश है।।९०।।

लोक और अलोकका विभाग

जीवा पुग्गलकाला, धम्माधम्मा य लोगदो णण्णा।
तत्तो अणण्णमण्णं, आयासं अंतवदिरित्तं।।९१।।

जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और काल ये पाँचों लोकसे जुदे नहीं हैं -- इन पाँचोंका सद्भाव लोकमें ही पाया जाता है, परंतु आकाश लोकसे अपृथक् भी है और पृथक् भी है -- आकाश लोक और अलोक दोनोंमें व्याप्त है, वह अनंत है।।९१।।

आकाश ही को गति और स्थितिका कारण माननेमें दोष

आगासं अवगासं, गमणट्ठिदि कारणेहिं देदि जदि।
उड्ढं गदिप्पधाणा, सिद्धा चिट्ठंति किध तत्थ।।९२।।

यदि ऐसा माना जाय कि आकाश ही अवकाश देता है और आकाश ही गमन स्थितिका कारण है तो फिर ऊर्ध्वगतिमें जानेवाले सिद्ध परमेष्ठी लोकाग्रपर ही क्यों रुक जाते है? लोकाग्रके आगे आकाशका अभाव तो है नहीं, अतः उसके आगे भी उसका गमन होता रहना चाहिए, परंतु ऐसा होता नहीं है। इससे सिद्ध होता है कि आकाशका काम अवकाश देना ही है और धर्म तथा अधर्मका काम चलने और ठहरनेमें सहायता देना ही।।९२।।

जम्हा उवरिट्ठाणं, सिद्धाणं जिणवरेहिं पण्णत्तं।
तम्हा गमणट्ठाणं, आयासे जाण णत्थित्ति।।९३।।

यतः जिनेंद्र भगवानने सिद्धोंका अवस्थान लोकके अग्रभागमें ही बतलाया है, अतः आकाशमें गमन और स्थितिका हेतुत्व नहीं पाया जा सकता ऐसा जानना चाहिए।।९३।।

जदि हवदि गमणहेदू, आगासं ठाणकारणं तेसिं।
पसजदि अलोगहाणी, लोगस्स य अंतपरिवुड्ढी।।९४।।

यदि आकाशको जीव और पुद्गलोंकी गति और स्थितिका कारण माना जायेगा तो अलोककी हानि होगी और लोकके अंतकी वृद्धि भी। अलोकका व्यवहार मिट जायेगा और लोककी सीमा टूट जायेगी।।९४।।

तम्हा धम्माधम्मा, गमणट्ठिदिकारणाणि णागासं।
इदि जिणवरेहिं भणिदं, लोगसहावं सुणंताणं।।९५।।

'इसलिए धर्म और अधर्म द्रव्य ही गमन तथा स्थितिके कारण हैं, आकाश नहीं है' ऐसा जिनेंद्रदेवने लोकका स्वभाव सुननेवालोंसे कहा है।।९५।।

धर्म, अधर्म और आकाशकी एकरूपता तथा अनेकरूपता का वर्णन

धम्माधम्मागासा, अपुधब्भूदा समाणपरिणामा।
पुधगुवलद्धिविसेसा, करंति एगत्तमण्णत्तं।।९६।।

धर्म, अधर्म और लोकाकाश ये तीनों ही द्रव्य एकक्षेत्रावगाही होनेसे अपृथग्भूत हैं, समान परिणामवाले

हैं और अपने अपने विशेष स्वभावको लिये हुए हैं। ये तीनों व्यवहार नयकी अपेक्षा एक क्षेत्रावगाही होनेसे एक भावको और निश्चयनयकी अपेक्षा जुदी-जुदी सत्ता के धारक होनेसे भेदभावको धारण करते हैं।।९६।।

द्रव्योंमें मूर्त और अमूर्त द्रव्यका विभाग

आगासकालजीवा, धम्माधम्मा य मुत्तिपरिहीणा।
मुत्तं पुग्गलदव्वं, जीवो खलु चेदणो तेसु।।९७।।

आकाश, काल, जीव, धर्म और अधर्म ये पाँच द्रव्य मूर्ति -- रूप, रस, गंध, स्पर्शसे रहित हैं, केवल पुद्गल द्रव्य मूर्त है। उक्त छहों द्रव्योंमें जीवद्रव्य ही चेतन है, अवशिष्ट पाँच द्रव्य अचेतन हैं।।९७।।

जीव और पुद्गल द्रव्य ही क्रियावंत हैं

जीवा पुग्गलकाया, सह सक्किरिया हवंति ण य सेसा।
पुग्गलकरणा जीवा, खंधा खलु कालकरणा दु।।९८।।

जीवद्रव्य और पुद्गल द्रव्य ही क्रियासहित हैं, अवशिष्ट चार द्रव्य क्रियासहित नहीं हैं। जीवद्रव्य पुद्गल द्रव्यका निमित्त पाकर और पुद्गल स्कंध कालका निमित्त पाकर क्रियायुक्त होते हैं।।९८।।

मूर्तिक और अमूर्तिकका लक्षण

जे खलु इंदियगेज्झा, विसया जीवेहिं हुंति ते मुत्ता।
सेसं हवदि अमुत्तं, चित्तं उभयं समादियदि।।९९।।

जीव जिन पदार्थोंको इंद्रियद्वारा ग्रहण करते हैं -- जानते हैं वे मूर्तिक हैं और बाकीके अमूर्तिक हैं। मन मूर्तिक तथा अमूर्तिक दोनों प्रकारके पदार्थोंको जानता है।।९९।।

काल द्रव्यका कथन

कालो परिणामभवो, परिणामो दव्वकालसंभूदो।
दोण्हं एस सहावो, कालो खणभंगुरो णियदो।।१००।।

व्यवहारकाल जीव पुद्गलोंके परिणामसे उत्पन्न है तथा जीव पुद्गलोंका परिणाम निश्चय कालाणुरूप द्रव्यसे संभूत है। जीव और पुद्गलके परिणमनको देखकर व्यवहारकालका ज्ञान होता है और चूँकि विना निश्चयकालके जीव पुद्गलोंका परिणमन नहीं हो सकता इसलिए जीव पुद्गलके परिणमनसे निश्चयकालका ज्ञान होता है। दोनों कालोंका यही स्वभाव है। व्यवहारकाल पर्यायप्रधान होनेसे क्षणभंगुर है और निश्चयकाल द्रव्यप्रधान होनेसे नित्य है।।१००।।

कालो त्ति य ववदेसो, सब्भावपरूवगो हवदि णिच्चो।
उप्पण्णप्पद्धंसी, अवरो दीहंतरट्ठाई।।१०१।।

'यह काल है' इस प्रकार जिसका व्यपदेश -उल्लेख होता है वह अपना सद्भाव बतलाता हुआ

नित्यद्रव्य है। जिसप्रकार 'सिंह' यह शब्द सिंह शब्दवाच्य मृगेंद्र अर्थका प्ररूपक है उसी प्रकार 'काल' यह शब्द, कालशब्दवाच्य निश्चयकालद्रव्यका प्ररूपक है। दूसरा व्यवहारकाल उत्पन्न होता है और नष्ट होता है तथा समयोंकी परंपराकी अपेक्षा स्थायी भी है।।१०१।।

जीवादि द्रव्य अस्तिकाय हैं, काल अस्तिकाय नहीं है

एदे कालागासा, धम्माधम्मा य पुग्गला जीवा।
लब्भंति दव्वसण्णं, कालस्स दु णत्थि कायत्तं।।१०२।।

यही सब जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, काल और आकाश द्रव्य व्यपदेशको प्राप्त हैं -- द्रव्य कहलाते हैं, परंतु जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाशमें बहुप्रदेशी होनेसे जिसप्रकार अस्तिकायपना है उस प्रकार कालद्रव्यमें नहीं है। कालद्रव्य एकप्रदेशात्मक होनेसे अस्तिकाय नहीं है।।१०२।।

पंचास्तिकाय संग्रहके जाननेका फल

एवं पवयणसारं, पंचत्थियसंगहं वियाणित्ता।
जो मुयदि रागदोसे, सो गाहदि दुक्खपरिमोक्खं।।१०३।।

इस प्रकार पंचास्तिकायके संग्रहस्वरूप द्वादशांगके सारको जानकर जो राग और द्वेष छोड़ता है वह संसारके दुःखोंसे छुटकारा पाता है।।१०३।।

मुणिऊण एतदट्ठं, तदणुगमणुज्झदो णिहदमोहो।
पसमियरागद्दोसो, हवदि हदपरावरो जीवो।।१०४।।

इस शास्त्रके रहस्यभूत शुद्ध चैतन्यस्वरूप आत्माको जानकर जो पुरुष तन्मय होनेका प्रयत्न करता है वह दर्शनमोहको नष्ट कर राग-द्वेषका प्रशमन करता हुआ संसाररहित हो जाता है। पूर्वापर बंधसे रहित हो मुक्त हो जाता है।।१०४।।

इस प्रकार छह द्रव्य और पंचास्तिकायका वर्णन करनेवाला प्रथम श्रुतस्कंध समाप्त हुआ।

***

मोक्षमार्गके कथनकी प्रतिज्ञा

अभिवंदिऊण सिरसा, अपुणब्भवकारणं महावीरं।
तेसिं पयत्थभंगं, मग्गं मोक्खस्स वोच्छामि।।१०५।।

अब मैं मोक्षके कारणभूत श्री महावीरस्वामीको मस्तकद्वारा नमस्कार कर मोक्षके मार्गस्वरूप नव पदार्थोंको कहूँगा।।१०५।।

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रकी एकता मोक्षका मार्ग है

सम्मत्तणाणजुत्तं, चारित्तं रागदोसपरिहीणं।
मोक्खस्स हवदि मग्गो, भव्वाणं लद्धबुद्धीणं।।१०६।।

सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानसे युक्त राग-द्वेषरहित सम्यक् चारित्र मोक्षका मार्ग है। यह मोक्षका मार्ग स्वपरभेद विज्ञानी भव्यजीवोंको ही प्राप्त होता है।।१०६।।

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रका स्वरूप

सम्मत्तं सद्दहणं, भावाणं तेसिमधगमो णाणं।
चारित्तं समभावो, विसयेसु [1]विरूढमग्गाणं।।१०७।।

पूर्वोक्त जीवादि पदार्थोंका श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है, उन्हींका ज्ञान होना सम्यग्ज्ञान है और पंचेंद्रियोंके इष्ट अनिष्ट विषयोंमें समताभाव धारण करना सम्यक्चारित्र है। यह मोक्षमार्गमें दृढ़ताके साथ प्रवृत्ति करनेवालोंके ही होता है।।१०७।।

नौ पदार्थोंके नाम

जीवाजीवा भावा, पुण्णं पावं च आसवं तेसिं।
संवरणिज्जरबंधो, मोक्खो य हवंति ते अट्ठा।।१०८।।

जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध और मोक्ष ये नौ पदार्थ हैं।।१०८।।

जीवोंके भेद

जीवा संसारत्था, णिव्वादा चेदणप्पगा दुविहा।
उवओगलक्खणा वि य, देहादेहप्पवीचारा।।१०९।।

जीव दो प्रकारके हैं -- संसारी और मुक्त। दोनों ही चैतन्यस्वरूप और उपयोगलक्षणसे युक्त हैं। संसारी जीव शरीरसे युक्त हैं और मुक्त जीव शरीरसे रहित हैं।।१०९।।

स्थावरकायका वर्णन

पुढवी य उदगमगणी, वाउवणप्फदिजीवसंसिदा काया।
देंति खलु मोहबहुलं, फासं बहुगा वि ते तेसिं।।११०।।

पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति ये पुद्गलके पर्याय जीवके साथ मिलकर काय कहलाने

---

१. 'सम्यग्दर्शनज्ञानसन्निधानादमार्गेभ्यः समग्रेभ्यः परिच्युत्य स्वतत्त्वे विशेषेण रूढमार्गाणां सतामिन्द्रियानिन्द्रिय-विषयभूतेष्वर्थेषु' -- ता. वृ.। 'पूर्वोक्तसम्यक्त्वज्ञानबलेन समस्तान्यमार्गेभ्यः प्रच्युत्य विशेषेण रूढमार्गाणां परिज्ञातमोक्षमार्गाणाम्।' -- ज. वृ.

लगते हैं। यद्यपि ये अपने अवांतर भेदोंकी अपेक्षा बहुत प्रकारके हैं तथापि स्पर्शनेंद्रियावरणके क्षयोपशमसे युक्त एकेंद्रिय जीवोंको मोहबहुल स्पर्श प्राप्त कराते हैं।।११०।।

स्थावर और त्रसका विभाग

तित्थावरतणुजोगा, अणिलाणलकाइया य तेसु तसा।
मणपरिणामविरहिदा, जीवा एइंदिया णेया।।१११।।

उक्त पाँच प्रकारके जीवोंमें स्थावर शरीर प्राप्त होनेसे पृथिवीकायिक, जलकायिक और वनस्पतिकायिक ये तीन स्थावर कहलाते हैं और चलनात्मक शरीर प्राप्त होनेसे अग्निकायिक तथा वायुकायिक त्रस कहलाते हैं। ये सभी जीव मनसे रहित हैं और एकेंद्रिय हैं [१]।।१११।।

पृथिवीकायिक आदि स्थावर एकेंद्रिय ही हैं

एदे जीवणिकाया, पंचविहा पुढविकाइयादीया।
मणपरिणामविरहिदा, जीवा एगिंदिया भणिया।।११२।।

ये पृथिवीकायिक आदि पाँच प्रकारके जीव मनरहित हैं और एकेंद्रियजाति नामकर्मका उदय होनेसे सभी एकेंद्रिय कहे गये हैं।।११२।।

एकेंद्रियोंमें जीवके अस्तित्वका समर्थन

अंडेसु पवड्ढंता, गब्भत्था माणुसा य मुच्छगया।
जारिसया तारिसया, जीवा एगेंदिया णेया।।११३।।

जिस प्रकार अंडेमें बढ़नेवाले तिर्यंचों और गर्भमें स्थित तथा मूर्च्छित मनुष्योंमें बुद्धिपूर्वक बाह्य व्यापार न दिखनेपर भी जीवत्वका निश्चय किया जाता है उसी प्रकार एकेंद्रिय जीवोंके भी बाह्य व्यापार न दिखनेपर भी जीवत्वका निश्चय किया जाता है।।११३।।

द्वींद्रिय जीवोंका वर्णन

संबुक्कमादुवाहा, संखा सिप्पी अपादगा य किमी।
जाणंति रसं फासं, जे ते बेइंदिया जीवा।।११४।।

जो शंबूक, मातृवाह, शंख तथा पादरहित कृमि-लट आदि जीव केवल स्पर्श और रसको जानते हैं वे दो इंद्रिय जीव हैं।।११४।।

---

१. यहाँ अग्निकायिक और वायुकायिक जीवोंको जो त्रस कहा है वह केवल उनके शरीरकी चलनात्मक क्रिया देखकर ही कहा है। यथार्थमें इन सबकके त्रस नामकर्मका उदय न होकर स्थावर नामकर्मका उदय रहता है, अतः वे सभी स्थावर ही हैं।

त्रींद्रिय जीवोंका वर्णन

जूभागुंभीमक्कणपिपीलिया विच्छियादिया कीडा।
जाणंति रसं फासं, गंधं तेइंदिया जीवा।।११५।।

यतः जूँ, कुंभी, खटमल, चींटी तथा बिच्छू आदि कीड़े स्पर्श, रस और गंधको जानते हैं अतः वे तीन इंद्रिय जीव हैं।।११५।।

चतुरिंद्रिय जीवोंका वर्णन

उद्दंसमसयमक्खियमधुकरभमरा पतंगमादीया।
रूपं रसं च गंधं, फासं पुण ते वि जाणंति।।११६।।

डांस, मच्छर, मक्खी, मधुमक्खी, भ्रमर और पतंग आदि जीव स्पर्श, रस, गंध और रूपको जानते हैं अतः वे चार इंद्रिय जीव हैं।।११६।।

पंचेंद्रिय जीवोंका वर्णन

सुरणरणारयतिरिया, वण्णरसप्फास गंधसद्दण्हू।
जलचर थलचर खचरा, वलिया पंचेंदिया जीवा।।११७।।

देव, मनुष्य, नारकी और तिर्यंच वर्ण, रस, गंध, स्पर्श और शब्दको जानते हैं, अतः पाँच इंद्रिय हैं। पंचेंद्रिय तिर्यंच जलचर, स्थलचर और नभश्चरके भेदसे तीन प्रकारके हैं। सभी पंचेंद्रिय कायबल, वचनबल और यथासंभव मनोबलसे युक्त होते हैं।।११७।।

देवा चउण्णिकाया, मणुया पुण कम्मभोगभूमीया।
तिरिया बहुप्पयारा, णेरइया पुढविभेयगदा।।११८।।

देव भवनवासी, व्यंतर, ज्योतिष और वैमानिकके भेदसे चार प्रकारके हैं। मनुष्य कर्मभूमि और भोगभूमिके भेदसे दो प्रकारके हैं। तिर्यंच अनेक प्रकारके हैं और नारकी रत्नप्रभा आदि पृथिवियोंके भेदसे सात प्रकारके हैं।।११८।।

जीवोंका अन्य पर्यायोंमें गमन

खीणे पुव्वणिबद्धे, गदिणामे आउसे च ते वि खलु।
पापुण्णंति य अण्णं, गदिमाउस्सं सलेस्सवसा।।११९।।

पूर्वनिबद्ध गतिनामकर्म तथा आयुकर्मके क्षीण हो जानेपर वे जीव निश्चयसे अपनी-अपनी लेश्याओंके अनुसार अन्य गति और अन्य आयुको प्राप्त होते हैं।।११९।।

संसारी, मुक्त, भव्य तथा अभव्योंका वर्णन

एदे जीवणिकाया, देहप्पविचारमस्सिदा भणिदा।
देहविहूणा सिद्धा, भव्वा संसारिणो अभव्वा य।।१२०।।

ऊपर कहे हुए ये समस्त जीव शरीरके परिवर्तनको प्राप्त हैं -- एकके बाद एक शरीरको बदलते रहते हैं। सिद्ध जीव शरीरसे रहित हैं और संसारी जीव भव्य-अभव्यके भेदसे दो प्रकारके हैं।।१२०।।

इंद्रियादिक जीव नहीं हैं

ण हि इंदियाणि जीवा, काया पुण छप्पयार पण्णत्ता।
जं हवदि तेसु णाणं, जीवो त्ति य तं परूवंति।।१२१।।

न स्पर्शनादि इंद्रियाँ जीव हैं, न उल्लिखित पृथिवीकायादि छह प्रकारके काय जीव हैं, किंतु उनमें जो ज्ञान है-- चैतन्य है, वही जीव है ऐसा महापुरुष कहते हैं।।१२१।।

जीवकी विशेषता

जाणदि पस्सदि सव्वं, इच्छदि सुक्खं विभेदि दुक्खादो।
कुव्वदि हिदमहिदं वा, भुंजदि जीवो फलं तेसिं।।१२२।।

जीव सबको जानता है, सबको देखता है, सुखको चाहता है, दुःखसे डरता है, शुभ कार्य करता है, अशुभ कार्य करता है और उनके फल भी भोगता है।।१२२।।

एवमभिगम्म जीवं, अण्णेहिं वि पज्जएहिं बहुगेहिं।
अभिगच्छदु अज्जीवं, णाणंतरिदेहिं लिंगेहिं।।१२३।।

इस प्रकार और भी अनेक पर्यायोंके द्वारा जीवको जानकर ज्ञानसे भिन्न स्पर्श आदि चिह्नोंसे अजीवको जानो।।१२३।।

द्रव्योंमें चेतन और अचेतनका वर्णन

आगासकालपुग्गल,धम्माधम्मेसु णत्थि जीवगुणा।
तेसिं अचेदणत्तं भणिदं जीवस्स चेदणदा।।१२४।।

आकाश, काल, पुद्गल, धर्म और अधर्ममें जीवके गुण नहीं हैं, उनमें अचेतनता कही गयी है। चेतनता केवल जीवका ही गुण है।।१२४।।

अजीवका लक्षण

सुहदुक्खजाणणा वा, हिदपरियम्मं च अहिदभीरुत्तं।
जस्स ण विज्जदि णिच्चं, तं समणा विंति अज्जीवं।।१२५।।

जिसमें सुख-दुःखका ज्ञान, हितकी प्रवृत्ति और अहितका भय नहीं है, गणधरादि मुनि उसे अजीव

कहते हैं।।१२५।।

शरीररूप पुद्गल और जीवमें पृथक्त्वपनका वर्णन

संठाणा संघादा, वण्णरसप्फासगंधसद्दा य।
पोग्गलदव्वप्पभवा, होंति गुणा पज्जया य बहू।।१२६।।
अरसमरूवमगंधमव्वत्तं चेदणागुणमसद्दं।
जाण अलिंगग्गहणं, जीवमणिद्दिट्ठसंठाणं।।१२७।।

समचतुरस्र आदि संस्थान, औदारिकादि शरीरसंबंधी संघात, वर्ण, रस, गंध, स्पर्श और शब्द आदि जो अनेक गुण तथा पर्याय दिखती हैं वे सब पुद्गल द्रव्यसे समुत्पन्न हैं। परंतु जीव रसरहित है, रूपरहित है, गंधरहित है, अव्यक्त है, चेतनागुणसे युक्त है, शब्दरहित है, बाह्य इंद्रियोंके द्वारा अग्राह्य है और संस्थान -- आकाररहित है, ऐसा जानो।।१२६-१२७।।

जीवके संसारभ्रमणका कारण

जो खलु संसारत्थो, जीवो तत्तो दु होदि परिणामो।
परिणामादो कम्मं, कम्मादो होंति गदिसु गदी।।१२८।।
गदिमधिगदस्स देहो, देहादो इंद्रियाणि जायंते।
तेहिं दु विसयग्गहणं, तत्तो रागो व दोसो वा।।१२९।।
जायदि जीवस्सेवं, भावो संसारचक्कवालम्मि।
इदि जिणवरेहिं भणिदो, अणादिणिधणो सणिधणो वा।।१३०।।

जो यह संसारी जीव है उसके राग-द्वेष आदि अशुद्ध भाव होते हैं, उनसे ज्ञानावरणादि आठ कर्मोंका बंध होता है, कर्मोंसे एक गतिसे दूसरी गति प्राप्त होती है, गतिको प्राप्त हुए जीवके औदारिकादि शरीर होता है, शरीरसे इंद्रियाँ उत्पन्न होती हैं, इंद्रियोंसे विषयग्रहण होता है और उससे राग तथा द्वेष उत्पन्न होते हैं। संसाररूपी चक्रमें भ्रमण करनेवाले जीवके ऐसे अशुद्ध भाव अभव्यकी अपेक्षा अनादि अनंत और भव्यकी अपेक्षा अनादि-सांत होते हैं, ऐसा श्री जिनेंद्रदेवने कहा है।।१२८-१३०।।

जीवके शुभ-अशुभ भावोंका वर्णन

मोहो रागो दोसो, चित्तपसादो य जस्स भावम्मि।
विज्जदि तस्स सुहो वा, असुहो वा होदि परिणामो।।१३१।।

जिस जीवके हृदयमें मोह, राग, द्वेष और चित्तकी प्रसन्नता रहती है उसके शुभ अथवा अशुभ परिणाम अवश्य होते हैं अर्थात् जिसके हृदयमें प्रशस्त राग और चित्तकी प्रसन्नता होगी उसके शुभ परिणाम

होंगे और जिसके हृदयमें मोह, द्वेष, अप्रशस्त राग तथा चित्तका अनुत्साह होगा उससे अशुभ परिणाम होंगे।।१३१।।

पुण्य और पापका लक्षण

सुहपरिणामो पुण्णं, असुहो पावंति हवदि जीवस्स।
दोण्हं पोग्गलमेत्तो, भावो कम्मत्तणं पत्तो।।१३२।।

जीवका शुभ परिणाम पुण्य कहलाता है और अशुभ परिणाम पाप। इन दोनों ही परिणामों से कार्मणवर्गणारूप पुद्गल द्रव्य कर्म अवस्थाको प्राप्त होता है।।१३२।।

कर्म मूर्तिक हैं

जम्हा कम्मस्स फलं, विसयं फासेहिं भुंजदे णियदं।
जीवेण सुहं दुक्खं, तम्हा कम्माणि मुत्ताणि।।१३३।।

चूँकि कर्मोंके फलभूत सुख-दुःखादिके कारणरूप विषयोंका उपभोग स्पर्शनादि मूर्त इंद्रियोंके द्वारा होता है अतः कर्म मूर्त हैं।।१३३।।

पूर्व मूर्त कर्मोंके साथ नवीन मूर्त कर्मोंका बंध होता है

मुत्तो फासदि मुत्तं, मुत्तो मुत्तेण बंधमणुहवदि।
जीवो मुत्तिविरहिदो, गाहदि ते तेहिं उग्गहदि।।१३४।।

इस संसारी जीवके अनादि परंपरासे आये हुए मूर्त कर्म विद्यमान हैं। वे मूर्त कर्महो आगामी मूर्त कर्मका स्पर्श करते हैं। अतः मूर्त द्रव्य ही मूर्त द्रव्यके साथ बंधको प्राप्त होता है। जीव मूर्तिरहित है-- अमूर्त है, अतः यथार्थमें उसका कर्मोंके साथ संबंध नहीं होता। परंतु मूर्त कर्मोंके साथ संबंध होनेके कारण व्यवहार नयसे जीव मूर्तिक कहा जाता है। अतः वह रागादि परिणामोंसे स्निग्ध होनेके कारण मूर्त कर्मोंके साथ संबंधको प्राप्त होता है और कर्म जीवके साथ संबंधको प्राप्त होते हैं।।१३४।।

पुण्यकर्मका आस्रव किसके होता है?

रागो जस्स पसत्थो, अणुकंपासंसिदो य परिणामो।
चित्ते णत्थि कलुस्सं, पुण्णं जीवस्स आसवदि।।१३५।।

जिस जीवका राग प्रशस्त है, परिणाम दयासे युक्त हैं और हृदय कलुषतासे रहित है उसके पुण्यकर्मका आस्रव होता है।।१३५।।

प्रशस्त रागका लक्षण

अरहंतसिद्धसाहुसु, भत्ती धम्मम्मि जा य खलु चेट्ठा।
अणुगमणं पि गुरूणं, पसत्थरागो त्ति वुच्चंति।।१३६।।

अरहंत सिद्ध साधुओंमें भक्ति होना, शुभरागरूप धर्ममें प्रवृत्ति होना तथा गुरुओंके अनुकूल चलना यह सब प्रशस्त राग है, ऐसा पूर्व महर्षि कहते हैं।।१३६।।

अनुकंपाका लक्षण

तिसिदं बुभुक्खिदं वा, दुहिदं दट्ठूण जो दु दुहिदमणो।
पडिवज्जदि तं किवया, तस्सेसा होदि अणुकंपा।।१३७।।

जो भूखे-प्यासे अथवा अन्य प्रकारसे दुःखी प्राणियोंको देखकर स्वयं दुःखित होता हुआ दयापूर्वक उसे अपनाता है -- उसका दुःख दूर करनेका प्रयत्न करता है उसके अनुकंपा होती है।।१३७।।

कोधो व जदा माणो, माया लोभो व चित्तमासेज्ज।
जीवस्स कुणदि खोहं, कलुसो त्ति य तं बुधा वेंति।।

क्रोध, मान, माया और लोभ चित्तको प्राप्त कर आत्मामें जो क्षोभ उत्पन्न करते हैं, पंडित जन उसे कालुष्य कहते हैं।।१३८।।

पापास्रवके कारण

चरिया पमादबहुला, कालुस्सं लोलदा य विसयेसु।
परपरितावपवादो, पावस्स य आसवं कुणदि।।१३९।।

प्रमादसे भरी हुई प्रवृत्ति, कलुषता, विषयोंकी लोलुपता, दूसरोंको संताप देना और उसका अपवाद करना यह सब पापास्रवके कारण हैं।।१३९।।

सण्णाओ य तिलेस्सा, इंदियवसदा य [१] अत्तरुद्दाणि।
णाणं च दुप्पउत्तं, मोहो पावप्पदा होंति।।१४०।।

आहार आदि चार संज्ञाएँ, कृष्ण आदि तीन लेश्याएँ, पंचेंद्रियोंकी पराधीनता, आर्त-रौद्र ध्यान, असत्कार्यमें प्रयुक्त ज्ञान और मोह ये सब पापास्रव करानेवाले हैं।।१४०।।

पापास्रवको रोकनेवाले कारण

इंदियकसायसण्णा, णिग्गहिदा जेहिं सुट्ठुमग्गम्मि।
जावत्तावत्तेहिं, पिहियं पावासवं छिद्दं।।१४१।।

जो इंद्रिय, कषाय और संज्ञाओंको जितने अंशोंमें अथवा जितने समय तक समीचीन मार्गमें नियंत्रित कर लेते हैं उनके उतने ही अंशोंमें अथवा उतने ही समय तक पापास्रवका छिद्र बंद रहता है -- पापास्रवका संवर रहता है।।१४१।।

---

१. 'अट्टरुद्दाणि' इत्यपि पाठः।

शुद्धोपयोगी जीवोंका वर्णन

जस्स ण विज्जदि रागो, दोसो मोहो व सव्वदव्वेसु।
णासवदि सुहं असुहं, समसुहदुक्खस्स भिक्खुस्स।।१४२।।

जिसके सब द्रव्योंमें न राग है, न द्वेष है, न मोह है, सुख-दुःखमें मध्यस्थ रहनेवाले उस भिक्षुके शुभ और अशुभ -- दोनों प्रकारका आस्रव नहीं होता।।१४२।।

जस्स जदा खलु पुण्णं, जोगे पावं च णत्थि विरदस्स।
संवरणं तस्स तदा, सुहासुहकदस्स कम्मस्स।।१४३।।

समस्त परद्रव्योंका त्याग करनेवाले व्रती पुरुषके जब पुण्य और पाप दोनों प्रकारके योगोंका अभाव हो जाता है तब उसके पुण्य और पाप योगके द्वारा होनेवाले कर्मोंका संवर हो जाता है।।१४३।।

संवरजोगेहिं जुदो, तवेहिं जो चिट्ठदे बहुविहेहिं।
कम्माणं णिज्जरणं, बहुगाणं कुणदि सो णियदं।।१४६।।

जो संवर और शुद्धोपयोगसे युक्त होता हुआ अनेक प्रकारके तपोंमें प्रवृत्ति करता है वह निश्चय ही बहुतसे कर्मोंकी निर्जरा करता है।।१४४।।

जो संवरेण जुत्तो, अप्पट्ठपसाधगो हि अप्पाणं।
मुणिऊण झादि णियदं, णाणं सो संधुणोदि कम्मरयं।।१४५।।

आत्माके प्रयोजनको सिद्ध करनेवाला जो पुरुष संवरसे युक्त होता हुआ आत्माको ज्ञानस्वरूप जानकर उसका ध्यान करता है वह निश्चित ही कर्मरूप धूलिको उड़ा देता है -- नष्ट कर देता है।।१४५।।

जस्स ण विज्जदि रागो, दोसो मोहो व जोगपरिकम्मो।
तस्स सुहासुहडहणो, झाणमओ जायए अगणी।।१४६।।

जिसके न राग है, न द्वेष है, न मोह है और न ही योगोंका परिणमन है उसके शुभ अशुभ कर्मोंको जलानेवाली ध्यानरूपी अग्नि उत्पन्न होती है।

कर्मबंधका कारण

जं सुहमसुहमुदिण्णं, भावं रत्तो करेदि जदि अप्पा।
सो तेण हवदि बंधो, पोग्गलकम्मेण विविहेण।।१४७।।

यह आत्मा पूर्व कर्मोदयसे होनेवाले शुभ-अशुभ परिणामोंको करता है तब अनेक पौद्गलिक कर्मोंके साथ बंधको प्राप्त होता है।।१४७।।

जोगणिमित्तं गहणं, जोगो मणवयणकायसंभूदो।
भावणिमित्तो बंधो, भावो रदिरागदोसमोहजुदो।।१४८।।

कर्मोंका ग्रहण योगोंके निमित्तसे होता है, योग मन वचन काय के व्यापारसे होते हैं, बंध भावोंके निमित्तसे होता है और भाव रति राग द्वेष तथा मोहसे युक्त होते हैं। [मन वचन और कायके व्यापारसे आत्माके प्रदेशोंमें जो परिष्पंद पैदा होता है उसे योग कहते हैं, इस योगके निमित्तसे ही कर्मोंका ग्रहण -- आस्रव होता है। रति राग द्वेष मोहसे युक्त आत्माके परिणामको भाव कहते हैं, कर्मोंका बंध इसी भावके निमित्तसे होता है।]।।१४८।।

कर्मबंधके चार प्रत्यय -- कारण

हेदू चदुव्वियप्पो, अट्ठवियप्पस्स कारणं भणिदं।
तेसिं पि य रागादी, तेसिमभावे ण बज्झंति।।१४९।।

मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग ये चार प्रकारके प्रत्यय ज्ञानावरणादि आठ कर्मोंके कारण कहे गये हैं। उन मिथ्यात्व आदिका कारण रागादि विभाव हैं। जब इनका भी अभाव हो जाता है तब कर्मोंका बंध रुक जाता है।।१४९।।

आस्रवनिरोध -- संवरका वर्णन

[१]हेदुमभावे णियमा, जायदि णाणिस्स आसवणिरोधो।
आसवभावेण विणा, जायदि कम्मस्स दु णिरोधो।।१५०।।
कम्मस्साभावेण य, सव्वण्हू सव्वलोगदरसी य।
पावदि इंदियरहिदं, अव्वाबाहं सुहमणंतं।।१५१।। जुम्मं

रागादि हेतुओंका अभाव होनेपर ज्ञानी जीवके नियमसे आस्रवका निरोध हो जाता है, आस्रवके न होनेसे कर्मोंका निरोध हो जाता है और कर्मोंका निरोध होनेसे यह जीव सर्वज्ञ तथा सर्वदर्शी बनकर अतींद्रिय, अव्याबाध और अनंत सुखको प्राप्त हो जाता है।।१५०-१५१।।

ध्यान निर्जराका कारण है

दंसणणाणसमग्गं, झाणं णो अण्णदव्वसंजुत्तं।
जायदि णिज्जरहेदू, सभावसहिदस्स साधुस्स।।१५२।।

ज्ञान और दर्शनसे संपन्न तथा अन्य द्रव्योंके संयोगसे रहित ध्यान स्वभावसहित साधुके निर्जराका कारण होता है।।१५२।।

१.'हेदु अभावे' इति ज. वृ. सम्मतः पाठः।

मोक्षका कारण

जो संवरेण जुत्तो, णिज्जरमाणोघ[१] सव्वकम्माणि।
ववगदवेदाउस्सो, [२]मुयदि भवं तेण सो मोक्खो।।१५३।।

जो जीव संवरसे युक्त होता हुआ समस्त कर्मोंकी निर्जरा करता है और वेदनीय तथा आयुकर्मको नष्ट कर नामगोत्ररूप संसार अथवा वर्तमान पर्यायका भी परित्याग करता है उसके मोक्ष होता है।।१५३।।

इसप्रकार मोक्षके अवयवभूत सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानके विषयभूत नौ पदार्थोंका व्याख्यान करनेवाला द्वितीय महाधिकार समाप्त हुआ।

***

ज्ञान, दर्शन और चारित्रका स्वरूप

जीवसहावं णाणं, अप्पडिहददंसणं अणण्णमयं।
चरियं च तेसु णियदं, अत्थित्तमणिंदियं भणियं।।१५४।।

ज्ञान और अखंडित दर्शन ये दोनों जीवके अपृथग्भूत स्वभाव हैं। इन दोनोंका जो निश्चल और निर्मल अस्तित्व है वही चारित्र कहलाता है।।१५४।।

जीवके स्वसमय और परसमय की अपेक्षा भेद

जीवो सहावणियदो, अणियदगुणपज्जओघ [३]परसमओ।
जदि कुणदि सगं समयं, पब्भस्सदि कम्मबंधादो।।१५५।।

यद्यपि यह जीव निश्चयनयसे स्वभावमें नियत है तथापि परद्रव्योंके गुण पर्यायोंमें रत होनेके कारण परसमयरूप हो रहा है। जब यह जीव स्वसमयको करता है -- परद्रव्यसे हटकर स्वस्वरूपमें रत होता है तब कर्मबंधनसे रहित होता है।।१५५।।

परसमयका लक्षण

जो परदव्वम्मि सुहं, असुहं रागेण कुणदि जदि भावं।
सो सगचरित्तभट्ठो, परचरियचरो हवदि जीवो।।१५६।।

जो जीव रागसे परद्रव्यमें शुभ अथवा अशुभ भाव करता है वह स्वचरित्रसे भ्रष्ट होकर परचरित

---

२. 'णिज्जरमाणो य'

३. 'मुअदि' इति ज. वृ. संमतः पाठः। ३. 'पज्जओ य ' ज. वृ।

-- परसमयका आचरण करनेवाला होता है।।१५६।।

आसवदि जेण पुण्णं, पावं वा अप्पणोघ भावेण।
सो तेण परचरित्तो, हवदित्ति जिणा परूवंति।।१५७।।

आत्माके जिस भावसे पुण्य और पापकर्मका आस्रव होता है, उस भावसे यह जीव परचरित -- परसमयका आचरण करनेवाला होता है।।१५७।।

स्वसमयका लक्षण

जो सव्वसंगमुक्को, णण्णमणो अप्पणं सहावेण।
जाणदि पस्सदि णियदं, सो सगचरियं चरदि जीवो।।१५८।।

जो समस्त परिग्रहसे मुक्त हो परद्रव्यसे चित्त हटाता हुआ शुद्धभावसे आत्माको जानता और देखता है वही जीव स्वचरित -- स्वसमयका आचरण करता है।।१५८।।

स्वसमयका आचरण कौन करता है

चरियं चरदि सगं सो, जो परदव्वप्पभावरहिदप्पा।
दंसणणाणवियप्पं, अवियप्पं चरदि अप्पादो।।१५९।।

जो परद्रव्यमें आत्मभावनासे रहित होकर आत्माके ज्ञानदर्शनरूप विकल्पको भी निर्विकल्प -- अभेदरूपसे अनुभव करता है वह स्वचरित -- स्वसमयका आचरण करता है।।१५९।।

व्यवहार मोक्षमार्गका वर्णन

धम्मादीसद्दहणं, सम्मत्तं णाणमंगपुव्वगदं।
चिट्ठा तवं हि चरिया, ववहारो मोक्खमग्गो त्ति।।१६०।।

धर्म आदि द्रव्योंका श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है, अंग और पूर्वमें प्रवृत्त होनेवाला ज्ञान सम्यग्ज्ञान है और तप धारण करना सम्यक्चारित्र है। इन तीनोंका एक साथ मिलना व्यवहार मोक्षमार्ग है।।१६०।।

निश्चय मोक्षमार्गका वर्णन

णिच्चयणयेण भणिदो, तिहि तेहिं समाहिदो हु जो अप्पा।
ण कुणदि किंचि वि अण्णं, ण मुयदि सो मोक्खमग्गोत्ति।।१६१।।

निश्चयनयसे जो आत्मा सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रसे तन्मय हो अन्य परद्रव्यको न करता है, न छोड़ता है वही मोक्षमार्ग है ऐसा कहा गया है।।१६१।।

अभेद रत्नत्रयका वर्णन

जो चरदि णादि पिच्छदि, अप्पाणं अप्पणा अणण्णमयं।
सो चारित्तं णाणं, दंसणमिदि णिच्चिदो होदि।।१६२।।

अब तकके कथनसे यह निश्चित होता है कि जो जीव परपदार्थसे भिन्न आत्मस्वरूपमें चरण करता है, उसे ही जानता है और देखता है, वही सम्यक्चारित्र, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्दर्शन है।।१६२।।

जेण विजाणदि सव्वं, पेच्छदि सो तेण सोक्खमणुहवदि।
इदि तं जाणदि भविओ, अभव्वसत्तो ण सद्दहदि।।१६३।।

'चूँकि वह पुरुष -- आत्मा समस्त वस्तुओंको जानता है और देखता है इसलिए अनाकुलतारूप अनंत सुखका अनुभव करता है' ऐसा भव्य जीव जानता है -- श्रद्धान करता है परंतु अभव्य जीव ऐसा श्रद्धान नहीं करता।।१६३।।

सम्यग्दर्शनादि ही मोक्षमार्ग हैं

दंसणणाणचरित्ताणि, मोक्खमग्गोत्ति सेविदव्वाणि।
साधूहिं इदं भणिदं, तेहिं दु बंधो व मोक्खो वा।।१६४।।

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र मोक्षका मार्ग है, इसलिए सेवन करनेयोग्य हैं -- धारण करनेयोग्य हैं ऐसा साधुपुरुषोंने कहा है। और यह भी कहा है कि उक्त तीनों यदि पराश्रित होंगे तो उनसे बंध होगा और स्वाश्रित होंगे तो मोक्ष होगा।।१६४।।

पुण्य मोक्षका साक्षात् कारण नहीं है

अण्णाणादो णाणी, जदि मण्णदि सुद्धसंपओगादो।
हवदित्ति दुक्खमोक्खं, परसमयरदो हवदि जीवो।।१६५।।

यदि कोई ज्ञानी पुरुष अज्ञानवश ऐसा माने कि शुद्धसंप्रयोग -- अर्हद्भक्ति आदिके द्वारा दुःखोंसे मोक्ष होता है तो वह परसमयरत है।।१६५।।

अरहंतसिद्धचेदिय,पवयणगणणाणभत्तिसंपण्णो।
बंधदि पुण्णं बहुसो, ण दु सो कम्मक्खयं कुणदि।।१६६।।

अरहंत, सिद्ध, चैत्य, प्रवचन, मुनिसमूह और भेदविज्ञान आदिकी भक्तिसे युक्त हुआ जीव बहुतवार पुण्यबंध करता है, परंतु कर्मोंका क्षय नहीं करता।।१६६।।

अणुमात्र भी राग स्वसमयका बाधक है

जस्स हिदयेणुमत्तं, वा परदव्वम्मि विज्जदे रागो।
सो ण विजाणदि समयं, सगस्स सव्वागमधरो वि।।१६७।।

जिसके हृदयमें परद्रव्यसंबंधी थोड़ा भी राग विद्यमान है वह समस्त शास्त्रोंका पारगामी होनेपर भी स्वकीय समयको नहीं जानता है।।१६७।।

शुद्धात्मस्वरूपके सिवाय अन्यत्र विषयोंमें चित्तका भ्रमण संवरका बाधक है

धरिदुं जस्स ण सक्कं, चित्तुब्भामं विणा दु अप्पाणं।
रोधो तस्स ण विज्झदि, सुहासुहकदस्स कम्मस्स।।१६८।।

शुद्ध आत्मस्वरूपके सिवाय अन्य विषयोंमें होनेवाला जिसका चित्तसंचार नहीं रोका जा सकता हो उसके शुभ-अशुभ भावोंसे किये हुए कर्मोंका संवर नहीं हो सकता है।।१६८।।

तम्हा णिव्वुदिकामो, णिस्संगो णिम्ममो य हविय पुणो।
सिद्धेसु कुणदि भत्तिं, णिव्वाणं तेण पप्पोदि।। १६९।।

इसलिए मोक्षाभिलाषी पुरुष निष्परिग्रह और निर्ममत्व होकर परमात्म स्वरूपमें भक्ति करता है और उससे मोक्षको भी प्राप्त होता है।।१६९।।

भक्तिरूप शुभराग मोक्षप्राप्तिका साक्षात् कारण नहीं है

सपयत्थं तित्थयरं, अभिगतबुद्धिस्स सुत्तरोइस्स।
दूरतरं णिव्वाणं, संजमतवसंपओत्तस्स।।१७०।।

जीव-अजीव आदि नव पदार्थों तथा तीर्थंकर आदि पूज्य पुरुषोंमें जिसकी भक्तिरूप बुद्धि लग रही है उसको मोक्ष बहुत दूर है, भले ही वह आगमका श्रद्धानी और संयम तथा तपश्चरणसे युक्त क्यों न हो।।१७०।।

अरहंतसिद्धचेदिय,पवयणभत्तो परेण णियमेण।
जो कुणदि तवो कम्मं, सो सुरलोगं समादियदि।।१७१।।

जो अरहंत, सिद्ध, जिनप्रतिमा और जिनशास्त्रोंका भक्त होता हुआ उत्कृष्ट संयमके साथ तपश्चरण करता है वह नियमसे देवगति ही प्राप्त करता है।।१७१।।

वीतराग आत्मा ही संसारसागरसे पार होता है

तम्हा णिव्वुदिकामो, रागं सव्वत्थ कुणदि मा किंचि।
सो तेण वीदरागो, भवियो भवसायरं तरदि।।१७२।।

इसलिए मोक्षका इच्छुक भव्य किसी भी बाह्य पदार्थमें कुछ भी राग नहीं करे, क्योंकि ऐसा करनेसे ही वह वीतराग होता हुआ संसारसमुद्रसे तर सकता है।।१७२।।

समारोप वाक्य

मग्गप्पभावणट्ठं, पवयणभत्तिप्पचोदिदेण मया।
भणियं पवयणसारं, पंचत्थियसंगहं सुत्तं।।१७३।।

जिसमें द्वादशांगका रहस्य निहित है ऐसा यह पंचास्तिकायोंका संग्रह करनेवाला संक्षिप्त शास्त्र मैंने जिनवाणीकी भक्तिसे प्रेरित होकर मोक्षमार्गकी प्रभावनाके लिए ही कहा है।।१७३।।

इस प्रकार पंचास्तिकाय ग्रंथमें नव पदार्थ तथा मोक्षमार्गके विस्तारका वर्णन करनेवाला
द्वितीय श्रुतस्कंध समाप्त हुआ।

***

समयसार

*

समयसारः

श्री कुंदकुंद स्वामी समयसार ग्रंथके प्रारंभमें मंगलाचरण करते हुए ग्रंथ कहनेकी प्रतिज्ञा करते हैं --

वंदित्तु सव्वसिद्धे, [१]धुवमचलमणोवमं गइं[२] पत्ते।
वोच्छामि समयपाहुडमिणमो[३] [४]सुयकेवलीभणियं।।१।।

मैं ध्रुव, अचल अथवा निर्मल और अनुपम गतिको प्राप्त हुए समस्त सिद्धोंको नमस्कार कर हे भव्यजीवो! श्रुतकेवलियोंके द्वारा कहे हुए इस समयप्राभृत नामक ग्रंथको कहूँगा।।१।।

आगे समयके स्वसमय और परसमय के भेदसे दो भेद बतलाते हैं

जीवो चरित्तदंसण,णाणट्ठिउ[५] तं हि ससमयं जाण।
पुग्गलकम्म[६]पदेसट्ठियं च तं जाण परसमयं।।२।।

जो जीव दर्शन, ज्ञान और चारित्रमें स्थित है निश्चयसे उसे स्वसमय जानो और जो पुद्गल कर्मके प्रदेशोंमें स्थित है उसे परसमय जानो।।२।।

आगे अपने गुणोंके साथ एकत्वके निश्चयको प्राप्त हुआ शुद्ध आत्मा ही उपादेय है और कर्मबंधके साथ एकत्वको प्राप्त हुआ आत्मा हेय है अथवा स्वस्थान ही शुद्धात्माका स्वरूप है पर समय नहीं ... यह अभिप्राय मनमें रखकर कहते हैं --

एयत्तणिच्छयगओ[७], समओ सव्वत्थ सुंदरो लोए।
बंधकहा एयत्ते, तेण विसंवादिणी होई[८]।।३।।

स्वकीय शुद्धगुणपर्यायरूप परिणत अथवा अभेदरत्नत्रयरूप परिणमन करनेवाला एकत्वनिश्चयको प्राप्त हुआ समय ही -- आत्मा ही समस्त लोकमें सुंदर है। अतः एकत्वके प्रतिष्ठित होनेपर उस आत्मपदार्थके साथ बंधकी कथा विसंवादपूर्ण है -- मिथ्या है।

जबकि संसारके समस्त पदार्थ स्वस्वरूपमें निमग्न होकर पर पदार्थसे भिन्न हैं तब जीवद्रव्य पुद्गलद्रव्यके साथ संबंधको कैसे प्राप्त हो सकता है?।।३।।

---

१. अमलं अथवा अचलं इति पाठान्तरे ज. वृ.। २. गदिं ज. वृ. ३. ओ अहो भव्याः ज. वृ. ४. सुदकेवलीभणिदं ज. वृ.। ५. ...णाणट्ठिद ज. वृ.। ६. कम्मुवदेशट्ठिदं (पुद्गलकर्मोपदेशस्थितं। ज. वृ.। ७. .... गदो ज. वृ.। ८. होदि ज. वृ.।

आगे आत्मद्रव्यका एकत्वपना सुलभ नहीं है यह प्रकट करते हैं

सुपरिचिदाणुभूदा, सव्वस्स वि कामभोगबंधकहा।
एयत्तस्सुवलंभो, णवरि ण सुलहो विहत्तस्स [१]।।४।।

कामभोग और बंधकी कथा सभी जीवोंके श्रुत है, परिचित है और अनुभूत है, परंतु पर पदार्थोंसे पृथक् एकत्वकी प्राप्ति सुलभ नहीं है।

यह जीव काम, भोग और बंधसंबंधी चर्चा अनादिकालसे सुनता चला आ रहा है, अनादिसे उसका परिचय प्राप्त कर रहा है और अनादिसे ही उसका अनुभव करता चला आ रहा है, इसलिए उसकी सहसा प्रतीति हो जाती है। परंतु यह जीव संसारके समस्त पदार्थोंसे जुदा है और अपने गुणपर्यायोंके साथ एकताको प्राप्त हो रहा है ... यह कथा इसने आजतक नहीं सुनी, न उसका परिचय प्राप्त किया और न अनुभव ही। इसलिए वह दुर्लभ वस्तु बनी हुई है।।४।।

आगे आचार्य उस एकत्व विभक्त आत्माका निर्देश करनेकी प्रतिज्ञा करते हुए अपनी लघुता प्रकट करते हैं --

तं एयत्तविहत्तं [२] दाएहं अप्पणो सविहवेण।
जदि दाएज्ज पमाणं, चुक्किज्ज छलं ण घेत्तव्वं [३]।।५।।

मैं अपने निजविभवसे उस एकत्व विभक्त आत्माका दर्शन कराता हूँ। यदि दर्शन करा सकूँ -- उसका उल्लेख करा सकूँ तो प्रमाण मानना और कहीं चूक जाऊँ तो मेरा छल नहीं ग्रहण करना।।५।।

आगे वह शुद्धात्मा कौन है? यह कहते हैं --

ण वि होदि अप्पमेत्तो, ण पमत्तो जाणओ दु जो भावो।
एवं भणंति सुद्धं [४] णाओ [५] जो सो उ सो चेव।।६।।

जो ज्ञायक भाव है अर्थात् ज्ञानस्वरूप शुद्ध जीवद्रव्य है वह न अप्रमत्त है और न प्रमत्त ही है। इस प्रकार उसे शुद्ध कहते हैं, वह तो जैसा जाना गया है उसी रूप है।

जो जीव पर पदार्थके संबंधसे अशुद्ध हो रहा है उसीमें प्रमत्त और अप्रमत्तका विकल्प सिद्ध होता है, परंतु जो पर पदार्थके संबंधसे विविक्त है वह केवल ज्ञायक ही है -- ज्ञाता-दृष्टा ही है।।६।।

आगे जिस प्रकार प्रमत्त अप्रमत्तके विकल्पसे जीवमें अशुद्धपना आता है उसी प्रकार दर्शन, ज्ञान और चारित्र आत्माके हैं इस कथनसे भी आत्मामें अशुद्धपना सिद्ध होता है इस प्रश्नका उत्तर कहते हैं --

---

१. विभत्तस्स ज. वृ. । २ ... विभत्तं ज. वृ. । ३. घित्तव्वं ज. वृ. । ४. सुद्धा ज. वृ. ५. णादा ज. वृ. ।

ववहारेणुवदिस्सइ [१], णाणिस्स चरित्तदंसणं णाणं।
णवि णाणं व चरित्तं, ण दंसणं जाणगो सुद्धो।।७।।

ज्ञानी जीवके चारित्र है, दर्शन है, ज्ञान है यह व्यवहार नयसे कहा जाता है। निश्चयनयसे न ज्ञान है न चारित्र है और न दर्शन है। वह तो एक ज्ञायक ही है इसलिए शुद्ध कहा गया है।।७।।

आगे यदि व्यवहार नयसे पदार्थका वास्तविक स्वरूप नहीं कहा जाता तो उसे छोड़कर केवल निश्चय नयसे ही कथन करना चाहिए इस प्रश्नका उत्तर देते हैं --

जह णवि सक्कमणज्जो, अणज्जभासं विणा ण गाहेउं [२]।
तह ववहारेण विणा, परमत्थुवएसण[३]मसक्कं।।८।।

जिस प्रकार म्लेच्छजन म्लेच्छ भाषाके बिना वस्तुका स्वरूप ग्रहण करानेके लिए शक्य नहीं है, उसी प्रकार व्यवहारके बिना परमार्थका उपदेश शक्य नहीं है।।८।।

आगे व्यवहार नय परमार्थका प्रतिपादक किस प्रकार है? इस प्रश्नका उत्तर कहते हैं --

जो हि [४]सुएणहिगच्छइ, अप्पाणमिणं तु केवलं सुद्धं।
तं [५]सुयकेवलिमिसिणो, भणंति लोयप्पईवयरा।।९।।
जो [६]सुयणाणं सव्वं, जाणइ [७]सुयकेवलिं तमाहु जिणा।
णाणं अप्पा सव्वं, जम्हा [८]सुयकेवली तम्हा[९]।।१०।।

जो निश्चय कर श्रुतज्ञानसे इस अनुभव गोचर केवल एक शुद्ध आत्माको जानता है उसे लोकको प्रकाशित करनेवाले ऋषीश्वर श्रुतकेवली कहते हैं। [यह निश्चय नयसे श्रुतकेवलीका लक्षण है। अब व्यवहार नयसे श्रुतकेवलीका लक्षण कहते हैं।] जो समस्त श्रुतज्ञानको जानता है जिनेंद्रदेव उसे श्रुतकेवली कहते हैं। यतः सब ज्ञान आत्मा है अतः आत्माको ही जाननेसे श्रुतकेवली कहा जा सकता है।।९-१०।।

आगे व्यवहार नयका अनुसरण क्यों नहीं करना चाहिए? इसका समाधान कहते हैं --

ववहारोऽभूयत्थो, भूयत्थो देसिदो दु सुद्धणओ।
भूयत्थमस्सिदो खलु, सम्माइट्ठी हवइ जीवो।।११।।

---

१. दिस्सदि ज. वृ. २. गाहेदुं ज. वृ. । ३. देसण ... ज. वृ. । ४. सुदेण। ५. सुद -- । ६. सुद। ७. सुद। ८. सुद -- ज. वृ. । ९. जयसेन वृत्तिमें १० वीं गाथाके आगे निम्नांकित दो गाथाएँ अधिक व्याख्यात हैं --

णाणम्हि भावणा खलु कादव्वा दंसणे चरित्ते य।
ते पुण तिण्णि वि आदा तम्हा कुण भावणं आदे।।
जो आदभावणमिणं णिच्चुवजुत्तो मुणी समाचरदि।
सो सव्वदुक्खमोक्खं पावदि अचिरेण कालेण।।

व्यवहार नय अभूतार्थ है -- असत्यार्थ है और शुद्ध नय भूतार्थ -- सत्यार्थ कहा गया है। जो जीव भूतार्थ नयका आश्रय करता है वह निश्चयसे सम्यग्दृष्टि होता है।।११।।

आगे किन्हीं जीवोंके किसी समय व्यवहार भी प्रयोजनवान् है ऐसा कहते हैं --

सुद्धो सुद्धादेसो, णायव्वो[१] परमभावदरिसीहिं[२]।
ववहारदेसिदा पुण, जे दु अपरमे ट्ठिदा भावे।।१२।।

जो परमभाव अर्थात् उत्कृष्ट दशामें स्थित हैं उनके द्वारा शुद्ध तत्त्वका उपदेश करनेवाला शुद्ध निश्चय नय जाननेयोग्य है और जो अपरम भावमें स्थित है अर्थात् अनुत्कृष्ट दशामें विद्यमान हैं वे व्यवहार नयसे उपदेश करनेयोग्य हैं।।१२।।

आगे शुद्ध निश्चय नयसे जाने हुए जीवाजीवादि पदार्थ ही सम्यक्त्व हैं ऐसा कहते हैं --

भूयत्थेणाभिगदा, जीवाजीवा य पुण्यपावं च।
आसवसंवरणिज्जरबंधो मोक्खो य सम्मत्तं।।१३।।

निश्चय नयसे जाने हुए जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध और मोक्ष ही सम्यक्त्व हैं। यहाँ विषय-विषयीमें अभेदकी विवक्षा कर जीवाजीवादि पदार्थोंको ही सम्यक्त्व कह दिया है।।१३।।

आगे शुद्ध नयका स्वरूप कहते हैं --

जो पस्सदि अप्पाणं, अबद्धपुट्ठं अणण्णयं णियदं।
अविसेसमसंजुत्तं, तं सुद्धणयं वियाणीहि।।१४।।

जो नय आत्माको बंधरहित, परके स्पर्शसे रहित, अन्यपने रहित, चंचलता रहित, विशेष रहित और अन्य पदार्थके संयोग रहित अवलोकन करता है -- जानता है उसे शुद्ध नय जानो।।१४।।

आगे जो उक्त प्रकारकी आत्माको जानता है वही जिनशासनको जानता है ऐसा कहते हैं -

जो पस्सदि अप्पाणं, अबद्धपुट्ठं अणण्णमविसेसं।
[३]अपदेससुत्तमज्झं, पस्सदि जिणसासणं सव्वं[४]।१५।।

---

१. णादव्वो .... ज. वृ. । २. दरसीहिं ... ज. वृ. । ३. अपदिश्यतेऽर्थो येन स भवत्यपदेश शब्दो द्रव्यश्रुतमिति यावत्, सूत्रपरिच्छित्तिरूपं भावश्रुतं ज्ञानसमय इति, तेन शब्दसमयेन वाच्यं ज्ञानमयेन परिच्छेद्यमपदेशसूत्रमध्यं भण्यते इति। ज. वृ. ।

४. १५ वीं गाथाके आगे ज. वृत्तिमें निम्नांकित गाथा अधिक व्याख्यात है --

आदा खु मज्झ णाणे आदा में दंसणे चरित्ते य।
आदा पच्चक्खाणे आदा मे संवरे जोगे।।

जो पुरुष आत्माको अबद्धस्पृष्ट, अनन्य, अविशेष तथा उपलक्षणसे नियत और असंयुक्त देखता है वह द्रव्यश्रुत और भावश्रुतरूप समस्त जिनशासनको देखता है -- जानता है।।१५।।

आगे ज्ञान, दर्शन और चारित्र निरंतर सेवन करनेयोग्य हैं यह कहते हैं --

दंसणणाणचरित्ताणि, सेविदव्वाणि साहुणा णिच्चं।
ताणि पुण जाण तिण्णिवि[१], अप्पाणं चेव णिच्छयदो।।१६।।

साधु पुरुषके द्वारा सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र निरंतर सेवन करनेयोग्य हैं और उन तीनोंको ही निश्चयसे आत्मा जानो। यहाँ अभेद नयसे गुणगुणीमें अभेद विवक्षा कर सम्यग्दर्शनादिको तथा आत्माको एक रूप कहा है।।१६।।

आगे इसी बातको दृष्टांत और दार्ष्टांतके द्वारा स्पष्ट करते हैं --

जह णाम को वि पुरिसो, रायाणं जाणिऊण सद्दहदि।
तो तं अणुचरदि पुणो, अत्थत्थीओ पयत्तेण।।१७।।
एवं हि जीवराया, णादव्वो तह य सद्दहेदव्वो।
अणुचरिदव्वो य पुणो, सो चेव दु मोक्खकामेण।।१८।। जुम्मं

जिस प्रकार धनका चाहनेवाला कोई पुरुष पहले राजाको जानकर उसका श्रद्धान करता है और उसके बाद प्रयत्नपूर्वक उसीकी सेवा करता है। इसी प्रकार मोक्षको चाहनेवाले पुरुषके द्वारा जीवरूपी राजा जाननेयोग्य है, श्रद्धान करनेयोग्य है और फिर सेवा करनेयोग्य है।

भावार्थ -- जिस प्रकार राजाके ज्ञान, श्रद्धान और अनुचरण -- सेवाके बिना धन सुलभ नहीं है उसी प्रकार आत्माके ज्ञान, श्रद्धान और अनुचरणके बिना मोक्ष सुलभ नहीं है।।१७-१८।।

यह आत्मा कितने समय तक अप्रतिबुद्ध -- अज्ञानी रहता है? इस प्रश्नका उत्तर देते हैं --

कम्मे णोकम्मम्हि य, अहमिदि अहकं च कम्म णोकम्मं।
जा एसा खलु बुद्धी, अप्पडिबुद्धो हवदि ताव[२]।।१९।।

जब तक इस जीवके कर्म और नोकर्ममें 'मैं कर्म नोकर्मरूप हूँ और ये कर्म नोकर्म मेरे हैं' निश्चयसे ऐसी बुद्धि रहती है तब तक वह अप्रतिबुद्ध -- अज्ञानी रहता है।।१९।।

---

१. तिण्णवि ज. वृ. । २. उन्नीसवीं गाथाके आगे ज. वृ. में निम्न गाथाएँ अधिक व्याख्यात हैं

जीवेव अजीवे वा संपदि समयम्हि जत्थ उवजुत्तो।
तत्थेव बंधमोक्खो होदि समासेण णिद्दिट्ठो।।
जं कुणदि भावमादा कत्ता सो होदि तस्स भावस्स।
णिच्छयदो ववहारा पोग्गलकम्माण कत्तारं।।

आगे अप्रतिबुद्ध और प्रतिबुद्ध जीवका लक्षण कहते हैं --

अहमेदं एदमहं, अहमेदस्सेव होमि मम एदं।
अण्णं जं परदव्वं, सचित्ताचित्तमिस्सं वा।।२०।।
आसि मम पुव्वमेदं, अहमेदं चावि पुव्वकालम्हि।
होदिदि पुणोवि मज्झं, अहमेदं चावि होस्सामि।।२१।।
एयत्तु असंभूदं, आदवियप्पं करेदि संमूढो।
भूदत्थं जाणंतो, ण करेदि दु तं असंमूढो।।२२।।

'चेतन, अचेतन अथवा मिश्ररूप जो कुछ भी परपदार्थ हैं मैं उन रूप हूँ, वे मुझ रूप हैं, मैं उनका हूँ, वे मेरे हैं, पूर्व समयमें वे मेरे थे, मैं उनका था, भविष्यत्में वे फिर मेरे होंगे और मैं उनका होऊँगा' जो पुरुष इस प्रकार मिथ्या आत्मविकल्प करता है वह मूढ है -- अप्रतिबुद्ध है -- अज्ञानी है और जो परमार्थ वस्तु स्वरूपको जानता हुआ उस मिथ्या आत्मविकल्पको नहीं करता है वह अमूढ़ है -- प्रतिबुद्ध है -- ज्ञानी है।

भावार्थ -- जो आत्माको अन्यरूप अथवा अन्यका स्वामी मानता है वह अज्ञानी है और जो आत्माको आत्मरूप तथा परको पररूप जानता है वह ज्ञानी है।।२०-२२।।

आगे अप्रतिबुद्धको समझानेके लिए उपाय कहते हैं --

अण्णाणमोहिदमदी, मज्झमिणं भणदि पुग्गलं दव्वं।
बद्धमबद्धं च तहा, जीवो[१] [२]बहुभावसंजुत्तो।।२३।।
सव्वण्हुणाणदिट्ठो, जीवो उवओगलक्खणो णिच्चं।
किह सो पुग्गलदव्वीभूदो जं भणसि मज्झमिणं।।२४।।
जदि सो पुग्गलदव्वीभूदो जीवत्तमागदं इदरं।
तो [३]सक्को [४]वत्तुं जे, मज्झमिणं पुग्गलं दव्वं।।२५।।

जिसकी बुद्धि अज्ञानसे मोहित हो रही है ऐसा पुरुष कहता है कि यह शरीरादि बद्ध तथा धनधान्यादि अबद्ध पुद्गल द्रव्य मेरा है और यह जीव अनेक भावोंसे संयुक्त है। इसके उत्तरमें आचार्य कहते हैं कि सर्वज्ञके ज्ञानके द्वारा देखा हुआ तथा निरंतर उपयोगलक्षणवाला जीव पुद्गलद्रव्यरूप किस प्रकार हो सकता है? जिससे कि तू कहता है कि यह पुद्गल द्रव्य मेरा है। यदि जीव पुद्गलद्रव्यरूप होता है तो पुद्गल भी जीवपनेको प्राप्त हो जावेगा और तभी यह कहा जा सकेगा कि यह पुद्गलद्रव्य मेरा है। पर ऐसा

---

१. जीवे ज. वृ. । २. बहुभावसंजुत्ते ज. वृ. । ३. सक्का। ४. वुत्तुं ज. वृ. ।

है नहीं।।२३-२५।।

आगे अज्ञानी जीव कहता है --

जदि जीवो ण सरीरं, तित्थयरायरियसंथुदी चेव।
सव्वा वि हवदि मिच्छा, तेण दु आदा हवदि देहो।।२६।।

यदि जीव शरीर नहीं है तो तीर्थंकर तथा आचार्योंकी जो स्तुति है वह सभी मिथ्या होती है। इसलिए हम समझते हैं कि आत्मा शरीर ही है।।२६।।

आगे आचार्य समझाते हैं --

ववहारणयो भासदि, जीवो देहो य हवदि खलु इक्को।
ण दु णिच्छयस्स जीवो, देहो य कदावि एकट्ठो।।२७।।

व्यवहार नय कहता है कि जीव और शरीर एक हैं परंतु निश्चय नयका कहना है कि जीव और शरीर एक पदार्थ कभी नहीं हो सकते।।२७।।

आगे व्यवहार नयसे शरीरका स्तवन और शरीरके स्तघनसे आत्माका स्तवन होता है यह कहते हैं --

इणमण्णं जीवादो, देहं पुग्गलमयं थुणित्तु मुणी।
मण्णदि हु संथुदो, वंदिदो मए केवली भयवं।।२८।।

जीवसे भिन्न पुद्गलमय शरीरकी स्तुति कर मुनि यथार्थमें ऐसा मानता है कि मैंने केवली भगवानकी स्तुति की और वंदना की।।२८।।

आगे शरीरके स्तवनसे आत्माका स्तवन मानना निश्चयकी दृष्टिमें ठीक नहीं है --

तं णिच्छये ण जुज्जदि, ण सरीरगुणा हि होंति केवलिणो।
केवलिगुणे थुणदि जो, सो तच्चं केवलिं थुणदि।।२९।।

उक्त स्तवन निश्चयकी दृष्टिमें ठीक नहीं है, क्योंकि शरीरके गुण केवलीके गुण नहीं हैं। जो केवलीके गुणोंकी स्तुति करता है वही यथार्थमें केवलीकी स्तुति करता है।।२९।।

आगे प्रश्न है कि जब आत्मा शरीरका अधिष्ठाता है तब शरीरके स्तवनसे आत्माका स्तवन निश्चय नयकी दृष्टिमें ठीक क्यों नहीं है? इस प्रश्न के उत्तरमें कहते हैं कि --

णयरम्मि वण्णिदे जह, ण वि रण्णो वण्णणा कदा होदि।
देहगुणे थुव्वंते, ण केवलिगुणा थुदा होंति।।३०।।

जिसप्रकार नगरका वर्णन करनेपर राजाका वर्णन किया हुआ नहीं होता उसी प्रकार शरीरके गुणोंका स्तवन होनेपर केवलीके गुण स्तुत नहीं होते।।

जिस प्रकार नगर जुदा है, राजा जुदा है, उसी प्रकार शरीर जुदा है और उसमें रहनेवाला केवली जुदा है अतः शरीरके स्तवनसे केवलीका स्तवन निश्चय नय ठीक नहीं मानता है।।३०।।

आगे निश्चय नयसे स्तुति किस प्रकार होती है यह कहते हैं --

जो इंदिये जिणत्ता, णाणसहावाधिअं मुणदि आदं।
तं खलु जिदिंदियं ते, भणंति जे णिच्छिदा साहू।।३१।।

जो इंद्रियोंको जीतकर ज्ञानस्वभावसे अधिक आत्माको जानता है उसे नियमसे, जो निश्चय नयमें स्थित साधु हैं वे जितेंद्रिय कहते हैं।।३१।।

यही बात फिर कहते हैं --

जो मोहं तु जिणित्ता, णाणसहावाधियं मुणइ आदं।
तं जिदमोहं साहुं, परमट्ठवियाणया विंति।।३२।।

जो मोहको जीतकर ज्ञानस्वभावसे अधिक आत्माको जानता है उस साधुको परमार्थके जाननेवाले मुनि जितमोह कहते हैं।।३२।।

यही बात फिर कहते हैं --

जिदमोहस्स दु जइया, खीणो मोहो हविज्ज साहुस्स।
तइया हु खीणमोहो, भण्णदि सो णिच्छयविदूहिं।।३३।।

मोहको जीतनेवाले साधुका मोह जिस समय क्षीण हो जाता है -- नष्ट हो जाता है उस समय निश्चयके जाननेवाले मुनियोंके द्वारा वह क्षीणमोह कहा जाता है।।३३।।

आगे ज्ञान ही प्रत्याख्यान है यह कहते हैं --

सव्वे भावा जम्हा, पच्चक्खाई परेत्ति [1]णादूणं।
तम्हा पच्चक्खाणं, णाणं णियमा मुणेयव्वं[2]।।३४।।

चूँकि ज्ञानी जीव अपने सिवाय समस्त भावोंको पर हैं ऐसा जानकर छोड़ता है इसलिए ज्ञानको ही नियमसे प्रत्याख्यान जानना चाहिए।।३४।।

आगे इस विषय को दृष्टांतद्वारा स्पष्ट करते हैं --

जह णाम कोवि पुरिसो, परदव्वमिणंति जाणिदुं चयदि।
तह सव्वे परभावे, णाऊण विमुंचदे णाणी।।३५।।

जिस प्रकार कोई पुरुष 'यह परद्रव्य है' ऐसा जानकर उसे छोड़ देता है उसी प्रकार ज्ञानी जीव समस्त परभावोंको ये पर हैं ऐसा जानकर छोड़ देता है।।३५।।

१. णादूण ज. वृ. । २. मुणेदव्वं ज. वृ. ।

आगे परपदार्थोंसे भिन्नपना किस प्रकार प्राप्त होता है यह कहते हैं --

णत्थि मम को वि मोहो, बुज्झदि उवओग एव अहमिक्को।
तं मोहणिम्ममत्तं, समयस्स वियाणया विंति।।३६।।

जो ऐसा जाना जाता है कि 'मोह मेरा कोई भी नहीं है, मैं तो एक उपयोगरूप ही हूँ' उसे आगमके जाननेवाले मोहसे निर्ममत्वपना कहते हैं।।३६।।

आगे इसी बातको फिरसे कहते हैं --

णत्थि मम धम्मआदी, बुज्झदि उवओग एव अहमिक्को।
तं धम्मणिम्ममत्तं, समयस्स वियाणया विंति।।३७।।

जो ऐसा जाना जाता है कि धर्म आदि द्रव्य मेरे नहीं हैं, मैं तो एक उपयोगरूप हूँ उसे आगमके जाननेवाले धर्मादि द्रव्योंसे निर्ममत्वपना कहते हैं।।३७।।

आगे रत्नत्रयरूप परिणत आत्माका चिंतन किस प्रकार होता है यह कहते हैं --

अहमिक्को खलु सुद्धो, दंसणणाणमइयो सदाऽरूवी।
णवि अत्थि मज्झ किंचिवि, अण्णं परमाणुमित्तं पि।।३८।।

निश्चयसे मैं एक हूँ, शुद्ध हूँ, दर्शनज्ञानमय हूँ, सदा अरूपी हूँ, परमाणुमात्र भी अन्य द्रव्य मेरा कुछ नहीं है।।३८।।

इस प्रकार जीवाजीवाधिकारमें पूर्वरंग समाप्त हुआ।

***

आगे मिथ्यादृष्टि दुर्बुद्धि जीव आत्माको नहीं जानते यह कहते हैं --

अप्पाणमयाणंता, मूढा दु परप्पवादिणो केई।
जीवं अज्झवसाणं, कम्मं च तहा परूविंति।।३९।।
अवरे अज्झवसाणेसु, तिव्वमंदाणुभावगं जीवं।
मण्णंति तहा अवरे, णोकम्मं चावि जीवोत्ति।।४०।।
कम्मस्सुदयं जीवं, अवरे कम्माणुभायमिच्छंति।
तिव्वत्तणमंदत्तण,गुणेहिं जो सो हवदि जीवो।।४१।।
जीवो कम्मं उहयं, दोण्णि वि खलु केवि जीवमिच्छंति।
अवरे संजोगेण दु, कम्माणं जीवमिच्छंति।।४२।।

एवंविहा बहुविहा, परमप्पाणं वदंति दुम्मेहा।
ते ण परमट्ठवाइहि, णिच्छयवाईहिं णिद्दिट्ठा।।४३।।

आत्माको न जाननेवाले और परको आत्मा कहनेवाले कितने ही पुरुष अध्यवसानको तथा कर्मको जीव कहते हैं। अन्य कितने ही पुरुष अध्यवसान भावोंमें तीव्र अथवा मंद अनुभागगतको जीव कहते हैं। अन्य लोग नोकर्मको जीव मानते हैं। कोई कर्मके उदयको जीव मानते हैं। कोई ऐसी इच्छा करते हैं कि कर्मोंका जो अनुभाग तीव्र अथवा मंद भावसे युक्त है वह जीव है। कोई जीव तथा कर्म दोनों मिले हुएको ही जीव मानते है। और अन्य कोई कर्मोंके संयोगसे ही जीव इष्ट करते हैं -- मानते हैं। इस प्रकार बहुतसे दुर्बुद्धि जन परको आत्मा कहते हैं परंतु वे निश्चयवादियोंके द्वारा परमार्थवादी नहीं कहे गये हैं।।३९-४३।।

ऐसा कहनेवाले सत्यार्थवादी क्यों नहीं हैं? इसका उत्तर कहते हैं --

एए सव्वे भावा, पुग्गलदव्वपरिणामणिप्पण्णा।
केवलिजिणेहिं भणिया, कह ते जीवो त्ति [१]वच्चंति।।४४।।

ये सभी भाव पुद्गल द्रव्यके परिणमनसे उत्पन्न हुए हैं ऐसा केवली जिनेंद्र भगवानके द्वारा कहा गया है। फिर वे जीव हैं यह किस प्रकार कहा जा सकता है?।।४४।।

जबकि रागादि भाव चैतन्यसे संबंध रखते हैं तब उन्हें पुद्गलके किस प्रकार कहा जाता है? इसका उत्तर कहते हैं --

अट्ठविहं पि य कम्मं, सव्वं पुग्गलमयं जिणा विंति।
जस्स फलं तं [२]वुच्चइ, दुक्खं ति विपच्चमाणस्स।।४५।।

पककर उदयमें आनेवाले जिस कर्मका प्रसिद्ध फल दुःख कहा जाता है वह आठों प्रकारका कर्म सब पुद्गलमय है ऐसा जिनेंद्रदेव कहते हैं।

भावार्थ -- यह आत्मा कर्मका उदय होनेपर दुःखरूप परिणमता है और जो दुःखरूप भाव है वह अध्यवसान है। इसलिए दुःखरूप भावमें चेतनपनेका भ्रम उपजता है। वास्तवमें दुःखरूप भाव चेतन नहीं है, कर्मजन्य है अतः जड़ ही है।।४५।।

आगे शिष्य प्रश्न करता है कि यदि अध्यवसानादि भाव पुद्गलस्वभाव हैं तो उन्हें दूसरे ग्रंथोंमें जीवरूप क्यों कहा गया है? इसका उत्तर कहते हैं --

ववहारस्स दरीसण,मुवएसो वण्णिदो जिणवरेहिं।
जीवा एदे सव्वे, अज्झवसाणादओ भावा।।४६।।

१. उच्चंति ज. वृ. । २. वुच्चदि ज. वृ. ।

ये सब अध्यवसानादिक भाव जीव हैं ऐसा जिनेंद्रदेवने वर्णन किया है वह व्यवहार नयका मत है।।४६।।

आगे यह व्यवहार किस दृष्टांतमें प्रवृत्त हुआ यह कहते हैं --

राया हु णिग्गदो त्तिय, एसो बलसमुदयस्स आदेसो।
ववहारेण दु उच्चदि, तत्थेको णिग्गदो राया।।४७।।
एमेव य ववहारो, अज्झवसाणादिअण्णभावाणं।
जीवोत्ति कदो सुत्ते, तत्थेको णिच्छिदो जीवो।।४८।।

जैसे कोई राजा सेनासहित निकला। यहाँ सेनाके समूहको यह कहना कि 'यह राजा निकला है' व्यवहार नयसे कहा जाता है। यथार्थमें उनमें राजा तो एक ही निकला है। इसी प्रकार अध्यवसानादि भावोंको 'यह जीव है' ऐसा जो आगममें कहा गया है वह व्यवहार नयसे कहा गया है, निश्चयसे तो उनमें जीव एक ही है।।४७-४८।।

तो फिर जीवका वास्तविक स्वरूप क्या है? इसका उत्तर कहते हैं --

अरसमरूवमगंधं, अव्वत्तं चेदणागुणमसद्दं।
जाण अलिंगग्गहणं, जीवमणिद्दिट्ठसंठाणं।।४९।।

जो रसरहित है, रूपरहित है, गंधरहित है, अव्यक्त है, चेतनागुणसे सहित है, शब्दरहित है, जिसका किसी चिह्न अथवा इंद्रियद्वारा ग्रहण नहीं होता और जिसका आकार कहनेमें नहीं आता उसे जीव जीव जानो।।४९।।

आगे जीवके रसादि नहीं हैं यह कहते हैं --

जीवस्स णत्थि वण्णो, णवि गंधो णवि रसो णवि य फासो।
णवि रूवं ण सरीरं, ण वि संठाणं ण संहणणं।।५०।।
जीवस्स णत्थि रागो, णवि दोसो णेव विज्जदे मोहो।
णो पच्चया ण कम्मं, णोकम्मं चावि से णत्थि।।५१।।
जीवस्स णत्थि वग्गो, ण वग्गणा णेव फड्डया केई।
णो अज्झप्पट्ठाणा, णेव य अणुभायठाणाणि।।५२।।
जीवस्स णत्थि केई, जोयट्ठाणा य बंधठाणा वा।
णेव य उदयट्ठाणा, ण मग्गणट्ठाणया केई।।५३।।
णो ठिदिबंधट्ठाणा, जीवस्स ण संकिलेसठाणा वा।
णेव विसोहिट्ठाणा, णो संजमलद्धिठाणा वा।।५४।।

णेव य जीवट्ठाणा, ण गुणट्ठाणा य अत्थि जीवस्स।
जेण दु एदे सव्वे, पुग्गलदव्वस्स परिणामा।।५५।।

जीवके न वर्ण है, न गंध, न रस है न स्पर्श है, न [१]रूप है न शरीर है, न संस्थान है, न संहनन है, न राग है, न द्वेष है, न मोह है, न [२]प्रत्यय है, न कर्म है, न वर्ग है, न वर्गणा है, न कोई स्पर्धक है, न अध्यवसाय स्थान है, न अनुभाग स्थान है, न कोई योगस्थान है, न बंधस्थान है, न उदयस्थान है, न मार्गणास्थान है, न स्थितिबंधस्थान है, न संक्लेशस्थान है, न संयमलब्धिस्थान है, न जीवसमास है और न गुणस्थान है। क्योंकि ये सब पुद्गल द्रव्यके परिणाम हैं।।५०-५५।।

आगे शिष्य प्रश्न करता है कि यदि ये वर्णादि भाव जीवके नहीं हैं तो अन्य ग्रंथोंमें उन्हें जीवका क्यों कहा है? इसका समाधान करते हैं --

ववहारेण दु एदे, जीवस्स हवंति वण्णमादीया।
गुणठाणंताभावा, ण दु केई णिच्छयणयस्स।।५६।।

ये वर्णको आदि लेकर गुणस्थानपर्यंत भाव व्यवहारनयसे जीवके होते हैं, परंतु निश्चयनयसे कोई भी भाव जीवके नहीं हैं।।५६।।

आगे निश्चयनयसे वर्णादि जीवके क्यों नहीं हैं? इस प्रश्नका उत्तर कहते हैं --

एएहि य संबंधो, जहेव खीरोदयं मुणेदव्वो।
ण य हुंति तस्स ताणि दु, उवओगगुणाधिगो जम्हा।।५७।।

इन वर्णादि भावोंके साथ जीवका संबंध दूध और पानीके समान जानना चाहिए अर्थात् जिस प्रकार दूध और पानी पृथक् पृथक् होनेपर भी एक क्षेत्रावगाह होनेसे एकरूप मालूम होते हैं उसी प्रकार जीव और वर्णादि भाव पृथक् पृथक् होनेपर भी एक क्षेत्रावगाह होनेसे एकरूप जान पड़ते हैं। वास्तवमें वे उसके नहीं हैं, क्योंकि जीव उपयोगगुणसे अधिक है अर्थात् वर्णादिकी अपेक्षा जीवके उपयोगगुण अधिक रहता है जो कि जीवको वर्णादिसे पृथक् सिद्ध करता है।।५७।।

आगे दृष्टांतके द्वारा व्यवहार और निश्चयनयका अविरोध प्रकट करते हैं --

पंथे मुस्संतं पस्सिदूण लोगा भणंति ववहारी।
मुस्सदि एसो पंथो, ण य पंथो मुस्सदे कोई।।५८।।
तहजीवे कम्माणं, णोकम्माणं च पस्सिदुं वण्णं।
जीवस्स एस वण्णो, जिणेहि ववहारदो उत्तो।।५९।।

१. यत्स्पर्शादिसामान्यपरिणाममात्रं रूपं तन्नास्ति जीवस्य -- अमृताख्याति।

२. मिथ्यात्वाविरतिकषाययोगलक्षणाः प्रत्ययाः।।

[१]गंधरसफासरूवा, देहो संठाणमाइया जे य।
सव्वे ववहारस्स य, णिच्छयदण्हू ववदिसंति।।६०।।

जैसे मार्गमें लुटते पुरुषको देखकर लोग कहने लगते हैं कि यह मार्ग लुटता है। यथार्थमें विचार किया जाय तो कोई मार्ग नहीं लुटता। उसमें जानेवाले पुरुष ही लुटते हैं। वैसे ही जीवमें कर्मों और नोकर्मोंका वर्ण देखकर 'जीवका यह वर्ण है' ऐसा व्यवहारनय से जिनदेवने कहा है। इसी प्रकार गंध, रस, स्पर्श, रूप, शरीर, संस्थान आदि जो कुछ हैं वे सब व्यवहार नयसे जीवके हैं ऐसा निश्चयके देखनेवाले कहते हैं।।५८-६०।।

आगे वर्णादिके साथ जीवका तादात्म्य क्यों नहीं है? इसका उत्तर कहते हैं --

तत्थभवे जीवाणं, संसारत्थाण होंति वण्णादी।
संसारपमुक्काणं, णत्थि हु[२] वण्णादओ केई।।६१।।

वर्णादिक संसारमें स्थित जीवोंके उस संसारी दशामें होते हैं। संसारके छूटे हुए जीवोंके निश्चयसे वर्णादिक कुछ भी नहीं हैं।।

भावार्थ -- यदि वर्णादिके साथ जीवका तादात्म्य संबंध रहता तो मुक्त अवस्थामें भी उसका सद्भाव पाया जाना चाहिए, परंतु पाया नहीं जाता। इससे सिद्ध है कि जीवके साथ वर्णादिका तादात्म्य संबंध नहीं है, किंतु संयोग संबंध है जो कि पृथक् सिद्ध दो वस्तुमें होता है।।६१।।

आगे वर्णादिके साथ जीवका तादात्म्य संबंध मानने में अन्य दोष प्रकट करते हैं --

जीवो चेव हि एदे, सव्वे भावात्ति मण्णसे जदि हि।
जीवस्साजीवस्स य, णत्थि विसेसो दु दे कोई।।६२।।

यदि तू ऐसा मानता है कि ये वर्णादिक भाव सभी जीव हैं तो तेरे मतमें जीव और अजीवका कुछ भेद नहीं रहेगा।।६२।।

आगे संसारअवस्थामें ही जीवका वर्णादिके साथ तादात्म्य है ऐसा अभिप्राय होनेपर भी यही दोष आता है यह कहते हैं --

जदि संसारत्थाणं, जीवाणं तुज्झ होंति वण्णादी।
तम्हा संसारत्था, जीवा रूवित्तमावण्णा।।६३।।
एवं पुग्गलदव्वं, जीवो तह लक्खणेण मूढमदी।
णिव्वाणमुवगदो वि य, जीवत्तं पुग्गलो पत्तो।।६४।।

---

१. एवं रसगंधफासा संठाणादीय जे समुद्दिट्ठा ज. वृ. । २. दु ज. वृ. ।

यदि संसारमें स्थित जीवोंके तेरे मतमें वर्णादिक तादात्म्यरूपसे होते हैं तो इस कारण संसारस्थित जीव रूपीपनेको प्राप्त हो गये और ऐसा होनेपर पुद्गल द्रव्य जीव सिद्ध हुआ। तथा हे दुर्बुद्धे! लक्षणकी समानतासे निर्वाणको प्राप्त हुआ पुद्गल ही जीवपनेको प्राप्त हो जावेगा।

भावार्थ -- जिसका ऐसा अभिप्राय है कि संसार अवस्थामें जीवका वर्णादिके साथ तादात्म्य संबंध है उसके मतमें जीव संसारी दशामें रूपी हो जावेंगे और चूँकि रूपीपना पुद्गल द्रव्यका असाधारण लक्षण है इसलिए पुद्गल द्रव्य जीवपनेको प्राप्त हो जायेगा। इतना ही नहीं, ऐसा होनेपर मोक्ष अवस्थामें भी पुद्गल द्रव्य ही स्वयं जीव हो जायेगा, क्योंकि द्रव्य सभी अवस्थाओं में अपने अविनश्वर स्वभावसे उपलक्षित रहता है। इस प्रकार पुद्गलसे भिन्न जीवद्रव्यका अभाव होनेसे जीवका अस्तित्व ही समाप्त हो जायेगा। अतः निश्चित हुआ कि वर्णादिक भाव पुद्गल द्रव्यके हैं। जीवका उनके साथ तादात्म्यसंबंध न मुक्त दशामें सिद्ध होता और न संसारी दशामें।।६३-६४।।

आगे इसी बातको स्पष्ट करते हैं --

एक्कं च दोण्णि तिण्णि य, चत्तारि य पंच इंदिया जीवा।
बादर पज्जत्तिदरा, पयडीओ णामकम्मस्स।।६५।।
एदेहिं य णिव्वत्ता, जीवट्ठाणाउ करणभूदाहिं।
पयडीहिं पुग्गलमइहिं, ताहिं कहं भण्णदे जीवो।।६६।।

एकेंद्रिय, द्वींद्रिय, त्रींद्रिय, चतुरिंद्रिय, पंचेंद्रिय जीव तथा बादर, सूक्ष्म, पर्याप्त, अपर्याप्त ये सभी नामकर्मकी प्रकृतियाँ हैं। करणस्वरूप इन प्रकृतियोंके द्वारा ही जीवसमास रचे गये हैं। अतः उन पुद्गलरूप प्रकृतियोंके द्वारा रचे हुएको जीव कैसे कहा जा सकता है? ।।६५-६६।।

आगे कहते हैं कि ज्ञानधन आत्माको छोड़कर अन्यको जीव कहना सो सब व्यवहार है --

पज्जत्तापज्जत्ता, जे सुहुमा बादरा य जे चेव।
देहस्स जीवसण्णा, सुत्ते ववहारदो उत्ता।।६७।।

जो पर्याप्त और अपर्याप्त तथा सूक्ष्म और बादर आदि जितनी शरीरकी जीव संज्ञाएँ हैं वे सभी आगममें व्यवहार नयसे कही गयी हैं।।६७।।

आगे यह भी निश्चित ही है कि रागादि भाव जीव नहीं हैं यह कहते हैं --

मोहण कम्मस्सुदया, दु वण्णिया[1] जे इमे गुणट्ठाणा।
ते कह हवंति जीवा, जे[2] णिच्चमचेदणा उत्ता।।६८।।

---

१. वण्णिदा ज. वृ. । २. ते ज. वृ. ।

जो ये गुणस्थान हैं वे मोहकर्मके उदयसे होते हैं इस प्रकार वर्णन किये गये हैं। जो निरंतर अचेतन कहे गये हैं वे जीव कैसे हो सकते हैं?।।६८।।

इस प्रकार जीवाजीवाधिकार पूर्ण हुआ।

***

कर्तृकर्माधिकारः

आगे कहते हैं कि जब तक यह जीव, आत्मा और आस्रवकी विशेषताको नहीं जानता है तब तक अज्ञानी हुआ आस्रवमें लीन रहता हुआ कर्मबंध करता है --

जाव ण वेदि विसेसंतरं तु आदाऽसवाण दोण्हं पि।
अण्णाणी तावदु सो, कोधादिसु वट्टदे जीवो।।६९।।
कोधादिसु वट्टंतस्स, तस्स कम्मस्स संचओ होदी।
जीवस्सेवं बंधो, भणिदो खलु सव्वदरसीहिं।।७०।।

यह जीव जबतक आत्मा और आस्रव इन दोनोंमें विशेष अंतर नहीं जानता है तब तक वह अज्ञानी हुआ क्रोधादि आस्रवोंमें प्रवृत्त रहता है और क्रोधादि आस्रवोंमें प्रवृत्त रहनेवाले जीवके कर्मोंका संचय होता है। इस प्रकार जीवके कर्मोंका बंध सर्वज्ञ जिनेंद्रदेवने निश्चयसे कहा है।।६९-७०।।

आगे, इस कर्ताकर्मकी प्रवृत्तिका अभाव कब होता है? इस प्रश्नका उत्तर कहते हैं --

जइया इमेण जीवेण, अप्पणो आसवाण य तहेव।
णादं होदि विसेसंतरं तु तइया ण बंधो से।।७१।।

जिस समय इस जीवको आत्मा तथा कर्मोंका विशेष अंतर ज्ञात हो जाता है उसी समय उसके बंध नहीं होता है।।७१।।

आगे पूछते हैं कि ज्ञानभावसे ही बंधका अभाव किस प्रकार हो जाता है? इसका उत्तर कहते हैं --

णादूण आसवाणं, असुचित्तं च विवरीयभावं च।
दुक्खस्स कारणं ति य, तदो णियत्तिं कुणदि जीवो।।७२।।

आस्रवोंका अशुचिपना और विपरीतपना तथा ये दुःखके कारण हैं ऐसा जानकर यह जीव उनसे निवृत्ति करता है।।७२।।

आगे यह जीव किस विविध विधिसे निवृत्त होता है यह कहते हैं --

अहमिक्को खलु सुद्धो, णिम्ममओ णाणदंसण-समग्गो।
तम्हि ठिओ[१] तच्चित्तो, सव्वे एए[२] खयं णेमि।।७३।।

ज्ञानी जीव ऐसा विचार करता है कि मैं निश्चयसे एक हूँ, शुद्ध हूँ, ममतारहित हूँ और ज्ञान-दर्शनसे परिपूर्ण हूँ। उसी ज्ञान-दर्शन स्वभावमें स्थिर होता हुआ तथा उसीमें चित्त लगाता हुआ मैं इन सब क्रोधादि आस्रवोंको क्षय प्राप्त करता हूँ अर्थात् इसका नाश करता हूँ।।७३।।

आगे भेदज्ञान और आस्रवकी निवृत्ति एक ही समय होती है यह कहते हैं --

जीवणिबद्धा एए, अधुव अणिच्चा तहा असरणा य।
दुक्खा दुक्खफला त्ति य, णादूण णिवत्तए[३] तेहिं।।७४।।

जीवके साथ बँधे हुए ये आस्रव अध्रुव हैं, अनित्य हैं, शरणरहित हैं, दुःख हैं और दुःखके फलस्वरूप हैं। ऐसा जानकर ज्ञानी जीव उनसे निवृत्ति करता है।।७४।।

आगे ज्ञानी आत्माकी पहचान बतलाते हैं --

कम्मस्स य परिणामं, णोकम्मस्स य तहेव परिणामं।
ण करेइ एयमादा, जो जाणदि सो हवदि णाणी।।७५।।[४]

जो आत्मा कर्मके परिणामको और नोकर्मके परिणामको नहीं करता है, केवल जानता है, वह ज्ञानी है।

मोह तथा रागद्वेष आदि अंतर्विकार कर्मके परिणाम हैं और स्पर्श, रस, गंध, वर्ण, शब्द, नोकर्मके परिणाम हैं। ज्ञानी जीव अपने आपको इनका करनेवाला कभी नहीं मानता, वह सिर्फ उदासीन भावसे इसको जानता मात्र है। ज्ञानी जीव कर्म तथा नोकर्मके परिणामको जानता ही है, उनमें राग द्वेष आदिकी कल्पना नहीं करता है। यही उसकी पहचान है।।७५।।

आगे पौद्गलिक कर्मको जाननेवाले जीवका पुद्गलके साथ कर्तृ कर्मभाव है कि नहीं? इस प्रश्नका उत्तर कहते हैं --

णवि परिणमइ ण गिण्हइ, उप्पज्जदि ण परदव्वपज्जाये।
णाणी जाणंतो वि हु, पुग्गलकम्मं अणेयविहं।।७६।।

---

१. किदो ज. वृ. । २. एदे ज. वृ. । ३. णिवदत्ते तेसु ज. वृ. ।

४. ७५ वीं गाथाके बाद ज. वृ. में निम्न गाथा अधिक मिलती है --

कत्ता आदा भणिदो ण य कत्ता केण सो उवाएण।
धम्मादी परिणामे जो जाणदि सो हवदि णाणी।।

ज्ञानी जीव अनेक प्रकारके पौद्गलिक कर्मोंको जानता हुआ भी निश्चयसे परद्रव्य तथा परपर्यायस्वरूप न परिणमन करता है, न उन्हें ग्रहण करता है और न उनमें उत्पन्न ही होता है।।७६।।

आगे अपने परिणामको जाननेवाले जीवका पुद्गलके साथ कर्तृ-कर्मभाव है अथवा नहीं? इस प्रश्नका उत्तर कहते हैं --

णवि परिणमदि ण गिण्हदि, उप्पज्जदि ण परदव्वपज्जाये।
णाणी जाणंतो वि हु, सगपरिणामं अणेयविहं।।७७।।

ज्ञानी जीव अनेक प्रकारके अपने परिणामोंको जानता हुआ भी परद्रव्य तथा पर पर्यायरूप न परिणमन करता है, न उन्हें ग्रहण करता है और न उनमें उत्पन्न होता है।।७७।।

आगे पुद्गल कर्मके फलको जाननेवाले जीवका पुद्गलके साथ कर्तृकर्मभाव है अथवा नहीं? इस प्रश्नका उत्तर कहते हैं --

णवि परिणमदि ण गिण्हदि, उप्पज्जदि ण परदव्वपज्जाए।
णाणी जाणंतो वि हु, पुग्गलकम्मण्फलमणंतं।।७८।।

ज्ञानी जीव अनंत पुद्गलकर्मके फलको जानता हुआ भी पर द्रव्य और पर पर्यायस्वरूप न परिणमन करता है, न उन्हें ग्रहण करता है और न उनमें उत्पन्न ही होता है।७८।।

आगे जीवके परिणामको, अपने परिणामको और अपने परिणामके फलको नहीं जाननेवाले पुद्गल द्रव्यका जीवके साथ कर्तृकर्मभाव है अथवा नहीं? इस प्रश्नका उत्तर कहते हैं --

णवि परिणमदि ण गिण्हदि, उप्पज्जदि ण परदव्वपज्जाए।
पुग्गलदव्वं पि तहा, परिणमइ सएहिं भावेहिं।।७९।।

पुद्गल द्रव्य भी परद्रव्य तथा परपर्यायरूप न परिणमन करता है, न उन्हें ग्रहण करता है और न उनमें उत्पन्न होता है। वह जीवके ही समान अपने भावोंसे परिणमन करता है।।७९।।

आगे कहते हैं कि यद्यपि जीव और पुद्गलके परिणाममें परस्पर निमित्तमात्रपना है तथापि उन दोनोंमें कर्तृकर्मभाव नहीं है --

जीवपरिणामहेदुं, कम्मत्तं पुग्गला परिणमंति।
पुग्गलकम्मणिमित्तं, तहेव जीवो वि परिणमइ।।८०।।
णवि कुव्वइ कम्मगुणे, जीवो कम्मं तहेव जीवगुणे।
अण्णोण्णणिमित्तेण दु, परिणामं जाण दोण्हंपि।।८१।।
एएण कारणेण दु, कत्ता आदा सएण भावेण।
पुग्गलकम्मकयाणं, ण दु कत्ता सव्वभावाणं।।८२।।

जिस प्रकार पुद्गल द्रव्य, जिसमें जीवके रागादिक परिणाम निमित्त हैं ऐसे कर्मपनेरूप परिणमन करते हैं उसीप्रकार जीव भी, जिनमें पुद्गलादिक दर्शनमोह तथा चारित्रमोह आदि कर्म निमित्त हैं ऐसे रागादिभावरूप परिणमन करते हैं। फिर भी जीव कर्मके गुणोंको नहीं करता है और कर्म जीवके गुणोंको नहीं करता है। दोनोंका परिणमन परस्परके निमित्तसे होता है, ऐसा जानो। इस कारणसे आत्मा अपने भावोंका कर्ता है, पुद्गल कर्मके द्वारा किये हुए समस्त भावोंका कर्ता नहीं है।।८०-८२।।

आगे निश्चय नयसे आत्माके कर्तृकर्मभाव और भोक्तृभोग्यभावका वर्णन करते हैं --

णिच्छयणयस्स एवं, आदा अप्पाणमेव हि करेदि।
वेदयदि पुणो तं चेव, जाण अत्ता दु अत्ताणं।।८३।।

निश्चय नयका ऐसा मत है कि आत्मा अपनेको ही करता है और अपनेको ही भोगता है ऐसा जानो।।८३।।

आगे व्यवहार नयसे आत्माके कर्तृकर्मभाव और भोक्तृकर्मभावका उल्लेख करते हैं --

ववहारस्स दु आदा, पुग्गलकम्मं करेइ णेयविहं।
तं चेव पुणो वेयइ, पुग्गलकम्मं अणेयविहं।।८४।।

व्यवहार नयका यह मत है कि आत्मा अनेक प्रकारके पुद्गल कर्मको करता है और अनेक प्रकारके उसी पुद्गल कर्मको भोगता है।।८४।।

आगे व्यवहार नयके मतको दूषित ठहराते हैं --

जदि पुग्गलकम्ममिणं, कुव्वदि तं चेव वेदयदि आदा।
[१]दोकिरियावादित्तं, पसजदि सम्मं जिणावमदं।।८५।।

यदि जीव इस पुद्गलकर्मको करता है और उसीको भोगता है तो द्विक्रियावादित्वका प्रसंग आता है और वह प्रसंग जिनेंद्रदेवको संमत नहीं।

भावार्थ -- दो द्रव्योंकी क्रियाएँ भिन्न ही होती हैं। जड़की क्रिया चेतन नहीं करता और चेतन जड़की क्रियाएँ नहीं करता। जो पुरुष एक द्रव्यको दो क्रियाओंका कर्ता मानता है वह मिथ्यादृष्टि है, क्योंकि दो द्रव्योंकी क्रिया एक द्रव्यके मानना यह जिनका मत नहीं है।।८५।।

आगे दो क्रियाओंका अनुभव करनेवाला पुरुष मिथ्यादृष्टि क्यों है? इसका समाधान करते हैं --

जम्हा दु अत्तभावं, पुग्गलभावं च दोवि कुव्वंति।
तेण दु मिच्छादिट्ठी, दोकिरियावादिणो हुंति।।८६।।

१. दो किरिया।

जिस कारण आत्मभाव और पुद्गलभाव दोनोंको आत्मा करता है ऐसा कहते हैं इसलिए द्विक्रियावादी मिथ्यादृष्टि हैं।

भावार्थ -- जो ऐसा मानते हैं कि आत्मा आत्मपरिणाम और पुद्गलपरिणाम दोनोंका ही कर्ता है वे एकके दो क्रियाओंके कहनेवाले हैं। ऐसा नियम है कि उपादानरूपसे एक द्रव्य एक द्रव्यका ही कर्ता हो सकता है, अनेक द्रव्योंका नहीं। जो एक द्रव्यको अनेक द्रव्योंका कर्ता मानते हैं वे वस्तुमर्यादाके लोपी होनेसे मिथ्यादृष्टि हैं।।८६।।[१]

आगे मिथ्यात्व आदिके जीव-अजीवके भेदसे दो भेद हैं ऐसा वर्णन करते हैं --

मिच्छत्तं पुण दुविहं, जीवमजीवं तहेव अण्णाणं।
अविरदि जोगो मोहो, कोधादीया इमे भावा।।८७।।

और वह मिथ्यात्व दो प्रकारका है -- एक जीव मिथ्यात्व और दूसरा अजीव मिथ्यात्व। इसी प्रकार अज्ञान, अविरति, मोह तथा क्रोधादि कषाय ये सभी भाव जीव अजीवके भेदसे दो प्रकारके हैं।

भावार्थ -- द्रव्यकर्मके उदयसे जीवमें जो मिथ्यात्व आदिका विभावभावरूप परिणमन होता है वह जीव चेतनका विकार होनेसे जीवरूप है तथा उस विभावभावका कारण जो द्रव्यकर्म है वह पुद्गलात्मक होनेसे अजीवरूप है।।८७।।

आगे जो मिथ्यात्वादिक जीव अजीव कहे गये हैं वे कौन हैं? उनका पृथक् पृथक् वर्णन करते हैं --

पुग्गल कम्मं मिच्छं, जोगो अविरदि अण्णाणमज्जीवं।
उवओगो अण्णाणं, अविरइ मिच्छं च जीवो दु।।८८।।

जो मिथ्यात्व, योग, अविरति तथा अज्ञान अजीव हैं वे पुद्गल कर्म हैं और जो अज्ञान, अविरति तथा मिथ्यात्व जीव हैं वे उपयोगरूप हैं।।८८।।

मिथ्यात्व आदि भाव चैतन्य परिणामके विकार क्यों हैं? इसका उत्तर कहते हैं --

उवओगस्स अणाई, परिणामा तिण्णि मोहजुत्तस्स।
मिच्छत्तं अण्णाणं, अविरदिभावो य णायव्वो।।८९।।

मोहसे युक्त उपयोगके तीन परिणाम अनादिकालीन हैं। वे मिथ्यात्व, अज्ञान और अविरति भाव जानना चाहिए।।८९।।

---

१. ८६ वीं गाथाके आगे ज. वृ.में निम्नांकित गाथा अधिक व्याख्यात है --

पुग्गलकम्मणिमित्तं जह आदा कुणदि अप्पणो भावं।
पुग्गलकम्मणिमित्तं तह वेदयदि अप्पणो भावं।।

आगे आत्मा इन तीन प्रकारके परिणामरूप विकारोंका कर्ता है यह कहते हैं --

एएसु य उवओगो, तिविहो सुद्धो णिरंजणो भावो।
जं सो करेदि भावं, उवओगो तस्स सो कत्ता।।९०।।

मिथ्यात्व, अज्ञान और अविरति इन तीनोंका अनादि निमित्त होनेपर आत्माका उपयोग निश्चय नयसे शुद्ध, निरंजन तथा एक होकर मिथ्यात्व आदि तीन भावरूप परिणमन करता है। वह आत्मा इन तीनोंमेंसे जिस भावको करता है वह उसीका कर्ता होता है।।९०।।

आगे कहते हैं कि जब आत्मा मिथ्यात्व आदि तीन विकाररूप परिणमन करता है तब पुद्गल द्रव्य स्वयं कर्मरूप परिणमन हो जाता है --

जं कुणइ भावमादा, कत्ता सो होदि तस्स भावस्स।
कम्मत्तं परिणमदे, तम्हि सयं पुग्गलं दव्वं।।९१।।

आत्मा जिस भावको करता है वह उस भावका कर्ता होता है और आत्माके कर्ता होनेपर पुद्गल द्रव्य स्वयं कर्मरूप परिणत हो जाता है।।९१।।

आगे अज्ञान ही कर्मोंका करनेवाला है यह कहते हैं --

परमप्पाणं कुव्वं, अप्पाणं पि य परं करिंतो सो।
अण्णाणमओ जीवो, कम्माणं कारगो होदि।।९२।।

परको अपना और अपनेको परका करता हुआ अज्ञानी जीव ही कर्मोंका कर्ता होता है।।९२।।

आगे ज्ञानसे कर्म नहीं उत्पन्न होता यह कहते हैं --

परमप्पाणमकुव्वं, अप्पाणं पि य परं अकुव्वंतो।
सो णाणमओ जीवो, कम्माणमकारओ होदि।।९३।।

जो जीव परको अपना नहीं करता और अपनेको पर नहीं करता वह ज्ञानमय है। ऐसा जीव कर्मोंका कर्ता नहीं होता है।।९३।।

आगे अज्ञानसे कर्म क्यों उत्पन्न होते हैं? इसका उत्तर देते हैं --

तिविहो एसुवओगो, [१]अप्पवियप्पं करेइ कोहो हं।
कत्ता तस्सुवओगस्स, होइ सो अत्तभावस्स।।९४।।

यह तीन प्रकारका उपयोग अपनेमें विकल्प करता है कि मैं क्रोधरूप हूँ [२] उस अपने उपयोग भावका वह कर्ता होता है।।९४।।

---

१. अस्स वियप्पं ज. वृ. । २. एवमेव च क्रोधपदपरिवर्तनेनमानमायालोभमोहरागद्वेषकर्म नोकर्ममनोवचनकाय-श्रोत्रचक्षुर्घ्राणरसनस्पर्शसूत्राणि षोडश व्याख्येयानि ज. वृ. ।

आगे इसी प्रकार और भी विकल्प करता है यह कहते हैं --

तिविहो एसुवओगो, [१] अप्पवियप्पं करेदि धम्माई।
कत्ता तस्सुवओगस्स, होदि सो अत्तभावस्स।।९५।।

यह तीन प्रकारका उपयोग धर्मादि आत्म विकल्प करता है। अर्थात् उन्हें अपना मानता है उस अपने उपयोगभावका वह कर्ता होगा।।९५।।

आगे यह सब अज्ञानकी महिमा है यह कहते हैं --

एवं पराणि दव्वाणि, अप्पयं कुणदि मंदबुद्धीओ।
अप्पाणं अवि य परं, करेइ अण्णाणभावेण।।९६।।

इस प्रकार अज्ञानी जीव अज्ञानभावसे परद्रव्योंको अपनी करता है और आत्मद्रव्यको पररूप करता है।।९६।।

आगे इस कारण यह निश्चित हुआ कि ज्ञानसे जीवका कर्तापन नष्ट होता है, यह कहते हैं --

एदेण दु सो कत्ता, आदा णिच्छयविदूहिं परिकहिदो।
एवं खलु जो जाणदि, सो मुंचदि सव्वकत्तित्तं।।९७।।

निश्चयके जाननेवालोंने कहा है कि इस अज्ञानभावसे ही जीव कर्ता होता है। इसे जो जानता है वह यथार्थमें सब प्रकारका कर्तृत्व छोड़ देता है।।९७।।

व्यवहारी लोग जो ऐसा कहते हैं कि --

ववहारेण दु [२] एवं, करेदि घडपडरथाणि दव्वाणि।
करणाणि य कम्माणि य, णोकम्माणीह विविहाणि।।९८।।

आत्मा व्यवहारसे घट पट रथ इन वस्तुओंको, चक्षुरादि इंद्रियोंको, ज्ञानावरणादि कर्मोंको और इस लोकमें स्थित अनेक प्रकारके नोकर्मोंको -- शरीरोंको करता है।।९८।।

वह ठीक नहीं है --

जदि सो परदव्वाणि य, करिज्ज णियमेण तम्मओ होज्ज।
जम्हा ण तम्मओ तेण, सो ण तेसिं हवदि कत्ता।।९९।।

यदि वह आत्मा पर द्रव्योंको करे तो नियमपूर्वक तन्मय हो जाय, परंतु चूँकि तन्मय नहीं होता इसलिए वह उनका कर्ता नहीं है।

---

१. अस्स वियप्पं -- असद्विकल्पं ज. वृ. । २. अत्र आदा इत्यपि पाठः।

भावार्थ -- जिसका जिसके साथ व्याप्य-व्यापक भाव होता है वही उसका कर्ता होता है। आत्माका घट पटादि परवस्तुओंके साथ व्याप्य-व्यापक भाव त्रिकालमें भी नहीं होता अतः वह उनका कर्ता व्यवहारसे भी कैसे हो सकता है?।।९९।।

आगे कहते हैं कि निमित्त नैमित्तिक भावसे भी आत्मा घटादि पर द्रव्योंका कर्ता नहीं है --

जीवो ण करेदि घडं, णेव पडं णेव सेसगे दव्वे।
जोगुवओगा उप्पादगा य [१]तेसिं हवदि कत्ता।।१००।।

जीव न घटको करता है न पटको करता है और न शेष - अन्य द्रव्योंको करता है। जीवके योग और उपयोग ही घट पटादिके कर्ता हैं -- उनके उत्पादनमें निमित्त हैं। यह जीव उन्हीं योग और उपयोगका कर्ता है।।१००।।

आगे ज्ञानी ज्ञानका ही कर्ता है यह कहते हैं --

जे पुग्गल दव्वाणं, परिणामा होंति णाणआवरणा।
ण करेदि ताणि आदा, जो जाणदि सो हवदि णाणी।।१०१।।

जो ज्ञानावरणादिक पुद्गल द्रव्योंके परिणाम हैं उन्हें आत्मा नहीं करता है। जो उन्हें केवल जानता है वह ज्ञानी है।।१०१।।

आगे अज्ञानी भी परभावका कर्ता नहीं है यह कहते हैं --

जं भावं सुहमसुहं, करेदि आदा स तस्स खलु कत्ता।
तं तस्स होदि कम्मं, सो तस्स दु वेदगो अप्पा।।१०२।।

आत्मा जिस शुभ अशुभ भावको करता है निश्चयसे वह उसका कर्ता होता है। वह भाव उस आत्माका कर्म होता है और वह आत्मा उस भावरूप कर्मका भोक्ता होता है।।१०२।।

आगे कहते हैं कि परभाव किसीके द्वारा नहीं किया जा सकता --

जे जम्हि [२]गुणो दव्वे, सो अण्णम्हि दु ण संकमदि दव्वे।
सो अण्णमसंकंतो, कह तं परिणामए दव्वं।।१०३।।

जो गुण जिस द्रव्यमें रहता है वह अन्य द्रव्यमें संक्रांत नहीं होता -- बदलकर अन्य द्रव्यमें नहीं जाता। फिर अन्य द्रव्यमें संक्रांत नहीं होनेवाला गुण अन्य द्रव्यको कैसे परिणमा सकता है?।।१०३।।

इस कारण यह सिद्ध हुआ कि आत्मा पुद्गल कर्मोंका अकर्ता है यह कहते हैं --

दव्वगुणस्स य आदा, ण कुणदि पुग्गलमयम्हि कम्मम्हि।
तं उभयमकुव्वंतो, तम्हि कहं तस्स सो कत्ता।।१०४।।

१. सो तेसिं ज. वृ. । २. गुणे इत्यात्मख्यातिसम्मतः पाठः।

आत्मा पुद्गलमय कर्ममें द्रव्य तथा गुणको नहीं करता है फिर उसमें उन दोनोंको नहीं करता हुआ वह आत्मा उस पुद्गलमय कर्मका कर्ता कैसे हो सकता है?।।१०४।।

आगे, आत्मा द्रव्यकर्म करता है यह जो कहा जाता है वह केवल उपचार है ऐसा कहते हैं -

जीवम्हि हेदुभूदे, बंधस्स दु पस्सिदूण परिणामं।
जीवेण कदं कम्मं, भण्णदि उवयारमेत्तेण।।१०५।।

जीवके निमित्त रहते हुए कर्मबंधका परिणाम देखकर उपचारमात्रसे ऐसा कहा जाता है कि जीवने कर्म किये हैं।।१०५।।

आगे इस उपचारको दृष्टांत द्वारा स्पष्ट करते हैं --

जोधेहिं कदे जुद्धे, राएण कदंति जंपदे लोगो।
तह ववहारेण कदं, णाणावरणादि जीवेण।।१०६।।

जिस प्रकारसे योद्धाओंके द्वारा युद्ध किये जानेपर लोग ऐसा कहते हैं कि युद्ध राजाने किया है, इसी प्रकार व्यवहारसे ऐसा कहा जाता है कि जीवने ज्ञानावरणादि कर्म किये हैं।।१०६।।

इससे यह बात सिद्ध हुई कि --

उप्पादेदि करेदि य, बंधदि परिणामएदि गिण्हदि य।
आदा पुग्गलदव्वं, ववहारणयस्स वत्तव्वं।।१०७।।

आत्मा पुद्गल द्रव्यको उत्पन्न करता है, बाँधता है, परिणमाता है तथा ग्रहण करता है यह सब व्यवहार नय कहता है।।१०७।।

आगे इसी बातको दृष्टांतके द्वारा स्पष्ट करते हैं --

जह राया ववहारा, दोसगुणुप्पादगोत्ति आलविदो।
तह जीवो ववहारा, दव्वगुणुप्पादगो भणिदो।।१०८।।

जिस प्रकार राजा दोष और गुणका उत्पादक है ऐसा व्यवहारसे कहा गया है उसी प्रकार जीव, द्रव्य और गुणका उत्पादक है ऐसा व्यवहारसे कहा गया है।

भावार्थ -- जिस प्रकार प्रजामें दोष और गुण स्वयं उत्पन्न होते हैं परंतु व्यवहार ऐसा होता है कि ये दोष और गुण राजाने उत्पन्न किये हैं, उसी प्रकार पुद्गल द्रव्यमें ज्ञानावरणादि कर्मरूप परिणमन स्वयं होता है, परंतु व्यवहार ऐसा होता है कि ये ज्ञानावरणादि कर्म जीवने किये हैं।।१०८।।

आगे कोई प्रश्न करता है कि यदि पुद्गल कर्मको जीव नहीं करता है तो दूसरा कौन करता है? इसका उत्तर कहते हैं --

सामण्णपच्चया खलु, चउरो भण्णंति बंधकत्तारो।
मिच्छत्तं अविरमणं, कसायजोगा य बोद्धव्वा।।१०९।।
तेसिं पुणो वि य इमो, भणिदो भेदो दु तेरस वियप्पो।
मिच्छादिट्ठी आदी, जाव सजोगिस्स चरमंतं।।११०।।
एदे अचेदणा खलु, पुग्गलकम्मुदयसंभवा जम्हा।
ते जदि करंति कम्मं, णवि तेसिं वेदगो आदा।।१११।।
गुणसण्णिदा दु एदे, कम्मं कुव्वंति पच्चया जम्हा।
तम्हा जीवोऽकत्ता, गुणा य कुव्वंति कम्माणि।।११२।।

यथार्थमें चार सामान्य प्रत्यय बंधके करनेवाले कहे जाते हैं। वे चार मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग जानना चाहिए। फिर उन प्रत्ययोंका यह भेद तेरह भेदरूप कहा गया है जो कि मिथ्यादृष्टिको आदि लेकर सयोगकेवली पर्यंत है। ये सब भेद चूँकि पुद्गलकर्मके उदयसे होते हैं इसलिए यथार्थमें अचेतन हैं। यदि ये कर्म करते हैं तो आत्मा उनका भोक्ता नहीं होता। ये प्रत्यय गुणसंज्ञावाले हैं क्योंकि कर्म करते हैं। इससे यह सिद्ध हुआ कि जीव कर्मोंका अकर्ता है और गुण ही कर्म करते हैं।।१०९-११२।।

आगे कहते हैं कि जीव और प्रत्ययोंमें एकपना नहीं है --

जह जीवस्स अणण्णुवओगो कोहो वि तह जदि अणण्णो।
जीवस्साजीवस्स य, एवमणण्णत्तमावण्णं।।११३।।
एवमिह जो दु जीवो, सो चेव दु णियमदो तहाजीवो।
अयमेयत्ते दोसो, पच्चयणोकम्मकम्माणं।।११४।।
अह दे अण्णो कोहो, अण्णुवओगप्पगो हवदि चेदा।
जह कोहो तह पच्चय, कम्मं णोकम्ममवि अण्णं।।११५।।

जिस प्रकार उपयोग जीवसे अनन्य है -- अभिन्न है -- एकरूप है उसी प्रकार यदि क्रोध भी अनन्य माना जावे तो ऐसा माननेसे जीव तथा अजीवमें एकताकी आपत्ति आती है और इस आपत्तिसे इस लोकमें जो जीव है वही नियमसे अजीव हो जायेगा। क्रोधके साथ जीवकी एकता माननेमें जो दोष आता है वही दोष मिथ्यात्वादि चार प्रत्यय, नोकर्म तथा कर्मोंके साथ एकता माननेमें भी आता है। इस दोषसे बचनेके लिए यदि तुम्हारा यह मत हो कि क्रोध अन्य है और उपयोगात्मक आत्मा अन्य है तो जिस प्रकार क्रोधको अन्य मानते हो उसी प्रकार प्रत्यय, कर्म तथा नोकर्मको भी अन्य मानो।।११३-११५।।

आगे सांख्य मतानुयायी शिष्यके प्रति पुद्गलद्रव्यका परिणामस्वभाव सिद्ध करते हैं --

जीवेण सयं बद्धं, ण सयं परिणमदि कम्मभावेण।
जइ पुग्गलदव्वमिणं, अप्परिणामी तदा होदि।।११६।।
कम्मइयवग्गणासु य, अपरिणमंतीसु कम्मभावेण।
संसारस्स अभावो, पसज्जदे संखसमओ वा।।११७।।
जीवो परिणामयदे, पुग्गलदव्वाणि कम्मभावेण।
ते सयमपरिणमंते, कहं तु परिणामयदि चेदा [१]।।११८।।
अह सयमेव हि परिणमदि कम्मभावेण पुग्गलं दव्वं।
जीवो परिणामयदे, कम्मं कम्मत्तमिदि मिच्छा।।११९।।
णियमा कम्मपरिणदं, कम्मं चि य होदि पुग्गलं दव्वं।
तह तं णाणावरणाइपरिणदं मुणसु तच्चेव।।१२०।।

पुद्गल द्रव्य जीवमें न तो स्वयं बँधा है और न कर्मभावसे स्वयं परिणमन करता है, यदि ऐसा माना जाय तो वह अपरिणामी हो जायेगा और कार्मण वर्गणाएँ जब कर्मरूप परिणमन नहीं करेंगी तो संसारका अभाव हो जायेगा अथवा सांख्यमतका प्रसंग आ जायेगा। इससे बचनेके लिए यदि यह मानो कि जीव, पुद्गल द्रव्यको कर्मरूप परिणमन कराता है तो जो पुद्गल द्रव्य स्वयं परिणमन नहीं करता है उसे आत्मा कैसे परिणमन करा सकता है? यदि यह कहो कि पुद्गल द्रव्य कर्मरूप स्वयं परिणमन करता है तो यह कहना मिथ्या हो जायेगा कि जीव कर्मको कर्मत्व रूपसे परिणमन कराता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि पुद्गल द्रव्य कर्मरूप परिणत हुआ नियमसे कर्मरूप होता है। ऐसा होनेपर ज्ञानावरणादिरूप परिणत पुद्गलद्रव्यको ही कर्म जानो।।११६-१२०।।

आगे सांख्यमतानुयायी शिष्यके प्रति जीवका परिणामीपना सिद्ध करते हैं --

ण सयं बद्धो कम्मे, ण सयं परिणमदि कोहमादीहिं।
जइ एस तुज्झ जीवो, अप्परिणामी तदा होदी।।१२१।।
अपरिणमंतम्हि सयं, जीवे कोहादिएहिं भावेहिं।
संसारस्स अभावो, पसज्जदे संखसमओ वा।।१२२।।
पुग्गलकम्मं कोहो, जीवं परिणामएदि कोहत्तं।
तं सयमपरिणमंतं, कहं णु परिणामयदि कोहो।।१२३।।

---

१. णाणी इत्यपि पाठः।

अह समयप्पा परिणमदि, कोहभावेण एस दे बुद्धी।
कोहो परिणामयदे, जीवं कोहत्तमिदि मिच्छा।।१२४।।
कोहुवजुत्तो कोहो, माणुवजुत्तो य माणमेवादा।
माउवजुत्तो माया, लोहुवजुत्तो हवदि लोहो।।१२५।।[१]

यदि तेरा ऐसा मत है कि यह जीव कर्मोंमें न स्वयं बँधा है और न क्रोधादिरूप स्वयं परिणमन करता है तो अपरिणामी हो जायेगा और जब जीव क्रोधादिरूप स्वयं परिणमन नहीं करेगा तो संसारका अभाव हो जायेगा अथवा सांख्यमतका प्रसंग आ जायेगा। इससे बचनेके लिए यदि यह कहेगा कि पुद्गलकर्मरूप क्रोध, जीवको क्रोधरूप परिणमाता है तो उसके उत्तरमें कहना यह है कि जब जीव स्वयं परिणमन नहीं करता है तब उसे क्रोध कैसै परिणमायेगा? अथवा तुम्हारा यह अभिप्राय हो कि आत्मा स्वयं क्रोधभावसे परिणमन करता है तो क्रोध नामक द्रव्यकर्म, जीवको क्रोधरूप परिणमाता है यह कहना मिथ्या सिद्ध होगा। इस कथनसे यह बात सिद्ध हुई कि जब आत्मा क्रोधसे उपयुक्त होता है तब क्रोध ही है, जिस समय मानसे उपयुक्त होता है उस समय मान ही है, जब मायासे उपयुक्त होता है तब माया ही है और जब लोभसे उपयुक्त होता है तब लोभ ही है।।१२१-१२५।।

आगे कहते हैं कि आत्मा जिस समय जो भाव करता है उस समय वह उसका कर्ता होता है --

जं कुणदि भावमादा, कत्ता सो होदि तस्स कम्मस्स[२]**।**
णाणिस्स दु णाणमओ, अण्णाणमओ अणाणिस्स।।१२६।।

आत्मा जिस भावको करता है उस भावरूप कर्मका कर्ता होता है। वह भाव ज्ञानी जीवके ज्ञानमय होता है और अज्ञानी जीवके अज्ञानमय होता है।।१२६।।

आगे ज्ञानमय भावसे क्या होता है और अज्ञानमय भावसे क्या होता है? इसका उत्तर कहते

---

१. १२५ वीं गाथाके आगे ज. वृ. में निम्नलिखित ३ गाथाओंकी व्याख्या अधिक की गयी है --

जो संगं तु मुइत्ता जाणदि उवओगमप्पगं सुद्धं।
तं णिसंगं साहुं परमट्ठवियाणया विंति।।
जो मोहं तु मुइत्ता णाणसहावाधियं मुणदि आदं।
तं जिदमोहं साहुं परमट्ठवियाणया विंति।।
जो धम्मं तु मुइत्ता जाणदि उवओगमप्पगं सुद्धं।
तं धम्मसंगमुक्कं परमट्ठवियाणया विंति।।

२. भावस्स ज. वृ.

हैं --

अण्णाणमओ भावो, अण्णाणिओ कुणदि तेण कम्माणि।
णाणमओ णाणिस्स दु, ण कुणदि तम्हा दु कम्माणि।।१२७।।

अज्ञानी जीवके अज्ञानमय भाव होता है इसलिए वह कर्मोंको करता है और ज्ञानी जीवके ज्ञानमय भाव होता है इसलिए कर्मोंको नहीं करता है।।१२७।।

आगे ज्ञानी जीवके ज्ञानमय ही भाव होता है, अन्य नहीं। इसी प्रकार अज्ञानी जीवके अज्ञानमय ही भाव होता है, अन्य नहीं। ऐसा नियम क्यों है? इसका उत्तर कहते हैं --

णाणमया भावाओ, णाणमया चेव जायदे भावो।
जम्हा तम्हा णाणिस्स, सव्वे भावा हु णाणमया।।१२८।।
अण्णाणमया भावा, अण्णाणो चेव जायए भावो।
जम्हा तम्हा भावा, अण्णाणमया अणाणिस्स।।१२९।।

चूँकि ज्ञानमय भावसे ज्ञानमय भावही उत्पन्न होता है इसलिए ज्ञानी जीवके सभी भाव ज्ञानमय ही होते हैं और अज्ञानमय भावसे अज्ञानमय भाव ही उत्पन्न होता है इसलिए अज्ञानी जीवके सभी भाव अज्ञानमय ही होते हैं।।१२८-१२९।।

आगे यही बात दृष्टांतसे सिद्ध करते हैं --

कणयमया भावादो, जायंते कुंडलादयो भावा।
अयमयया भावादो, तह जायंते तु कडयादी।।१३०।।
अण्णाणमया भावा, अणाणिणो बहुविहा वि जायंते।
णाणिस्स दु णाणमया, सव्वे भावा तहा होंति।।१३१।।

जिस प्रकार सुवर्णमय भावसे सुवर्णमय कुंडलादि भाव होते हैं और लोहमय भावसे लोहमय कटकादि भाव होते हैं उसी प्रकार अज्ञानमय भावसे अनेक प्रकारके अज्ञानमय भाव होते हैं और ज्ञानीके ज्ञानमय भावसे सभी ज्ञानमय भाव होते हैं।।१३०-१३१।।

आगे अज्ञान आदिका स्वरूप बतलाते हुए उक्त बातको स्पष्ट करते हैं --

अण्णाणस्स स उदओ, जं जीवाणं अतच्चउवलद्धी।
मिच्छत्तस्स दु उदओ, जीवस्स असद्दहाणत्तं।।१३२।।
उदओ असंजमस्स दु, जं जीवाणं हवेइ अविरमणं।
जो दु कलुसोवओगो, जीवाणं सो कसाउदओ।।१३३।।

तं जाण जोगउदअं, जो जीवाणं तु चिट्ठउच्छाहो।
सोहणमसोहणं वा, कायव्वो विरदिभावो वा।।१३४।।
एदेसु हेदुभूदेसु, कम्मइयवग्गणागयं जं तु।
परिणमदे अट्ठविहं, णाणावरणादिभावेहिं।।१३५।।
तं खलु जीवणिबद्धं, कम्मइयवग्गणागयं जइया।
तइया दु होदि हेदू, जीवो परिणामभावाणं।।१३६।।

जीवोंके जो अतत्त्वोपलब्धि है -- तत्त्वोंका मिथ्या जानना है वह अज्ञानका उदय है और जीवके जो तत्त्वका अश्रद्धानपना है वह मिथ्यात्वका उदय है। जीवोंके जो विरतिका अभाव है -- अत्यागभाव है वह असंयमका उदय है। जीवोंके जो मलिन उपयोग है वह कषायका उदय है और जीवोंके जो शुभ अशुभ कार्यरूप अथवा उनकी निवृत्तिरूप चेष्टाका उत्साह है उसे योगका उदय जानो। हेतुभूत इन प्रत्ययोंके रहनेपर कार्मण वर्गणारूपसे आया हुआ जो द्रव्य है वह ज्ञानावरणादि भावोंसे आठ प्रकार परिणमन करता है। कार्मण वर्गणामें आया हुआ द्रव्य जिस समय निश्चयसे जीवके साथ बँधता होता है उस समय उन अज्ञानादि भावोंका कारण जीव होता है।।१३२-१३६।।

आगे कहते हैं कि जीवका परिणाम पुद्गल द्रव्यसे जुदा है --

जीवस्स दु कम्मेण य, सह परिणामा हु होंति रागादी।
एवं जीवो कम्मं, च दो वि रागादिमावण्णा।।१३७।।
एकस्स दु परिणामा, जायदि जीवस्स रागमादीहिं।
ता कम्मोदयहेदूहिं, विणा जीवस्स परिणामो।।१३८।।

यदि ऐसा माना जाय कि जीवके जो रागादि परिणाम हैं वे कर्मके साथ होते हैं तो ऐसा माननेसे जीव तथा कर्म दोनों ही रागादि भावको प्राप्त हो जायेंगे और ऐसा होनेपर पुद्गलमें भी चेतनपना प्राप्त हो जायेगा जो कि प्रत्यक्ष विरुद्ध है। यदि इस दोषसे बचनेके लिए ऐसा माना जाय कि रागादि परिणाम एक जीवके होते हैं तो कर्मोदयरूप हेतुके बिना जीवके परिणाम हो जायेंगे और उस दशामें मुक्त जीवके भी उनका सद्भाव अनिवार्य हो जायेगा।

इन गाथाओंका द्वितीय व्याख्यान इस प्रकार है --

यदि ऐसा माना जाय कि जीवके रागादि परिणाम कर्मोंके साथ ही होते हैं तो ऐसा माननेसे जीव तथा कर्म दोनों ही रागादिभावको प्राप्त होते हैं। इसलिए यह सिद्ध हुआ कि रागादिरूप परिणाम एक जीवके ही उत्पन्न होता है। वह कर्मका उदयरूप निमित्त कारणसे पृथक् एक जीवका ही परिणाम है।।१३७-१३८।।

आगे कहते हैं कि पुद्गल द्रव्यका कर्मरूप परिणमन जीवसे जुदा है --

जइ जीवेण सहच्चिय, पुग्गलदव्वस्स कम्मपरिणामो।
एवं पुग्गलजीवा, हु दोवि कम्मत्तमावण्णा।।१३९।।
एकस्स दु परिणामो, पुग्गलदव्वस्स कम्मभावेण।
ता जीवभावहेदूहिं, विणा कम्मस्स परिणामो।।१४०।।

यदि ऐसा माना जाय कि पुद्गलद्रव्यका जो कर्मरूप परिणाम है वह जीवके साथ ही होता है तो ऐसा माननेपर पुद्गल और जीव दोनों ही कर्मभावको प्राप्त हो जायेंगे इसलिये यह सिद्ध हुआ कि कर्मरूपसे परिणाम एक पुद्गल द्रव्यके ही होता है और वह परिणाम जीवभावरूप निमित्त कारणसे पृथक् पुद्गल कर्मका ही है।।१३९-१४०।।

आगे पूछते हैं कि कर्म आत्मामें बद्ध स्पृष्ट है या अबद्ध स्पृष्ट? इसका उत्तर नयविभागसे कहते हैं --

जीवे कम्मं बद्धं, पुट्ठं चेदि ववहारणयभणिदं।
सुद्धणयस्स दु जीवे, अबद्धपुट्ठं हवइ कम्मं।।१४१।।

जीवसे कर्म बद्ध है तथा स्पृष्ट है यह व्यवहार नयका कहना है और कर्म जीवसे अबद्ध स्पृष्ट है यह शुद्ध नय -- निश्चय नय का वचन है।।१४१।।

आगे कहते हैं कि ये दोनों नयपक्ष हैं। समयसार इन नयपक्षोंसे परे है --

कम्मं बद्धमबद्धं, जीवे एवं तु जाण णयपक्खं।
पक्खातिक्कंतो पुण, भण्णदि जो सो समयसारो।।१४२।।

जीवमें कर्म बँधे हुए हैं अथवा नहीं बँधे हुए हैं ऐसा तो नयपक्ष जानो और जो इस पक्षसे अतिक्रांत -- दूरवर्ती कहा जाता है वह समयसार है।।१४२।।

आगे पक्षातिक्रांतका क्या स्वरूप है? यह कहते हैं --

दोण्हवि णयाण भणियं, जाणइ णवरं तु समयपडिबद्धो।
ण दु णयपक्खं गिण्हदि, किंचिवि णयपक्खपरिहीणो।।१४३।।

जो पुरुष अपने शुद्ध आत्मासे प्रतिबद्ध हो दोनों ही नयोंके कथनको केवल जानता है किंतु किसी भी नयपक्षको ग्रहण नहीं करता वह नयपक्षसे परिहीन है -- पक्षातिक्रांत है।।१४३।।

आगे पक्षातिक्रांत ही समयसार है यह कहते हैं --

सम्मद्दंसणणाणं, एदं लहदित्ति णवरि ववदेसं।
सव्वणयपक्खरहिदो, भणिदो जो सो समयसारो।।१४४।।

जो सब नयपक्षोंसे रहित है वही समयसार कहा गया है। यह समयसार ही केवल सम्यग्दर्शन ज्ञान इस नामको प्राप्त होता है।।१४४।।

इस प्रकार कर्तृकर्म नामका द्वितीय अधिकार पूर्ण हुआ।

***

पुण्यपापाधिकारः

अपने शुभाशुभ कर्मके स्वभावका वर्णन करते हैं --

कम्ममसुहं कुसीलं, सुहकम्मं चावि जाणह सुसीलं।
किह तं होदि सुसीलं, जं संसारं पवेसेदि।।१४५।।

अशुभ कर्मको कुशील और शुभ कर्मको सुशील जानो। परंतु जो जीवको संसारमें प्रवेश कराता है वह सुशील कैसे हो सकता है?।।१४५।।

आगे दोनों ही कर्म सामान्यरूपसे बंधके कारण हैं यह सिद्ध करते हैं --

सौवण्णियम्हि णियलं, बंधदि कालायसं च जह पुरिसं।
बंधदि एवं जीवं, सुहमसुहं वा कदं कम्मं।।१४६।।

जिस प्रकार लोहेकी बेड़ी पुरुषको बाँधती है और सुवर्णकी भी बाँधती है इसी प्रकार किया हुआ शुभ अथवा अशुभ कर्म जीवको बाँधता ही है।।१४६।।

आगे दोनों ही कर्मोंका निषेध करते हैं --

तम्हा दु कुसीले हिय, रायं मा कुणह मा व संसग्गं।
साधीणो हि विणासो, कुसीलसंसग्गरायेण।।१४७।।

इसलिए हे मुनिजन हो! उन दोनों कुशीलोंसे राग मत करो अथवा संसर्ग भी मत करो, क्योंकि कुशीलके संसर्ग और रागसे स्वाधीनताका विनाश होता है।।१४७।।

आगे इसी बातको दृष्टांत द्वारा सिद्ध करते हैं --

जह णाम कोवि पुरिसो, कुच्छियसीलं जणं वियाणित्ता।
वज्जेदि तेण समयं, संसग्गं रायकरणं च।।१४८।।
एमेव कम्मपयडी, सील सहावं हि कुच्छिदं णाउं।
वज्जंति परिहरंति य, तस्संसग्गं सहावरया।।१४९।।

जिस प्रकार कोई मनुष्य निंदित स्वभाववाले किसी मनुष्यको जानकर उसके साथ संगति और राग करना छोड़ देता है उसी प्रकार स्वभावमें रत रहनेवाले मनुष्य कर्मप्रकृतियोंके शीलस्वभावको निंदनीय जानकर उसके साथ राग छोड़ देते हैं और उसकी संगतिका भी परिहार कर देते हैं।।१४८-१४९।।

आगे राग ही बंधका कारण है यह कहते हैं --

रत्तो बंधदि कम्मं, मुंचदि जीवो विरागसंपत्तो[१]।
एसो जिणोवदेसो, तम्हा कम्मेसु मा रज्ज।।१५०।।

रागी जीव कर्मको बाँधता है और वैराग्यको प्राप्त हुआ कर्मसे छूटता है यह जिनेंद्र भगवानका उपदेश है, इसलिए कर्मोंमें राग मत करो।।१५०।।

आगे ज्ञान ही मोक्षका हेतु है यह सिद्ध करते हैं --

परमट्ठो खलु समओ, सुद्धो जो केवली मुणी णाणी।
तम्हि ठिदा सहावे, मुणिणो पावंति णिव्वाणं।।१५१।।

निश्चयसे परमार्थरूप जीवका स्वरूप यह है कि जो शुद्ध है, केवली है, मुनि है, ज्ञानी है ये जिसके नाम हैं उस स्वभावमें स्थित हुए मुनि निर्वाणको प्राप्त होते हैं।

भावार्थ -- मोक्षका उपादान कारण आत्मा है और आत्मा परमार्थसे ज्ञानस्वभाववाला है, इसलिए ज्ञान ही मोक्षका हेतु है।।१५१।।

आगे परमार्थमें स्थित नहीं रहनेवाले पुरुषोंका तपश्चरणादिक बालतप तथा बालव्रत है ऐसा कहते हैं --

परमट्ठम्हि दु अट्ठिदो, जो कुणदि तवं वदं च धारेई।
तं सव्वं बालतवं, बालवदं विंति सव्वण्हू।।१५२।।

जो मुनि ज्ञानस्वरूप आत्मामें स्थित न होकर तप करते हैं और व्रत धारण करते हैं उस सब तप और व्रतको सर्वज्ञ देव बालतप और बालव्रत कहते हैं।।१५२।।

आगे ज्ञान मोक्षका और अज्ञान बंधका कारण है यह नियम करते हैं --

वदणियमाणि धरंता, सीलाणि तहा तवं च कुव्वंता।
परमट्ठबाहिरा जे [२], णिव्वाणं ते ण विंदंति।।१५३।।

जो मनुष्य परमार्थसे बाह्य हैं वे व्रत और नियमोंको धारण करते हुए तथा शील और तपको करते हुए भी मोक्षको नहीं पाते हैं।।१५३।।

आगे फिर भी पुण्यकर्मका पक्षपात करनेवालोंको समझानेके लिए कहते हैं --

परमट्ठबाहिरा जे, ते अण्णाणेण पुण्णमिच्छंति।
संसारगमणहेदुं, वि मोक्खहेउं अजाणंता।।१५४।।

जो मनुष्य परमार्थसे बाह्य हैं अर्थात् परमार्थभूत ज्ञानस्वरूप आत्माके अनुभवसे दूर हैं वे

१. संपण्णो।

२. जेण तेण ते होंति अण्णाणी ज. वृ. ।

अज्ञानसे पुण्यकी इच्छा करते हैं। यद्यपि वह पुण्य संसारगमनका कारण है तो भी उसकी इच्छा करते हैं। ऐसे जीव मोक्षका हेतु जो ज्ञानस्वरूप आत्मा है उसे नहीं जानते हैं।।१५४।।

आगे ऐसे जीवोंको परमार्थभूत मोक्षका कारण दिखलाते हैं --

जीवादीसद्दहणं, सम्मत्तं तेसिमधिगमो णाणं।
रायादीपरिहरणं, चरणं एसो दु मोक्खपहो।।१५५।।

जीवादि पदार्थोंका श्रद्धान करना सम्यक्त्व है, उनका ठीक ठीक जानना ज्ञान है और रागादिका त्याग करना चारित्र है। यह सम्यक्त्व, ज्ञान तथा चारित्र ही मोक्षका मार्ग है।।१५५।।

आगे व्यवहार मार्गसे कर्मका क्षय नहीं होता यह कहते हैं --

मोत्तूण णिच्छयट्ठं, ववहारेण विदुसा पवट्टंति।
परमट्ठमस्सिदाण दु, जदीण कम्मक्खओ विहिओ।।१५६।।

विद्वान निश्चयनयके विषयको छोड़कर व्यवहारसे प्रवृत्ति करते हैं, परंतु कर्मोंका क्षय परमार्थका आश्रय करनेवाले यतीश्वरोंके ही कहा गया है।।१५६।।

आगे कर्म मोक्षके कारणभूत सम्यग्दर्शनादि गुणोंका आच्छादन करते हैं यह दृष्टांत द्वारा सिद्ध करते हैं --

वत्थस्स सेदभावो, जह णासेदि मलमेलणासत्तो।
मिच्छत्तमलोच्छण्णं, तह सम्मत्तं खु णायव्वं।।१५७।।
वत्थस्स सेदभावो, जह णासेदि मलमेलणासत्तो।
अण्णाणमलोच्छण्णं, तह णाणं होदि[1] णायव्वं।।१५८।।
वत्थस्स सेदभावो, जह णासेदि मलमेलणासत्तो।
कसायमलोच्छण्णं, तह चारित्तं होदि णायव्वं।।१५९।।

जिस प्रकार वस्त्रका श्वेतपना मलके मिलनेसे लिप्त हुआ नष्ट हो जाता है उसी प्रकार सम्यग्दर्शन मिथ्यादर्शनरूपी मलसे आच्छादित हो नष्ट हो जाता है यह निश्चयसे जानना चाहिए। जिस प्रकार वस्त्रका श्वेतपना मलके मिलनेसे आसक्त हुआ नष्ट हो जाता है उसी प्रकार अज्ञानरूपी मलसे आच्छादित हुआ जीवका ज्ञान नष्ट हो जाता है ऐसा जानना चाहिए। तथा जिस प्रकार वस्त्रका श्वेतपना मलके मिलनेसे आसक्त हुआ नष्ट हो जाता है उसी प्रकार कषायरूपी मलसे आच्छादित चारित्र गुण नष्ट हो रहा है यह भी जानना चाहिए।।१५७-१५९।।

---

१. होदिं ज . वृ.

आगे कर्मका स्वयमेव बंधपना सिद्ध करते हैं --

सो सव्वणाणदरिसी, कम्मरएण णियेण वच्छण्णो।
संसारसमावण्णो, ण विजाणादि सव्वदो सव्वं।।१६०।।

वह सबको जानने देखनेवाला आत्मा अपने कर्मरूपी रजसे आच्छादित हुआ संसार दशाको प्राप्त हो रहा है और सब तरहसे सब वस्तुओंको नहीं जानता है।।१६०।।

आगे कर्म सम्यग्दर्शनादि मोक्षके कारणोंको घातते हैं ऐसा निरूपण करते हैं --

सम्मत्तपडिणिबद्धं, मिच्छत्तं जिणवरेहिं परिकहियं।
तस्सोदयेण जीवो, मिच्छादिट्ठित्ति णायव्वो।।१६१।।
णाणस्स पडिणिबद्धं, अण्णाणं जिणवरेहिं परिकहियं।
तस्सोदयेण जीवो, अण्णाणी होदि णायव्वो।।१६२।।
चारित्तपडिणिबद्धं, कसायं जिणवरेहि परिकहियं।
तस्सोदयेण जीवो, अचरित्तो होदि णायव्वो।।१६३।।

सम्यक्त्वको रोकनेवाला मिथ्याकर्म है ऐसा जिनेंद्र भगवानने कहा है, उसके उदयसे जीव मिथ्यादृष्टि हो जाता है ऐसा जानना चाहिए। ज्ञानको रोकनेवाला अज्ञान है ऐसा जिनेंद्र भगवानने कहा है, उसके उदयसे जीव अज्ञानी होता है ऐसा जानना चाहिए।।१६१-१६३।।

इस प्रकार पुण्यपापका प्ररूपण करनेवाला तीसरा अधिकार पूर्ण हुआ।

***

आस्रवाधिकारः

आगे आस्रवका स्वरूप कहते हैं --

मिच्छत्तं अविरमणं, कसायजोगा य सण्णसण्णा दु।
बहुविहभेया जीवे, तस्सेव अणण्णपरिणामा।।१६४।।
णाणावरणादीयस्स, ते दु कम्मस्स कारणं होंति।
तेसिंपि होदि जीवो, य रागदोसादिभावकरो।।१६५।।

मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग ये चेतन अचेतनके भेदसे दो प्रकारके हैं। उनमें जो चेतनरूप हैं वे जीवमें बहुत भेदोंको लिये हुए हैं तथा जीवके अभिन्न परिणामस्वरूप हैं। और जो अचेतनरूप हैं वे ज्ञानावरणादि कर्मोंके कारण होते हैं। तथा उन मिथ्यात्वादि अचेतन भावोंका कारण रागद्वेषादि भावोंका करनेवाला जीव है।।१६४-१६५।।

आगे ज्ञानी जीवके उन आस्रवोंका अभाव होता है ऐसा कहते हैं --

णत्थि दु आसवबंधो, सम्मादिट्ठिस्स आसवणिरोहो।
संते पुव्वणिबद्धे, जाणदि सो ते अबंधंतो।।१६६।।

सम्यग्दृष्टि जीवके आस्रव बंध नहीं है, किंतु आस्रवका निरोध है। वह सत्तामें स्थित पहलेके बँधे हुए कर्मोंको केवल जानता है, नवीन बंध नहीं करता है।।१६६।।

आगे राग द्वेष मोह ही आस्रव हैं ऐसा नियम करते हैं --

भावो रागादिजुदो, जीवेण कदो दु बंधगो भणिदो।
रायादिविप्पमुक्को, अबंधगो जाणगो णवरिं।।१६७।।

जीवके द्वारा किया हुआ जो भाव रागादिसे सहित है वह बंधका करनेवाला कहा गया है और जो रागादिसे रहित है वह बंधका नहीं करनेवाला है, किंतु जाननेवाला है।।१६७।।

आगे रागादि रहित शुद्ध भाव असंभव नहीं हैं यह दिखलाते हैं --

पक्के फलम्हि पडिए, जह ण फलं वज्झए पुणो विंटे।
जीवस्स कम्मभावे, पडिए ण पुणोदयमुवेई[१]।।१६८।।

जिस प्रकार किसी वृक्षादिका फल पककर जब नीचे गिर जाता है तब वह फिर बोंडीके साथ संबंधको प्राप्त नहीं होता इसी प्रकार जीवका कर्मभाव जब पककर गिर जाता है -- निर्जीर्ण हो चुकता है तब फिर उदयको प्राप्त नहीं होता।।१६८।।

आगे ज्ञानी जीवके द्रव्यास्रवका अभाव दिखलाते हैं --

पुहवीपिंडसमाणा, पुव्वणिबद्धा दु पच्चया तस्स।
कम्मसरीरेण दु ते, बद्धा सव्वेपि णाणिस्स।।१६९।।

उस पूर्वोक्त ज्ञानी जीवके अज्ञान अवस्थासे बँधे हुए द्रव्यास्रवरूप सभी प्रत्यय पृथिवीके पिंडके समान हैं और कार्मण शरीरके साथ बँधे हुए हैं।।१६९।।

आगे ज्ञानी जीव निरास्रव क्यों हैं? यह कहते हैं --

---

१. मुवेहि ज. वृ. ।

जह पुरिसेणाहारो, गहिओ परिणमइ सो अणेयविहं।
मंसवसारुहिरादी, भावे उयरग्गिसंजुत्तो।।१७९।।
तह णाणिस्स दु पुव्वं, जे बद्धा पच्चया बहुवियप्पं।
बज्झंते कम्मं ते, णय परिहीणा उ ते जीवा।।१८०।।

जिस प्रकार पुरुषके द्वारा ग्रहण किया हुआ आहार उदराग्निसे संयुक्त होकर अनेक प्रकार मांस, चर्बी, रुधिर आदि भावोंरूप परिणमन करता है उसी प्रकार ज्ञानीके पहले बँधे हुए जो प्रत्यय द्रव्यास्रव हैं वे बहुत भेदोंवाले कर्मोंको बाँधते हैं। वे जीव शुद्ध नयसे छूट जाते हैं।।१७९-१८०।।

इस प्रकार आस्रवका प्ररूपण करनेवाला चतुर्थ अंक पूर्ण हुआ।

***

संवराधिकारः

आगे संवराधिकारमें सर्वप्रथम कर्मोंके संवरका श्रेष्ठ उपाय जो भेदविज्ञान है उसकी प्रशंसा करते हैं --

उवओए उवओगो, कोहादिसु णत्थि कोवि उवओगो।
कोहे कोहो चेव हि, उवओगे णत्थि खलु कोहो।।१८१।।
अट्ठवियप्पे कम्मे, णोकम्मे चावि णत्थि उवओगो।
उवओगम्हि य कम्मं, णोकम्मं चावि णो अत्थि।।१८२।।
एयं तु अविवरीदं, णाणं जइआ उ होदि जीवस्स।
तइया ण किंचि कुव्वदि, भावं उवओगसुद्धप्पा।।१८३।।

उपयोगमें उपयोग है, क्रोधादिमें कोई उपयोग नहीं है। क्रोधमें क्रोध ही है, निश्चयसे उपयोगमें क्रोध नहीं है। आठ प्रकारके कर्ममें और नोकर्ममें उपयोग नहीं है तथा उपयोगमें कर्म और नोकर्म नहीं है। जिस समय जीवके यह अविपरीत ज्ञान होता है उस समय वह उपयोगसे शुद्धात्मा होता हुआ उपयोगके बिना अन्य कुछ भी भाव नहीं करता है।।१८१-१८३।।

आगे भेदविज्ञानसे ही शुद्धात्माकी उपलब्धि किस प्रकार होती है? इसका उत्तर कहते हैं --

जह कणयमग्गितवियं, पि कणयहावं ण तं परिच्चयइ।
तह कम्मोदयतविदो, ण जहदि णाणी उ णाणित्तं।।१८४।।

एवं जाणइ णाणी, अण्णाणी मुणदि रायमेवादं।
अण्णाणतमोच्छण्णो, आदसहावं अयाणंतो।।१८५।।

जिस प्रकार सुवर्ण अग्निसे तपाये जानेपर भी सुवर्णपनेको नहीं छोड़ता है उसी प्रकार कर्मोदयसे तप्त हुआ ज्ञानी ज्ञानीपनेको नहीं छोड़ता है। ज्ञानी इस प्रकार जानता है परंतु अज्ञानी चूँकि अज्ञानरूपी अंधकारसे आच्छादित है अतः आत्मस्वभावको नहीं जानता हुआ रागको ही आत्मा मानता है।।१८४-१८५।।

आगे शुद्धात्माकी उपलब्धिसे ही संवर क्यों होता है? इसका उत्तर कहते हैं --

सुद्धं तु वियाणंतो, सुद्धं चेवप्पयं लहदि जीवो।
जाणंतो दु असुद्धं, असुद्धमेवप्पयं लहइ।।१८६।।

शुद्ध आत्माको जानता हुआ जीव शुद्ध ही आत्माको पाता है और अशुद्ध आत्माको जानता हुआ जीव अशुद्ध ही आत्माको पाता है।।१८६।।

आगे संवर किस प्रकार होता है? इसका उत्तर कहते हैं --

अप्पाणमप्पणा रुंधिऊण दो पुण्णपावजोएसु।
दंसणणाणम्हि ठिदो, इच्छाविरओ य अण्णम्हि।।१८७।।
जो सव्वसंगमुक्को, झायदि अप्पाणमप्पणो अप्पा।
णवि कम्मं णोकम्मं, चेदा चिंतेदि एयत्तं।।१८८।।
अप्पाणं झायंतो, दंसणणाणमओ अणण्णमओ।
लहइ अचिरेण अप्पाणमेव सो कम्मपविमुक्कं।।१८९।।

जो जीव अपने आत्माको अपने आपके द्वारा शुभअशुभरूप दोनों योगोंसे रोककर दर्शनज्ञानमें स्थित हुआ अन्य पदार्थोंमें इच्छारहित है तथा समस्त परिग्रहसे रहित होता हुआ आत्माके द्वारा आत्माका ही ध्यान करता है। कर्म और नोकर्मका ध्यान नहीं करता, किंतु चेतनारूप होकर एकत्व[१] भावका चिंतन करता है वह आत्माका ध्यान करनेवाला, दर्शनज्ञानमय तथा अन्यवस्तुरूप नहीं होनेवाला जीव शीघ्र ही कर्मोंसे रहित आत्माको ही प्राप्त करता है।।१८७-१८९।।*

---

१. एकोऽहं निर्ममः शुद्धो ज्ञानी योगीन्द्रगोचरः।
बाह्याः संयोगजा भावा मत्तः सर्वेऽपि सर्वथा।। ज. वृ.।

* १८९ गाथाके आगे ज. वृ. में निम्नांकित दो गाथाओंकी व्याख्या अधिक की गयी है --
उवदेसेण परोक्खं रूवं जह पस्सिदूण णादेदि।
भण्णदि तहेव घिप्पदि जीवो दिट्ठो य णादो य।।
कोविदिदच्छो साहू संपडिकाले भणिज्ज रूवमिणं।
पच्चक्खमेव दिट्ठं परोक्खणाणे पवट्टंतं।। ज. वृ.।

आगे किस क्रमसे संवर होता है यह कहते हैं --

तेसिं हेऊ [१] भणिदा, अज्झवसाणाणि सव्वदरिसीहिं।
मिच्छत्तं अण्णाणं, अविरयभावो य जोगो य।।१९०।।
हेउ अभावे णियमा, जायदि णाणिस्स आसवणिरोहो।
आसवभावेण विणा, जायदि कम्मस्स वि णिरोहो।।१९१।।
कम्मस्साभावेण य, णोकम्माणं पि जायइ णिरोहो।
णोकम्मणिरोहेण य, संसारणिरोहणं होइ।।१९२।।

पूर्वमें कहे हुए उन रागद्वेषादि आस्रवोंके हेतु सर्वज्ञदेवने मिथ्यात्व, अज्ञान, अविरतभाव और योग ये चार अध्यवसानभाव कहे हैं। ज्ञानी जीवके इन हेतुओंका अभाव होनेके कारण नियमसे आस्रवका निरोध होता है, आस्रवभावके विना कर्मोंका भी निरोध हो जाता है, कर्मोंका अभाव होनेसे नोकर्मोंका भी निरोध हो जाता है और नोकर्मोंका निरोध होनेसे संसारका निरोध हो जाता है।।१९०-१९२।।

इस प्रकार पाँचवाँ संवर अधिकार पूर्ण हुआ।।

*

१. हेदू ज. वृ.

निर्जराधिकारः

आगे निर्जराका स्वरूप कहते हैं --

उवभोगमिंदियेहिं, दव्वाणं चेदणाणमिदराणं।
जं कुणदि सम्मदिट्ठी, तं सव्वं णिज्जरणिमित्तं।।१९३।।

सम्यग्दृष्टि जीव जो इंद्रियोंके द्वारा चेतन और अचेतन द्रव्योंका उपभोग करता है वह सब ही निर्जराका निमित्त है।।१९३।।

आगे भावनिर्जराका स्वरूप बतलाते हैं --

दव्वे उवभुंजंते, णियमा जायदि सुहं च दुक्खं वा।
तं सुहदुक्खमुदिण्णं, वेदयदि अहणिज्जरं जादि।।१९४।।

जब जीव उदयागत द्रव्यकर्मका उपभोग करता है तब नियमसे सुख दुःख उत्पन्न होते हैं। सम्यग्दृष्टि जीव उत्पन्न हुए उस सुख दुःखका सिर्फ वेदन करता है, किंतु तन्मय नहीं होता है इसलिए वह निर्जराको प्राप्त होता है।।१९४।।

आगे ज्ञानकी सामर्थ्य दिखाते हैं --

जस विसमुवभुज्जंतो, वेज्जो पुरिसो ण मरणमुवयादि।
पोग्गलकम्मस्सुदयं, तह भुंजदि णेव बज्झए णाणी।।१९५।।

जिस प्रकार वैद्य विषका उपभोग करता हुआ भी मरणको प्राप्त नहीं होता है उसी प्रकार ज्ञानी जीव यद्यपि पुद्गल कर्मके उदयका उपभोग करता है तो भी बंधको प्राप्त नहीं होता।।१९५।।

आगे वैराग्यकी सामर्थ्य दिखाते हैं --

जह मज्जं पिवमाणो, अरदिभावेण मज्जदि ण पुरिसो।
दव्वुवभोगे अरदो, णाणी विण बज्झदि तहेव।।१९६।।

जिस प्रकार अरतिभावसे प्रीतिके बिना ही मदिराको पीनेवाला पुरुष मत्त नहीं होता है उसी प्रकार द्रव्यकर्मके उपभोगमें रत नहीं होनेवाला ज्ञानी पुरुष बंधको प्राप्त नहीं होता है।।१९६।।

आगे यही बात दिखलाते हैं --

सेवंतोवि ण सेवइ, असेवमाणोवि सेवगो कोई।
पगरणचेट्ठा कस्सवि, ण य पायरणोत्ति सो होई[१]।।१९७।।

---

१. होदि ज. वृ. ।

कोई पुरुष विषयोंका सेवन करता हुआ भी सेवन नहीं करता है और कोई सेवन न करता हुआ भी सेवन करनेवाला है। जैसे किसी मनुष्यके कार्य करनेकी चेष्टा तो है अर्थात् प्रकरण संबंधी समस्त कार्य करता है परंतु वह प्रकरणका स्वामी है ऐसा नहीं होता।।१९७।।

आगे सम्यग्दृष्टि जीव सामान्यरूपसे निज और परको इसप्रकार जानता है यह कहते हैं --

उदयविवागो विविहो, कम्माणं वण्णिओ जिणवरेहिं।
ण दु ते मज्झ सहावा, जाणगभावो दु अहमिक्को।।१९८।।

कर्मोंके जो विविध प्रकारके उदयरस जिनेंद्रभगवानने कहे हैं वे मेरे स्वभाव नहीं हैं, मैं तो एक ज्ञायकभावरूप हूँ।

आगे सम्यग्दृष्टि जीव विशेषरूपसे निज और परके उदयको इस प्रकार जानता है यह कहते हैं --

पुग्गलकम्मं [१]रागो, तस्स विवागोदओ हवदि एसो।
ण दु एस मज्झ भावो, जाणगभावो हु अहमिक्को।।१९९।।

राग नामका पुद्गल कर्म है। यह रागभाव उसीके विपाकका उदय है। यह मेरा स्वभाव नहीं है, मैं तो एक ज्ञायकभावरूप हूँ।।१९९।। [२]

आगे इसका फलितार्थ कहते हैं --

एवं [३]सम्मद्दिट्ठी, अप्पाणं मुणदि जाणयसहावं।
उदयं कम्मविवागं, य मुअदि तच्चं वियाणंतो।।२००।।

इस प्रकार सम्यग्दृष्टि जीव अपने आपको ज्ञायक स्वभाव जानता है और तत्त्वको -- वस्तुके यथार्थ स्वरूपको जानता हुआ उदयागत रागादिभावको कर्मका विपाक जानकर छोड़ता है।।२००।।

आगे सम्यग्दृष्टि रागी क्यों नहीं होता है? इसका उत्तर कहते हैं --

परमाणुमित्तयं पि हु, रायादीणं तु विज्जदे जस्स।
ण वि सो जाणदि अप्पाणयं तु सव्वागमधरोवि।।२०१।।

---

१. कोहो ज. वृ. ।

एवमेव च रागपदपरिवर्तनेन द्वेषमोहक्रोधमानमायालोभकर्मनोकर्ममनोवचनकायश्रोत्रचक्षुर्घ्राणरसनस्पर्शनसूत्राणि षोडश व्याख्येयानि।। ज. वृ.

२. ज. वृ. में १९९ के आगे निम्न गाथा अधिक उपलब्ध है --

कह एस तुज्झ ण हवदि विविहो कम्मोदयफलविवागो।
परदव्वाणुवओगो ण दु देहो हवदि अण्णाणी।।

३. सम्माइट्ठं ज. वृ. ।

अप्पाणमयाणंतो, अणप्पयं चावि सो अयाणंतो।
कह होदि सम्मदिट्ठी, जीवाजीवे अयाणंतो।।२०२।। जुम्मं

निश्चयसे जिस जीवके रागादिका परमाणुमात्र भी -- लेशमात्र भी विद्यमान है वह सर्वागमका धारी होकर भी आत्माको नहीं जानता है। और जो आत्माको नहीं जानता है वह आत्मासे भिन्न परपदार्थको भी नहीं जानता है। इसप्रकार जो जीव अजीव दोनोंको नहीं जानता है वह सम्यग्दृष्टि कैसे हो सकता है? ।।२०१-२०२।।

आगे वह पद क्या है? इसका उत्तर देते हैं --

आदम्हि दव्वभावे, [१]अपदे मोत्तूण गिण्ह [२]तह णियदं।
थिरमेगमिमं भावं, उवलब्भंतं सहावेण।।२०३।।

आत्मामें पर निमित्तसे हुए अपदरूप द्रव्यभावरूप सभी भावोंको छोड़कर निश्चिंत स्थिर एक तथा स्वभाव द्वारा उपलभ्यमान इस चैतन्यमात्र भावको तू ग्रहण कर।।२०३।।

आगे कहते हैं कि ज्ञान सामान्य रूपसे एक प्रकारका ही है। उसमें जो भेद हैं वे क्षयोपशम निमित्तसे हैं --

आभिणिसुदोहिमणकेवलं च तं होदि एक्कमेव पदं।
सो एसो परमट्ठो, जं लहिदुं णिव्वुदिं जादि।।२०४।।

मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान ये जो ज्ञानके भेद हैं वे वास्तवमें एकही पद हैं -- एक ही सामान्य ज्ञानस्वरूप हैं। और यही परमार्थ है जिसे पाकर जीव निर्वाणको प्राप्त होता है।।२०४।।

आगे इसी अर्थका उपदेश करते हैं --

णाणगुणेण विहीणा, एयं तु पयं बहूवि ण लहंति।
तं गिण्ह [३]णियदमेदं, जदि इच्छसि कम्मपरिमोक्खं।।२०५।।

यदि तू कर्मसे सर्वथा छुटकारा चाहता है तो इस निश्चित ज्ञानको ग्रहण कर, क्योंकि ज्ञानगुणसे रहित बहुत पुरुष इस पदको नहीं पाते हैं।।२०५।।

आगे फिर इसी बातको पुष्ट करते हैं --

एदम्हि रदो णिच्चं, संतुट्ठो होहि णिच्चमेदम्हि।
एदेण होहि तित्तो, होहदि तुह उत्तमं सोक्खं।।२०६।।

---

१. अथिरे ज. वृ. । २. तव ज. वृ.। ३. सुपदमेदं ज. वृ.।

हे भव्य! तू निरंतर इस ज्ञानमें रत हो, इसीमें निरंतर संतुष्ट रह, इसीसे तृप्त हो, क्योंकि ऐसा करनेसे ही तुझे उत्तम सुख होगा।।२०६।।

आगे ज्ञानी परद्रव्यको क्यों नहीं ग्रहण करता? इसका उत्तर कहते हैं --

को णाम भणिज्ज बुहो, परदव्वं मम[1] इमं हवदि दव्वं।
अप्पाणमप्पणो परिगहं तु णियदं वियाणंतो।।२०७।।

नियमसे आत्माको ही अपना परिग्रह माननेवाला कौन विद्वान् ऐसा कहेगा कि यह परद्रव्य मेरा द्रव्य है?।।२०७।।

आगे युक्ति द्वारा इसका समर्थन करते हैं --

मज्झं परिग्गहो जइ, तदो अहमजीवदं तु गच्छेज्ज।
णादेव अहं जम्हा, तम्हा ण परिग्गहो मज्झ।।२०८।।

यदि परद्रव्य मेरा परिग्रह हो तो मैं अजीवपनेको प्राप्त हो जाऊँ, पर चूँकि मैं ज्ञाता हूँ अतः परद्रव्य मेरा परिग्रह नहीं है।।२०८।।

आगे शरीरादि परद्रव्य मेरा परिग्रह किसी भी प्रकार नहीं हो सकता यह कहते हैं --

छिज्जदु वा भिज्जदु वा, णिज्जदु वा अहव जादु विप्पलयं।
जम्हा तम्हा गच्छदु, लहवि हु ण परिग्गहो मज्झ।।२०९।।

ज्ञानी जीव ऐसा विचार करता है कि शरीरादि परद्रव्य छिद जावे, भिद जावे, कोई इसे ले जावे, अथवा विनाशको प्राप्त हो जावे अथवा जिस तिस तरह चली जावे तो भी मेरा परिग्रह नहीं है।।२०९।।

आगे इस अपरिग्रह भावको दृढ़ करनेके लिए पृथक् पृथक् वर्णन करते हैं --

अपरिग्गहो अणिच्छो, भणिदो णाणी य णिच्छदे धम्मं।
अपरिग्गहो दु धम्मस्स जाणगो तेण सो होई।।२१०।।

ज्ञानी परिग्रह रहित है इसलिए इच्छासे रहित कहा गया है। वह चूँकि इच्छारहित है अतः धर्मकी इच्छा नहीं करता। इसीलिए उसके धर्मका परिग्रह नहीं है, वह केवल धर्मका ज्ञायक है।।२१०।।

अपरिग्गहो अणिच्छो, भणिदो णाणी य णिच्छदि अधम्मं।
अपरिग्गहो अधम्मस्स, जाणगो तेण सो होई।।२११।।

ज्ञानी परिग्रहहीन तथा इच्छारहित कहा गया है इसलिए वह अधर्मकी इच्छा नहीं करता। उसके अधर्मका परिग्रह नहीं है, वह तो सिर्फ अधर्मका ज्ञायक है।।२११।।[2]

---

१. ममिमदं ज. वृ.। २. २११ वीं गाथाके आगे ज. वृ. में निम्नांकित गाथा अधिक है --

धम्मच्छि अधम्मच्छी आयासं सुत्तमंगपुव्वेसु।
संगं च तहा णेयं देवमणुअत्तिरिय णेरइयं।।

अपरिग्गहो अणिच्छो, भणिदो [१] णाणी य णिच्छदे असणं।
अपरिग्गहो दु असणस्स, जाणगो तेण सो होई।।२१२।।

ज्ञानी परिग्रहहीन तथा इच्छारहित कहा गया है इसलिए वह भोजनकी इच्छा नहीं करता। उसके भोजनका परिग्रह नहीं है, वह तो सिर्फ भोजनका ज्ञायक है।।२१२।।

अपरिग्गहो अणिच्छो, भणिदो णाणी य णिच्छदे पाणं।
अपरिग्गहो दु पाणस्स, जाणगो तेण सो होई।।२१३।।

ज्ञानी परिग्रहहीन तथा इच्छारहित कहा गया है इसलिए वह पानकी इच्छा नहीं करता। उसके पानका परिग्रह नहीं है, वह तो सिर्फ पानका ज्ञायक है।।२१३।।

आगे कहते हैं कि ज्ञानी जीव इसी प्रकार अन्य परजन्य भावोंकी इच्छा नहीं करता है --

एमादिए [२] दु विविहे, सव्वे भावे य णिच्छदे णाणी।
जाणगभावो णियदो, णीरालंबो दु सव्वत्थ।।२१४।।

इनको आदि लेकर विविध प्रकारके समस्त भावोंको ज्ञानी जीव नहीं चाहता है। वह नियमसे ज्ञायकभाव है और अन्य सब वस्तुओं में आलंबनरहित है।।२१४।।

उप्पण्णोदयभोगी [३], विओगबुद्धीए तस्स सो णिच्चं।
कंखामणागयस्स य, उदयस्स ण कुव्वए णाणी।।२१५।।

ज्ञानी जीवके वर्तमानकालीन उदयका भोग निरंतर वियोगबुद्धिसे उपलक्षित रहता है अर्थात् वर्तमान भोगको नश्वर समझकर वह उसमें परिग्रहबुद्धि नहीं करता और अनागत -- भविष्यत्कालीन भोगकी वह आकांक्षा नहीं करता।

भावार्थ -- भोग तीन प्रकारका है -- १. अतीत, २. वर्तमान और ३. अनागत। उनमें जो अतीत हो चुका है उसमें परिग्रह बुद्धि होना शक्य नहीं है। वर्तमान भोगको ज्ञानी जीव वियुक्त हो जानेवाला मानता है इसलिए उसमें परिग्रहभाव धारण नहीं करता तथा अनागत भोगमें आकांक्षारहित होता है। इसलिए तत्संबंधी परिग्रह भी उसके संभव नहीं है। इस प्रकार स्वसंवेदन ज्ञानी जीव निष्परिग्रह है यह बात सिद्ध होती है।।२१५।।

आगे ज्ञानी जीव भोगकी आकांक्षा क्यों नहीं करता? इसका उत्तर देते हैं --

जो वेददि वेदिज्जदि, समए-समए विणस्सदे उहयं।
तं जाणगो दु णाणी, उभयं पि ण कंखइ कयावि।।२१६।।

---

१. भणिदो असणं तु णिच्छदे णाणी। ज. वृ.। २. इव्वादु एदु ज. वृ.। ३. उप्पोदयभोगे ज. वृ.।

जो वेदन करता है और जिसका वेदन किया जाता है वे दोनों भाव समय समयमें नष्ट होते रहते हैं। अर्थात् वेद्य-वेदक भाव क्रमसे होते हैं, अतः एक समयसे अधिक देरतक अवस्थित नहीं रहते। ज्ञानी जीव उन दोनों भावोंको जाननेवाला ही है, वह उनकी कभी भी आकांक्षा नहीं करता है।।२१६।।

आगे इस प्रकारके सभी उपभोगोंसे ज्ञानी विरक्त रहता है यह कहते हैं --

बंधुवभोगणिमित्ते, अज्झवसाणोदएसु णाणिस्स।
संसारदेहविसएसु, णेव उप्पज्जदे रागो।।२१७।।

बंध और उपभोगके निमित्तभूत, संसार और शरीरविषयक अध्यवसानके जो उदय हैं उनमें ज्ञानी जीवके राग उत्पन्न नहीं ही होता है।।२१८।।

आगे ज्ञानी कर्मबंधसे रहित होता है यह कहते हैं --

णाणी रागप्पजहो, सव्वदव्वेसु कम्ममज्झगदो।
णो लिप्पदि रजएण दु, कद्दममज्झे जहा कणयं।।२१८।।
अण्णाणी पुण रत्तो, सव्वदव्वेसु कम्ममज्झगदो।
लिप्पदि कम्मरएण दु, कद्दममज्झे जहा लोहं।।२१९।। [१]

ज्ञानी सब द्रव्योंमें रागका छोड़नेवाला है, इसलिए कर्मके मध्यगत होनेपर भी कर्मरूपी रजसे उस प्रकार लिप्त नहीं होता जिस प्रकार कि कीचड़के बीचमें पड़ा हुआ सोना। परंतु अज्ञानी सब द्रव्योंमें रागी है अतः कर्मोंके मध्यगत होता हुआ कर्मरूपी रजसे उस प्रकार लिपा होता है जिस प्रकार कि कीचड़के बीचमें पड़ा हुआ लोहा।।२१८-२१९।। [१]

आगे इसी बातको शंखके दृष्टांतसे स्पष्ट करते हैं --

भुंजंतस्सवि विविहे, सच्चित्ताचित्तमिस्सिए दव्वे।
संखस्स सेदभावो, णवि सक्कदि किण्णगो काउं।।२२०।।
तह णाणिस्स वि विविहे, सच्चित्ताचित्तमिस्सिए दव्वे।
भुंजंतस्सवि णाणं, ण सक्कमण्णाणदं णेदुं।।२२१।।

---

१. २१९ वीं गाथाके आगे ज. वृ. में निम्नलिखित श्लोकोंकी व्याख्या अधिक उपलब्ध है --

णागफलीए मूलं णाइणितोएण गब्भणागेण।
णागं होइ सुवण्णं धम्मंतं भच्छवाएण।।
कम्मं हवेइ किट्टं रागादि कालिया अह विभाओ।
सम्मंणाणचरणं परमोसहमिदि वियाणाहि।।
झाणं हवेइ अग्गी तवमरणं भत्तली समक्खादो।
जीवो हवेइ लोहं धमियव्वो परम जोईहिं।।

जइया स एव संखो, सेद सहावं तयं पजहिदूण।
गच्छेज्ज किण्हभावं, तइया सुक्कत्तणं पजहे।।२२२।।[१]
तह णाणी वि हु जइया, णाणसहावं तयं पजहिऊण।
अण्णाणेण परिणदो, तइया अण्णाणदं गच्छे।। २२३।।

जिस प्रकार यद्यपि शंख विविध प्रकारके सचित्त अचित्त और मिश्र द्रव्योंका भक्षण करता है तो भी उसका श्वेतपना काला नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार यद्यपि ज्ञानी विविध प्रकारके सचित्त अचित्त और मिश्र द्रव्योंका उपभोग करता है तो भी उसका ज्ञान अज्ञानताको प्राप्त नहीं कराया जा सकता। और जिस समय वही शंख उस श्वेत स्वभावको छोड़कर कृष्ण भावको प्राप्त हो जाता है उस समय वह जिस श्वेतपनेको छोड़ देता है उसी प्रकार ज्ञानी जिस समय उस ज्ञानस्वभावको छोड़कर अज्ञानस्वभावसे परिणत होता है उस समय अज्ञानभावको प्राप्त हो जाता है।

भावार्थ -- ज्ञानीके परकृत बंध नहीं है, वह आपही जब अज्ञानरूप परिणमन करता है तब स्वयं निजके अपराधसे बंधदशाको प्राप्त होता है।।२२०-२२३।।

आगे सराग परिणामोंसे बंध और वीतराग परिणामोंसे मोक्ष होता है यह दृष्टांत तथा दार्ष्टांतके द्वारा स्पष्ट करते हैं --

पुरिसो जह कोवि इह, वित्तिणिमित्तं तु सेवए रायं।
तो सोवि देदि राया, विविहे भोए सुहुप्पाए।।२२४।।
एमेव जीवपुरिसो, कम्मरयं सेवदे सुहणिमित्तं।
तो सोवि देइ कम्मो, विविहे भोए सुहुप्पाए।।२२५।।
जह पुण सो चिय पुरिसो, वित्तिणिमित्तं ण सेवदे रायं।
तो सो ण देइ राया, विविहे भोए सुहुप्पाए।।२२६।।
एमेव सम्मदिट्ठी, विसयत्थं सेवए ण कम्मरयं।
तो सो ण देइ कम्मो, विविहे भोए सुहुप्पाए।।२२७।।

जिस प्रकार इस लोकमें कोई पुरुष आजीविकाके निमित्त राजाकी सेवा करता है तो राजा भी उसके लिए सुख उपजानेवाले विविध प्रकारके भोग देता है, इसी प्रकार जीव नामा पुरुष सुखके निमित्त

---

१. २२२ और २२३ के मध्य ज. वृ. में निम्न गाथा अधिक उपलब्ध है --
जह संखो पोग्गलदो जइया सुक्कत्तणं पजाहेदूण।
गच्छेज्ज किण्हभावं तइया सुक्कत्तणं पजहे।।

कर्मरूपी रजकी सेवा करता है तो वह कर्मरूपी रज भी उसके लिए सुख उपजानेवाले विविध प्रकारके सुख देता है। जिस प्रकार वही पुरुष वृत्ति के निमित्त राजा की सेवा नहीं करता है तो राजा उसके लिए सुख उपजानेवाले विविध प्रकारके भोग नहीं देता है इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि जीव विषयोंके लिए कर्मरूपी रज की सेवा नहीं करता है तो वह कर्मरूपी रज भी उसके लिए सुख उपजानेवाले विविध प्रकारके भोग नहीं देता है।।२२४-२२७।।

आगे सम्यग्दृष्टि जीव निःशंक तथा निर्भय होता है यह कहते हैं --

सम्मद्दिट्ठी जीवा, णिस्संका होंति णिब्भया तेण।
सत्तभयविप्पमुक्का, जम्हा तम्हा दु णिस्संका।।२२८।।

सम्यग्दृष्टि जीव चूँकि शंकारहित होते हैं इसलिए निर्भय हैं और चूँकि सप्तभयसे रहित हैं इसलिए शंकारहित हैं।

भावार्थ -- निर्भयता और निःशंकपनेमें परस्पर कार्यकारण भाव है।।२२८।।

आगे निःशंकित अंगका स्वरूप कहते हैं --

जो चत्तारिवि पाए, छिंदंति ते [१]कम्मबंधमोहकरे।
सो णिस्संको चेदा, सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो।।२२९।।

जो आत्मा कर्मबंधके कारण मोहके करनेवाले उन मिथ्यात्व आदि पापोंको काटता है उसे निःशंक सम्यग्दृष्टि जानना चाहिए।।२२९।।

आगे निःकांक्षित अंगका स्वरूप कहते हैं --

[२]जो दु ण करेदि कंखं, कम्मफलेसु तह सव्वधम्मेसु।
सो णिक्कंखो चेदा, सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो।।२३०।।

जो आत्मा कर्मोंके फलोंमें तथा वस्तुके स्वभावभूत समस्त धर्मोंमें वांछा नहीं करता है उसे निःकांक्षित सम्यग्दृष्टि जानना चाहिए।।२३०।।

आगे निर्विचिकित्सित अंगका स्वरूप कहते हैं --

जो ण करेदि जुगुप्पं, चेदा सव्वेसिमेव धम्माणं।
सो खलु णिव्विदिगिच्छो[३], सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो।।२३१।।

जो जीव वस्तुके सभी धर्मोंमें ग्लानि नहीं करता उसे निश्चयसे निर्विचिकित्सित सम्यग्दृष्टि जानना चाहिए।।२३१।।

आगे अमूढदृष्टि अंगका स्वरूप कहते हैं --

---

१. मोहबाध करे ज. वृ. । २. जो ण करेदि दु कंखं ज. वृ. । ३. गिंछो ज. वृ. ।

[१]जो हवइ असंमूढो, चेदा सद्दिट्ठि सव्वभावेसु।
सो खलु अमूढदिट्ठी, सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो।।२३२।।

जो जीव सब भावोंमें मूढ़ नहीं होता हुआ यथार्थ दृष्टिवाला होता है उसे निश्चयसे अमूढ़दृष्टि सम्यग्दृष्टि जानना चाहिए।।२३२।।

आगे उपगूहन अंग का लक्षण कहते हैं --

जो सिद्धभत्तिजुत्तो, उवगूहणगो दु सव्वधम्माणं।
सो [२]उवगूहणकारी, सम्मादिट्ठी [३]मुणेयव्वो।।२३३।।

जो सिद्धभक्तिसे युक्त हो समस्त धर्मोंका उपगूहन करनेवाला हो उसे उपगूहन अंगका धारी सम्यग्दृष्टि जानना चाहिए।।२३३।।

आगे स्थितिकरण अंगका लक्षण कहते हैं --

उम्मंगं गच्छंतं, [४]सगंपि मग्गे ठवेदि जो चेदा।
सो ठिदिकरणाजुत्तो, सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो।।२३४।।

जो जीव न केवल परको किंतु उन्मार्गमें जानेवाले अपने आत्माको भी समीचीन मार्गमें स्थापित करता है उसे स्थितिकरण अंगसे युक्त सम्यग्दृष्टि जानना चाहिए।।२३४।।

आगे वात्सल्य अंगका स्वरूप कहते हैं --

जो कुणदि वच्छलत्तं, तियेह [५] साहूण मोक्खमग्गम्मि।
सो वच्छलभावजुदो, सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो।।२३५।।

जो जीव, आचार्य उपाध्याय तथा साधुरूप मुनियोंके त्रिकमें और सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र स्वरूप मोक्षमार्गमें वत्सलता करता है उसे वात्सल्यभावसे युक्त सम्यग्दृष्टि जानना चाहिए।।२३५।।

आगे प्रभावना अंगका स्वरूप कहते हैं --

विज्जारहमारूढो, मणोरहपहेसु[६] भमइ जो चेदा।
सो जिणणाणपहावी, सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो।।२३६।।

जो जीव विद्यारूपी रथपर आरूढ होकर मनरूपी रथके मार्गमें भ्रमण करता है उसे जिनेंद्रदेवके ज्ञानकी प्रभावना करनेवाला सम्यग्दृष्टि जानना चाहिए।।२३६।।

इस प्रकार निर्जराधिकार पूर्ण हुआ।

*

१. जो हवदि अंमूढो चेदा सव्वेसु कम्मभावेसु। ज. वृ.। २. उपगूहणगारी ज. वृ.। ३. मुणेदव्वो ज. वृ.।
४. शिवमग्गे ज. वृ.। ५. तिण्हे ज. वृ.। ६. मणोहरएसु हणदि जो चेदा ज. वृ.।

बन्धाधिकारः

आगे बंधका कारण कहते हैं

जह णाम कोवि पुरिसो, णेहभत्तो दु रेणुबहुलम्मि।
ठाणम्मि ठाइदूण य, करेइ सत्थेहि वायामं।।२३७।।
छिंददि भिंददि य तहा, तालीतलकयलिवंसपिंडीओ।
सच्चित्ताचित्ताणं, करेइ दव्वाणमुवघायं।।२३८।।
उवघायं कुव्वंतस्स, तस्स णाणाविहेहिं करणेहिं।
णिच्छयदो चिंतिज्ज हु, किं पच्चयगो दु रयबंधो।।२३९।।
जो सो दु णेहभावो, तम्हि णरे तेण तस्स रयबंधो।
णिच्छयदो विण्णेयं, ण कायचेट्ठाहिं सेसाहिं।।२४०।।
एवं मिच्छादिट्ठी, वट्टंतो बहुविहासु चिट्ठासु।
रायाई उवओगे, कुव्वंतो लिप्पइ रयेण।।२४१।।

यह प्रकट है कि जिस प्रकार शरीरमें तेल लगाये हुए कोई पुरुष बहुत धूलिवाले स्थानमें स्थित होकर शस्त्रोंद्वारा व्यायाम करता है तथा ताल तमाल केला बाँस अशोक आदि वृक्षोंको छेदता है भेदता है, सचित्त अचित्त पदार्थोंका उपघात करता है। इस प्रकार नाना प्रकारके करणोंसे उपघात करनेवाले उस पुरुषके निश्चयसे विचारो कि रजका बंध किंनिमित्तक है? उस मनुष्यमें जो स्नेहभाव है अर्थात् तेल के संबंधसे जो चिकनाई है उसीसे रजका बंध होता है यह निश्चयसे जानना चाहिए, शरीरकी अन्य चेष्टाओंसे रजका बंध नहीं होता है। इसी प्रकार मिथ्यादृष्टि जीव जो कि बहुत प्रकारकी चेष्टाओंमें वर्तमान है तथा अपने उपयोगमें रागादि भावोंको कर रहा है कर्मरूपी रजसे लिप्त होता है।।२३७-२४१।।

आगे उपयोगमें रागादिभाव न होनेसे सम्यग्दृष्टिके कर्मबंध नहीं होता है यह उदाहरण द्वारा स्पष्ट करते हैं --

जह पुण सो चेव णरो, णेहे सव्वम्हि अवणिये संते।
रेणुबहुलम्मि ठाणे, करेदि सत्थेहिं वायामं।।२४२।।
छिंददि भिंददि य तहा, तालीतलकयलिवंसपिंडीओ।
सच्चित्ताचित्ताणं, करेइ दव्वाणमुवघायं।।२४३।।

उवघायं कुव्वंतस्स, तस्स णाणाविहेहिं करणेहिं।
णिच्छयदो चिंतिज्जहु, किंपच्चयगो ण रयबंधो।।२४४।।
जो सो दुणेहभावो, तम्हि णरे तेण तस्स रयबंधो।
णिच्छयदो विण्णेयं, ण कायचेट्ठाहिं सेसाहिं।।२४५।।
एवं सम्मादिट्ठी, वट्टंतो बहुविहेसु जोगेसु।
अकरंतो उवओगे, रागाइ ण लिप्पइ रयेण।।२४६।।

जिस प्रकार फिर वही पुरुष समस्त चिकनाईके दूर किये जानेपर बहुत धूलिवाले स्थानमें शस्त्रोंद्वारा व्यायाम करता है तथा ताल तमाल केला बाँस अशोक आदि वृक्षोंको छेदता है भेदता है, सचित्त-अचित्त पदार्थोंका उपघात करता है। यहाँ नाना प्रकारके करणोंसे उपघात करनेवाले उस पुरुषके निश्चयसे विचारो कि रजका बंध नहीं हो रहा है सो किंनिमित्तक है? उस मनुष्यमें जो चिकनाई थी उसीसे रजका बंध होता था, शरीरकी अन्य चेष्टाओंसे नहीं। यह निश्चयसे जानना चाहिए। अब चूँकि उस चिकनाईका अभाव हो गया है अतः रजका बंधभी दूर हो गया है। इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि जीव जो कि यद्यपि बहुत प्रकारके योगोंमें -- मन वचन कायके व्यापारोंमें प्रवर्तमान है तथापि उपयोगमें रागादि भाव नहीं करता है इसलिए कर्मरूपी रजसे लिप्त नहीं होता है।।२४२-२४६।।

आगे अज्ञानी और ज्ञानी जीवकी विचारधारा प्रकट करते हैं --

जो मण्णदि हिंसामि य, हिंसिज्जामि य परेहिं सत्तेहिं।
सो मूढो अण्णाणी, णाणी एत्तो दु विवरीदो।।२४७।।

जो पुरुष ऐसा मानता है कि मैं पर जीवको मारता हूँ और पर जीवोंके द्वारा मैं मारा जाता हूँ वह मूढ़ है, अज्ञानी है और जो इससे विपरीत है वह ज्ञानी है।।२४७।।

आगे उक्त विचार अज्ञान क्यों है? इसका उत्तर देते हैं --

आउक्खयेण मरणं, जीवाणं जिणवरेहिं पण्णत्तं।
आउं ण हरेसि तुमं, कह ते मरणं कयं तेसिं।।२४८।।
[१] आउक्खयेण मरणं, जीवाणं जिणवरेहिं पण्णत्तं।
आउं न हरंति तुहं, कह ते मरणं कयं तेहिं।।२४९।।

जीवोंका मरण आयुके क्षयसे होता है ऐसा जिनेंद्रदेवने कहा है, तुम किसी जीवकी आयुका हरण नहीं करते हो, फिर तुमने मरण कैसे किया? आयुके क्षयसे जीवोंका मरण होता है ऐसा जिनेंद्रदेवने कहा है।

---

१. यह गाथा ज. वृ. में नहीं है।

परजीव तुम्हारी आयुका हरण नहीं कर सकते, तब फिर उनके द्वारा तुम्हारा मरण किस तरह किया जा सकता है?।।२४८-२४९।।

आगे मरणसे विपरीत जीवित रहनेका जो अध्यवसाय है वह भी अज्ञान है ऐसा कहते हैं -

[१]जो मण्णदि जीवेमि य, जीविज्जामि य परेहिं सत्तेहिं।
सो मूढो अण्णाणी, णाणी एत्तो दु विपरीदो।।२५०।।

जो ऐसा मानता है कि मैं पर जीवोंको जीवित करता हूँ और पर जीवोंके द्वारा मैं जीवित होता हूँ वह मूढ़ है, अज्ञानी है और इससे जो विपरीत है वह ज्ञानी है।।२५०।।

आगे उक्त विचार अज्ञान क्यों है? इसका उत्तर कहते हैं --

आऊदयेण जीवदि, जीवो एवं भणंति सव्वण्हू।
आउं च ण देसि तुमं, कहं तए जीवियं कयं तेसिं।।२५१।।
[२]आऊदयेण जीवदि, जीवो एवं भणंति सव्वण्हू।
आउं च ण दिंति तुहं, कहं णु ते जीवियं कयं तेहिं।।२५२।।

जीव आयु के उदयसे जीवित रहता है ऐसा सर्वज्ञदेव कहते हैं। तुम किसीको आयु नहीं देते फिर तुमने उसका जीवन कैसे किया? आयुके उदयसे जीव जीवित रहता है ऐसा सर्वज्ञदेव कहते हैं। तुम्हें कोई आयु नहीं देता फिर उनके द्वारा तुम्हारा जीवन कैसे किया गया?।।२५१-२५२।।

आगे किसीको दुःखी-सुखी करनेका जो विचार है उसकी भी यही गति है यह कहते हैं --

जो अप्पणा दु मण्णदि, दुक्खिदसुहिदे करेमि सत्तेति।
सो मूढो अण्णाणी, णाणी सत्तो दु विवरीदो।।२५३।।

जो ऐसा मानता है कि मैं अपने द्वारा दूसरे जीवोंको दुःखी-सुखी करता हूँ, वह मूढ़ है, अज्ञानी है और इससे जो विपरीत है वह ज्ञानी है।।२५३।।

आगे उक्त विचार अज्ञान क्यों है? इसका उत्तर देते हैं --

[३]कम्मोदएण जीवा, दुक्खिद सुहिदा हवंति जदि सव्वे।
कम्मं च ण देसि तुमं, दुक्खिदसुहिदा कहं कया ते।।२५४।।
कम्मोदएण जीवा, दुक्खिद सुहिदा हवंति जदि सव्वे।
कम्मं च ण दिंति तुहं, कदोसि कहं दुक्खिदो तेहिं।।२५५।।

---

१. यह गाथा ज. वृ.में नहीं है। २. यह गाथा भी ज. वृ. में नहीं है।

३.'कम्मणिमित्तं सव्वे दुक्खिदसुहिवा हवंति जदि सत्ता' ज. वृ.

कम्मोदएण जीवा, दुक्खिद सुहिदा हवंति जदि सव्वे।
कम्मं च ण दिंति तुहं, कह तं सुहिदो कदो तेहिं।।२५६।।

सब जीव कर्मके उदयसे यदि दुःखी-सुखी होते हैं तो तू उन्हें कर्म नहीं देता है, फिर तेरे द्वारा वे कैसे दुःखी-सुखी किये गये? यदि कर्मके उदयसे सब जीव दुःखी-सुखी होते हैं तो अन्य जीव तुझे कर्म तो देते नहीं, फिर उनके द्वारा तू दुःखी कैसे किया गया? यदि समस्त जीव कर्मके उदयसे दुःखी-सुखी होते हैं तो अन्य जीव तुझे कर्म तो देते नहीं, फिर तू उनके द्वारा सुखी कैसे किया गया?।।२५४-२५६।।

आगे इसी अर्थको फिर कहते हैं --

जो मरइ जो य दुहिदो, जायदि कम्मोदयेण सो सव्वो।
तम्हा दु मारिदो दे, दुहाविदो चेदि ण हु मिच्छा।।२५७।।
जो ण मरदि ण य दुहिदो, [१]सो वि य कम्मोदयेण चेव खलु।
तम्हा ण मारिदो णो, दुहाविदो चेदि ण हु मिच्छा।।२५८।।

जो मरता है और जो दुःखी होता है वह सब अपने कर्मोदयसे होता है इसलिए अमुक व्यक्ति तेरे द्वारा मारा गया तथा अमुक व्यक्ति दुःखी किया गया यह अभिप्राय क्या मिथ्या नहीं है? मिथ्या ही है। जो नहीं मरता है और नहीं दुःखी होता है वह सब यथार्थमें अपने कर्मोदयसे होता है इसलिए अमुक व्यक्ति तेरे द्वारा नहीं मारा गया, नहीं दुःखी किया गया वह अभिप्राय क्या मिथ्या नहीं है? मिथ्या ही है।।२५७-२५८।।

आगे उक्त विचार ही बंधके कारण हैं यह कहते हैं --

एसा दु जा मई दे, दुक्खिद-सुहिदे करेमि सत्तेति।
एसा दे मूढमई, सुहासुहं बंधए कम्मं।।२५९।।

मैं जीवोंको दुःखी और सुखी करता हूँ यह जो बुद्धि है सो मूढ़ बुद्धि है। यह मूढ़ बुद्धि ही शुभ अशुभ कर्मोंको बाँधती है।।२५९।।

आगे मिथ्याध्यवसाय बंधका कारण है यह कहते हैं --

दुक्खिदसुहिदे सत्ते, करेमि जं एवमज्झवसिदं ते।
तं पावबंधगं वा, पुण्णस्स व बंधगं होदि।।२६०।।
मारेमि जीवावेमि य, सत्ते जं एवमज्झवसिदं ते।
तं पावबंधगं वा, पुण्णस्स व बंधगं होदि।।२६१।।

मैं जीवोंको दुःखी-सुखी करता हूँ यह जो तेरा अध्यवसाय है सो वह ही पापका बंध करनेवाला

---

१. सो वि य कम्मोदेण खलु जीवो ज. वृ.

अथवा पुण्यका बंध करनेवाला होता है। मैं सब जीवोंको मारता हूँ अथवा जीवित करता हूँ यह जो तेरा अध्यवसाय है वही पापका बंध करनेवाला अथवा पुण्यका बंध करनेवाला होता है।।२६०-२६१।।

आगे हिंसाका अध्यवसाय ही हिंसा है यह कहते हैं --

अज्झवसिदेण बंधो, सत्ते [१]मारेउ मा व [२]मारेउ।
एसो बंधसमासो, जीवाणं णिच्छयणयस्स।।२६२।।

अध्यवसायसे बंध होता है, जीवोंको मारो अथवा मत मारो। यह निश्चय नयकी अपेक्षा जीवोंके बंधका संक्षेप है।।२६२।।

आगे हिंसाके अध्यवसायके समान असत्य वचन आदिका अध्यवसाय भी बंधका कारण है यह कहते हैं --

एवमलिये अदत्ते, अबंभचेरे परिग्गहे चेव।
कीरइ अज्झवसाणं, जं तेण दु बज्झए पावं।।२६३।।
तहवि य सच्चे दत्ते, बंभे अपरिग्गहत्तणे चेव।
कीरइ अज्झवसाणं, जं तेण दु बज्झए पुण्णं।।२६४।।

इसी प्रकार असत्य, चौर्य, अब्रह्म और परिग्रहके विषयमें जो अध्यवसाय किया जाता है उससे पापका बंध होता है तथा सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रहपनेके विषयमें जो अध्यवसाय किया जाता है उससे पुण्यका बंध होता है।।२६३-२६४।।

आगे कहते हैं कि बाह्य वस्तु बंधका कारण नहीं है --

वत्थुं पडुच्च जं पुण, अज्झवसाणं तु होइ जीवाणं।
ण य वत्थुदो दु बंधो, अज्झवसाणेण बंधोत्थि।।२६५।।

जीवोंके जो अध्यवसान है वह वस्तुके अवलंबनसे होता है, वस्तुसे बंध नहीं होता है। किंतु अध्यवसानसे बंध होता है।।२६५।।

आगे जीव जैसा अध्यवसाय करता है वैसी कार्यकी परिणति नहीं होती यह कहते हैं --

दुक्खिदसुहिदे जीवे, करेमि बंधेमि तह विमोचेमि।
जा एसा मूढमई, णिरत्थया सा हु दे मिच्छा।।२६६।।

मैं जीवोंको दुःखी-सुखी करता हूँ, बँधाता हूँ अथवा छुड़ाता हूँ यह जो तेरी मूढ़ बुद्धि है वह निरर्थक है, इसलिए निश्चयसे मिथ्या है।।२६६।।

---

१. मारेहि ज. वृ.। २. मारेहि ज. वृ.।

आगे अध्यवसान स्वार्थक्रियाकारी किस प्रकार नहीं है यह कहते हैं --

अज्झवसाणणिमित्तं, जीवा बज्झंति कम्मणा जदि हि।
मुच्चंति मोक्खमग्गे, ठिदा य ता किं करोसि तुमं।।२६७।।[१]

यदि जीव अध्यवसानके कारण कर्मसे बँधते हैं और मोक्षमार्गमें स्थित हुए कर्मसे छूटते हैं तो इसमें तू क्या करता है?

भावार्थ -- यह जो बाँधने-छोड़नेका अध्यवसान है उसने परमें कुछ भी नहीं किया। क्योंकि इसके न होनेपर जीव अपने सराग-वीतराग परिणामोंसे ही बंध-मोक्षको प्राप्त होता है और इसके होनेपर भी जीव अपने सराग-वीतराग परिणामोंके अभावमें बंध-मोक्षको प्राप्त नहीं होता। इसलिए अध्यवसान परमें अकिंचित्कर होनेसे स्वार्थक्रियाकारी नहीं है।।२६७।।

आगे रागादिके अध्यवसानसे मोहित हुआ जीव समस्त परद्रव्योंको अपना समझता है यह कहते हैं --

सव्वे करेइ जीवो, अज्झवसाणेण तिरियणेरइए।
देवमणुये य सव्वे, पुण्णं पावं च णेयविहं।।२६८।।
धम्माधम्मं च तहा, जीवाजीवे अलोयलोयं च।
सव्वे करेइ जीवो, अज्झवसाणेण अप्पाणं।।२६९।।

जीव अध्यवसानके द्वारा समस्त तिर्यंच, नारकी, देव, मनुष्य पर्यायोंको अपना करता है, अनेक प्रकारके पुण्य-पापको अपना करता है तथा धर्म, अधर्म, जीव, अजीव, अलोक व लोक सभीको अपना करता है।।२६८-२६९।।

आगे कहते हैं कि जिन मुनियोंके उक्त अध्यवसान नहीं है वे कर्मबंधसे लिप्त नहीं हैं --

---

१. २६७ की गाथाके आगे ज. वृ. में निम्नांकित गाथा अधिक पाये जाते हैं --

कायेण दुक्खवेमिय, सत्ते एवं जु जं मदिं कुणसि।
सवावि एस मिच्छा, दुहिदा कम्मेण जदि सत्ता।।
वाचाए दुक्खवेनिय, सत्ते एवं तु जं मदिं कुणसि।
सवावि एस मिच्छा, दुहिदा कम्मेण जदि सत्ता।।
मणसावि दुक्खवेमिय, सत्ते एवं तु जं मदिं कुणसि।
सवावि एस मिच्छा, दुहिदा कम्मेण जदि सत्ता।।
सच्छेण दुक्खवेमिय, सत्ते एवं तु जं मदिं कुणसि।
सवावि एस मिच्छा, दुहिदा कम्मेण जदि सत्ता।।
कायेण च वाचा वा मणेण सुहिदे करेमि सत्तेति।
एवं पि हवदि मिच्छा सुहिदा कम्मेण जदि सत्ता।। ज. वृ.

एदाणि णत्थि जेसिं, अज्झवसाणाणि एवमादीणी।
ते असुहेण सुहेण व, कम्मेण मुणी ण लिप्पंति[१]।।२७०।।

ये तथा इस प्रकारके अन्य अध्यवसान जिन मुनियोंके नहीं होते वे मुनि अशुभ अथवा शुभ कर्मसे लिप्त नहीं होते हैं।।२७०।।

आगे अध्यवसानकी नामावली कहते हैं --

बुद्धी ववसाओ वि य, अज्झवसाणं मई य विण्णाणं।
एकट्ठमेव सव्वं, चित्तं भावो य परिणामो।।२७१।।

बुद्धि, व्यवसाय, अध्यवसान, मति, विज्ञान, चित्त, भाव और परिणाम ये सब एकार्थ ही हैं -- इनमें अर्थभेद नहीं है।।२७१।।

आगे व्यवहारनय निश्चयनयके द्वारा प्रतिषिद्ध है यह कहते हैं --

एवं ववहारणओ, पडिसिद्धो जाण णिच्छयणयेण।
[२]णिच्छयणयासिदा पुण, मुणिणो पावंति णिव्वाणं।।२७२।।

इस प्रकार व्यवहार नय निश्चय नय के द्वारा प्रतिषिद्ध है ऐसा जानो। जो मुनि निश्चय नयके आश्रित हैं वे मोक्षको पाते हैं।।२७२।।

आगे अभव्यके द्वारा व्यवहार नयका आश्रय क्यों किया जाता है? इसका उत्तर कहते हैं -

वदसमिदीगुत्तीओ, सीलतवं जिणवरेहिं पण्णत्तं।
कुव्वंतोवि अभव्वो, अण्णाणी मिच्छादिट्ठी दु।।२७३।।

अभव्य जीव, जिनेंद्र भगवानके द्वारा कहे हुए व्रत, समिति, गुप्ति, शील तथा तपको करता हुआ भी अज्ञानी और मिथ्यादृष्टि ही रहता है।।२७३।।

आगे कोई पूछता है कि अभव्यके तो ग्यारह अंग तकका ज्ञान होता है उसे अज्ञानी क्यों कहते हो? इसका उत्तर देते हैं --

मोक्खं असद्दहंतो, अभवियसत्तो दु जो अधीएज्ज।
पाठो ण करदि गुणं, असद्दहं तस्स णाणं तु।।२७४।।

मोक्ष तत्त्वकी श्रद्धा न करनेवाला अभव्य जो अध्ययन करता है उसका वह अध्ययन उसका कुछ

---

१. इसके आगे ज. वृ. में निम्न गाथा अधिक है --

जा संकप्पवियप्पो ता कम्मं कुणदि असुहसुहजणयं।
अप्पसरूवा रिद्धी जाव ण हियए परिप्फुरइ।। ज. वृ.

२. णिच्छयणसल्लीण ज. वृ.

भी गुण-लाभ नहीं करता है, क्योंकि उसके ज्ञानकी श्रद्धा नहीं है।।२७४।।

आगे फिर कोई पूछता है कि उसके धर्मका श्रद्धान तो है, उसका निषेध कैसे करते हो? इसका उत्तर देते हैं --

सद्दहदि य पत्तेदि य, रोचेदि य तह[१] पुणो य फासेदि ।
धम्मं भोगणिमित्तं, ण दु[२] सो कम्मक्खयणिमित्तं।।२७५।।

वह अभव्य जीव धर्मका श्रद्धान करता है, प्रतीति करता है, रुचि करता है और अनुष्ठानरूपसे स्पर्श करता है, परंतु भोगमें निमित्तभूत धर्मका श्रद्धान आदि करता है। कर्मक्षयमें निमित्तभूत धर्मका श्रद्धानादि नहीं करता।

भावार्थ -- अभव्य जीव शुभ-योगरूप धर्मका श्रद्धानादि करता है जो कि सांसारिक भोगोंका कारण है। शुद्धोपयोगरूप धर्मका श्रद्धानादि नहीं करता जो कि कर्मक्षयका कारण है।।२७५।।

आगे व्यवहारको प्रतिषेध्य और निश्चयको प्रतिषेधक कहा सो इनका क्या स्वरूप है? यह कहते हैं --

आयारादि णाणं, जीवादी दंसणं च विण्णेयं।
[३]छज्जीवणिकं च तहा, भणइ चरित्तं तु ववहारो।।२७६।।
आदा खु मज्झ [४]णाणं, आदा में दंसण[५] [६]चरित्तं च।
आदा पच्चक्खाणं[७], आदा मे संवरो[८] जोगो[९]।।२७७।।

आचारांग आदि शास्त्र ज्ञान है, जीवादि तत्त्वोंको दर्शन जानना चाहिए, यह निकायके जीव चारित्र हैं ऐसा व्यवहार नय कहता है। और निश्चयसे मेरा आत्मा ही ज्ञान है, मेरा आत्मा ही दर्शन और चारित्र है, मेरा आत्मा ही प्रत्याख्यान है तथा मेरा आत्मा ही संवर और योग है ऐसा निश्चय नय कहता है।।२७६-२७७।।

आगे रागादिके होनेमें कारण क्या है? इसका उत्तर देते हैं --

जह फलिहमणी सुद्धो, ण सयं परिणमइ रायमाईहिं।
रंगिज्जदि अण्णेहिं दु, सो रत्तादीहिं दव्वेहिं।।२७८।।
एवं णाणी सुद्धो, ण सयं परिणमइ रायमाईहिं।
राइज्जदि अण्णेहिं दु, सो रागादीहिं दोसेहिं।।२७९।।

---

१. पुणो वि ज. वृ.। २. हु ज. वृ.। ३. छज्जीवाणं रक्खा ज. वृ.। ४. णाणे । ५. दंसणे। ६.चरित्ते। ७. पच्चक्खाणे। ८. संवरे। ९. जोगे ज. वृ.।

जैसे स्फटिकमणि स्वयं शुद्ध है, वह राग-लालिमा आदिरूप स्वयं परिणमन नहीं करता, किंतु अन्य लाल आदि द्रव्योंसे लाल आदि रंग रूप हो जाता है। इसी प्रकार ज्ञानी स्वयं शुद्ध है, वह राग-प्रीति आदि रूप स्वयं परिणमन नहीं करता किंतु अन्य रागादि दोषोंसे रागादि रूप हो जाता है।।२७८-२७९।।

आगे ज्ञानी रागादिका कर्ता क्यों नहीं है? इसका उत्तर देते हैं --

ण[१] य रायदोस मोहं, कुव्वदि णाणी कसायभावं वा।
सयमप्पणो ण सो तेण कारगो तेसि भावाणं।।२८०।।

ज्ञानी स्वयं राग द्वेष मोह तथा कषायभावको नहीं करता है इसलिए वह उन भावोंका कर्ता नहीं है।। २८०।।

आगे अज्ञानी रागादिका कर्ता है यह कहते हैं --

रायम्हि य दोसम्हि य, कसायकम्मेसु चेव जे भावा।
[२]तेहिं दु परिणमंतो, रायाई बंधदि पुणोवि।।२८१।।

राग, द्वेष और कषाय कर्मके होनेपर जो भाव होते हैं उनसे परिणमता हुआ अज्ञानी जीव रागादिको बार बार बाँधता है।।२८१।।

आगे उक्त कथनसे जो बात सिद्ध हुई उसे कहते हैं --

रायम्हि य दोसम्हि य, कसायकम्मेसु चेव जे भावा।
[३]तेहिं दु परिणमंतो, रायाई बंधदे चेदा।।२८२।।

राग, द्वेष और कषाय कर्मके रहते हुए जो भाव होते हैं उनसे परिणमता आत्मा रागादिको बाँधता है।।२८२।।

आगे कोई प्रश्न करता है कि जब अज्ञानीके रागादिक फिर कर्मबंधके कारण हैं तब ऐसा क्यों कहा जाता है कि आत्मा रागादिकका अकर्ता ही है? इसका समाधान करते हैं --

अपडिक्कमणं दुविहं, अपच्चक्खाणं तहेव विण्णेयं।
[४]एएणुवएसेण य, अकारओ वण्णिओ चेया।।२८३।।
अपडिक्कमणं दुविहं, दव्वे भावे तहा अपच्चक्खाणं।
[५]एएणुवएसेण य, अकारओ वण्णिओ चेया।।२८४।।

---

१. णवि ज. वृ. २. ते सम ज. वृ.। ३. ते मम दु ज. वृ.। ४. एदेणुवदेसेण दु अकारगो वण्णिदो चेदा। ज. वृ.।
५. एदेणुवदेसेण दु अकारगो वण्णिदो चेदा। ज. वृ.।

[१]जावं अपडिक्कमणं, अपच्चखाणं च दव्वभावाणं।
[२]कुव्वइ आदा तावं, कत्ता सो होइ णायव्वो।।२८५।।

जिस प्रकार अप्रतिक्रमण दो प्रकारका है उसी प्रकार अप्रत्याख्यान भी दो प्रकारका जानना चाहिए। इस उपदेशसे आत्मा अकारक कहा है। अप्रतिक्रमण दो प्रकार है -- एक द्रव्यमें दूसरा भावमें। इसी प्रकार अप्रत्याख्यान भी दो प्रकारका है -- एक द्रव्यमें दूसरा भावमें। इस उपदेशसे आत्मा अकारक है। जब आत्मा द्रव्य और भाव में अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान करता है तबतक वह आत्मा कर्ता होता रहता है यह जानना चाहिए।।२८३-२८५।।

आगे द्रव्य और भावमें जो निमित्त नैमित्तिकपना है उसे उदाहरणद्वारा स्पष्ट करते हैं --

[३]आधाकम्माईया, पुग्गलदव्वस्स जे इमे दोसा।
कह ते कुव्वइ णाणी, परदव्वगुणा उ जे णिच्चं।।२८६।।
आधाकम्मं उद्देसियं, च पुग्गलसयं इमं दव्वं।
कह तं मम होइ कयं, जं णिच्चमचेयणं उत्तं।।२८७।।

अधःकर्मको आदि लेकर पुद्गल द्रव्यके जो दोष हैं उन्हें ज्ञानी कैसे कर सकता है? क्योंकि ये निरंतर परद्रव्यके गुण हैं। और यह जो अधःकर्म तथा उद्देश्यसे उत्पन्न हुआ पुद्गल द्रव्य है वह मेरा कैसे हो सकता है? वह तो निरंतर अचेतन कहा गया है।

भावार्थ -- जो आहार पापकर्मके द्वारा उत्पन्न हो उसे अधःकर्मनिष्पन्न कहते हैं और जो आहार किसीके निमित्त बना हो उसे औद्देशिक कहते हैं। मुनिधर्ममें उक्त दोनों प्रकारके आहार दोषपूर्ण माने गये हैं। ऐसे आहारको जो सेवन करता है उसके वैसे ही भाव होते हैं, क्योंकि लोकमें प्रसिद्ध है कि जो जैसा अन्न खाता है उसकी बुद्धि वैसी ही होती है। इस प्रकार द्रव्य और भावका निमित्त नैमित्तिकपना जानना चाहिए। द्रव्यकर्म निमित्त हैं और उसके उदयमें होनेवाले रागादि भाव नैमित्तिक हैं। अज्ञानी जीव परद्रव्यको ग्रहण करता है -- उसे अपना मानता है, इसलिए उसके रागादिभाव होते हैं। उनका वह कर्ता भी होता है और उसके फलस्वरूप कर्मका बंध भी करता है, परंतु ज्ञानी जीव किसी परद्रव्यको ग्रहण नहीं करता -- अपना नहीं मानता। इसलिए उसके तद्विषयक रागादिभाव उत्पन्न नहीं होते। उनका यह कर्ता नहीं होता और फलस्वरूप नूतन कर्मोंका बंध नहीं करता।।२८६-२८७।।

इस प्रकार बंधाधिकार पूर्ण हुआ।

*

१.जाव ण पच्चक्खाणं अपडिक्कमणं तु दव्वभावाणं २. कुव्वदि आदा तावदु कत्ता सो होदि णादव्वो। ज. वृ. ।

३. आधाकम्मादीया पुग्गलदव्वस्स जे इमे दोसा। कहमणुमण्णदि अण्णेण कीरमाणा परस्स गुणा।।
आधाकम्मं उद्देसियं च पोग्गल मयं इमं सव्वं। कह तं मम कारविदं जं णिच्चं मचेदणं वुत्तं।। ज. वृ.

मोक्षाधिकारः

आगे जो पुरुष बंधका स्वरूप जानकर ही संतुष्ट हो जाते हैं, उसके नष्ट करनेका प्रयास नहीं करते उनके मोक्ष नहीं होता यह कहते हैं --

जह णाम कोवि पुरिसो, बंधणायम्हि चिरकालपडिबद्धो।
तिव्वं मंदसहावं, कालं च वियाणए तस्स।।२८८।।
जइ णवि कुणइ च्छेदं, ण मुच्चए तेण बंधणवसो सं।
कालेण उ बहुएणवि, ण सो णरो पावइ विमोक्खं।।२८९।।
इय कम्मबंधणाणं, [१]पएसठिइपयडिमेवमणुभागं।
जाणंतो वि ण मुच्चइ, [२]मुच्चइ सो चेव जइ सुद्धो।।२९०।।

जिस प्रकार कोई पुरुष बंधनमें बहुत कालका बँधा हुआ उस बंधनके तीव्र मंद स्वभाव तथा समयको जानता है, परंतु उसका छेदन नहीं करता है तो वह पुरुष बंधनका वशीभूत हुआ बहुत कालमें भी उससे मोक्ष - छुटकारा नहीं पाता है उसी प्रकार जो पुरुष कर्मबंधके प्रदेश, स्थिति, प्रकृति तथा अनुभाग रूप भेदोंको जानता हुआ भी उनका छेदन नहीं करता वह कर्मबंधनसे मुक्त नहीं होता है। यदि वह शुद्ध होता है -- रागादि भावोंको दूर कर अपनी परिणतिको निर्मल बनाता है तो मुक्त होता है।।२८८-२९०।।

आगे बंधकी चिंता करनेपर भी बंध नहीं कटता है यह कहते हैं --

जह बंधे चिंतंतो, बंधणबद्धो ण [३]पावइ विमोक्खं।
तह बंधे चिंतंतो, जीवोवि ण [४]पावइ विमोक्खं।।२९१।।

जैसे बंधनसे बँधा हुआ पुरुष बधनकी चिंता करता हुआ भी उससे मोक्ष -- छुटकारा नहीं पाता, उसी प्रकार कर्मबंधकी चिंता करता हुआ जीव भी उससे मोक्षको नहीं पाता है।।२९१।।

आगे तो फिर मोक्षका कारण क्या है? इसका उत्तर देते हैं --

जह बंधे [५]छित्तूण य, बंधणबद्धो उ [६]पावइ विमोक्खं।
तह बंधे [७]चित्तूण य, जीवो [८]संपावइ विमोक्खं।।२९२।।

---

१. पदेशपयडिट्ठिदीय ज. वृ.।
२. मुंचदि सव्वे जदि विसुद्धो। ज. वृ.। (मुंचदि सव्वे जदि स बंधे) पाठान्तरम्। ज. वृ.।
३-४. पावदि। ज. वृ.। ५. मुत्तूण य। ६. पावदि। ७. मुत्तूण य। ८. संपावदि ज. वृ.।

जिस प्रकार बंधनसे बँधा हुआ पुरुष बंधनोंको छेदकर मोक्षको पाता है उसी प्रकार जीव कर्मबंधनोंको छेदकर मोक्षको पाता है।।२९२।।

आगे क्या यही मोक्षका हेतु है या अन्य कुछ भी? इसका उत्तर देते हैं --

बंधाणं च सहावं, वियाणिओ अप्पणो सहावं च।
बंधेसु [1]जो विरज्जदि, सो कम्मविमोक्खणं [2]कुणई।।२९३।।

जो बंधोंका स्वभाव और आत्माका स्वभाव जानकर बंधोंमें विरक्त होता है वह कर्मोंका मोक्ष करता है।।२९३।।

आगे पूछते हैं कि आत्मा और बंध पृथक् पृथक् किससे किये जाते हैं --

जीवो बंधो य तहा, छिज्जंति सलक्खणेहिं णियएहिं।
पण्णाछेदणएण [3]उ, छिण्णा णाणत्तमावण्णा।।२९४।।

जीव और बंध ये दोनों अपने-अपने नियम लक्षणोंसे बुद्धिरूपी छैनीके द्वारा इस प्रकार छेदे जाते हैं कि वे नानापनेको प्राप्त हो जाते हैं।।२९४।।

आगे कोई पूछता है कि आत्मा और बंधको द्विधा करके क्या करना चाहिए? इसका उत्तर कहते हैं --

जीवो बंधो य तहा, छिज्जंति सलक्खणेहिं णियएहिं।
बंधो छेएवव्वो[4], सुद्धो अप्पा य घेत्तव्वो।।२९५।।

अपने अपने निश्चित लक्षणोंके द्वारा जीव और बंधको उस तरह भिन्न करना चाहिए जिस तरह कि बंध छिद जावे और शुद्ध आत्माका ग्रहण हो जावे।।२९५।।

आगे कहते हैं कि आत्मा और बंधको द्विधा करनेका यही प्रयोजन है कि बंधको छोड़कर शुद्ध आत्माका ग्रहण हो जावे --

कह सो घिप्पइ[5] अप्पा, पण्णाए सो उ घिप्पए[6] अप्पा।
जह पण्णाइ विहत्तो, तह पण्णाएव घित्तव्वो।।२९६।।

शिष्य पूछता है कि उस आत्माका ग्रहण किस प्रकार होता है? आचार्य उत्तर देते हैं कि प्रज्ञाके द्वारा उस आत्माका ग्रहण होता है। जिस प्रकार प्रज्ञासे उसे पहले भिन्न किया था उसी प्रकार प्रज्ञासे ही उसे ग्रहण करना चाहिए।।२९६।।

आगे पूछते हैं कि प्रज्ञाके द्वारा आत्माका ग्रहण किस प्रकार करना चाहिए? --

---

१. जो ण रज्जदि ज. वृ.। २. कुणदि ज. वृ.। ३. दु ज. वृ.। ४. छेदेदव्वो ज. वृ.। ५. घिप्पदि ज. वृ.। ६. घिप्पदे ज.वृ.।

पण्णाए घित्तव्वो, जो चेदा सो अहं तु णिच्छयदो।
अवसेसा जे भावा, ते मज्झ परेत्ति णायव्वा।।२९७।।

जो चेतनस्वरूप आत्मा है वह निश्चयसे मैं हूँ इस प्रकार प्रज्ञाके द्वारा ग्रहण करना चाहिए और बाकी जो भाव हैं वे मुझसे परे हैं ऐसा जानना चाहिए।।२९७।।

आगे मैं ज्ञाता दृष्टा हूँ ऐसा प्रज्ञाके द्वारा ग्रहण करना चाहिए --

पण्णाए घित्तव्वो, जो दट्ठा अहं तु णिच्छयओ।
अवसेसा जे भावा, ते मज्झ परेत्ति णायव्वा।।२९८।।
पण्णाए घित्तव्वो, जो आदा सो अहं तु णिच्छयदो।
अवसेसा जे भावा, ते मज्झ परेत्ति णादव्वा।।२९९।।

प्रज्ञाके द्वारा इस प्रकार ग्रहण करना चाहिए कि जो द्रष्टा है -- देखनेवाला है वह निश्चयसे मैं हूँ और अवशिष्ट जो भाव हैं वे मुझसे पर हैं ऐसा जानना चाहिए। प्रज्ञाके द्वारा इस प्रकार ग्रहण करना चाहिए कि जो ज्ञाता है निश्चयसे मैं हूँ, बाकी जो भाव हैं वे मुझसे पर हैं ऐसा जानना चाहिए।।२९८-२९९।।

आगे इसी बातका समर्थन करते हैं --

को णाम भणिज्ज बुहो, [१]णाउं सव्वे पराइए भावे।
मज्झमिणंति य वयणं, जाणंतो अप्पयं सुद्धं।।३००।।

शुद्ध आत्माको जानता हुआ कौन ज्ञानी समस्त परभावोंको जानकर ऐसे वचन कहेगा कि ये भाव मेरे हैं? अर्थात् कोई नहीं।।३००।।

आगे अपराध बंधका कारण है यह दृष्टांत द्वारा सिद्ध करते हैं --

[२]थेयाई अवराहे, कुव्वदि जो सो उ[३] संकिदो भमइ।
मा वज्झेज्जं[४] केणवि, चोरोत्ति जणम्मि[५] वियरंतो।।३०१।।
जो ण कुणइ[६] अवराहे, सो णिस्संको दु जणवए भमदि।
ण वि तस्स वज्झिदुं[७] जे, चिंता उप्पज्जदि कयाइ[८]।।३०२।।
एवं हि सावराहो, वज्झामि अहं तु संकिदो चेया[९]।
जइ[१०] पुण णिरवराहो, णिस्संकोहं ण वज्झामि।।३०३।।

---

१. णाउं सव्वे परोदए भावे ज. वृ.। २. तेयादी। ३. ससंकिदो। ४. वज्झेहं। ५. जणसि। ६. कुणदि। ७. वज्झिद। ८. कयावि। ९. चेदा। १०. जो ज. वृ. ।

जो पुरुष चोरी आदि अपराधोंको करता है वह इस प्रकार शंकित होकर घूमता है कि मैं मनुष्योंमें विचरण करता हुआ 'चोर है' यह समझकर बाँधा न जाऊँ? इसके विपरीत जो अपराध नहीं करता वह निःशंक होकर देशमें घूमता है, उसे बँधनेकी चिंता कभी भी उत्पन्न नहीं होती। इस प्रकार यदि मैं अपराध सहित हूँ तो बँधूँगा इस शंकासे युक्त आत्मा रहता है। और यदि मैं निरपराध हूँ तो निःशंक हूँ और कर्मोंसे बंधको प्राप्त नहीं होऊँगा।।३०१-३०३।।

आगे यह अपराध क्या है? इसका उत्तर देते हैं --

संसिद्धिराधसिद्धं, [१]साधियमाराधियं च एयट्ठं।
अवगयराधो जो खलु, चेया सो होइ अवराधो।।३०४।।
[२]जो पुण णिरवराधो, चेया णिस्संकिओ उ सो होइ।
आराहणए णिच्चं, वट्टेइ अहं ति जाणंतो।।३०५।।

संसिद्धि, राध, सिद्ध, साधित और आराधित ये सब एकार्थ हैं। इसलिए जो आत्मा राधसे रहित हो वह अपराध है। और जो आत्मा निरपराध है -- अपराधसे रहित है वह निःशंकित है तथा 'मैं हूँ' इस प्रकार जानता हुआ निरंतर आराधनासे युक्त रहता है।

भावार्थ -- शुद्ध आत्माकी सिद्धि अथवा साधनको राध कहते हैं। जिसके यह नहीं है वह आत्मा सापराध है और जिसके यह हो वह निरपराध है। सापराध पुरुषके बंधकी शंका संभव है इसलिए वह अनाराधक है और निरपराध पुरुष निःशंक हुआ अपने उपयोगमें लीन होता है उस समय बंधकी चिंता नहीं होती। वह सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र तथा तपका एकभावरूप जो निश्चय आराधना है उसका आराधक होता है।।३०४-३०५।।

आगे कोई प्रश्न करता है कि शुद्ध आत्माकी उपासनासे क्या फल है? क्योंकि प्रतिक्रमणादिके द्वारा ही सापराध आत्मा शुद्ध हो जाती है। अप्रतिक्रमण आदिसे अपराध दूर नहीं होता इसलिए उन्हें अन्यत्र विषकुंभ कहा है और प्रतिक्रमण आदिसे अपराध दूर हो जाता है इसलिए अमृतकुंभ कहा है[३]। इसका उत्तर कहते हैं --

---

१. ..... 'साधिदमाराधिकं च एयट्ठो। अवगदराधो जो खलु चेदा सो होदि अवराहो ' ज. वृ।

२. यह गाथा ज. वृ. में नहीं है।

३. उक्तं च व्यवहारसूत्रे आ. वृ. , तथा चोक्ते चिरन्तनप्रायश्चित्तग्रन्थे --

अपडिक्कमणं अपरिसरणं अप्पडिहारो अधारणा चेव।
अणियत्ती य अणिंदा अगरुहा सोहीय विसकुंभो।।१।।
पडिकमणं पडिसरणं परिहरणं धारणा णियत्ती य।
णिंदा गरुहा सोही अट्ठविहो अमयकुंभो दु।।

पडिकमणं पडिसरणं, परिहारो धारणा णियत्ती[१] य।
णिंदा गरहा सोही, अट्ठविहो होइ विसकुंभो।।३०६।।
अपडिकमणं अपडिसरणं अप्परिहारो अधारणा चेव।
अणियत्ती य अणिंदा, गरहा सोही अमयकुंभो।।३०७।।

प्रतिक्रमण, प्रतिसरण, परिहार, धारणा, निवृत्ति, निंदा, गर्हा और शुद्धि इस तरह आठ प्रकारका विषकुंभ[२] होता है और अप्रतिक्रमण, अप्रतिसरण, अपरिहार, अधारणा, अनिवृत्ति, अनिंदा, अगर्हा और अशुद्धि इस तरह आठ प्रकारका अमृतकुंभ होता है।।

भावार्थ -- यद्यपि द्रव्य प्रतिक्रमणादि दोषके मेंटनेवाले हैं परंतु शुद्ध आत्माका स्वरूप प्रतिक्रमणादि रहित है। शुद्ध आत्माके आलंबनके बिना द्रव्य प्रतिक्रमणादि दोषस्वरूप ही है। मोक्षमार्गमें उसी व्यवहार नय का आलंबन ग्राह्य माना गया है जो निश्चय की अपेक्षा से सहित होता है। अज्ञानी जीव के प्रतिक्रमणादि विषकुंभ तो हैं ही, परंतु ज्ञानी जीवके भी व्यवहार चारित्र में जो प्रतिक्रमणादि कहे हैं वे भी निश्चय कर विषकुंभ ही हैं, यथार्थमें आत्मा प्रतिक्रमणादि रहित शुद्ध अप्रतिक्रमणादि स्वरूप है ऐसा जानना चाहिए।।३०६-३०७।।

इस प्रकार मोक्षाधिकार समाप्त हुआ।

*

१. परिहरणं धारणा णियत्ती य। ज. वृ.

सर्वविशुद्ध ज्ञानाधिकार

आगे आत्मा अकर्ता है यह दृष्टांतपूर्वक कहते हैं --

दवियं जं उपज्जइ, गुणेहिं तं तेहिं जाणसु अणण्णं।
जह कडयादीहिं दु, पज्जएहिं कणयं अणण्णमिह।।३०८।।
जीवस्साजीवस्स दु[1], जे परिणामा दु देसिया[2] सुत्ते।
तं जीवमजीवं वा, तेहिमणण्णं वियाणाहि।।
ण कुदोचि वि उप्पण्णो, जम्हा कज्जं ण तेण सो आदा।
उप्पादेदि ण किंचिवि, कारणमवि तेण ण स होइ।।३१०।।
कम्मं पडुच्च कत्ता, कत्तारं तह पडुच्च कम्माणि।
उप्पज्जंति[3] य णियमा, सिद्धी दु ण दीसए[4] अण्णा।।३११।।

इस लोकमें जिसप्रकार सुवर्ण अपने कटकादि पर्यायोंसे अनन्य -- अभिन्न है उसी प्रकार जो द्रव्य जिन गुणोंसे उत्पन्न होता है उसे उन गुणोंसे अनन्य -- अभिन्न जानो। आगममें जीव और अजीव द्रव्यके जो पर्याय कहे गये हैं जीव और अजीव द्रव्यको उनसे अभिन्न जानो। चूँकि आत्मा किसीसे उत्पन्न नहीं हुआ है इसलिए कार्य नहीं है और न किसीको उत्पन्न करता है इसलिए वह कारण भी नहीं है। कर्मको आश्रय कर कर्ता होता है और कर्ताको आश्रय कर कर्म उत्पन्न होते हैं ऐसा नियम है। कर्ता कर्मकी सिद्धि अन्यप्रकार नहीं देखी जाती।।३०८-३११।।

आगे आत्माका ज्ञानावरणादि कर्मोंके साथ जो बंध होता है वह अज्ञानका माहात्म्य है यह कहते हैं --

[5]चेया उ पयडीयट्ठं, उप्पज्जइ विणस्सइ।
पयडीवि चेययट्ठं, उप्पज्जइ विणस्सइ।।३१२।।
एवं बंधो उ दुण्हं पि, अण्णोण्णप्पच्चया हवे।
अप्पणो पयडीए य, संसारो तेण जायए[6]।।३१३।।

आत्मा ज्ञानावरणादि कर्म प्रकृतियों के निमित्तसे उत्पन्न होता है तथा विनाशको प्राप्त होता है और प्रकृति भी आत्माके लिए उत्पन्न होती है तथा विनाशको प्राप्त होती है। इस प्रकार दोनों आत्मा और प्रकृति

---

१. य। २. देसिदा ३. उप्पज्जंते। ४. दिस्सदे ज. वृ.। ५. चेदा ज. वृ.। ६. अनुष्टुप् छन्दः।

के परस्पर निमित्तसे बंध होता है और उस बंधसे संसार उत्पन्न होता है।।३१२-३१३।।

आगे कहते हैं कि जब तक आत्मा प्रकृतिके निमित्त उपजना विनशना नहीं छोड़ता है तब तक अज्ञानी, मिथ्यादृष्टि और असंयत रहता है --

जा एसो पयडीयट्टं, चेया णेव विमुंचए।
अयाणओ हवे ताव, मिच्छाइट्ठी असंजओ।।३१४।।
जया विमुंचए चेया, कम्मफ्फलमणंतयं।
तया विमुत्तो हवइ, जाणओ पासओ मुणी।।३१५।।

यह आत्मा जब तक प्रकृतिके निमित्तसे उपजना विनशना नहीं छोड़ता है तब तक अज्ञानी, मिथ्यादृष्टि और असंयमी होता है तथा जब आत्मा अनंत कर्मफलको छोड़ देता है तब बंधसे रहित हुआ ज्ञाता, द्रष्टा और मुनि - संयमी होता है।।३१४-३१५।।

आगे अज्ञानी ही कर्मफलका वेदन करता है , ज्ञानी नहीं यह कहते हैं --

अण्णाणी कम्मफलं, पयडिसहावट्ठिओ दु वेदेइ[१]।
णाणी पुण कम्मफलं, जाणइ[२] उदियं ण वेदेइ।।३१६।।

प्रकृतिके स्वभावमें स्थित हुआ अज्ञानी जीव कर्मके फलको भोगता है और ज्ञानी जीव उदयागत कर्मफलको जानता है, भोगता नहीं है।।३१६।।[३]

आगे अज्ञानी भोक्ता ही है ऐसा नियम करते हैं --

ण मुयइ पयडिमभव्वो, सुट्ठु वि अज्झाइऊण सत्थाणि।
गुडदुद्धंपि पिवंता, ण पण्णया णिव्विसा हुंति।।३१७।।

अभव्य अच्छी तरह शास्त्रोंको पढ़कर भी प्रकृतिको नहीं छोड़ता है, क्योंकि साँप गुड़ और दूध पीकर भी निर्विष नहीं होते।।३१७।।

आगे ज्ञानी अभोक्ता ही है यह नियम करते हैं --

णिव्वेयसमावण्णो, णाणी कम्मफ्फलं वियाणेइ[४]।
महुरं कडुयं बहुविहमवेयओ[५] तेण सो होई।।३१८।।

---

१. वेदेदि ज. वृ.। २. जाणदि उदिदं ण वेदेदि ज. वृ.।
३. इसके आगे ज. वृ. में निम्न गाथा अधिक है --
जो पुण णिरावराहो चेदा णिस्संकिदो दु सो होदि।
आहणाए णिच्चं वट्टदि अहमिदि वियाणंतो।।
४. वियाणादि ज. वृ.। ५. मवेदको तेण पण्णत्तो ज. वृ।

वैराग्यको प्राप्त हुआ ज्ञानी जीव अनेक प्रकारके [१]मधुर - शुभ और कटुक [२]- अशुभ कर्मोंके फलको जानता है इसलिए वह अवेदक -- अभोक्ता होता है।।३१८।।

आगे इसी अर्थका समर्थन करते हैं --

णवि कुव्वइ[३] णवि वेयइ[४] णाणी कम्माइं[५] बहुपयाराइ[६]।
जाणइ[७] पुण कम्मफलं, बंधं पुण्णं च पावं च।। ३१९।।

ज्ञानी बहुत प्रकारके कर्मोंको न तो करता है और न भोगता है, परंतु कर्मके बंधको और पुण्य-पापरूपी कर्मके फलको जानता है।।३१९।।

आगे इसी बातको दृष्टांत द्वारा स्पष्ट करते हैं --

[८]दिट्ठि जहेव णाणं, अकारयं तह अवेदयं चेव।
[९]जाणइ य बंधमोक्खं, कम्मुदयं णिज्जरं चेव।।३२०।।

जिस प्रकार नेत्र पदार्थोंको देखता मात्र है, उनका कर्ता और भोक्ता नहीं है उसी प्रकार ज्ञान, बंध और मोक्षको तथा कर्मोदय और निर्जराको जानता मात्र है, उनका कर्ता और भोक्ता नहीं है।।३२०।।

आगे आत्माको जो कर्ता मानते हैं वे अज्ञानी हैं और उन्हें मोक्ष नहीं प्राप्त होता यह कहते हैं --

लोयस्स[१०] कुणइ[११] विण्हू, सुरणारयतिरियमाणुसे सत्ते।
समणाणंपि य अप्पा, जइ[१२] कुव्वइ[१३] छव्विहे काये[१४]।।३२१।।
लोगसमणाणमेयं, सिद्धंतं [१५]जइ ण दीसइ विसेसो।।
लोयस्स[१६] कुणइ[१७] विण्हू समणाणवि[१८] अप्पओ कुणइ[१९]।।।३२२।।
एवं ण कोवि मोक्खो[२०], दीसइ[२१] लोयसमणाण दोण्हंपि।
णिच्चं कुव्वंताणं, सदेवमणुयासुरे[२२] लोए[२३]।।३२३।।

लोक सामान्य -- जनसाधारण का कहना है कि देव नारकी तिर्यंच और मनुष्यरूप प्राणियोंको विष्णु करता है, फिर मुनियोंका भी यह सिद्धांत हो जावे कि छह प्रकारके कायको -- षट् कायिक जीवोंको

---

१. शुभकर्मफलं बहुविधं गुडखण्डशर्करामृतरूपेण मधुरं जानाति।
२. अशुभकर्मफलं निम्बकाञ्जीरविषहालाहलरूपेण कटुकं जानाति। ज. वृ.।
३. कुव्वदि। ४. वेददि। ५. कम्माइ ६. बहुपयाराइ। ७. जाणदि ज. वृ.। ८. दिट्ठी सयंपि ज. वृ.। ९. जाणदि ज. वृ.। १०. लोगस्स। ११. कुणदि। १२. जदि। १३. कुव्वदि। १४. काए। १५. पडि ण दिस्सदि विसेसो। १६. लोगस्स। १७. कुणदि। १८. समणाणं। १९. कुणदि। २०. मुक्खो। २१. दीसदि दुण्हं समणलोयाणं। २२. सदेव मणुआसुरे। २३. लोगे ज. वृ.।

आत्मा करता है तो लोक सामान्य और मुनियोंका एक ही सिद्धांत हो जावे, उनमें कुछ भी विशेषता न दिखे, क्योंकि लोकसामान्यके मतसे विष्णु करता है और मुनियोंके मतसे आत्मा करता है। इस तरहकी मान्यता होनेपर लोक सामान्य और युक्ति दोनोंको ही मोक्ष नहीं दिखेगा, क्योंकि दोनों ही देव मनुष्य असुर सहित लोकोंको निरंतर करते रहते हैं।

भावार्थ -- जो आत्माको कर्ता मानते हैं वे मुनि होनेपर भी लौकिक जनके समान हैं, क्योंकि लौकिक जन ईश्वरको कर्ता मानते हैं और मुनिजन आत्माको कर्ता मानते हैं। इस प्रकार दोनोंको ही मोक्षका अभाव प्राप्त होता है।।३२१-३२३।।

आगे निश्चयनय से आत्माका पुद्गल द्रव्यके साथ कर्तृ-कर्म संबंध नहीं है तब उनका कर्ता कैसे होगा? यह कहते है --

ववहारभासिएण[१] उ[२], परदव्वं मम भणंति [३]अविदियत्था।
जाणंति णिच्चयेण उ[४], ण य मह परमाणुमित्तमवि[५] किंचि।।३२४।।
जह कोवि णरो जंपइ[६], अम्हं[७] गामविसयणयररट्ठं[८]।
ण य होंति[९] ताणि तस्स उ[१०], भणइ[११] य मोहेण सो अप्पा।।३२५।।
एमेव मिच्छदिट्ठी, णाणी णिस्संसयं हवइ एसो।
जो परदव्वं मम इदि, जाणंतो अप्पयं कुणइ।। ३२६।।
तम्हा ण मेत्ति णिच्चा[१२], [१३]दोण्हं वि एयाण कत्तविवसायं।
परदव्वे जाणंतो, जाणिज्जो दिट्ठिरहियाणं[१४]।।३२७।।

पदार्थके यथार्थ स्वरूपको न जाननेवाले पुरुष व्यवहारनयके वचनसे कहते हैं कि 'परद्रव्य मेरा है' और जो निश्चय नयसे पदार्थोंको जानते हैं वे कहते हैं कि 'परमाणु मात्र भी कोई परद्रव्य मेरा नहीं है।' तहाँ व्यवहार नयका कहना ऐसा है कि जैसे कोई पुरुष कहता है कि 'हमारा ग्राम है, देश है, नगर है और राष्ट्र है', वास्तवमें विचार किया जाय तो ग्रामादिक उसके नहीं हैं, वह आत्मा मोहसे ही मेरा मेरा कहता है। इस प्रकार जो परद्रव्यको मेरा है ऐसा जानता हुआ उसे आत्ममय करता है वह ज्ञानी निःसंदेह मिथ्यादृष्टि है। इसलिए ज्ञानी 'परद्रव्य मेरा नहीं है' ऐसा जानकर परद्रव्यमें इन लोक साधारण तथा मुनियों -- दोनोंके ही कर्तृव्यवसायको जानता हुआ जानता है कि ये सम्यग्दर्शनसे रहित हैं।।३२४-३२७।।

आगे जीवके मिथ्यात्वभाव है उसका कर्ता कौन है? यह युक्तिसे सिद्ध करते हैं --

---

१. .... भासिदेण। २. दु। ३. विदिदच्छा। ४. दु। ५. मित्त मम। ज. वृ.।६. जपदि। ७. अम्हाणं ८. .... पुररट्ठं। ९. हुंति। १०. दु। ११. भणदि। १२. णच्चा। १३. दुण्हं एदाण कत्तिववसाओ। १४. दिट्ठिरहिदाणं। ज. वृ.।

मिच्छत्तं जइ पयडी, मिच्छाइट्ठी करेइ अप्पाणं।
तम्हा अचेदणा दे, पयडी णाणु कारगोपत्तो[१]।।३२८।।
अहवा एसो जीवो, पुग्गलदव्वस्स कुणइ मिच्छत्तं।
तम्हा पुग्गलदव्वं, मिच्छाइट्ठी ण पुण जीवो।।३२९।।
अह जीवो पयडी तह, पुग्गलदव्वं कुणंति मिच्छत्तं।
तम्हा दोहिय कदं, तं दोण्णिवि भुंजंति तस्स फलं।।३३०।।
अह ण पयडी ण जीवो, पुग्गलदव्वं करेदि मिच्छत्तं।
तम्हा पुग्गलदव्वं, मिच्छत्तं तं तु ण हु मिच्छा।।३३१।।

यदि मिथ्यात्व नामा प्रकृति आत्माको मिथ्यादृष्टि करती है ऐसा माना जाय तो अचेतन प्रकृति तुम्हारे मतमें जीवके मिथ्याभावको करनेवाली ठहरी ऐसा बनता नहीं है। अथवा ऐसा माना जाय कि यह जीव ही पुद्गल द्रव्यके मिथ्यात्वको करता है तो ऐसा माननेसे पुद्गल द्रव्य मिथ्यादृष्टि सिद्ध हुआ, न कि जीव, ऐसा नहीं बनता। अथवा ऐसा माना जाय कि जीव और प्रकृति ये दोनों पुद्गल द्रव्यके मिथ्यात्व करते हैं तो दोनोंके द्वारा किये हुए उसके फलको दोनों ही भोगें ऐसा ठहरा, सो यह भी नहीं बनता। अथवा ऐसा माना जाय कि पुद्गल नामा मिथ्यात्वको न तो प्रकृति करती है और न जीव ही, तो भी पुद्गल द्रव्य ही मिथ्यात्व हुआ, सो ऐसा मानना क्या यथार्थमें मिथ्या नहीं है? अर्थात् मिथ्या ही है।

भावार्थ -- मिथ्यात्व प्रकृतिके उदयसे आत्मामें जो अतत्त्वश्रद्धानरूप भाव उत्पन्न होता है उसका कर्ता अज्ञानी जीव है, परंतु इसके निमित्तसे पुद्गल द्रव्यमें मिथ्यात्वकर्मकी शक्ति उत्पन्न होती है।।३२८-३३१।।

आगे इसी बातको विस्तारसे कहते हैं --

कम्मेहि दु अण्णाणी, किज्जइ णाणी तहेव कम्मेहिं।
कम्मेहिं सुवाविज्जइ, जग्गाविज्जइ तहेव कम्मेहिं।।३३२।।
कम्मेहि सुहाविज्जइ, दुक्खाविज्जइ तहेव कम्मेहिं।
कम्मेहि य मिच्छत्तं, णिज्जइ णिज्जइ असंजमं चेव।।३३३।।
कम्मेहि भमाडिज्जइ, उड्ढमहो चावि तिरियलोयं य।
कम्मेहि चेव किज्जइ, सुहासुहं जित्तियं किंचि।।३३४।।

---

१. इसके आगे ज. वृ. में निम्न गाथा अधिक है --
सम्मत्ता जदि पयडी सम्मादिट्ठी करेदि अप्पाणं।
तम्हा अचेदणा दे पयडी णाणु कारगोपत्तो।।

जम्हा कम्मं कुव्वइ, कम्मं देई हरत्ति जं किंचि।
तम्हा उ सव्वे जीवा, अकारया हुंति आवण्णा।।३३५।।
पुरुसिच्छियाहिलासी, इच्छीकम्मं च पुरिसमहिलसइ।
एसा आयरियपरं,परागया एरिसि दु सुई।।३३६।।
तम्हा ण कोवि जीवो, अबंभचारी उ अम्ह उवएसे।
जम्हा कम्मं चेव हि, कम्मं अहिलसइ इदि भणियं।।३३७।।
जम्हा घाएइ परं, परेण घाइज्जइ य सा पयडी।
एएणच्छेण किर, भण्णइ परघायणामित्ति।।३३८।।
तम्हा ण कोवि जीवो, बघायओ अत्थि अम्ह उवदेसे।
जम्हा कम्मं चेव हि, कम्मं घाएदि इदि भणियं।।३३९।।
एवं संखुवएसं, जे उ परूविंति एरिसं समणा।
तेसिं पयडी कुव्वइ, अप्पा य अकारया सव्वे।।३४०।।
अहवा मणसि मज्झं, अप्पा अप्पाणमप्पणो कुणई।
एसो मिच्छसहावो, तुम्हं एयं मुणंतस्स।।३४१।।
अप्पा णिच्चो असंखिज्जपदेसो देसिओ उ समयम्हि।
णवि सो सक्कइ तत्तो, हीणो अहिओ य काउं जे।।३४२।।
जीवस्स जीवरूवं, विच्छरदो जाण लोगमित्तं हि।
तत्तो सो किं हीणो, अहिओ व कहं कुणइ दव्वं।।३४३।।
अह जाणओ उ भावो, णाणसहावेण अत्थि इत्ति मयं।
तम्हा णवि अप्पा अप्पयं तु सयमप्पणो कुणइ।।३४४।।

जीव कर्मोंके द्वारा अज्ञानी किया जाता है उसी तरह कर्मोंके द्वारा ज्ञानी होता है। कर्मोंके द्वारा सुलाया जाता है उसी प्रकार कर्मोंके द्वारा जगाया जाता है। कर्मोंके द्वारा सुखी किया जाता है उसी प्रकार कर्मोंके द्वारा दुःखी किया जाता है। कर्मोंके द्वारा मिथ्यात्वको प्राप्त किया जाता है, कर्मोंके द्वारा असंयमको प्राप्त कराया जाता है। कर्मोंके द्वारा ऊर्ध्वलोक अधोलोक और तिर्यग्लोकमें घुमाया जाता है। और जो कुछ भी शुभाशुभ कार्य है वह सब कर्मोंके द्वारा किया जाता है। क्योंकि कर्महो करता है और कर्म ही देता है तथा जो कुछ हरा जाता है वह कर्म ही हरता है, इसलिए सभी जीव अकारक प्राप्त हुए अर्थात् जीव कर्ता न

होकर कर्म ही कर्ताको प्राप्त हुआ। यह आचार्य परंपरासे आयी हुई ऐसी श्रुति है कि पुरुषवेद कर्म स्त्रीकी इच्छा करता है और स्त्रीवेद नामा कर्म पुरुषकी चाह करता है, अतः कोई भी जीव अब्रह्मचारी नहीं है। हमारे उपदेशमें तो ऐसा ही है कि धर्म ही कर्मको चाहता है ऐसा कहा गया है। जिस कारण जीव दूसरेको मारता है और दूसरेके द्वारा मारा जाता है वह भी प्रकृति ही है। इस अर्थमें यह बात कही जाती है कि यह परघात नामक प्रकृति है, अतः हमारे उपदेशमें कोई भी जीव उपघात करनेवाला नहीं है, क्योंकि कर्महीं कर्मको घातता है ऐसा कहा गया है। इस प्रकार जो कोई मुनि ऐसे सांख्य मतका प्ररूपण करते हैं उनके प्रकृति ही करती है और सब आत्मा अकारक -अकर्ता है। अथवा तू ऐसा मानेगा कि मेरा आत्मा मेरे आत्माको करता है तो ऐसा जाननेवाले तुम्हारा यह मिथ्यास्वभाव है, क्योंकि आत्मा नित्य असंख्यातप्रदेशी आगममें कहा गया है। उन असंख्यात प्रदेशोंसे वह हीनाधिक नहीं किया जा सकता। जीवका जीवरूप विस्तारकी अपेक्षा निश्चयसे लोकप्रमाण जानो। वह जीवद्रव्य उस परिमाणसे क्या हीन तथा अधिक कैसे कर सकता है। अथवा ऐसा मानिए कि ज्ञायकभाव ज्ञानस्वभाव कर स्थित है तो उस मान्यतासे यह सिद्ध हुआ कि आत्मा अपने स्वभाव कर स्थिर रहता है और उसी हेतुसे यह सिद्ध हुआ कि आत्मा अपने आपको स्वयमेव नहीं करता है।।३३२-३४४।।

आगे क्षणिकवादको स्पष्ट कर उसका निषेध करते हैं --

केहिंचि दु पज्जएहिं, विणस्सए णेव केहिचि दु जीवो।
जम्हा तम्हा कुव्वदि, सो वा अण्णो व णेयंतो।।३४५।।
केहिंचि दु पज्जएहिं, विणस्सए णेव केहिंचि दु जीवो।
जम्हा तम्हा वेददि, सो वा अण्णो व णेयंतो।।३४६।।
जो चेव कुणइ सो चिय, ण वेयए जस्स एस सिद्धंतो।
सो जीवो णायव्वो, मिच्छादिट्ठी अणारिहदो।।३४७।।
अण्णो करेइ अण्णो, परिभुंजइ जस्स एस सिद्धंतो।
सो जीवो णादव्वो, मिच्छादिट्ठी अणारिहदो।।३४८।।

यतः जीव नामा पदार्थ कितनी ही पर्यायोंसे विनष्ट होता है और कितनी ही पर्यायोंसे विनष्ट नहीं होता इसलिए वही करता है अथवा अन्य करता है ऐसा एकांत नहीं है। यतः जीव कितनी ही पर्यायोंसे विनष्ट होता है और कितनी ही पर्यायोंसे विनष्ट नहीं होता इसलिए वही जीव भोगता है अथवा अन्य भोगता है ऐसा एकांत नहीं है। इसके विपरीत जिसका ऐसा सिद्धांत है कि जो करता है वह नहीं भोगता है, वह जीव मिथ्यादृष्टि है तथा अर्हंत मतसे बाह्य है ऐसा जानना चाहिए। इसी प्रकार जिसका ऐसा सिद्धांत है कि अन्य करता है और दूसरा कोई भोगता है वह जीव भी मिथ्यादृष्टि तथा अर्हंत मतसे बाह्य जानना

चाहिए।।३४५-३४८।।

आगे इसी बातको दृष्टांतसे कहते हैं --

जह सिप्पिओ उ कम्मं, कुव्वइ ण य सो उ तम्मओ होइ।
तह जीवोवि य कम्मं, कुव्वदि ण य तम्मओ होइ।।३४९।।
जह सिप्पिओ उ करणेहिं, कुव्वइ ण य सो उ तम्मओ होइ।
तह जीवो करणेहिं, कुव्वइ ण य तम्मओ होइ।।३५०।।
जह सिप्पिओ उ करणाणि गिण्हइ ण सो उ तम्मओ होइ।
तह जीवो करणाणि उ, गिण्हइ ण य तम्मओ होइ।।३५१।।
जह सिप्पिउ कम्मफलं, भुंजदि ण य सो उ तम्मओ होइ।
तह जीवो कम्मफलं, भुंजइ ण य तम्मओ होइ।।३५२।।
एवं ववहारस्स उ, वत्तव्वं दरिसणं समासेण।
सुणु णिच्छयस्स वयणं, परिणामकयं तु जं होई।।३५३।।
जह सिप्पिओ उ चिट्ठं, कुव्वइ हवइ य तहा अणण्णो से ।
तह जीवोवि य कम्मं, कुव्वइ हवइ य अणण्णी से।।३५४।।
जह चिट्ठं कुव्वतो, उ सिप्पिओ णिच्च दुक्खिओ होई।
तत्तो सिया अणण्णो, तह चेट्ठंतो दुही जीवो।।३५५।।

जिस प्रकार सुनार आदि शिल्पी आभूषण आदि कर्मको करता है परंतु वह आभूषणादिसे तन्मय नहीं होता उसी प्रकार जीव भी पुद्गलात्मक कर्मको करता है परंतु उससे तन्मय नहीं होता। जिस प्रकार शिल्पी हथौड़ा आदि करणोंसे कर्म करता है परंतु वह उनसे तन्मय नहीं होता उसी प्रकार जीव भी योग आदि करणोंसे कर्म करता है परंतु तन्मय नहीं होता। जिस प्रकार शिल्पी करणोंको ग्रहण करता है परंतु तन्मय नहीं होता उसी प्रकार जीव करणोंको ग्रहण करता है परंतु तन्मय नहीं होता। जिस प्रकार शिल्पी आभूषणादि कर्मोंके फलको भोगता है परंतु तन्मय नहीं होता उसी प्रकार जीव भी कर्मके फलको भोगता है परंतु तन्मय नहीं होता। इस प्रकार व्यवहारका दर्शन - मत संक्षेपसे कहनेयोग्य है। अब निश्चयके वचन सुनो जो कि अपने परिणामोंसे किये हुए होते हैं। जिस प्रकार शिल्पी चेष्टा करता है परंतु उस चेष्टासे अनन्य - अभिन्न - तद्रूप रहता है उसी प्रकार जीव भी कर्म करता है परंतु वह उन कर्मोंसे -- रागादिरूप परिणामोंसे अनन्य - अभिन्न रहता है। तथा जिस प्रकार शिल्पी चेष्टा करता हुआ निरंतर दुःखी होता है और उस दुःखसे अभिन्न रहता है उसी प्रकार चेष्टा करता हुआ जीव भी निरंतर दुःखी होता है और उस

दुःखसे कथंचित् अनन्य - अभिन्न रहता है।।३४९-३५५।।

आगे निश्चय व्यवहारके इस कथनको दृष्टांत द्वारा दस गाथाओंसे स्पष्ट करते हैं --

जह सेडिया दु ण परस्स सेडिया सेडिया य सा होइ।
तह जाणओ दु ण परस्स जाणओ जाणओ सो दु।।३५६।।
जह सेडिया दु ण परस्स सेडिया सेडिया य सा होइ।
तह पासओ दु ण परस्स पासओ पासओ सो दु।।३५७।।
जह सेडिया दु ण परस्स सेडिया सेडिया दु सा होइ।
तह संजओ दु ण परस्स संजओ संजओ सो दु।।३५८।।
जह सेडिया दु ण परस्स सेडिया सेडिया दु सा होदि।
तह दंसणं दु ण परस्स दंसणं दंसणं तं तु।।३५९।।
एवं तु णिच्छयणयस्स भासियं णाणदंसणचरित्ते।
सुणु ववहारणयस्स य, वत्तव्वं से समासेण।।३६०।।
जह परदव्वं सेडिदि, हु सेडिया अप्पणो सहावेण।
तह परदव्वं जाणइ, णाया वि सयेण भावेण।।३६१।।
जह परदव्वं सेडिदि, हु सेडिया अप्पणो सहावेण।
तह परदव्वं पस्सइ, जीवोवि सयेण भावेण।।३६२।।
जह परदव्वं सेडदि, हु सेडिया अप्पणो सहावेण।
तह परदव्वं विजहइ, णायावि सयेण भावेण।।३६३।।
जह परदव्वं सेडदि, हु सेडिया अप्पणो सहावेण।
तह परदव्वं सद्दहइ, सम्मदिट्ठी सहावेण।।३६४।।
एवं ववहारस्स दु, विणिच्छओ णाणदंसणचरित्ते।
भणिओ अण्णेसु वि पज्जएसु एमेव णायव्वो।।३६५।।

जिस प्रकार खड़िया दीवाल आदि परपदार्थोंको सफेद करनेवाली है इसलिए खड़िया नहीं है वह स्वयं ही खड़ियारूप है उसी प्रकार जीव परका ज्ञायक होनेसे ज्ञायक नहीं है किंतु स्वयं ही ज्ञायकरूप है। जिस प्रकार खड़िया परपदार्थोंको सफेद करनेवाली होनेसे खड़िया नहीं है किंतु स्वयं खड़िया है उसी प्रकार जीव परका दर्शक -- देखनेवाला होनेसे दर्शक नहीं है, किंतु स्वयं दर्शक है। जिस प्रकार खड़िया परपदार्थोंको

सफेद करनेवाली होनेसे परकी नहीं है उसी प्रकार जीव परको त्यागनेसे संयत नहीं है, किंतु स्वयं संयतरूप है। जिस प्रकार खड़िया परकी होनेसे खड़िया नहीं है, किंतु स्वयं खड़ियारूप है उसी प्रकार जीव परका श्रद्धानी होनेसे श्रद्धानरूप नहीं है, किंतु स्वयं श्रद्धानरूप है। ऐसा ज्ञान, दर्शन तथा चारित्रके विषयमें निश्चय नयका कथन है। अब व्यवहार नयका जो वचन है उसे संक्षेपसे सुनो। जिस प्रकार खड़िया अपने स्वभावकर दीवाल आदि परपदार्थोंको सफेद करती है उसी प्रकार ज्ञाता आत्मा परपदार्थोंको अपने स्वभावके द्वारा जानता है। जिस प्रकार खड़िया परपदार्थको सफेद करनेसे खड़िया नहीं है, वह स्वयं खड़िया है उसी प्रकार आत्मा स्वयं परद्रव्यको देखता है इसलिए द्रष्टा नहीं है, किंतु स्वस्वभावसे दर्शक होनेसे दर्शक है। जिस प्रकार खड़िया अपने स्वभावसे परपदार्थको सफेद करती है उसी प्रकार ज्ञाता आत्मा भी अपने स्वभावसे परपदार्थको त्यागता है। जिस प्रकार खड़िया अपने स्वभावसे परद्रव्यको सफेद करती है उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि स्वभावसे परद्रव्यका श्रद्धान करता है। इस प्रकार ज्ञान-दर्शन-चारित्रके विषयमें व्यवहारका निश्चय कहा। इसी तरह अन्य पर्यायोंके विषयमें भी जानना चाहिए।।३६-३५६-३६५।।

आगे अज्ञानसे आत्मा अपना ही घात करता है यह कहते हैं --

दंसणणाणचरित्तं, किंचिवि णत्थि दु अचेयणे विसये।
तम्हा किं घादयदे, चेदयिदा तेसु विसएसु।।३६६।।
दंसणणाणचरित्तं, किंचिवि णत्थि दु अचेयणे कम्मे।
तम्हा किं घादयदे, चेदयिदा तेसु कम्मेसु।।३६७।।
दंसणणाणचरित्तं, किंचिवि णत्थि दु अचेयणे काये।
तम्हा किं घादयदे, चेदयिदा तेसु कायेसु।।३६८।।
णाणस्स दंसणस्स य, भणिओ[१] घाओ[२] तहा चरित्तस्स।
[३]णवि तहिं पुग्गलदव्वस्स, कोवि घाओ उ णिद्दिट्ठो।।३६९।।
जीवस्स जे गुणा केइ, णत्थि खलु ते परेसु दव्वेसु।
तम्हा सम्माइट्ठिस्स[४], णत्थि रागो उ विसएसु।।३७०।।
रागो दोसो मोहो, जीवस्सेव[५] य अणण्णपरिणामा।
एएण[६] कारणेण उ[७], सद्दादिसु णत्थि रागादि।।३७१।।

दर्शन ज्ञान चारित्र, अचेतन विषयोंमें कुछ भी नहीं हैं इसलिए उन विषयोंमें आत्मा क्या घात करे?

---

१. भणिदो। २. घादो ३. णवि तम्हि कोवि पुग्गलदव्वे घादो दु णट्ठिदो। ४. सम्मादिट्ठिस्स ५. जीवस्स दु जे अणण्णपरिणामा। ६. एदेण। ७. दु ज. वृ. ।

दर्शन ज्ञान चारित्र अचेतन कर्ममें कुछ भी नहीं हैं इसलिए आत्मा उन कर्मोंमें क्या घात करे? दर्शन ज्ञान चारित्र अचेतन कायमें कुछ भी नहीं हैं इसलिए आत्मा उन कायोंमें क्या घात करे? घात, ज्ञान दर्शन तथा चारित्रका कहा गया है, वहाँ पुद्गल द्रव्यका तो कुछ भी घात नहीं कहा। जो कुछ जीवके गुण हैं वे निश्चयकर परद्रव्योंमें नहीं हैं। यही कारण है कि सम्यग्दृष्टिके विषयोंमें राग ही नहीं है। राग द्वेष मोह ये सब जीवके ही अभिन्न परिणाम हैं इसलिए रागादिक शब्दादि विषयोंमें नहीं हैं।।३६६-३७१।।

आगे कहते हैं कि सभी द्रव्य स्वभावसे ही उपजते हैं --

अण्णदविएण अण्णदवियस्स ण कीरए[१] गुणुप्पाओ
तम्हा उ[२] सव्वदव्वा, उप्पंज्जंते सहावेण।।३७२।।

अन्य द्रव्यके द्वारा अन्य द्रव्यका गुणोत्पाद नहीं किया जाता इसलिए यह सिद्धांत है कि सभी द्रव्य अपने स्वभावसे ही उत्पन्न होते हैं।।३७२।।

आगे इस बातको प्रकट करते हैं कि जो स्पर्शादि विषय हैं वे पुद्गलरूप परिणमन करते हैं। आत्मासे 'तुम मुझे ग्रहण करो या न करो' ऐसा कुछ भी नहीं कहते। आत्मा स्वयं ही अज्ञानी तथा मोही हुआ उन्हें ग्रहण करता है --

[३]णिंदियसंथुयवयणाणि, पोग्गला परिणमंति [४]बहुयाणि।
ताणि सुणिऊण रूसदि, तूसदि य अहं पुणो भणिदो।।३७३।।
पोग्गलदव्वं [५]सद्दत्तपरिणयं तस्स जइ[६] गुणो अण्णो।
तम्हा ण तुमं भणिओ, किंचिवि किं [७]रूससि [८]अबुद्धो।।३७४।।
असुहो सुहो व सद्दो, ण तं भणइ सुणसु मंति सो चेव।
ण य एइ विणिग्गहिउं, सोयविसयमागयं सद्दं।।३७५।।
असुहं सुहं च रूवं, ण तं भणइ पिच्छ मंति सो चेव।
ण य एइ विणिग्गहिउं, चक्खुविसयमागयं रूवं।।३७६।।
असुहो सुहो व गंधो, ण तं भणइ जिग्घ मंति सो चेव।
ण य एइ विणिग्गहिउं, घाणविसयमागयं गंधं।।३७७।।
असुहो सुहो व रसो, ण तं भणइ रसय मंति सो चेव।
ण य एइ विणिग्गहिउं, रसणविसयमागयं तु रसं।।३७८।।

---

१. कीरदे गुणविघादो ज. वृ. । २. दु ज. वृ. । ३. णिंदिदसंथुद। ४. बहुगाणि। ५. सद्दत्तहपरिणदं । ६. जदि । ७. रूससे। ८. अबुहो।

असुहो सुहो व फासो, ण तं भणइ फुससु मंति सो चेव।
ण य एइ विणिग्गहिउं, कायविसयमागयं फासं।।३७९।।
असुहो सुहो व गुणो, ण तं भणइ बुज्झ मंति सो चेव।
ण य एइ विणिग्गहिउं, बुद्धिविसयमागयं तु गुणं।।३८०।।
असुहं सुहं व दव्वं, ण तं भणइ बुज्झ मंति सो चेव।
ण य एइ विणिग्गहिउं, बुद्धिविसयमागयं दव्वं।।३८१।।
[१]एयं तु जाणिऊण, उवसमं णेव गच्छई मूढो।
णिग्गहमणा परस्स य, सयं च बुद्धिं सिवमपत्तो।।३८२।।

बहुत प्रकारके निंदा और स्तुतिरूप जो वचन हैं उन रूप पुद्गल परिवर्तन करते हैं। उन्हें सुनकर अज्ञानी जीव यह मानता हुआ कि ये शब्द मुझसे कहे गये हैं रुष्ट होता है और संतुष्ट होता है। शब्दस्वरूप परिणत हुआ पुद्गल द्रव्य है, शब्दत्व उसीका गुण है और तुझसे भिन्न है। इसलिए तुझसे कुछ नहीं कहा गया है। तू अज्ञानी हुआ क्यों रोष करता है? शुभ अथवा अशुभ शब्द तुझसे ऐसा नहीं कहता कि तू मुझे सुन और श्रोत्रेंद्रियके विषयको प्राप्त हुए शब्दको ग्रहण करनेके लिए वह आत्मा भी नहीं आता। अशुभ अथवा शुभ रूप तुझसे ऐसा नहीं कहता कि तू मुझे देख और न चक्षुके विषयको प्राप्त हुए रूपको ग्रहण करनेके लिए आत्मा ही आता है। अशुभ अथवा शुभ गंध तुझसे यह नहीं कहता कि तू मुझे सूँघ और न घ्राणके विषयको प्राप्त हुए गंधको ग्रहण करनेके लिए आत्मा ही आता है। अशुभ अथवा शुभ रस तुझसे नहीं कहता कि तू मुझे चख और न रसना इंद्रियके विषयको प्राप्त हुए रसको ग्रहण करनेके लिए आत्मा ही आता है। अशुभ अथवा शुभ स्पर्श तुझसे नहीं कहता कि तू मेरा स्पर्श कर और न स्पर्शन इंद्रियके विषयको प्राप्त हुए स्पर्शको ग्रहण करनेके लिए आत्मा ही आता है। अशुभ अथवा शुभ गुण तुझसे नहीं कहता कि तू मुझे समझ और न बुद्धिके विषयको प्राप्त हुए गुणको ग्रहण करनेके लिए आत्मा ही आता है। अशुभ अथवा शुभ द्रव्य तुझसे नहीं कहता कि तू मुझे जानो और न बुद्धिके विषयको प्राप्त हुए द्रव्यको ग्रहण करनेके लिए आत्मा ही आता है। अज्ञानी जीव यह जानकर भी उपशमभावको प्राप्त नहीं होता और परपदार्थके ग्रहण करनेका मन करता है, सो ठीक ही है क्योंकि स्वयं कल्याणरूप बुद्धिको प्राप्त नहीं हुआ है।।३७३-३८२।।

आगे प्रतिक्रमण प्रत्याख्यान आलोचना और चारित्रका स्वरूप बतलाते हैं --

कम्मं जं पुव्वकयं, सुहासुहमणेयवित्थरविसेसं।
तत्तो णियत्तए अप्पयं तु जो सो पडिक्कमणं।।३८३।।

१. एवं तु जाणि दव्वस्स उवसमेणेव गच्छदे । ज. वृ. ।

कम्मं जं सुहमसुहं, जम्हि य भावम्हि वज्झइ भविस्सं।
तत्तो णियत्तए जो, सो पच्चक्खाणं हवइ चेया।।३८४।।
जं सुहमसुहमुदिण्णं, संपडि य अणेयवित्थरविसेसं।
तं दोसं जो चेयइ, सो खलु आलोयणं चेया[१]।।३८५।।
[२]णिच्चं पच्चक्खाणं, कुव्वइ णिच्चं य पडिक्कमदि जो।
[३]णिच्चं आलोचेयइ, सो हु चरित्तं हवइ चेया[४]।।३८६।।

पूर्वकालमें किये हुए शुभाशुभ अनेक विस्तारविशेषको लिये हुए जो ज्ञानावरणादि कर्म हैं उनसे जो जीव अपने आत्माको छुड़ाता है वह प्रतिक्रमण है। जिस भावके होनेपर जो शुभाशुभ कर्म भविष्यमें बँधनेवाले हैं उनसे जो ज्ञानी निवृत्त होता है वह प्रत्याख्यान है। अनेक विस्तारविशेषको लिये जो शुभाशुभ कर्म वर्तमानमें उदयको प्राप्त है दोषरूप उस कर्मको जो ज्ञानी अनुभवता है -- उससे स्वामित्वभावको छोड़ता है वह निश्चयसे आलोचना है। तथा इस प्रकार जो आत्मा नित्य प्रतिक्रमण करता है, नित्य प्रत्याख्यान करता है और नित्य आलोचना करता है वह निश्चयसे चारित्र है।।३८३-३८६।।

आगे जो कर्मफलको अपना तथा अपना किया हुआ मानता है वह अष्टविध कर्मोंका बंध करता है यह कहते हैं --

वेदंतो कम्मफलं, अप्पाणं कुणइ जो दु कम्मफलं।
सो तं पुणोवि बंधइ, बीयं दुक्खस्स अट्ठविहं।।३८७।।
वेदंतो कम्मफलं, मए कयं मुणइ जो दु कम्मफलं।
सो तं पुणोवि बंधइ बीयं दुक्खस्स अट्ठविहं।।३८८।।
वेदंतो कम्मफलं, सुहिदो दुहिदो य हवदि जो चेदा।
सो तं पुणोवि बंधइ, बीयं दुक्खस्स अट्ठविहं।।३८९।।

जो जीव कर्मफलका वेदन करता हुआ कर्मफलको आपरूप करता है -- अपना मानता है वह दुःखके बीज स्वरूप आठ प्रकारके कर्मको फिर भी बाँधता है। कर्मफलका वेदन करता हुआ जो जीव कर्मफलको अपना किया हुआ मानता है वह दुःखके बीज स्वरूप आठ प्रकारके कर्मको फिर भी बाँधता है। जो जीव कर्मफलका वेदन करता हुआ सुखी दुःखी होता है वह दुःखके बीज स्वरूप आठ प्रकारके कर्मको फिर भी बाँधता है।।३८७-३८९।।

आगे ज्ञान ज्ञेयसे पृथक् है यह कहते है --

---

१. चेदा। २. णिच्चं पच्चक्खीणं कुव्वदि णिच्चं पि दो पडिक्कमदि। ३. णिच्चं आलोचेदिय ४. चेदा ज. वृ.

सत्थं णाणं ण हवइ, जम्हा सत्थं ण याणए किंचि।
तम्हा अण्णं णाणं, अण्णं सत्थं जिणा विंति।।३९०।।
सद्दो णाणं ण हवइ, जम्हा सद्दो ण याणए किंचि।
तम्हा अण्णं णाणं, अण्णं सद्दं जिणा विंति।।३९१।।
रूवं णाणं ण हवइ, जम्हा रूवं ण याणए किंचि।
तम्हा अण्णं णाणं, अण्णं रूवं जिणा विंति।।३९२।।
वण्णो णाणं ण हवइ, जम्हा वण्णो ण याणए किंचि।
तम्हा अण्णं णाणं, अण्णं वण्णं जिणा विंति।।३९३।।
गंधो णाणं ण हवइ, जम्हा गंधो ण याणए किंचि।
तम्हा अण्णं णाणं, अण्णं गंधं जिणा विंति।।३९४।।
ण रसो ण हवदि णाणं, जम्हा दु रसो ण याणए किंचि।
तम्हा अण्णं णाणं, रसं य अण्णं जिणा विंति।।३९५।।
फासो णाणं ण हवइ, जम्हा फासो ण याणए किंचि।
तम्हा अण्णं णाणं, अण्णं फासं जिणा विंति।।३९६।।
कम्मं णाणं ण हवइ, जम्हा कम्मं ण याणए किंचि।
तम्हा अण्णं णाणं, अण्णं कम्मं जिणा विंति।।३९७।।
धम्मो णाणं ण हवइ, जम्हा धम्मो ण याणए किंचि।
तम्हा अण्णं णाणं, अण्णं धम्मं जिणा विंति।।३९८।।
णाणमधम्मो ण हवइ, जम्हाऽधम्मो ण याणए किंचि।
तम्हा अण्णं णाणं, अण्णमधम्मं जिणा विंति।।३९९।।
कालो णाणं ण हवइ, जम्हा कालो ण याणए किंचि।
तम्हा अण्णं णाणं, अण्णं कालं जिणा विंति।।४००।।
आयासं पि ण णाणं , जम्हायासं ण याणए किंचि।
तम्हा अण्णं यासं, अण्णं णाणं जिणा विंति।।४०१।।
णज्झवसाणं णाणं, अज्झवसाणं अचेदणं जम्हा।
तम्हा अण्णं णाणं, अज्झवसाणं तहा अण्णं।।४०२।।

जम्हा जाणइ णिच्चं, तम्हा जीवो दु जाणओ णाणी।
णाणं च जाणयादो, अव्वदिरित्तं मुणेयव्वं।।४०३।।
णाणं सम्मादिट्ठिं, दु संजमं सुत्तमंगपुव्वगयं।
धम्माधम्मं च तहा, पव्वज्जं अब्भुवंति बुहा।।४०४।।

शास्त्र ज्ञान नहीं है, क्योंकि शास्त्र कुछ भी जानता नहीं है इसलिए ज्ञान अन्य है और शास्त्र अन्य है ऐसा जिनेंद्रदेव जानते हैं। शब्द ज्ञान नहीं है, क्योंकि शब्द कुछ भी जानता नहीं है इसलिए ज्ञान अन्य है और शब्द अन्य है ऐसा जिनेंद्रदेव जानते हैं। रूप ज्ञान नहीं है, क्योंकि रूप कुछ भी जानता नहीं है इसलिए ज्ञान अन्य है और रूप अन्य है ऐसा जिनेंद्रदेव जानते हैं। वर्ण ज्ञान नहीं है, क्योंकि वर्ण कुछ भी जानता नहीं है इसलिए ज्ञान अन्य है और वर्ण अन्य है ऐसा जिनेंद्रदेव जानते हैं। गंध ज्ञान नहीं है, क्योंकि गंध कुछ भी जानता नहीं है इसलिए ज्ञान अन्य है और गंध अन्य है ऐसा जिनेंद्रदेव जानते हैं। रस ज्ञान नहीं है, क्योंकि रस कुछ भी जानता नहीं है इसलिए ज्ञान अन्य है और रस अन्य है ऐसा जिनेंद्रदेव जानते हैं। स्पर्श ज्ञान नहीं है, क्योंकि स्पर्श कुछ भी जानता नहीं है इसलिए ज्ञान अन्य है औरस्पर्श अन्य है ऐसा जिनेंद्रदेव जानते हैं। कर्म ज्ञान नहीं है, क्योंकि कर्म कुछ भी जानता नहीं है इसलिए ज्ञान अन्य है और कर्म अन्य है ऐसा जिनेंद्रदेव जानते हैं। धर्मास्तिकाय ज्ञान नहीं है, क्योंकि धर्मास्तिकाय कुछ भी जानता नहीं है इसलिए ज्ञान अन्य है और धर्मास्तिकाय अन्य है ऐसा जिनेंद्रदेव जानते हैं। अधर्मास्तिकाय ज्ञान नहीं है, क्योंकि अधर्मास्तिकाय कुछ भी जानता नहीं है इसलिए ज्ञान अन्य है और अधर्मास्तिकाय अन्य है ऐसा जिनेंद्रदेव जानते हैं। कालद्रव्य ज्ञान नहीं है, क्योंकि कालद्रव्य कुछ भी जानता नहीं है इसलिए ज्ञान अन्य है और कालद्रव्य अन्य है ऐसा जिनेंद्रदेव जानते हैं। आकाश भी ज्ञान नहीं है, क्योंकि आकाश कुछ भी जानता नहीं है इसलिए ज्ञान अन्य है और आकाश अन्य है ऐसा जिनेंद्रदेव जानते हैं। अध्यवसान ज्ञान नहीं है, क्योंकि अध्यवसान कुछ भी जानता नहीं है इसलिए ज्ञान अन्य है और अध्यवसान अन्य है ऐसा जिनेंद्रदेव जानते हैं। चूँकि जीव निरंतर जानता है इसलिए ज्ञायक है तथा ज्ञान है और ज्ञान ज्ञायकसे अव्यतिरिक्त -- अभिन्न है ऐसा जानना चाहिए। इस प्रकार ज्ञान ही सम्यग्दृष्टि है, संयम है, अंगपूर्वगत सूत्र है, धर्म अधर्म है तथा दीक्षा है ऐसा बुधजन अंगीकार करते हैं।।३९०-४०४।।

अत्ता जस्सामुत्तो[१], ण हु सो आहारओ[२] हवइ[३] एवं।
आहारो खलु मुत्तो, जम्हा सो पुग्गलमओ उ[४]।।४०५।।
णवि सक्कइ घित्तुं जं, ण[५] विमोत्तुं जं य जं परदव्वं।
सो कोवि य तस्स गुणो,[६]पाउग्गिओ विस्ससो वावि।।४०६।।

१. जस्स अमुत्तो। २. आहारगो। ३. हवदि। ४. दु। ५. ण मुंचदे चेव जं परं दव्वं। ज. वृ.। ६. पाउग्गिय ज. वृ.।

तम्हा उ[१] जो विसुद्धो, चेया[२] सो णेव गिण्हए[३] किंचि।
णेव विमुंचइ[४] किंचिवि, जीवाजीवाण दव्वाणं।।४०७।।

इस प्रकार जिसका आत्मा अमूर्तिक है वह निश्चयसे आहारक नहीं होता, क्योंकि आहार मूर्तिक है तथा पुद्गलमय है। जो परद्रव्य न ग्रहण किया जा सकता है और न छोड़ा जा सकता है वह आत्माका कोई प्रायोगिक अथवा वैस्रसिक गुण ही है। इससे यह सिद्ध हुआ कि जो विशुद्ध आत्मा है वह जीव अजीव द्रव्यमेंसे कुछ भी न ग्रहण करता है और न कुछ छोड़ता ही है।।४०५-४०७।।

आगे कहते हैं कि लिंग मोक्षमार्ग नहीं है --

पासंडीलिंगाणि व, गिहलिंगाणि व बहुप्पयाराणि।
घित्तुं वदंति मूढा, लिंगमिणं मोक्खमग्गोत्ति।।४०८।।
ण हु होदि मोक्खमग्गो, लिंगं जं देहणिम्ममा अरिहा।
लिंगं मुइत्तु दंसणणाणचरित्ताणि सेयंति।।४०९।।

बहुत प्रकारके पाखंडिलिंगों अथवा गृहस्थलिंगोंको ग्रहण कर मूढ़ जन ऐसा कहते हैं कि यह लिंग मोक्षका मार्ग है। परंतु लिंग मोक्षका मार्ग नहीं है, क्योंकि अर्हंत देव भी देहसे निर्ममत्व हो तथा लिंग छोड़कर सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रकी ही सेवा करते हैं।। ४०८-४०९।।

आगे इसी बातको दृढ़ करते हैं --

ण वि एस मोक्खमग्गो, पाखंडीगिहिमयाणि लिंगाणि।
दंसण णाणचरित्ताणि, मोक्खमग्गं जिणा विंति।।४१०।।

जो पाखंडी और गृहस्थरूप लिंग है वह मोक्षमार्ग नहीं है। जिनेंद्र भगवान दर्शन ज्ञान और चारित्रको ही मोक्षमार्ग कहते हैं।।४१०।।

तम्हा जहित्तु लिंगे, सागारणगारएहिं वा गहिए।
दंसणणाणचरित्ते, अप्पाणं जुंज मोक्खपहे।।४११।।

इसलिए गृहस्थों और मुनियोंके द्वारा गृहीत लिंगोंको छोड़कर दर्शन ज्ञान चारित्रस्वरूप मोक्षमार्गमें आत्माको लगाओ।।४११।।

आगे इसी मोक्षमार्गमें निरंतर रत रहो यह उपदेश देते हैं --

मोक्खपहे अप्पाणं, ठवेहि तं [५] चेव झाहि तं चेव।
तत्थेव विहर णिच्चं, मा विहरसु अण्णदव्वेसु।।४१२।।

---

१. दु। २. च्चेदा। ३. गिण्हदे। ४. विमुंचदि ज. वृ. ५. चेदयहि झायहि तं चेव। ज. वृ.

हे भव्य! तू पूर्वोक्त मोक्षमार्गमें आत्माको लगा, उसीका ध्यान कर, उसीका चिंतन कर, उसीमें निरंतर विहार कर। अन्य द्रव्योंमें विहार मत कर।।४१२।।

आगे कहते हैं कि जो बाह्य लिंगोंमें ममताबुद्धि रखते हैं वे समयसारको नहीं जानते हैं --

[१]पाखंडीलिंगेसु व, गिहलिंगेसु व बहुप्पयारेसु।
कुव्वंति जे ममत्तं, तेहिं ण णायं[२] समयसारं।।४१३।।

जो बहुत प्रकारके पाखंडी लिंगों और गृहस्थलिंगोंमें ममता करते हैं उन्होंने समयसारको नहीं जाना है।।४१३।।

आगे कहते हैं कि व्यवहार नय दोनों लिंगोंको मोक्षमार्ग बतलाता है, परंतु निश्चय नय किसी लिंगको मोक्षमार्ग नहीं कहता --

ववहारिओ पुण णओ, दोण्णि वि लिंगाणि भणइ मोक्खपहे।
णिच्छयणओ ण[३] इच्छइ, मोक्खपहे[४] सव्वलिंगाणि।।४१४।।

व्यवहार नय तो मुनि और श्रावकके भेदसे दोनों ही प्रकारके लिंगोंको मोक्षमार्ग कहता है, परंतु निश्चय नय सभी लिंगोंको मोक्षमार्गमें इष्ट नहीं करता।।४१५।।

आगे श्री कुंदकुंदाचार्य देव समयप्राभृत ग्रंथको पूर्ण करते हुए उसके फलकी सूचना करते हैं --

जो समयपाहुडमिणं, पडिहूणं[५] अत्थतच्चदो णाउ[६]
अत्थे ठाही[७] चेया[८], सो [९]होही उत्तमं सोक्खं।।४१५।।

जो भव्यपुरुष इस समयप्राभृतको पढ़कर तथा अर्थ और तत्त्वको जानकर इसके अर्थमें स्थित रहेगा वह उत्तम सुखस्वरूप होगा।।४१५।।

इस प्रकार सर्वविशुद्ध ज्ञानका प्ररूपक नवम अंक पूर्ण हुआ।

*

---

१. पाखंडिय ज. वृ.। २. णादं ज. वृ.। ३. णेच्छदि ज. वृ.। ४. मुक्ख पहे ज. वृ.। ५. पठिदूणय ज. वृ.। ६. णादु ज. वृ.। ७. ठाहिदि ज. वृ.। ८. चेदा ज. वृ.। ९. पावदि ज. वृ.।

प्रवचनसार

*

प्रवचनसार

अब मंगलाचरण और ग्रंथका उद्देश्य कहते हैं

एस सुरासुरमणुसिंदवंदिदं धोदघाइकम्ममलं।
पणमामि वड्ढमाणं, तित्थं धम्मस्स कत्तारं।।१।।
सेसे पुण तित्थयरे, ससव्वसिद्धे विसुद्धसब्भावे।
समणे य णाणदंसण,चरित्ततववीरियायारे।।२।
ते ते सव्वे समगं, समगं पत्तेगमेव पत्तेयं।
वंदामि य वट्टंते, अरहंते माणुसे खेत्ते।।३।।
किच्चा अरहंताणं, सिद्धाणं तह णमो गणहराणं।
अज्झावयवग्गाणं, साहूणं चेव सव्वेसिं।।४।।
तेसिं विसुद्धदंसणणाणपहाणासमं समासेज्ज।
उवसंपयामि सम्मं, जत्तो णिव्वाणसंपत्ती।।५।। [पणगं]

यह मैं कुंदकुंदाचार्य, सुर असुर और मनुष्योंके इंद्रोंसे वंदनीय, घातिकर्म रूप मलको नष्ट करनेवाले और धर्मतीर्थके कर्ता श्री वर्धमान स्वामीको नमस्कार करता हूँ।।१।। इसके अनंतर समस्त सिद्धोंसे सहित विशुद्ध स्वभावके धारक अवशिष्ट तेईस तीर्थंकरोंको और ज्ञान दर्शन चारित्र तप एवं वीर्याचारके धारक श्रमणों --आचार्यादि महामुनियोंको नमस्कार करता हूँ।।२।। फिर मनुष्य क्षेत्र -- अढ़ाई द्वीपमें वर्तमान जितने अरहंत परमेष्ठी हैं उन सबको एक साथ अथवा पृथक् पृथक् रूपसे प्रत्येककी वंदना करता हूँ।।३।। इस प्रकार समस्त अरहंतों, सिद्धों, गणधरों, उपाध्यायों और साधुओंको नमस्कार कर तथा उनके विशुद्ध दर्शन ज्ञान प्रधान आश्रमको प्राप्त हो मैं उस साम्य भावको प्राप्त होता हूँ जिससे कि निर्वाण -- परमाह्लाद रूप मोक्षकी प्राप्त होती है।।४-५।।

आगे वीतराग और सरागचारित्र का फल बतलाते हैं --

संपज्जदि णिव्वाणं, देवासुरमणुयरायविहवेहिं।
जीवस्स चरित्तादो, दंसणणाणप्पहाणादो।।६।।

जीवको दर्शन ज्ञानप्रधान चारित्रसे देवेंद्र धरणेंद्र और चक्रवर्ती आदिके वैभवके साथ निर्वाणकी प्राप्ति होती है।

वीतराग और सरागके भेदसे चारित्र दो प्रकारका है। उनमेंसे वीतराग चारित्रसे निर्वाणकी प्राप्ति होती है और सराग चारित्रसे देवेंद्र आदिका वैभव प्राप्त होता है।।६।।

आगे चारित्रका स्वरूप कहते हैं --

चारित्तं खलु धम्मो, धम्मो जो सो समोत्ति णिद्दिट्ठो।
मोहक्खोहविहीणो, परिणामो अप्पणो हि समो।।७।।

निश्चयसे चारित्र धर्मको कहते हैं, शम अथवा साम्यभावको धर्म कहा है और मोह -- मिथ्यादर्शन तथा क्षोभ -- राग द्वेषसे रहित आत्माका परिणाम शम अथवा साम्यभाव कहलाता है।।७।।

आगे चारित्र और आत्माकी एकता सिद्ध करते हैं --

परिणमदि जेण दव्वं, तक्कालं[1] तम्मयत्ति पण्णत्तं।
तम्हा धम्मपरिणदो, आदा धम्मो मुणेयव्वो[2]।।८।।

द्रव्य जिस कालमें जिस रूप परिणमन करता है उस कालमें वह उसी रूप हो जाता है ऐसा जिनेंद्र भगवानने कहा है इसलिए धर्मरूप परिणत आत्मा धर्म हो जाता है --चारित्र हो जाता है ऐसा जानना चाहिए।

अब जीवकी शुभ अशुभ और अशुद्ध दशाका निरूपण करते हैं --

जीवो परिणमदि जदा, सुहेण असुहेण वा सुहो असुहो।
सुद्धेण तदा सुद्धो, हवदि हि परिणामसब्भावो।।९।।

जीव जिस समय शुभ अथवा अशुभरूप परिणमन करता है उस समय शुभ अथवा अशुभ हो जाता है और जिस समय शुद्धरूप परिणमन करता है उस समय उसके शुद्ध रूप परिणामका सद्भाव हो जाता है।।९।।

आगे परिणाम वस्तुका स्वभाव है ऐसा निश्चय करते हैं --

णत्थि विणा परिणामं, अत्थो अत्थं विणेह परिणामो।
दव्वगुणपज्जयत्थो, अत्थो अत्थित्तणिव्वत्ता।।१०।।

पर्यायके बिना अर्थ नहीं होता और अर्थके बिना पर्याय नहीं रहता। द्रव्य गुण और पर्यायमें स्थित रहनेवाला अर्थ ही अस्तित्वगुणसे युक्त होता है। जिस प्रकार कटक कुंडलादि पदार्थोंके बिना सुवर्ण नहीं रह सकता और सुवर्णके बिना कटक कुंडलादि पर्याय नहीं रह सकते उसी प्रकार पर्यायोंके बिना कोई भी पदार्थ नहीं रह सकता और पदार्थके बिना कोई भी पर्याय नहीं रह सकते। तात्पर्य यह है कि जो पदार्थ द्रव्य गुण और पर्यायमें स्थित रहता है -- सामान्य विशेषात्मक होता है उसीका सद्भाव होता है। सामान्य और

१. तक्काले ज. वृ. । २. मुणेदव्वो ज. वृ. ।

विशेष -- द्रव्य और पर्याय परस्पर निरपेक्ष होकर नहीं रह सकते।।१०।।

आगे शुभ और शुद्ध परिणामका फल कहते हैं --

धम्मेण परिणदप्पा, अप्पा जदि सुद्धसंपओगजुदो।
पावदि णिव्वाणसुहं, सुहोवजुत्तो व सग्गसुहं।।११।।

धर्म अर्थात् चारित्रगुणरूप जिसका आत्मा परिणत हो रहा है ऐसा जीव यदि शुद्धोपयोगसे सहित है तो निर्वाणसुखको पाता है और यदि शुभोपयोगसे सहित है तो स्वर्गसुखको प्राप्त करता है।।११।।

आगे अशुभ परिणामका फल अत्यंत हेय है ऐसा कहते हैं --

असुहोदयेण आदा, कुणरो तिरियो भवीय णेरइयो।
दुक्खसहस्सेहिं सदा, अभिंधुदो भमइ अच्चंतं।।१२।।

अशुभोपयोग परिणमन करनेसे जीव खोटा मनुष्य, तिर्यंच और नारकी होकर हजारों दुःखोंसे दुःखी होता हुआ सदा संसारमें अत्यंत भ्रमण करता रहता है। अशुभोपयोगमें चारित्रका अल्पमात्र भी संबंध नहीं होता इसलिए यह जीव अशुभ कर्मोंका बंध कर दुर्गतियोंमें निरंतर भ्रमण करता रहता है।।१२।।

आगे शुद्धोपयोगका फल बतलाते हुए उसकी प्रशंसा करते हैं --

अइसयमादसमुत्थं, विसयातीदं अणोवममणंतं।
अव्वुच्छिण्णं च सुहं, सुद्धुवओगप्पसिद्धाणं।।१३।।

शुद्धोपयोगसे निष्पन्न अरहंत सिद्ध भगवानको अतिशय रूप -- सबसे अधिक, आत्मासे उत्पन्न, विषयातीत, अनुपम, अनंत और अनंतरित सुख प्राप्त होता है।।१३।।

आगे शुद्धोपयोगरूप परिणत आत्माका स्वरूप कहते हैं --

सुविदिदपदत्थसुत्तो, संजमतवसंजुदो विगदरागो।
समणो समसुहदुक्खो, भणिदो सुद्धोवओगोत्ति।।१४।।

जिसने जीवाजीवादि पदार्थ और उनके प्रतिपादक शास्त्रको अच्छी तरह जान लिया है, जो संयम और तपसे सहित है, जिसका राग नष्ट हो चुका है और जो सुख-दुःखमें समता परिणाम रखता है ऐसा श्रमण -- मुनि शुद्धोपयोगका धारक कहा गया है।।१४।।

आगे शुद्धोपयोगपूर्वक ही शुद्ध आत्माका लाभ होता है ऐसा कहते हैं --

उवओगविसुद्धो जो, विगदावरणंतरायमोहरओ।
भूदो सयमेवादा, जादि परं णेयभूदाणं।।१५।।

जो जीव उपयोगसे विशुद्ध है अर्थात् शुद्धोपयोगका धारण करनेवाला है वह स्वयं ही ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अंतराय और मोहरूपी रजको नष्ट करता हुआ ज्ञेयभूत -- समस्त पदार्थोंके पारको प्राप्त होता

है -- त्रिकालवर्ती समस्त पदार्थोंको जानता है।।१५।।

आगे शुद्धात्मस्वरूप जीव सर्वथा स्वाधीन है ऐसा निरूपण करते हैं --

तह सो लद्धसहावो, सव्वण्हू सव्वलोगपदिमहिदो।
भूदो सयमेवादा, हवदि सयंभुत्ति णिद्दिट्ठो।।१६।।

इस प्रकार शुद्धोपयोगके द्वारा जिसे आत्मस्वभाव प्राप्त हुआ है ऐसा जीव स्वयं ही सर्वज्ञ तथा समस्त लोकके अधिपतियों द्वारा पूजित होता हुआ स्वयंभू हो जाता है ऐसा कहा गया है।।१६।।

आगे शुद्ध आत्मस्वभावकी नित्यता तथा कथंचित् उत्पाद व्यय ध्रौव्यता दिखलाते हैं --

भंगविहीणो य भवो, संभवपरिवज्जिदो विणासो हि।
विज्जदि तस्सेव पुणो, ठिदिसंभवणाससमवायो।।१७।।

जो जीव स्वयंभू पदको प्राप्त हुआ है उसीका उत्पाद विनाशरहित है और विनाश उत्पादरहित है अर्थात् उसकी जो शुद्ध दशा प्रकट हुई है उसका कभी नाश नहीं होगा और जो अज्ञान दशाका नाश हुआ है उसका कभी उत्पाद नहीं होगा। इतना होनेपर भी उसके स्थिति उत्पाद और नाशका समवाय रहता है क्योंकि वस्तु प्रत्येक क्षण उत्पाद व्यय और ध्रौव्यात्मक रहती है।।१७।।

आगे उत्पादादि तीनों शुद्ध आत्मामें भी होते हैं ऐसा कथन करते हैं --

उप्पादो य विणासो, विज्जदि सव्वस्स अत्थजादस्स।
पज्जाएण दु केणवि, अत्थो[१] खलु होदि सब्भूदो[२]।।१८।।

निश्चयसे पदार्थसमूहका किसी पर्यायकी अपेक्षा उत्पाद होता है, किसी पर्यायकी अपेक्षा विनाश होता है और किसी पर्यायकी अपेक्षा वह पदार्थ सद्भूत अर्थात् ध्रौव्यरूप होता है। अँगूठी आदि पर्यायकी अपेक्षा विनाश होता है और पीतता आदि पर्यायकी अपेक्षा वह ध्रौव्यरूप रहता है इसी प्रकार समस्त द्रव्योंमें समझना चाहिए।।१८।।[३]

आगे इंद्रियोंके विना ज्ञान ओर आनंद किस प्रकार होते हैं ? ऐसा संदेह दूर करते हैं --

पक्खीणघादिकम्मो, अणंतवरवीरिओ अधिकतेजो।
जादो अदिंदिओ सो, णाणं सोक्खं च परिणमदि।।१९।।

---

१. अट्ठो २. संभूदो ज. वृ.।

३. घटमौलिसुवर्णार्थी नाशोत्पादस्थितिष्वयम्।
शोकप्रमोदमाध्यस्थ्यं जनो याति सहेतुकम्।।५९।।
पयोव्रतो न दध्यत्ति न पयोऽत्ति दधिव्रतः।
अगोरसव्रतो नोभे तस्मात्तत्त्वं त्रयात्मकम्।। ६०।। -- आप्तमीमांसा समन्तभद्रस्य।

शुद्धोपयोगकी सामर्थ्यसे जिसके घातिया कर्म नष्ट हो चुके हैं, क्षायोपशमिक ज्ञान और दर्शनसे संपृक्त होनेके कारण जो अतींद्रिय हुआ है, समस्त अंतरायका क्षय हो जानेसे जिसके अनंत उत्कृष्ट वीर्य प्रकट हुआ है और ज्ञानावरण तथा दर्शनावरणके अत्यंत क्षयसे जिसके केवलज्ञान तथा केवलदर्शनरूप अधिक तेज जागृत हुआ है वह शुद्धात्मा ही स्वयं ज्ञान तथा सुख रूप परिणमन करने लगता है। इस प्रकार ज्ञान और सुख आत्माके स्वभाव ही हैं। चूँकि स्वभाव परकी अपेक्षा नहीं रखता इसलिए शुद्धात्माके इंद्रियोंके बिना ही ज्ञान और सुख संभव हैं।।१९।।[१]

आगे अतींद्रिय होनेसे शुद्धात्माके शारीरिक सुख-दुःख नहीं होते हैं ऐसा कथन करते हैं --

सोक्खं वा पुण दुक्खं, केवलणाणिस्स णत्थि देहगदं।
जम्हा अदिंदियत्तं, जादं तम्हा दु तं णेयं।।२०।।

चूँकि केवलज्ञानीके अतींद्रियपना प्रकट हुआ है इसलिए उनके शरीरगत सुख और दुःख नहीं होते ऐसा जानना चाहिए।।२०।।

आगे केवली भगवानको अतींद्रिय ज्ञानसे ही सब वस्तुका प्रत्यक्ष ज्ञान होता है यह कहते हैं --

परिणमदो खलु णाणं, पच्चक्खा सव्वदव्वपज्जाया।
सो णेव ते विजाणदि, [२]ओग्गहपुव्वाहिं किरियाहिं।।२१।।

केवलज्ञानरूप परिणमन करनेवाले केवली भगवानके समस्त द्रव्य और उनकी समस्त पर्यायें सदा प्रत्यक्ष रहती हैं। वे अवग्रह आदिरूप क्रियाओंसे द्रव्य तथा पर्यायोंको नहीं जानते हैं।।२१।।

आगे केवलीके कुछ परोक्ष नहीं है ऐसा कहते हैं --

णत्थि परोक्खं किंचिवि, समंत सव्वक्खगुणसमिद्धस्स।
अक्खातीदस्स सदा, सयमेव हि णाणजादस्स।।२२।।

जो समस्त आत्माके प्रदेशोंमें स्पर्श रस गंधरूप और शब्दज्ञानरूप समस्त इंद्रियोंके गुणोंसे समृद्ध हैं, अथवा आत्माके समस्त गुणोंसे संपन्न हैं[३], इंद्रियोंसे अतीत हैं तथा स्वयं ही सदा ज्ञानरूप परिणत हो रहे हैं ऐसे केवली भगवानके कुछ भी पदार्थ परोक्ष नहीं हैं -- वे त्रिकाल और लोकालोकवर्ती समस्त पदार्थोंको यगपद् जानते हैं।।२२।।

---

१. १९ वीं गाथाके आगे जयसेन वृत्तिमें निम्नलिखित गाथा अधिक है --
तं सव्वट्ठवरिट्ठं इट्ठं अमरासुरप्पहाणेहिं।
ये सद्दहंति जीवा तेसिं दुक्खाणि खीयंति।। -- ज. वृ.

२. उग्गहपुव्वाहिं ज. वृ.।

३. अथवा द्वितीयव्याख्यानं -- अक्ष्णोति ज्ञानेन व्याप्नोतीत्यक्ष आत्मा तद्गुणसमृद्धस्य ज. वृ.।

आगे आत्माको ज्ञानप्रमाण और ज्ञानको सर्वव्यापक दिखलाते हैं -

आदा णाणपमाणं, णाणं णेयप्पमाणमुद्दिट्ठं।
णेयं लोगालोगं, तम्हा णाणं तु सव्वगयं।।२३।।

आत्मा ज्ञानके बराबर और ज्ञान ज्ञेयके बराबर कहा गया है। ज्ञेय लोक तथा अलोक है इसलिए ज्ञान सर्वगत है।।

'प्रत्येक द्रव्य अपने गुण और पर्यायोंके बराबर होता है' ऐसा आगमका वचन होनेसे आत्मा अपने ज्ञानगुणके बराबर ही है, न उससे हीन है और न अधिक। ज्ञानगुण ज्ञेय अर्थात् जाननेयोग्य पदार्थके बराबर होता है और ज्ञेय लोक तथा अलोकके समस्त पदार्थ हैं। अर्थात् ज्ञान उन्हें जानता है इसलिए विषयकी अपेक्षा सर्वगत -- सर्वव्यापक है।।२३।।

आगे आत्माको ज्ञानप्रमाण न माननेपर दो पक्ष उपस्थित कर उन्हें दूषित करते हैं --

णाणप्पमाणमादा, ण हवदि जस्सेह तस्स सो आदा।
हीणो वा अधिगो वा, णाणादो हवदि धुवमेव।। २४।।
हीणो जदि सो आदा, तण्णाणमचेदणं ण जाणादि।
अधिगो वा णाणादो, णाणेण विणा कहं णादि।।२५।। जुगलं

इस लोकमें जिसके मतमें आत्मा ज्ञानप्रमाण नहीं होता है उसके मतमें वह आत्मा निश्चय ही ज्ञानसे हीन अथवा अधिक होगा। यदि आत्मा ज्ञानसे हीन है तो वह ज्ञान चेतनके साथ समवाय न होनेसे अचेतन हो जायेगा और उस दशामें पदार्थको नहीं जान सकेगा। इसके विरुद्ध यदि आत्मा ज्ञानसे अधिक है तो वह ज्ञानातिरिक्त आत्मा ज्ञानके विना पदार्थको किस प्रकार जान सकेगा? जब कि ज्ञान ही जाननेका साधन है।।२४-२५।।

आगे ज्ञानकी भाँति आत्मा भी सर्वव्यापक है ऐसा सिद्ध करते हैं --

सव्वगदो जिणवसहो, सव्वेवि य तग्गया जगदि अट्ठा।
णाणमयादो य जिणो, विसयादो तस्स ते भणिदा।।२६।।

ज्ञानमय होनेसे जिनश्रेष्ठ सर्वज्ञ भगवान सर्वगत अर्थात् सर्वव्यापक हैं और उन भगवानके विषय होनेसे उससे तन्मय रहनेवाला सर्वज्ञ भी सर्वव्यापक है यह सिद्ध हुआ।।२६।।

आगे आत्मा और ज्ञानमें एकता तथा अन्यताका विचार करते हैं --

णाणं अप्पत्ति मदं, वट्टदि[१] णाणं विणा ण अप्पाणं।
तम्हा णाणं अप्पा, अप्पा णाणं व अण्णं वा।।२७।।

१. वट्टइ ज. वृ. ।

ज्ञान आत्मा है ऐसा माना गया है, चूँकि ज्ञान आत्माके विना नहीं होता इसलिए ज्ञान आत्मा है और आत्माके सिवाय अन्य गुणोंका भी आश्रय है अतः ज्ञानरूप भी है और अन्यरूप भी है।

आत्मा अनंत गुणोंका पिंड है, ज्ञान उन अनंत गुणोंमें एक प्रधान गुण है और आत्माके सिवाय अन्यत्र नहीं पाया जाता है, इसलिए गुणगुणीमें अभेद विवक्षा कर ज्ञानको आत्मा कह दिया है। परंतु आत्मा जिस प्रकार ज्ञान गुणका आधार है उसी प्रकार अन्य गुणोंका भी आधार है। इसलिए ज्ञानगुणके आधारकी अपेक्षा आत्मा ज्ञानरूप है तथा अन्य गुणोंके आधारकी अपेक्षा ज्ञानरूप नहीं भी है।।२७।।

आगे ज्ञान न तो ज्ञेयमें जाता है और न ज्ञेय ज्ञानमें जाता है ऐसा प्ररूपण करते हैं --

णाणी णाणसहावो, अत्था[१] णेयापगा हि णाणिस्स।
रूवाणि व चक्खूणं, णेवण्णोण्णेसु वट्टंति।।२८।।

निश्चयसे आत्मा ज्ञानस्वभाववाला है और पदार्थ उस ज्ञानी -- आत्माके ज्ञेयस्वरूप हैं। जिस प्रकार रूपी पदार्थ चक्षुओंमें प्रविष्ट नहीं होते और चक्षु रूपी पदार्थोंमें प्रविष्ट नहीं होते उसी प्रकार ज्ञेय ज्ञानी आत्मामें प्रविष्ट नहीं है और ज्ञानी ज्ञेय पदार्थोंमें प्रविष्ट नहीं है। पृथक् रहकर ही इन दोनोंमें ज्ञेय-ज्ञायक संबंध है।।

आगे यद्यपि निश्चयसे ज्ञानी-ज्ञेयोंमें -- पदार्थोंमें प्रविष्ट नहीं होता है तो व्यवहारसे प्रविष्टके समान जान पड़ता है ऐसा कथन करते हैं --

ण पविट्ठो णाविट्ठो, णाणी णेयेसु रूवमिव चक्खू।
जाणदि पस्सदि णियदं, अक्खातीदो जगमसेसं।।२९।।

इंद्रियातीत अर्थात् अतींद्रिय ज्ञानसहित आत्मा जाननेयोग्य पदार्थोंमें प्रविष्ट नहीं होता और प्रविष्ट नहीं होता सर्वथा ऐसा भी नहीं है, व्यवहारकी अपेक्षा प्रविष्ट होता भी है। वह रूपी पदार्थको नेत्रकी तरह समस्त संसारको निश्चित रूपसे जानता है।

जिस प्रकार चक्षु रूपी पदार्थमें प्रविष्ट नहीं होता फिर भी वह उसे देखता है इसी प्रकार आत्मा जाननेयोग्य पदार्थमें प्रविष्ट नहीं होता फिर भी वह उसे जानता है। परंतु दृश्य-दर्शक संबंध होनेकी अपेक्षा व्यवहारसे जिस प्रकार चक्षु रूपी पदार्थमें प्रविष्ट हुआ कहलाता है उसी प्रकार ज्ञेय-ज्ञायक संबंध होनेकी अपेक्षा व्यवहारसे आत्मा प्रविष्ट हुआ कहलाता है।।२९।।

आगे व्यवहारसे ज्ञान पदार्थोंमें प्रवर्तता है ऐसा उदाहरणपूर्वक कहते हैं --

रदणमिह इंदणीलं, दुद्धज्झसियं जहा सभासाए।
अभिभूय तंपि दुद्धं, वट्टदि तह णाणमत्थेसु।।३०।।

इस लोकमें जिस प्रकार दूधमें डुबाया हुआ इंद्रनील मणि अपनी कांतिसे उस दूधको अभिभूत

करके -- नीला बनाकर रहता है उसी प्रकार ज्ञान भी पदार्थोंको अभिभूत कर -- ज्ञानरूप बनाकर उनमें रहता है।

यथार्थमें इंद्रनील मणि अपने आपमें ही रहता है, दूधमें जो नीलाकार परिणमन हो रहा है वह दूधका ही है, परंतु इंद्रनील मणिके संबंधसे होनेके कारण उपचारसे इंद्रनील मणिका कहलाता है, इसी प्रकार ज्ञान सदा ज्ञानरूप ही रहता है परंतु वह अपनी स्वच्छताके कारण दर्पणकी तरह घटपदादि पदार्थ रूप हो जाता है। ज्ञानमें जो घटपटादि पदार्थोंका आकार प्रतिफलित होता है वह यथार्थमें ज्ञानका ही है, परंतु पदार्थोंके निमित्तसे होता है इसलिए पदार्थोंका कहलाता है। पदार्थ ज्ञानमें प्रतिबिंबित होते हैं इसी अपेक्षा 'ज्ञान पदार्थोंमें व्याप्त रहता है' ऐसा व्यवहार होता है।।३०।।

आगे व्यवहारसे पदार्थ ज्ञानमें रहते हैं यह बतलाते हैं --

जदि ते ण संति अत्था, णाणे णाणं, ण होदि सव्वगयं।
सव्वगयं वा णाणं, कहं ण णाणट्ठिया अत्था[१]।।३१।।

यदि वे पदार्थ ज्ञानमें नहीं रहते हैं ऐसा माना जाय तो ज्ञान सर्वगत नहीं हो सकता और यदि ज्ञान सर्वगत है ऐसा माना जाता है तो पदार्थ ज्ञानमें स्थित क्यों न माने जावें? अवश्य माने जावें।

आगे यद्यपि ज्ञानका पदार्थोंके साथ ग्राहक-ग्राह्य संबंध है तथापि निश्चयसे दोनों पृथक् हैं ऐसा बतलाते हैं --

गेण्हदि णेव ण मुंचदि, ण परं परिणमदि केवली भगवं।
पेच्छदि समंतदो सो, जाणदि सव्वं णिरवसेसं।।३२।।

केवली भगवान् परपदार्थोंको न ग्रहण करते हैं न छोड़ते हैं और न उनरूप परिणमन ही करते हैं, फिर भी वे समस्त पदार्थोंको संपूर्ण रूपसे सर्वांग ही देखते हैं और जानते हैं।

यद्यपि निश्चयनयसे केवली भगवान् किन्हीं परपदार्थोंका ग्रहण तथा त्याग आदि नहीं करते तथापि व्यवहार नयसे वे समस्त पदार्थोंके ज्ञाता द्रष्टा कहे जाते हैं।।३२।।

आगे केवलज्ञानी और श्रुतकेवलीमें समानता बतलाते हैं --

जो हि सुदेण विजाणदि, अप्पाणं जाणगं सहावेण।
तं सुयकेवलिमिसिणो, भणंति लोगप्पदीवयरा।।३३।।

निश्चयसे जो पुरुष श्रुतज्ञानके द्वारा स्वभावसे ही जाननेवाले अपने आत्माको जानता है उसे लोकको प्रकाशित करनेवाले ऋषि श्रुतकेवली कहते हैं।।

जिस प्रकार केवलज्ञानी एक साथ परिणत समस्त चैतन्य विशेषसे शोभायमान केवलज्ञानके

१. अट्ठा ज. वृ. ।

द्वारा अनादिनिधन, कारणरहित, असाधारण और स्वसंवेदन ज्ञानकी महिमा सहित केवल आत्माको अपने आपमें वेदन करता है -- अनुभव करता है उसी प्रकार श्रुतकेवली भी क्रमशः परिणमन करनेवाली कुछ चैतन्य शक्तियोंसे सुशोभित श्रुतज्ञानसे पूर्वोक्त विशिष्ट आत्माको अपने आपमें वेदन करता है, इसलिए इन दोनोंमें वस्तुस्वरूप जाननेकी अपेक्षा समानता है, सिर्फ प्रत्यक्ष परोक्ष और ज्ञायक शक्तियोंके तारतम्यकी अपेक्षा ही विशेषता है।।३३।।

आगे श्रुतके निमित्तसे ज्ञानमें जो भेद होता है उसे दूर करते हैं --

सुत्तं जिणोवदिट्ठं , पोग्गलदव्वप्पगेहिं वयणेहिं।
[१]तज्जाणणा हि णाणं, सुत्तस्स य जाणणा भणिया।।३४।।

पुद्गल द्रव्यस्वरूप वचनोंके द्वारा जिनेंद्र भगवानने जो उपदेश दिया है वह द्रव्यश्रुत है, निश्चयसे उसका जानना भावश्रुत ज्ञान है और व्यवहारसे कारणमें कार्यका उपचार कर उस द्रव्यश्रुतको भी ज्ञान कहा है। इस उल्लेखसे यह सिद्ध हुआ कि सूत्रका ज्ञान श्रुतज्ञान कहलाता है, यदि कारणभूत श्रुतकी उपेक्षा कर दी जावे तो ज्ञान ही अवशिष्ट रहता है। वह ज्ञान केवली और श्रुतकेवलीके आत्मसंवेदनके विषयमें तुल्य ही रहता है। अतः उनके ज्ञानमें श्रुतनिमित्तक विशेषता नहीं होती।।३४।।

आगे आत्मा और ज्ञानमें कर्ता और करणगत भेदको दूर करते हैं --

जो जाणदि सो णाणं, ण हवदि णाणेण जाणगो आदा।
णाणं परिणमदि सयं, अट्ठा णाणट्ठिया सव्वे।।३५।।

जो जानता है वह ज्ञान है, आत्मा ज्ञानके द्वारा ज्ञायक नहीं है, किंतु वह स्वयं ही ज्ञानरूप परिणमन करता है और सब पदार्थ ज्ञानमें स्वयं स्थित रहते हैं।

आत्मा ज्ञप्तिक्रियाका कर्ता है और ज्ञान स्वयं उसका करण है। आत्मा गुणी है, ज्ञान गुण है। गुण-गुणीमें प्रदेशभेद नहीं है इसलिए आत्मा ही ज्ञान है और ज्ञान ही आत्मा है। जिस प्रकार अग्नि और उष्णतामें अभेद है उसी प्रकार आत्मा और ज्ञानमें अभेद है।।३५।।

आगे ज्ञान क्या है? और ज्ञेय क्या है? इसका विवेक करते हैं --

तम्हा णाणं जीवो, णेयं दव्वं तिधा समक्खादं।
दव्वंति पुणो आदा, परं च परिणामसंबद्धं।।३६।।

चूँकि जीव और ज्ञानमें अभेद है अतः जीव ज्ञानस्वरूप है और अतीत अनागत वर्तमान अथवा उत्पाद व्यय ध्रौव्यके तीन प्रकार परिणमन करनेवाला द्रव्य ज्ञेय है -- ज्ञानका विषय है। फिर जीव तथा पुद्गल आदि पाँच अजीव पदार्थ परिणमनसे संबद्ध होनेके कारण द्रव्य इस व्यवहारको प्राप्त होते हैं।

---

१. तं जाणणा

ज्ञान आत्मस्वरूप है परंतु ज्ञेय आत्मा और अनात्माके भेदसे दो प्रकारका है।।३६।।

आगे अतीत अनागत पर्यायें वर्तमानकी तरह ज्ञानमें प्रतिभासित होती हैं ऐसा कथन करते हैं --

तक्कालिगेव सव्वे, सदसब्भूदा हि पज्जया तासिं।
वट्टंते ते णाणे, विसेसदो दव्वजादीणं।।३७।।

उन प्रसिद्ध जीव-पुद्गलादिक द्रव्यजातियोंके वे समस्त विद्यमान और अविद्यमान पर्याय निश्चयसे ज्ञानमें अपनी-अपनी विशेषता लिये हुए वर्तमान कालसंबंधी पर्यायोंकी तरह विद्यमान रहते हैं।

ज्ञान चित्रपटके समान है। जिस प्रकार चित्रपटमें भूत भविष्यत् और वर्तमान काल संबंधी वस्तुओंके चित्र युगपत् प्रतिभासित रहते हैं उसी प्रकार ज्ञानमें भी भूत भविष्यत् और वर्तमान काल संबंधी द्रव्य पर्याय प्रतिभासित होते रहते हैं।।३७।।

आगे अविद्यमान पर्याय किसी अपेक्षासे विद्यमान है ऐसा बतलाते हैं --

जे णेव हि संजाया, जे खलु णट्ठा भवीय पज्जाया।
ते होंति असब्भूया, पज्जाया णाणपच्चक्खा।।३८।।

निश्चयसे जो पर्याय उत्पन्न नहीं हुए हैं और जो उत्पन्न होकर नष्ट हो गये हैं वे अतीत और अनागत काल संबंधी समस्त पर्याय यद्यपि असद्भूत पर्याय हैं -- वर्तमानमें अविद्यमान रूप हैं तथापि ज्ञानमें प्रत्यक्ष होनेसे कथंचित् सद्भूत हैं।।३८।।

आगे असद्भूत पर्यायें ज्ञानमें प्रत्यक्ष हैं इसीको पुष्ट करते हैं --

यदि पच्चक्खमजादं, पज्जायं पलयिदं ण णाणस्स।
ण हवदि वा तं णाणं, दिव्वंति हि के परूविंति।।३९।।

यदि अजात -- अनुत्पन्न और प्रलयित -- विनष्ट पर्याय केवलज्ञानके प्रत्यक्ष नहीं होते तो उसे 'यह दिव्य ज्ञान है -- सबसे उत्कृष्ट ज्ञान है' ऐसा कौन प्ररूपण करते हैं। केवलज्ञानकी उत्कृष्टता इसीमें है कि वह अतीत-अनागत पर्यायोंको भी प्रत्यक्षवत् स्पष्ट जानता है।।३९।।

आगे इंद्रियजन्य ज्ञान अतीत अनागत पर्यायोंके जाननेमें असमर्थ है ऐसा कहते हैं --

अत्थं[१] अक्खणिवदिदं, ईहापुव्वेहिं जे विजाणंति ।
तेसिं परोक्खभूदं, णादुमसक्कंति पण्णत्तं।।४०।।

जो जीव इंद्रियगोचर पदार्थको ईहा-अवाय-धारणापूर्वक जानते हैं उन्हें परोक्ष पदार्थ -- असद्भूत पर्यायका जानना अशक्य है ऐसा जिनेंद्र भगवानने कहा है।।४०।।

१. अट्ठं ज. वृ. ।

आगे अतींद्रिय ज्ञान सब कुछ जानता है ऐसा कहते हैं --

अपदेसं सपदेसं, मुत्तममुत्तं च पज्जयमजादं।
पलयं गदं च जाणदि, तं णाणमदिंदियं भणियं।।४१।।

जो ज्ञान प्रदेशरहित कालाणु अथवा परमाणुको, प्रदेशसहित पंचास्तिकायोंको, मूर्त अर्थात् पुद्गलको अमूर्त अर्थात् मूर्तिरहित शुद्ध जीवादि द्रव्योंको अनुत्पन्न और विनष्ट पर्यायोंको जानता है वह अतींद्रिय ज्ञान कहा गया है।।४१।।

आगे अतींद्रिय ज्ञानमें पदार्थाकार परिणमन रूप क्रिया नहीं होती ऐसा कहते हैं --

परिणमदि णेयमट्ठं, णादा जदि णेव खाइगं तस्स।
णाणंति तं जिणिंदा, खवयंतं कम्ममेवुत्ता।।४२।।

यदि ज्ञाता आत्मा ज्ञेय पदार्थके प्रति संकल्प-विकल्परूप परिणमन करता है तो उसके क्षायिक ज्ञान नहीं है, इसके विपरीत जिनेंद्र भगवानने उस आत्माको कर्मका अनुभव करनेवाला अर्थात् संसारी ही कहा है।।४२।।

आगे ज्ञान बंधका कारण नहीं है, किंतु ज्ञेयमें जो राग-द्वेषरूप आत्माकी परिणति है वह बंधका प्रत्यक्ष कारण है ऐसा कहते हैं --

उदयगदा कम्मंसा, जिणवरवसहेहिं णियदिणा भणिया।
तेसु हि मुहिदो रत्तो, दुट्ठो वा बंधमणुहवदि।।४३।।

जिनेंद्र भगवानने कहा है कि संसारी जीवके नियमपूर्वक कर्मोंके अंश प्रतिसमय उदयमें आते रहते हैं। जो जीव उन उदयागत कर्मांशोंमें मोही रागी अथवा द्वेषी होता है वह बंधका अनुभव करता है।।४३।।

आगे रागादिका अभाव होनेसे केवली भगवानकी धर्मोपदेश आदि क्रियाएँ बंधका कारण नहीं हैं ऐसा कहते हैं --

ठाणणिसेज्जविहारा, धम्मुवएसो य णियदयो तेसिं।
अरहंताणं काले, मायाचारोव्व इच्छीणं।।४४।।

जिस प्रकार स्त्रियोंके मायाचार रूप प्रवृत्ति स्वभावसे ही होती है उसी प्रकार अरहंत भगवानके अरहंत अवस्थाके कालमें स्थान-विहार करते-करते रुक जाना, निषद्या -- समवसरणमें आसीन होना, विहार -- आर्यक्षेत्रोंमें विहार करना और धर्मोपदेश देना ये कार्य स्वभावसे ही होते हैं।

चूँकि भगवानके मोहका उदय नहीं होता इसलिए उनकी समस्त क्रियाएँ इच्छाके अभावमें होती हैं और इसीलिए वे उनके बंधका कारण नहीं होतीं।।४४।।

आगे अरहंत भगवानके पुण्यकर्मका उदय बंधका कारण नहीं है यह कहते हैं --

पुण्णफला अरहंता, तेसिं किरिया पुणो हि ओदयिगा[१]।
मोहादीहिं विरहिदा, तम्हा सा खाइगत्ति मदा।।४५।।

अरहंत भगवान् तीर्थंकर नामक पुण्य प्रकृतिके फल हैं अर्थात् अरहंत पद तीर्थंकर नामक पुण्यप्रकृतिके उदयसे होता है और उनकी शारीरिक तथा वाचनिक क्रिया निश्चयसे कर्मोदयजन्य है, तथापि वह क्रिया मोह राग द्वेषादि भावोंसे रहित है इसलिए क्षायिक मानी गयी है।

यद्यपि औदयिक भाव बंधके कारण होते हैं तथापि मोहका उदय साथ न होनेसे अरहंत भगवान् के औदयिक भाव बंधके प्रति अकिंचित्कर रहते हैं।।४५।।

आगे केवलियोंकी तरह सभी जीवोंके स्वभावका कभी विघात नहीं होता ऐसा कहते हैं --

जदि सो सुहो व असुहो, ण हवदि आदा सयं सहावेण।
संसारोवि ण विज्जदि, सव्वेसिं जीवकायाणं।।४६।।

यदि वह आत्मस्वभावसे शुभ अथवा अशुभरूप नहीं होवे तो समस्त जीवोंके संसार ही नहीं होवे। जिस प्रकार स्फटिकमणि जपा तथा तपिच्छ आदि फूलोंके संसर्गसे लाल तथा नीला परमणमन करन् लगता है उसी प्रकार यह आत्मा परिणामी होनेके कारण शुभ अशुभ कर्मोदयका निमित्त मिलनेसे शुभ अशुभरूप परिणमन करने लगता है। केवली भगवानके शुभ अशुभ कर्मोंका उदय छूट जाता है इसलिए उन्हें शुभ अशुभरूप परिणमनसे रहित कहा है, परंतु संसारी जीवोंके वह निमित्त विद्यमान रहता है इसलिए उन्हें शुभ अशुभ परिणमनसे सहित माना गया है। यदि केवली भगवान् की तरह संसारके प्रत्येक प्राणीको शुभ अशुभ परिणमनसे रहित मान लिया जाये तो उनके संसारका अभाव हो जावे -- वे नित्यमुक्त कहलाने लगें, परंतु ऐसा मानना प्रत्यक्ष विरुद्ध है। अतः केवलीके सिवाय अन्य संसारी जीवोंके शुभ अशुभ परिणमन माना जाता है।।४६।।

आगे पहले कहा गया अतींद्रिय ज्ञान ही सब पदार्थोंको जानता है ऐसा कहते हैं --

जं तक्कालियमिदरं, जाणदि जुगवं समंतदो सव्वं।
अत्थं विचित्तविसमं, तं णाणं खाइयं भणियं।।४७।।

जो ज्ञान सर्वांगसे वर्तमान भूत भविष्यत् कालसंबंधी पर्यायोंसे सहित, विविध तथा मूर्तिक अमूर्तिकके भेदसे विषमताको लिये हुए समस्त पदार्थोंको एक साथ जानता है उसे क्षायिक ज्ञान कहा गया है।।४७।।

आगे जो सबको नहीं जानता वह एकको भी नहीं जानता इस विचारको निश्चित करते हैं --

---

१. ओदइया ज. वृ. ।

जो ण विजाणदि जुगवं, अत्थे तेकालिके[१] तिहुवणत्थे।
णादुं तस्स ण सक्कं, सपज्जयं दव्वमेकं वा।।४८।।

जो पुरुष तीन लोकमें स्थित तीन कालसंबंधी समस्त पदार्थोंको एकसाथ नहीं जानता उसके अनंत पर्यायोंसे सहित एक द्रव्यको भी जाननेकी शक्ति नहीं है।

जिस प्रकार दाह्य -- इंधनको जलानेवाली अग्नि स्वयं दाह्यके आकार परिणत हो जाती है उसी प्रकार ज्ञेयोंको जाननेवाला आत्मा स्वयं ज्ञेयाकार परिणत हो जाता है। केवलज्ञानी अनंत ज्ञेयोंको जानते हैं इसलिए उनके आत्मामें अनंत ज्ञेयोंके आकार दर्पणमें घटपटादि के समान प्रतिबिंबित रहते हैं। अतः जो केवलज्ञानके द्वारा प्रकाश्य अनंत पदार्थोंको नहीं जानता वह उनके प्रतिबिंबाधार आत्माको भी नहीं जानता।।४८।।

आगे जो एकको नहीं जानता वह सबको नहीं जानता ऐसा निश्चयय कहते हैं --

दव्वं अणंतपज्जयमेक्कमणंताणि दव्वजादाणि।
ण विजाणदि जदि जुगवं, कधं सो सव्वाणि जाणादि।।४९।।

जो अनंत पर्यायोंवाले एक -- आत्मद्रव्यको नहीं जानता है वह अंतरहित संपूर्ण द्रव्योंके समूहको कैसे जान सकता है? जिस आत्मामें अनंत ज्ञेयोंके आकार प्रतिफलित हो रहे हैं वही समस्त द्रव्योंको जान सकता है। तात्पर्य यह हुआ कि जो एकको जानता है वह सबको जानता है और जो सबको जानता है वह एकको जानता है। यहाँ एकसे तात्पर्य केवलज्ञानविशिष्ट आत्मा से हैं[२]।।४९।।

आगे क्रमपूर्वक जाननेसे ज्ञानमें सर्वगतपना सिद्ध नहीं हो सकता ऐसा सिद्ध करते हैं --

उप्पज्जदि जदि णाणं, कमसो [३]अत्थे पडुच्च णाणिस्स।
तं णेव हवदि णिच्चं, ण [४]खाइगं णेव [५]सव्वगदं।।५०।।

यदि ज्ञानी -- आत्माका ज्ञान क्रमसे पदार्थोंका अवलंबन कर उत्पन्न होता है तो वह न नित्य है, न क्षायिक है और न सर्वगत -- समस्त पदार्थोंको जाननेवाला ही है। उत्तर पदार्थका आलंबन मिलनेपर पूर्व पदार्थके आलंबनसे होनेवाला ज्ञान नष्ट हो जाता है इसलिए वह नित्य नहीं हो सकता। ज्ञानावरण कर्मके क्षयसे प्रकट होनेवाला ज्ञान सदा उपयोगात्मक रहता है, उसमें क्रमवर्तित्व संभव नहीं है। यह क्रमवर्तित्व क्षायोपशमिक ज्ञानमें ही संभव है। इसी प्रकार जो ज्ञान क्रमवर्ती होता है वह समीप होता है। वह एक कालमें संसारके समस्त पदार्थोंको नहीं जान सकता है।।५०।।

आगे एक साथ प्रवृत्ति होनेसे ही ज्ञानमें सर्वगतपना सिद्ध होता है ऐसा निरूपण करते हैं -

---

१. तिक्कालिगे ज. वृ. । २. 'एको भावः सर्वभावस्वभावः सर्वे भावा एकभावस्वभावः। एको भावस्तत्त्वतो येन बुद्धः सर्वे भावास्तत्त्वतस्तेन बुद्धाः।।' ३. अट्ठे ज. वृ. । ४. खाइयं ज. वृ. । ५. सव्वगयं ज. वृ. ।

[१]तेक्कालणिच्चविसमं, सकलं सव्वत्थ संभवं चित्तं।
जुगवं जाणदि जोण्हं, अहो हि णाणस्स माहप्पं।।५१।।

जिनेंद्र भगवानका ज्ञान अतीतादि तीन कालोंसे सदा विषम, लोक-अलोकमें सर्वत्र विद्यमान, नानाजातिके समस्त पदार्थोंको एक साथ जानता है। निश्चयसे क्षायिक ज्ञानका विचित्र माहात्म्य है।।५१।।

आगे केवलीके ज्ञानक्रिया न होनेपर भी बंध नहीं होता है यह निरूपण करते हैं --

ण वि परिणमदि य गेण्हदि, उप्पज्जदि णेव तेसु अत्थेसु[२]।
जाणण्णवि ते आदा, अबंधगो तेण पण्णत्तो।।५२।।

केवलज्ञानी शुद्धात्मा चूँकि उन पदार्थोंको जानता हुआ भी उन रूप न परिणमन करता है, न उन्हें ग्रहण करता है और न उनमें उत्पन्न ही होता है, इसलिए वह अबंधक -- बंधरहित कहा गया है[३]।। ५२।।

इति ज्ञानाधिकारः

*

आगे ज्ञानसे अभिन्नरूप सुखका वर्णन करते हुए आचार्य महाराज ज्ञान और सुखमें कौनसा ज्ञान तथा सुख छोड़नेयोग्य है और कौनसा ज्ञान तथा सुख ग्रहण करनेयोग्य है? इसका विचार करते हैं --

[४]अत्थि अमुत्तं मुत्तं, अदिंदियं इंदियं च अत्थेसु।
णाणं च तथा सोक्खं, जं तेसु परं च तं णेयं।।५३।।

पदार्थोंके विषयमें जो ज्ञान अतींद्रिय होता है वह अमूर्तिक है और जो इंद्रियजन्य होता है वह मूर्तिक कहलाता है। इसी प्रकार अतींद्रिय और इंद्रियजन्य सुख भी क्रमशः अमूर्तिक तथा मूर्तिक होता है। इन दोनोंमें जो उत्कृष्ट है वही उपादेय है।

मूर्तिक ज्ञान और सुख क्षायोपशमिक उपयोग शक्तियों तथा क्षायोपशमिक इंद्रियोंसे उत्पन्न होता है अतः पराधीन होनेसे कादाचित्क है, क्रमसे प्रवृत्त होता है, प्रतिपक्षीसे सहित है, हानि-वृद्धिसे युक्त है

---

१. तिक्काल ज. वृ. । २. अट्ठेसु ज. वृ. ।

३. 'जीवन्नप्येष विश्वं युगपदपि भवद्भावि भूतं समस्तं, मोहाभावाद्यदात्मा परिणमति परं नैव निर्लूनकर्मा। तेनास्ते युक्त एव प्रसभविकसितज्ञप्तिविस्तारपीतज्ञेयाकारं त्रिलोकीं पृथगपृथगथ द्योतयन् ज्ञानमूर्तिः।।' ज. वृ. ।

४. 'तस्स णमाइं लोगो देवासुरमणुअरायसंबंधो।
णाणं च तथा सोक्खं जं तेसु परं च तं णेयं।।' ज. वृत्तावधिकः पाठः।

इसलिए हेय है और अमूर्तिक ज्ञान तथा सुख इससे विपरीत होनेके कारण उपादेय है।।५३।।

आगे अतींद्रिय सुखका कारण अतींद्रिय ज्ञान उपादेय है यह कहते हैं --

जं पेच्छदो अमुत्तं, मुत्तेसु अदिंदियं च पच्छण्णं।
सकलं सगं च इदरं, तं णाणं हवदि पच्चक्खं।।५४।।

देखनेवालेका जो ज्ञान अमूर्तिक द्रव्योंको तथा मूर्तिक द्रव्योंमें अतींद्रिय अर्थात् परमाणु आदिको एवं क्षेत्रांतरित कालांतरित आदि प्रच्छन्न पदार्थोंको इस प्रकार समस्त स्व और पर ज्ञेयको जानता है वह प्रत्यक्ष ज्ञान होता है।

अनंत सुखका अनुभावक होनेसे यह प्रत्यक्ष ज्ञान ही उपादेय है।।५४।।

आगे इंद्रिय सुखका कारण इंद्रियज्ञान हेय है इस प्रकार उसकी निंदा करते हैं --

जीवो सयं अमुत्तो, मुत्तिगदो तेण मुत्तिणा मुत्तं।
ओगिण्हित्ता जोग्गं, जाणदि वा तण्ण जाणादि।।५५।।

जीव निश्चयनयसे स्वयं अमूर्तिक है, परंतु व्यवहारसे मूर्ति अर्थात् शरीरमें स्थित हो रहा है। यह जीव द्रव्य तथा भाव इंद्रियोंके आधारभूत मूर्त शरीरके द्वारा ग्रहण करनेयोग्य मूर्त पदार्थको अवग्रह ईहा आदि क्रमसे जानता है और क्षयोपशमकी मंदता तथा उपयोगके अभावसे नहीं भी जानता है।

इंद्रियज्ञान यद्यपि व्यवहारसे प्रत्यक्ष कहा जाता है तथापि निश्चयनयसे केवलज्ञानकी अपेक्षा परोक्ष ही है। परोक्ष ज्ञान जितने सूक्ष्म अंशमें सूक्ष्म पदार्थको नहीं जानता है उतने अंशमें चित्तके खेदका कारण होता है और खेद ही दुःख है। अतः दुःखका जनक होनेसे इंद्रियज्ञान हेय है -- छोड़नेयोग्य है।।५५।।

आगे इंद्रियोंकी अपने विषयमें भी प्रवृत्ति होना एक साथ संभव नहीं है इसलिए इंद्रियज्ञान हेय है यह कहते हैं --

फासो रसो य गंधो, वण्णो सद्दो य पुग्गला होंति।
अक्खाणिं ते अक्खा, जुगवं ते णेव गेण्हंति।।५६।।

स्पर्श रस गंध वर्ण और शब्द ये पुद्गल ही इंद्रियोंके विषय हैं सो उन्हें भी ये इंद्रियाँ एक साथ ग्रहण नहीं करती हैं।

जिस प्रकार सब तरहसे उपादेय भूत अनंत सुखका कारणभूत केवलज्ञान एक साथ समस्त पदार्थोंको जानता हुआ सुखका कारण होता है उस प्रकार यह इंद्रियज्ञान अपने योग्य विषयोंका भी युगपत् ज्ञान न होनेसे सुखका कारण नहीं है।।५६।।

आगे इंद्रियज्ञान प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं है ऐसा निश्चय करते हैं --

परदव्वं ते अक्खा, णेव सहावोत्ति अप्पणो भणिदा।
उवलद्धं तेहि कहं, पच्चक्खं अप्पणो होदि।।५७।।

वे इंद्रियाँ चूँकि आत्माका स्वभाव नहीं है इसलिए पर द्रव्य कही गयी हैं, फिर उन इंद्रियोंके द्वारा ग्रहण किया हुआ पदार्थ आत्माके प्रत्यक्ष कैसे हो सकता है?

आगे परोक्ष और प्रत्यक्षका लक्षण प्रकट करते हैं --

जं परदो विण्णाणं, तं तु परोक्खत्ति भणिदमत्थेसु।
जदि केवलेण णादं, हवदि हि जीवेण पच्चक्खं।।५८।।

पदार्थविषयक जो ज्ञान परकी सहायतासे होता है वह परोक्ष कहलाता है और जो ज्ञान केवल आत्माके द्वारा जाना जाता है वह प्रत्यक्ष कहा जाता है।।५८।।

आगे यही प्रत्यक्ष ज्ञान निश्चय सुख है ऐसा अभेद दिखलाते हैं --

जादं सयं समत्तं, णाणमणंतत्थवित्थिदं[१] विमलं।
रहिदं तु [२]उग्गहादिहि, सुहत्ति [३]एयंतियं भणिदं[४]।।५९।।

जो स्वयं उत्पन्न हुआ है, परिपूर्ण है, अनंत पदार्थोंमें विस्तृत है, निर्मल है और अवग्रह आदि क्रमसे रहित है ऐसा ज्ञान ही निश्चय सुख है ऐसा कहा गया है।।५९।।

आगे अनेक पदार्थोंको जानने के कारण केवलज्ञानीको खेद होता होगा इस पूर्व प्रश्नका निराकरण करते हैं --

जं केवलत्ति णाणं, तं सोक्खं परिणमं च सो चेव।
खेदो तस्स ण भणिदो[५], तम्हा घादी[६] खयं जादा।।६०।।

जो केवल इस नामवाला ज्ञान है वह सुख है और वही सुख सबके जाननेरूप परिणाम है। उस केवलज्ञानके खेद नहीं कहा गया है। क्योंकि घातिया कर्म क्षयको प्राप्त हुए हैं।

खेदके स्थान ज्ञानावरणादि घातिया कर्म हैं। चूँकि केवलज्ञानीके इनका क्षय हो चुकता है अतः उनका केवलज्ञान आकुलता रूप खेदसे सर्वथा रहित होता है।।६०।।

आगे फिर भी केवलज्ञानको सुखरूप दिखलाते हैं --

णाणं अत्थंतगदं, लोगा[७]लोगेसु वित्थडा दिट्ठी।
णट्ठमणिट्ठं सव्वं, इट्ठं पुण जं तं तु[८] तं लद्धं।।६१।।

केवलज्ञानीके ज्ञान पदार्थोंके अंतको प्राप्त है अर्थात् अनंत पदार्थोंको जाननेवाला है, उनकी दृष्टि

१. विथडं, ज. वृ. । २. ओग्गहादिहिं, ज. वृ. । ३. एगंतियं, ज. वृ.। ४. भणियं ज. वृ. ।
५. भणिओ, ज. वृ.।६. घादिक्खयं, ज. वृ.। ७. लोयालोयेसु ८. हि ज. वृ. ।

अर्थात् केवलदर्शन लोक-अलोकमें विस्तृत है, समस्त अनिष्ट नष्ट हो चुकते हैं और जो इष्ट होता है वह उन्हें प्राप्त हो चुकता है। इस प्रकार केवलज्ञान सुखरूप होता है।।६१।।

आगे केवलज्ञानियोंके ही पारमार्थिक सुख है ऐसी श्रद्धा करते हैं --

ण हि सद्दहंति सोक्खं, सुहेसु परमंति विगदघादीणं
सुणिऊण[१] ते अभव्वा, भव्वा वा तं पडिच्छंति।।६२।।

जिनके घातिया कर्म नष्ट हो चुके हैं ऐसे केवली भगवान्का सुख सब सुखोंमें उत्कृष्ट है ऐसा सुनकर जो श्रद्धान नहीं करते वे अभव्य हैं और जो श्रद्धान करते हैं वे भव्य हैं[२]।६२।।

आगे परोक्ष ज्ञानियोंके जो इंद्रियजन्य सुख होता है वह अपारमार्थिक है ऐसा कहते हैं --

मणुआसुरामरिंदा, अहिद्दुआ[३] इंदिएहिं सहजेहिं।
असहंता तं दुक्खं, रमंति विसएसु रम्मेसु।।६३।।

सहजोत्पन्न इंद्रियोंसे पीड़ित मनुष्य, धरणेंद्र और देवोंके इंद्र -- स्वामी उस इंद्रियजन्य दुःखको न सहते हुए रमणीक विषयोंमें क्रीड़ा करते हैं।।६३।।

आगे जितनी इंद्रियाँ हैं वे स्वभावसे ही दुःखरूप हैं ऐसा विचार करते हैं --

जेसिं विषयेसु [४]रदी, तेसिं दुक्खं वियाण सब्भावं।
जदि[५] तं ण हि सब्भावं, वावारो णत्थि विसयत्थं।।६४।।

जिन जीवोंकी विषयोंमें प्रीति है उनके दुःख स्वभावसे ही जानो, क्योंकि यदि वह दुःख उनके स्वभावसे उत्पन्न हुआ नहीं होता तो विषयोंके लिए उनका व्यापार नहीं होता।

जिस प्रकार व्याधिसे पीड़ित मनुष्योंका औषधिके लिए व्यापार होता है उसी प्रकार इंद्रियोंसे पीड़ित मनुष्योंका विषयोंके लिए व्यापार होता है। मनुष्य अनुकूल विषय पानेके लिए निरंतर व्याकुल रहते हैं, इससे विदित होता है कि वे इंद्रियजन्य दुःखको सहन नहीं कर सकते हैं।।६४।।

आगे मुक्तात्माओंको शरीरके बिना भी सुख है इसलिए शरीर सुखका साधन नहीं है यह कहते हैं --

पय्या इट्ठे विसये, फासेहिं समस्सिदे सहावेण।
परिणममाणो अप्पा, सयमेव सुहं ण हवदि देहो।।६५।।

---

१. सुणिदूण ज. वृ.।

२. समसुखशीलितमनसां च्यवनमपि द्वेषमेति किमु कामाः।
स्थलमपि दहति झषाणां किमङ्ग पुनरङ्गमङ्गाराः।। ज. वृ. ।

३. अहिद्दुदा ज. वृ. । ४. रई ज. वृ. । ५. जइ ज. वृ. ।

स्पर्शनादि इंद्रियोंके द्वारा इष्ट विषयोंको पाकर अशुद्ध ज्ञानदर्शनस्वरूप स्वभावसे परिणमन करनेवाला आत्मा ही स्वयं सुखरूप होता है, शरीर नहीं।

सुख चेतनका गुण है इसलिए वह उसीमें व्यक्त होता है, शरीर जड़ पदार्थ है इसलिए उसमें नहीं पाया जाता है।।६५।।

आगे इसीका समर्थन करते हैं --

एदंतेण हि देहो, सुहं ण देहिस्स कुणइ सग्गे वा।
विसयवसेण दु सोक्खं, दुक्खं वा हवदि सयमादा।।६६।।

यह निश्चय है कि शरीर आत्माको स्वर्गमें भी सुखरूप नहीं करता किंतु यह आत्मा ही विषयोंके वश स्वयं सुख अथवा दुःखरूप हो जाता है।।६६।।

आगे आत्मा स्वयं ही सुखस्वरूप है इसलिए जिस प्रकार देह सुखका कारण नहीं है उसी प्रकार पंचेंद्रियोंके विषय भी सुखके कारण नहीं हैं ऐसा कहते हैं --

तिमिरहरा जइ दिट्ठी, जणस्स दीवेण णत्थि [१]कादव्वं।
तध सोक्खं सयमादा, विसया किं तत्थ कुव्वंति।।६७।।

यदि किसी मनुष्यकी दृष्टि अंधकारको नष्ट करनेवाली है तो जिस प्रकार उसे दीपकसे कुछ कार्य नहीं होता उसी प्रकार आत्मा यदि स्वयं सुखरूप होती है तो उसमें पंचेंद्रियोंके विषय क्या करते हैं? अर्थात् कुछ नहीं।।६७।।

आगे ज्ञान और सुख आत्माका स्वभाव है यह दृष्टांत से सिद्ध करते हैं --

सयमेव जधादिच्चो, तेजो उण्हो य देवदा णभसि।
सिद्धो वि तधा णाणं, सुहं च लोगे तधा देवो।।६८।।[२]

जिस प्रकार आकाशमें सूर्य स्वयं तेजरूप है, उष्ण है और देवगति नामकर्मका उदय होनेसे देव है उसी प्रकार सिद्ध भगवान भी इस जगत्में ज्ञानरूप हैं, सुखरूप हैं और देवरूप हैं।।६८।।

इत्यानन्दाधिकारः

*

१. कायव्वं

२. ६८ वीं गाथाके आगे जयसेन वृत्तिमें निम्नलिखित दो गाथाएँ अधिक व्याख्यात हैं --

'तेजो दिट्ठी णाणं इड्ढी सोक्खं तहेव ईसरियं।
तिहुवणपहाणदइयं माहप्पं जस्स सो अरिहो।।१।।
तं गुणदो अधिगदरं अविच्छिदं मणुवदेवपदिभावं।
अपणब्भावणिबद्धं पणमामि पुणो पुणो सिद्धं'।।२।।

आगे विषयजन्य सुखके स्वरूपका विचार प्रारंभ करते हुए आचार्य महाराज सर्वप्रथम उसके साधनभूत शुभोपयोगका वर्णन करते हैं --

देवदजदिगुरुपूजासु चेव दाणम्मि वा सुसीलेसु।
उववासादिसु रत्तो, सुहोवओगप्पगो अप्पा।।६९।।

जो आत्मा देव,यति, गुरुकी पूजामें, दानमें, गुणव्रत महाव्रतरूप उत्तम शीलोंमें और उपवासादि शुभ कार्योंमें लीन रहता है वह शुभोपयोगी कहलाता है।।६९।।

आगे इंद्रियजन्य सुख शुभोपयोगके द्वारा साध्य है ऐसा कहते हैं --

जुत्तो सुहेण आदा, तिरियो वा माणुसो व देवो वा।
भूदो तावदि कालं, लहदि सुहं इंदियं तिविहं।।७०।।

जो आत्मा शुभोपयोगसे सहित है वह तिर्यंच, मनुष्य अथवा देव होकर उतने समय तक इंद्रियजन्य विविध सुखोंको पाता है।।७०।।

आगे इंद्रियजन्य सुख यथार्थमें दुःख ही है ऐसा कहते हैं --

सोक्खं सहावसिद्धं, णत्थि सुराणंपि सिद्धमुवदेसे।
ते देहवेदणट्ठा, रमंति विसएसु रम्मेसु।।७१।।

अन्यकी बात जाने दो, देवोंके भी स्वभावजन्य सुख नहीं है ऐसा जिनेंद्र भगवानके उपदेशमें युक्तियोंसे सिद्ध है। वास्तवमें वे शरीरको वेदनासे पीड़ित होकर रमणीय विषयोंमें रमण करते हैं।।७१।।

आगे शुभोपयोग और अशुभोपयोगमें समानता सिद्ध करते हैं --

णरणारयतिरियसुरा, भजंति जदि देहसंभवं दुक्खं।
किध सो सुहो व असुहो, उवओगो हवदि जीवाणं।।७२।।

जबकि मनुष्य नारकी तिर्यंच और देव -- चारों ही गतिके जीव शरीरसे उत्पन्न होनेवाला दुःख भोगते हैं तब जीवोंका वह उपयोग शुभ अथवा अशुभ कैसे हो सकता है?

इंद्रियजन्य दुःखोंका कारण होनेसे शुभोपयोग और अशुभोपयोग समान ही है, निश्चयसे इनमें कुछ अंतर नहीं है।।७२।।

आगे शुभोपयोगसे उत्पन्न हुए फलवान पुण्यको विशेष रूपसे दोषाधायक मानकर उसका निषेध करते हैं --

कुलिसाउहचक्कधरा, सुहोवओगप्पगेहिं भोगेहिं।
देहादीणं विद्धि, करेंति सुहिदा इवाभिरदा।।७३।।

इंद्र तथा चक्रवर्ती सुखियोंके समान लीन हुए शुभोपयोगात्मक भोगोंसे शरीर आदिकी ही वृद्धि

करते हैं।

शुभोपयोगका उत्तम फल देवोंमें इंद्रको और मनुष्योंमें चक्रवर्तीको ही प्राप्त होता है, परंतु उस फलसे वे अपने शरीरको ही पुष्ट करते हैं, न कि आत्माको। वे वास्तवमें दुःखी ही रहते हैं, परंतु बाह्यमें सुखियोंके समान मालूम होते हैं।।७३।।

आगे शुभोपयोगजन्य पुण्य भी दुःखका कारण है यह प्रकट करते हैं --

जदि संति हि पुण्णाणि य, परिणामसमुब्भवाणि विविहाणि।
जणयंति विसयतण्हं, जीवाणं देवदंताणं।।७४।।

यह ठीक है कि शुभोपयोगरूप परिणामोंसे उत्पन्न होनेवाले अनेक प्रकारके पुण्य विद्यमान रहते हैं परंतु वे देवों तक समस्त जीवोंकी विषयतृष्णा ही उत्पन्न करते हैं।

शुभोपयोगके फलस्वरूप अनेक भोगोपभोगोंकी सामग्री उपलब्ध होती है उससे समस्त जीवोंकी विषयतृष्णा ही बढ़ती है इसलिए शुभोपयोगको अच्छा कैसे कहा जा सकता है?।।७४।।

आगे पुण्यको दुःखका बीज प्रकट करते हैं --

ते पुण उदिण्णतण्हा, दुहिदा तण्हाहि विसयसोक्खाणि।
इच्छंति अणुहवंति य, आमरणं दुक्खसंतत्ता।।७५।।

फिर, जिन्हें तृष्णा उत्पन्न हुई है ऐसे समस्त संसारी जीव तृष्णाओंसे दुःखी और दुःखोंसे संतप्त होते हुए विषयजन्य सुखोंकी इच्छा करते हैं और मरणपर्यंत उन्हींका अनुभव करते रहते हैं।

विषयजन्य सुखोंसे तृष्णा बढ़ती है और तृष्णा ही दुःखका प्रमुख कारण है। अतः शुभोपयोग के फलस्वरूप प्राप्त होनेवाले विषयसुख हेय हैं -- छोड़नेयोग्य हैं।।७५।।

आगे फिर भी पुण्यजनित सुखको बहुत प्रकारसे दुःखरूप वर्णन करते हैं --

सपरं बाधासहिदं[१], विच्छिण्णं बंधकारणं विसयं।
जं इंदियेहिं लद्धं, तं सोक्खं दुक्खमेव तथा[२]।। ७६।।

शुभोपयोगसे पुण्य होता है और पुण्यसे इंद्रियजन्य सुख मिलता है परंतु यथार्थमें विचार करनेपर वह इंद्रियजन्य सुख दुःखरूप ही मालूम होता है।।७६।।

आगे पुण्य और पापमें समानता है यह निश्चय करते हुए इस कथनका उपसंहार करते हैं -

ण हि मण्णदि जो एवं, णत्थि विसेसोत्ति पुण्णपावाणं।
हिंडदि घोरमपारं, संसारं मोहसंछण्णो।।७७।।

---

१. सहियं ज. वृ. । २. तहा ज. वृ. ।

'पुण्य और पापमें विशेषता नहीं है' ऐसा जो नहीं मानता है वह मोहसे आच्छादित होता हुआ भयानक और अंतरहित संसारमें भटकता रहता है।।७७।।

आगे जो पुरुष शुभोपयोग और अशुभोपयोगको समान मानता हुआ समस्त रागद्वेषको छोड़ता है वही शुद्धोपयोगको प्राप्त होता है ऐसा कथन करते हैं --

एवं विदिदत्थो जो, दव्वेसु ण रागमेदि दोसं वा।
उवओगविसुद्धो सो, खवेदि देहुब्भवं दुक्खं।।७८।।

इस प्रकार पदार्थके यथार्थ स्वरूपको जाननेवाला जो पुरुष परद्रव्योंमें राग और द्वेष भावको प्राप्त नहीं होता है वह उपयोगसे विशुद्ध होता हुआ शरीरजन्य दुःखको नष्ट करता है।

सांसारिक सुख-दुःखका अनुभव राग-द्वेषसे होता है और चूँकि शुद्धोपयोगी जीवके वह अत्यंत मंद अथवा विनष्ट हो चुकते हैं इसलिए उसके शरीरजन्य दुःखका अनुभव नहीं होता है।।७८।।

आगे मोहादिका उन्मूलन किये बिना शुद्धताका लाभ कैसे हो सकता है? यह कहते हैं --

चत्ता पावारंभं, समुट्ठिदो वा सुइम्मि चरियम्मि[१]।
ण जहदि मोहादी ण, लहदि सो अप्पगं सुद्धं[२]।।७९।।

पापारंभको छोड़कर शुभ आचरणमें प्रवृत्त हुआ पुरुष यदि मोह आदिको नहीं छोड़ता है तो वह शुद्ध आत्माको नहीं पाता है।।

अशुभोपयोगको छोड़कर शुभोपयोगमें प्रवृत्त हुआ पुरुष जब मोह राग द्वेष आदिका त्याग करता है, अर्थात् शुद्धोपयोगको प्राप्त होता है तभी कर्ममल कलंकसे रहित शुद्ध आत्मस्वरूपको प्राप्त होता है। अन्यथा नहीं।।७९।।

आगे मोहके नाशका उपाय प्रकट करते हैं --

जो जाणदि अरहंतं, दव्वत्तगुणत्तपज्जयत्तेहिं।
सो जाणदि अप्पाणं, मोहो खलु [३]जादि तस्स लयं।।८०।।

जो पुरुष द्रव्य, गुण और पर्यायोंके द्वारा अरहंत भगवानको जानता है वही आत्माको जानता है

---

१. चरियम्हि, ज. वृ. ।

२. ७९ वीं गाथाके आगे जयसेन वृत्तिमें निम्नांकित दो गाथाएँ अधिक उपलब्ध हैं --

'तवसंजमप्पसिद्धो सुद्धो सग्गापपग्गमग्गकरो।
अमरासुरिंदमहिदो देवो सो लोयसिहरत्थो।।'
'तं देवदेवदेवं जदिवरवसहं गुरुं तिलोयस्स।
पणमंति जे मणुस्सा ते सोक्खं अक्खयं जंति।।' ज. वृ. ।

३. जाइ ज. वृ.।

और निश्चयसे उसीका मोह विनाशको प्राप्त होता है।

अरहंत भगवानका जैसा स्वरूप है निश्चय नयसे आत्माका भी वैसा स्वरूप है, अतः अरहंतके ज्ञानसे आत्माका ज्ञान स्वभावसिद्ध है। जिस पुरुषको सौ टंचके सुवर्णके समान शुद्ध आत्मस्वरूपका बोध हो गया है उसका मोह शीघ्र ही नष्ट हो जाता है।।८०।।

आगे यद्यपि मैंने स्वरूपचिंतामणि पाया है तो भी प्रमादरूपी चोर विद्यमान हैं इसलिए जागता हूँ यह कहते हैं --

जीवो ववगदमोहो, उवलद्धो तच्चमप्पणो सम्मं।
जहदि जदि रागदोसे, सो अप्पाणं लहदि सुद्धं।।८१।।

जिसका दर्शनमोह नष्ट हो गया है ऐसा जीव आत्माके यथार्थ स्वरूपको जानने लगता है -- उसका अनुभव करने लगता है और वही जीव यदि राग-द्वेषको छोड़ देता है तो शुद्ध आत्मस्वरूपको प्राप्त होता है।

मिथ्यादर्शनके नष्ट होनेसे आत्माके यथार्थ स्वरूपका श्रद्धान और बोध हो जाता है तथा राग-द्वेषके छोड़नेसे शुद्ध आत्मतत्त्वकी प्राप्ति हो जाती है। जिसका मिथ्यादर्शन नष्ट हो गया है ऐसे जीवको राग-द्वेषका नाश करनेके लिए सदा जागरूक रहना चाहिए, क्योंकि ये चोरोंकी भाँति शुद्धात्मतत्त्वरूपी चिंतामणिको चुरानेमें सदा प्रयत्नशील रहते हैं।।८१।।

आगे भगवान अरहंत देवने स्वयं अनुभव कर यही मोक्षका वास्तविक मार्ग बतलाया है ऐसा निरूपण करते हैं --

[१]सव्वेपि य अरहंता, तेण विधाणेण खविदकम्मंसा।
किच्चा तधोवएसं, णिव्वादा ते णमो तेसिं।।८२।।

सभी अरहंत भगवान् उस पूर्वोक्त विधिसे ही कर्मोंके अंशोंका क्षय कर तथा उसी प्रकारका उपदेश देकर निर्वाणको प्राप्त हुए हैं। मेरा उन सबके लिए नमस्कार है[२]।।८२।।

आगे शुद्धात्मलाभके विरोधी मोहका स्वभाव और उसकी भूमिका का वर्णन करते हैं --

दव्वादिएसु मूढो, भावो जीवस्स हवदि मोहोत्ति।
खुब्भदि तेणोच्छण्णो[३], पप्या रागं व दोसं वा।।८३।।

---

१. सव्वेवि ज. वृ.।

२. ८२ वीं गाथाके आगे ज. वृ. में निम्न गाथा अधिक व्याख्यात है --

दंसणसुद्धा पुरिसा णाणपहाणा समग्गचरियत्था।
पूजासक्काररिहा दाणस्स य हि णमो तेसिं।। ज. वृ. ।

३. तेणुच्छण्णो ज. वृ. ।

द्रव्य और गुण पर्यायमें विपरीताभिनिवेशको प्राप्त हुआ जीवका जो वह भाव है वह मोह कहलाता है। उस मोहसे आच्छादित हुआ जीव राग और द्वेषको पाकर क्षुभित होने लगता है।

मोह राग और द्वेष यह तीन प्रकारका मोह ही शुद्धात्मलाभका परिपंथी है -- विरोधी है।।८३।।

आगे बंधके कारण होनेसे मोह राग और द्वेष नष्ट करने योग्य हैं ऐसा कहते हैं --

मोहेण व रागेण व, दोसेण व परिणदस्स जीवस्स।
जायदि विविहो बंधो, तम्हा ते संखवइदव्वा।।८४।।

मोह राग और द्वेषसे परिणत जीवके विविध प्रकारका बंध होता है इसलिए वे सम्यक् प्रकारसे क्षय करनेके योग्य है।।

बंधका कारण त्रिविध मोह ही है, अतः मोक्षाभिलाषी जीवको उसका क्षय करना चाहिए।।८४।।

आगे मोहके लिंग (चिह्न) बतलाते हैं, इन्हें जानकर उत्पन्न होते ही नष्ट कर देना चाहिए ऐसा कहते हैं --

अट्ठे अजधागहणं, करुणाभावो य तिरियमणुएसु।
विसएसु अप्पसंगो, मोहस्सेदाणि लिंगाणि।।८५।।

पदार्थोंका अन्यथा ज्ञान, तिर्यंच और मनुष्योंपर करुणाभाव तथा इंद्रियोंके विषयोंमें आसक्ति ये मोहके चिह्न हैं।

इन प्रवृत्तियोंसे मोहके अस्तित्वका ज्ञान होता है।।८५।।

आगे मोहका क्षय करनेके लिए अन्य उपायका विचार करते हैं --

जिणसत्थादो अट्ठे, पच्चक्खादीहिं बुज्झदो णियमा।
खीयदि मोहोवचयो, तम्हा सत्थं [१]समधिदव्वं।।८६।।

प्रत्यक्षादि प्रमाणोंके द्वारा जिनेंद्रप्रणीत शास्त्रसे पदार्थोंको जाननेवाले पुरुषका मोहका समूह नियमसे नष्ट हो जाता है इसलिए शास्त्रका अध्ययन करना चाहिए।।८६।।

आगे जिनेंद्र भगवान्के द्वारा कहे हुए शब्दब्रह्ममें पदार्थोंकी व्यवस्था किस प्रकार है? इसका निरूपण करते हैं --

दव्वाणि गुणा तेसिं, पज्जाया अट्ठसण्णया भणिया।
तेसु गुणपज्जयाणं, अप्पा दव्वत्ति उवदेसो।।८७।।

द्रव्य और गुणके पर्याय अर्थ नामसे कहे गये हैं, इन तीनोंमें गुण और पर्यायोंका जो स्वभाव है वही

---

१. समहिदव्वं ज. वृ.।

द्रव्य कहलाता है ऐसा उपदेश है।

गुण और पर्याय द्रव्यसे अपृथग्भूत हैं इसलिए इनका स्वभाव ही द्रव्य है ऐसा अभेदविवक्षासे कहा गया है।।८७।।

आगे मोहक्षयमें कारणभूत जिनेंद्रका उपदेश मिलनेपर भी पुरुषार्थ कार्यकारी है इसलिए उसकी प्रेरणा करते हैं --

जो मोहरागदोसे, णिहणदि उवलद्ध जोण्हमुवदेसं।
सो सव्वदुक्खमोक्खं, पावदि अचिरेण कालेण।।८८।।

जो पुरुष जिनेंद्र भगवान्का उपदेश पाकर मोह राग द्वेषको नष्ट करता है वह थोड़े ही समयमें समस्त दुःखोंसे छुटकारा पा जाता है।।८८।।

आगे स्वपरका भेदविज्ञान होनेसे ही मोहका क्षय होता है, इसलिए स्वपरका भेदविज्ञान प्राप्त करनेके लिए यत्न करते हैं --

णाणप्पगमप्पाणं, परं च दव्वत्तणाहिसंबद्धं।
जाणदि यदि णिच्छयदो, जो सो मोहक्खयं कुणदि।।८९।।

जो पुरुष निश्चयसे ज्ञानमय आत्माको स्वकीय द्रव्यत्वसे और शरीरादि पर पदार्थको परकीय द्रव्यत्वसे अभिसंबद्ध जानता है वह मोहका क्षय करता है।

मोहका क्षय स्वपर भेदविज्ञानसे ही होता है।।८९।।

आगे स्वपर भेदकी सिद्धि आगमसे करनी चाहिए ऐसा उपदेश देते हैं --

तम्हा जिणमग्गादो, गुणेहिं आदं परं च दव्वेसु।
अभिगच्छदु णिम्मोहं, इच्छदि जदि अप्पणो अप्पा।।९०।।

इसलिए यदि यह जीव अपने आपके मोहाभावकी इच्छा करता है तो उसे चाहिए कि वह जिनमार्गसे अर्थात् जिनेंद्रप्रणीत आगमसे विशेष गुणोंके द्वारा समस्त द्रव्योंमें निज और परको पहिचाने।

गुण दो प्रकारके हैं -- सामान्य और विशेष। जो समस्त द्रव्योंमें समान रूपसे पाये जायें वे सामान्य गुण हैं। जैसे अस्तित्व, वस्तुत्व आदि और जो खास द्रव्योंमें पाये जायें वे विशेष गुण हैं। जैसे ज्ञान दर्शन तथा रूप रस गंध स्पर्श आदि। इनमेंसे सामान्य गुणोंके द्वारा किसी द्रव्यका पार्थक्य सिद्ध नहीं हो सकता क्योंकि वे समान रूपसे सबमें पाये जाते हैं। पार्थक्य ज्ञान दर्शनादि विशेष गुणोंसे ही सिद्ध हो सकता है। इसलिए जो जीव यह चाहता है कि हमारा आत्मा मोहसे रहित हो उसे विशेष गुणोंके द्वारा सर्वप्रथम निज और परका भेदविज्ञान प्राप्त करना चाहिए क्योंकि जब तक परसे भिन्न स्वद्रव्यके वास्तविक स्वरूपका बोध नहीं होगा तब तक उसकी प्राप्ति असंभव बनी रहती है।।९०।।

आगे जिनेंद्रप्रणीत पदार्थोंकी श्रद्धाके बिना धर्मका लाभ नहीं हो सकता यह कहते हैं --

सत्तासंबद्धेदे, सविसेसे जो हि णेव सामण्णे।
सद्दहदि ण सो समणो, तत्तो धम्मो णेव संभवदि।।९१।।

जो पुरुष श्रमण अवस्थामें स्थित होता हुआ सत्तासे संबद्ध अर्थात् सामान्य गुणोंसे युक्त और अपने अपने विशेष गुणोंसे सहित इन जीव-पुद्गलादि द्रव्योंका श्रद्धान नहीं करता है वह श्रमण नहीं है -- साधु नहीं है और उस पुरुषके शुद्धोपयोगरूप धर्मका होना संभव नहीं है।।९१।।

आगे मोहादिको नष्ट करनेवाला श्रमण ही धर्म है ऐसा निरूपण करते हैं --

जो णिहिदमोहदिट्ठी, आगमकुसलो विरागचरियम्मि।
अब्भुट्ठिदो महप्पा, धम्मोत्ति विसेसिदो समणो।।९२।।

जिसने दर्शनमोहका नाश कर दिया है, जो आगममें कुशल है, वीतराग चारित्रमें सावधान है और जिसका आत्मा रत्नत्रयके सद्भावसे महान है ऐसा श्रमण -- साधु धर्म है ऐसा कहा गया है।

सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रको धर्म कहा गया है। यहाँ उनके आधारभूत श्रमणको आधार-आधेयके रूपमें अभेदविवक्षासे धर्म कह दिया है।।९२।।[१]

इति भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यकृते प्रवचनसारपरमागमे ज्ञानतत्त्वप्रज्ञापनो नाम प्रथमः श्रुतस्कन्धः समाप्तः।

*

---

१ इसके आगे जयसेन वृत्तिमें निम्नांकित २ गाथाएँ अधिक व्याख्यात हैं --

'जो तं दिट्ठा तुट्ठो, अब्भुट्ठित्ता करेदि सक्कारं।
वंदणनमंसणादिहिं, तत्तो सो धम्ममादियदि।।'
'तेण णरा तिरिच्छा, देविं वा माणुसिं गदिं पय्या।
विहविस्सरियेहिं सया, संपुण्णमणोरहा होंति।।'

ज्ञेयतत्त्वाधिकारः

अब ज्ञेय तत्त्वका कथन करते हुए यह दिखलाते हैं कि ज्ञेय अर्थात् ज्ञानका विषयभूत पदार्थ द्रव्य गुण और पर्यायस्वरूप है --

[१]अत्थो खलु दव्वमओ, दव्वाणि गुणप्पगाणि भणिदाणि।
तेहिं पुणो पज्जाया, पज्जयमूढा हि परसमया।।१।।

निश्चयसे पदार्थ द्रव्यरूप है। द्रव्य गुणस्वरूप कहे गये हैं। उन द्रव्य और गुणोंसे पर्याय उत्पन्न होते हैं और जो जीव उन पर्यायोंमें ही मूढ़ हैं अर्थात् उन्हें ही द्रव्य मानते हैं वे परसमय हैं -- मिथ्यादृष्टि हैं।

आगे स्वसमय और परसमयकी व्यवस्था दिखलाते हैं --

जे पज्जयेसु णिरदा, जीवा परसमयिगत्ति णिद्दिट्ठा।
आदसहावम्मि ठिदा, ते सगसमया मुणेदव्वा।।२।।

जो जीव मनुष्यादि पर्यायोंमें निरत हैं अर्थात् उन्हें ही आत्मद्रव्य मानते हैं वे परसमय कहे गये हैं और जो आत्मस्वभावमें स्थित हैं अर्थात् शुद्ध ज्ञानदर्शनस्वरूप आत्माको अपना मानते हैं उन्हें स्वसमय मानना चाहिए।।२।।

अब द्रव्यका लक्षण कहते हैं --

अपरिच्चत्त सहावेणुप्पादव्वयधुवत्तसंबद्धं।
गुणवं च सपज्जायं, जत्तं दव्वत्ति वुच्चत्ति।।३।।

जो अपने स्वभावको न छोड़ता हुआ उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यसे संबद्ध रहता है, गुणवान है और पर्यायोंसे सहित है उसे द्रव्य कहते हैं।।३।।

स्वभावका अर्थ अस्तित्व है, वह अस्तित्व स्वरूपास्तित्व और सादृश्यास्तित्व के भेदसे दो प्रकारका है। उनमेंसे स्वरूपास्तित्वका कथन करते हैं --

सब्भावो हि सहावो, गुणेहिं [५]सगपज्जएहिं चिंतेहिं।
दव्वस्स सव्वकालं, उप्पादव्वयधुवत्तेहिं।।४।।

गुणोंसे, विविध प्रकारकी पर्यायोंसे और उत्पाद व्यय तथा ध्रौव्यसे द्रव्यका जो सदा सद्भाव रहता

१. इस गाथाके पूर्व जयसेन वृत्तिमें निम्नांकित गाथाका भी व्याख्यान किया गया है --
तम्हा तस्स णमाइं, किच्चा णिच्चंपि तं गणो होज्ज।
वोच्छामि संगहादो, परमट्ठविणिच्छयाधिगमं।।१।।
२. परसमयिगंति ज. वृ. । ३. अपरिचत्तसहावं ज. वृ। ४. जं तं ज. वृ। ५. सह ज. वृ. ।

है वही उसका स्वभाव है-- स्वरूपास्तित्व है।।४।।

अब सादृश्यास्तित्व का स्वरूप कहते हैं --

इह विविहलक्खणाणं, लक्खणमेगं सदित्ति सव्वगयं।
उवदिसदा खलु धम्मं, जिणवरवसहेण पण्णत्तं।।५।।

निश्चयसे इस लोकमें धर्मका उपदेश देनेवाले श्री वृषभ जिनेंद्रने कहा है कि भिन्न भिन्न लक्षणोंवाले द्रव्योंका 'सत्' यह एक व्यापक लक्षण है। समस्त द्रव्योंमें सामान्य रूपसे व्याप्त रहनेके कारण 'सत्' को सादृश्यास्तित्व कहते हैं।

स्वरूपास्तित्व विशेषलक्षणरूप है, क्योंकि उसके द्वारा प्रत्येक द्रव्यकी द्रव्यांतरसे पृथक् व्यवस्था सिद्ध होती है और सादृश्यास्तित्व सामान्यलक्षणरूप है, क्योंकि उसके द्वारा प्रत्येक द्रव्यकी पृथक् पृथक् सत्ता सिद्ध न होकर सबमें पायी जानेवाली समानताकी सिद्धि होती है। जिस प्रकार वृक्ष अपने अपने स्वरूपास्तित्वसे आम नीम आदि भेदोंसे अनेक प्रकारका है और सादृश्यास्तित्वसे वृक्षजातिकी अपेक्षा एक है उसी प्रकार द्रव्य अपने-अपने स्वरूपास्तित्वसे सत्की अपेक्षा सब एक हैं। स्वरूपास्तित्व विशिष्टग्राही है और सादृश्यास्तित्व सामान्यग्राही है।।५।।

आगे यह बतलाते हैं कि एक द्रव्यका दूसरे द्रव्यसे आरंभ नहीं होता, वह स्वयं सिद्ध है और सत्ता द्रव्यसे अभिन्न है -- अपृथग्भूत है --

दव्वं सहावसिद्धं, सदिति जिणा तच्चदो समक्खादो।
सिद्धं तधे आगमदो, णेच्छदि जो सो हि परसमओ।।६।।

प्रत्येक द्रव्य स्वभावसे सिद्ध है -- उसकी किसी दूसरे द्रव्यसे उत्पत्ति नहीं होती है तथा सत् स्वरूप है -- सत्तासे अभिन्न है ऐसा जिनेंद्र भगवान्ने यथार्थमें कहा है। जो पुरुष आगमसे उस प्रकार सिद्ध द्रव्यस्वरूपको नहीं मानता है वह परसमय है -- मिथ्यादृष्टि है।।६।।

अब बतलाते हैं कि उत्पादादि त्रयरूप होनेपर ही सत् द्रव्य होता है --

सदवट्ठियं सहावे, दव्वं दव्वस्स जो हि परिणामो।
अत्थेसु जो सहावो, ठिदिसंभवणाससंबद्धो।।७।।

स्वभावमें अवस्थित रहनेवाला सत् द्रव्य कहलाता है और गुणपर्यायरूप अर्थोंमें उत्पाद व्यय तथा ध्रौव्यसे संबंध रखनेवाला द्रव्यका जो परिणमन है वह उसका स्वभाव है।

सत् द्रव्यका लक्षण अवश्य है, परंतु वह न केवल स्थितिरूप है -- ध्रौव्यात्मक है, अपितु उत्पाद तथा व्ययरूप भी है। इस प्रकार उत्पादादि त्रिलक्षण सत् ही द्रव्यका स्वरूप है।।७।।

१. तह ज. वृ. ।

अब उत्पाद व्यय और ध्रौव्यके पारस्परिक अविनाभावको सुदृढ़ करते हैं अर्थात् इस बातका निरूपण करते हैं कि उक्त तीनों धर्म परस्पर एक-दूसरेको छोड़कर नहीं रह सकते --

ण भवो भंगविहीणो, भंगो वा णत्थि संभवविहीणो।
उप्पादो वि य भंगो, ण विणा धोव्वेण अत्थेण।।८।।

उत्पाद व्ययसे रहित नहीं होता, व्यय उत्पादसे रहित नहीं होता और उत्पाद तथा व्यय दोनों ही ध्रौव्य रूप पदार्थके बिना नहीं होते।

किसी भी द्रव्यमें नूतन पर्यायकी उत्पत्ति, उसकी पूर्व पर्यायके नाशके बिना नहीं हो सकती और पूर्व पर्यायका नाश नूतन पर्यायकी उत्पत्तिके बिना नहीं हो सकता तथा पूर्वोत्तर पर्यायोंमें एकता ध्रौव्यके बिना संभव नहीं हो सकती अतः उत्पादादि तीनों धर्म परस्परमें अविनाभूत हैं अर्थात् एक दूसरेके बिना नहीं हो सकते हैं।।८।।

आगे इस बातका निरूपण करते हैं कि उत्पादादि तीनों द्रव्यसे पृथक् नहीं हैं --

उप्पादट्ठिदिभंगा, विज्जंते पज्जएसु पज्जाया।
[1]दव्वं हि संति णियदं, तम्हा दव्वं हवदि सव्वं।।९।।

उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य पर्यायोंमें रहते हैं और पर्याय ही -- त्रिकालवर्ती अनेक पर्यायोंका समूह ही द्रव्य है अतः यह निश्चय है कि उत्पादादि सब द्रव्य ही हैं, उससे पृथक् द्रव्य नहीं है।।९।।

अब उत्पादादि में समय भेदको दूर कर द्रव्यपना सिद्ध करते हैं --

समवेदं खलु दव्वं, संभवठिदिणाससण्णिदट्ठेहिं।
एकम्मि चेव समये, तम्हा दव्वं खु तत्तिदयं।।१०।।

निश्चयसे द्रव्य, उत्पाद व्यय और ध्रौव्य नामक पदार्थोंसे समवेत है, एकमेक है, जुदा नहीं है और वह भी एक समयमें। अतः यह निश्चय है कि उत्पादादि तीनों पदार्थ द्रव्य स्वरूप हैं -- उससे भिन्न नहीं हैं।।१०।।

आगे अनेक द्रव्योंके संयोगसे होनेवाली पर्यायोंके द्वारसे द्रव्यमें उत्पादादिका विचार करते हैं --

पाडुब्भवदि य अण्णो, पज्जाओ पज्जओ वयदि अण्णो।
दव्वस्स तंपि दव्वं, णेव पणट्ठं ण उप्पण्णं।।११।।

---

१. यदि 'दव्वं हि' के स्थानपर 'दव्वम्हि' ऐसा सप्तम्यंत पाठ मान लिया जाय तो यह अर्थ हो सकता है कि उत्पाद व्यय और ध्रौव्य पर्यायोंमें विद्यमान हैं और पर्यायें द्रव्यमें विद्यमान हैं अतः यह सब द्रव्य ही हैं यह निश्चयपूर्वक कहा जाता है।

द्रव्यका अन्य पर्याय उत्पन्न होता है और अन्य पर्याय नष्ट होता है फिर भी द्रव्य न नष्ट ही हुआ है और न उत्पन्न ही।

संयोगसे उत्पन्न होनेवाले द्रव्यपर्याय दो प्रकारके हैं -- एक समानजातीय और दूसरा असमानजातीय। स्कंधकी द्व्यणुक, त्र्यणुक, चतुरणुक आदि पिंडपर्याय समानजातीय पर्याय हैं और जीव तथा पुद्गलके संबंधसे होनेवाले नर-नारकादि पर्याय असमानजातीय पर्याय हैं। किसी स्कंधमें त्र्यणुक पर्याय नष्ट होकर चतुरणुक पर्याय उत्पन्न हो गया, पर परमाणुओंकी अपेक्षा वह स्कंध न नष्ट ही हुआ है और न उत्पन्न ही। इसी प्रकार किसी जीवमें मनुष्य पर्याय नष्ट होकर देव पर्याय उत्पन्न हुआ पर जीवत्व सामान्यकी अपेक्षा वह जीव न नष्ट ही हुआ और न उत्पन्न ही। इससे सिद्ध होता है कि उत्पादादि तीनों द्रव्यरूप ही हैं, उससे पृथक् नहीं हैं।।११।।

अब एक द्रव्यके द्वारसे द्रव्यमें उत्पादादिका विचार करते हैं --

परिणमदि सयं दव्वं, गुणदो य गुणंतरं सदविसिट्ठं।
तम्हा गुणपज्जाया, भणिया पुण दव्वमेवत्ति।।१२।।

अपने स्वरूपास्तित्वसे अभिन्न द्रव्य स्वयं ही एक गुणसे अन्यगुण परिणमन करता है अतः गुण पर्याय द्रव्य इस नामसे ही कहे गये हैं।

एक द्रव्यसे आश्रित होनेवाले पर्याय गुणपर्याय कहलाते हैं जैसे कि आममें हरा रूप नष्ट होकर पीला रूप उत्पन्न हो गया, यहाँ हरा और पीला रूप आमके गुण पर्याय हैं। अथवा किसी जीवका ज्ञानगुण मतिज्ञानरूपसे नष्ट होकर श्रुतज्ञानरूप हो गया। यहाँ मतिज्ञान और श्रुतज्ञान जीवके गुणपर्याय हैं। जिस प्रकार हरे पीले रूपमें परिवर्तन होनेपर भी आम आम ही रहता है, अन्यरूप नहीं हो जाता है। अथवा मति-श्रुतज्ञानमें परिवर्तन होनेपर भी जीव जीव ही रहता है, अन्यरूप नहीं हो जाता उसी प्रकार संसारका प्रत्येक द्रव्य यद्यपि एक गुणसे अन्य गुणरूप परिणमन करता है परंतु वह स्वयं अन्यरूप नहीं हो जाता। इससे सिद्ध होता है कि गुण पर्याय द्रव्य ही हैं -- उससे भिन्न नहीं।।१२।।

अब सत्ता और द्रव्य अभिन्न हैं इस विषयमें युक्ति प्रदर्शित करते हैं --

ण हवदि जदि सद्दव्वं, असद्धुवं हवदि तं कधं दव्वं।
हवदि पुणो अण्णं वा, तम्हा दव्वं सयं सत्ता।।१३।।

यदि द्रव्य स्वयं सत् रूप न हो तो वह असत् रूप हो जायेगा और उस दशामें वह ध्रुवरूप -- नित्यरूप किस प्रकार हो सकेगा? द्रव्यमें जो ध्रुवता है वह सत् रूप होनेसे ही है। यदि द्रव्यको सत् रूप होनेसे ही है। यदि द्रव्यको सत् रूप नहीं माना जायेगा तो द्रव्यकी ध्रुवता नष्ट हो जायेगी अर्थात् द्रव्य ही नष्ट हो जायेगा। इसी प्रकार यदि सत्तासे द्रव्यको पृथक् माना जाये तो सत्ता गुण अनावश्यक हो जाता है।

सत्ताकी आवश्यकता द्रव्यका अस्तित्व सुरक्षित रखनेके लिए ही होती है। यदि सत्तासे पृथक् रहकर भी द्रव्यका अस्तित्व सुरक्षित रह सकता है तो फिर उस सत्ताके माननेकी आवश्यकता ही क्या है? इससे सिद्ध हो जाता है कि द्रव्य स्वयं सत्तारूप है।।१३।।

अब पृथक्त्व और अन्यत्वका लक्षण प्रकट करते हुए द्रव्य और सत्तामें विभिन्नता सिद्ध करते हैं --

पविभत्तपदेसत्तं, पुधत्तमिदि सासणं हि वीरस्स।
अण्णत्तमतब्भावो, ण तब्भवं भवदि कधमेगं।।१४।।

निश्चयसे श्री महावीर स्वामीका ऐसा उपदेश है कि प्रदेशोंका जुदा जुदा होना पृथक्त्व है और अन्य पदार्थका अन्यरूप नहीं होना अन्यत्व कहलाता है। जबकि सत्ता और द्रव्य परस्परमें अन्यरूप नहीं होते, गुण और गुणीके रूपमें जुदे-जुदे ही रहते हैं तब दोनों एक कैसे हो सकते है? अर्थात् नहीं हो सकते।

सत्ता गुण है और द्रव्य गुणी है। गुण-गुणीमें कभी भी भेद नहीं होता, इसलिए दोनोंमें पृथक्त्व नामका भेद न होनेसे एकता है -- अभिन्नता है, परंतु सत्ता सदा गुण ही रहेगा और द्रव्य गुणी ही। त्रिकालमें भी अन्यरूप नहीं होंगे इसलिए दोनोंमें अन्यभाव नामका भेद रहनेसे एकता नहीं है, अर्थात् भिन्नता है। सारांश यह हुआ कि द्रव्य और सत्तामें कथंचिद् भेद और कथंचिद् अभेद है।।१४।।

आगे असद्भावरूप अन्यत्वका लक्षण उदाहरण द्वारा स्पष्ट करते हैं --

सद्दव्वं सच्च गुणो, सच्चेव य पज्जओत्ति वित्थारो।
जो खलु तस्स अभावो, सो तदभावो अतब्भावो।।१५।।

सत्तारूप द्रव्य है, सत्तारूप गुण है और सत्तारूप ही पर्याय है। इस प्रकार सत्ताका द्रव्य गुण और पर्यायोंमें विस्तार है। निश्चयसे उसका जो परस्परमें अभाव है वह अभाव ही अतद्भाव है -- 'अन्यत्व' नामका भेद है।

जिस प्रकार एक मोतीकी माला हार सूत्र और मोती इन भेदोंसे तीन प्रकार है उसी प्रकार एक द्रव्य, द्रव्य गुण और पर्यायके भेदसे तीन प्रकार है। जिस प्रकार मोतीकी मालाका शुक्ल गुण, शुक्ल हार, शुक्ल सूत्र और शुक्ल मोती के भेदसे तीन प्रकार है उसी प्रकार द्रव्यका सत्तागुण, सत् द्रव्य, सत् गुण और सत् पर्यायके भेदसे तीन प्रकार है। जिस प्रकार भेद विवक्षासे मोतीकी मालाका शुक्ल गुण, हार नहीं है, सूत्र नहीं है और मोती नहीं है तथा हार सूत्र और मोती शुक्ल गुण नहीं है उसी प्रकार एक द्रव्यमें पाया जानेवाला सत्ता गुण, द्रव्य नहीं है, गुण नहीं है और पर्याय नहीं है तथा द्रव्य गुण और पर्याय भी सत्ता नहीं है। सबका परस्परमें अन्योन्याभाव है। यही अतद्भाव या अन्यत्व नामका भेद कहलाता है। सत्ता और द्रव्यके बीच यही अन्यत्व नामका भेद है।।१५।।

अब अतद्भाव सर्वथा अभावरूप है इसका निषेध करते हैं --

जं दव्वं तण्ण गुणो, जोवि गुणो सो ण तच्चमत्थादो।
एसो हि अतब्भावो, णेव अभावोत्ति णिद्दिट्ठो।।१६।।

जो द्रव्य है वह गुण नहीं है और जो गुण है वह यथार्थमें द्रव्य नहीं है। निश्चयसे यही अतद्भाव है -- अन्यत्व नामक भेद है। सर्वथा अभाव अतद्भाव नहीं है ऐसा कहा गया है।

द्रव्य और गुणमें सर्वथा अभाव माननेसे दोनोंका ही अस्तित्व सिद्ध नहीं होता अतः एकका अन्यरूप नहीं हो सकना ही अतद्भाव माना जाता है।।१६।।

आगे सत्ता और द्रव्यमें गुण-गुणी भाव सिद्ध करते हैं --

जो खलु दव्वसहावो, परिणामो सो गुणो सदविसिट्ठो।
सदवट्ठियं सहावे, दव्वत्ति जिणोवदेसोयं।।१७।।

निश्चयसे जो द्रव्यका स्वभावभूत उत्पादादित्रय रूप परिणाम है वह सत्तासे अभिन्न गुण है और निरंतर स्वभावमें अवस्थित रहनेवाला द्रव्य सत् है ऐसा श्री जिनेंद्र भगवान्का उपदेश है।

निरंतर स्वभावमें स्थित रहनेके कारण द्रव्य सत् कहलाता है और कालत्रयवर्ती द्रव्यका जो उत्पादादित्रयरूप परिणमन है वह उसका स्वभाव है। द्रव्यका स्वभाव सत्तासे अभिन्न तथा गुणस्वरूप है। द्रव्यमें सत्ता गुणकी प्रधानता है और सत्ता गुणमें द्रव्य रहता है, ऐसा व्यवहार होता है। इसी व्यवहारके कारण द्रव्यको सत् कहा है। इस सत्ता गुणसे सत् स्वरूप गुणी द्रव्यका भान होता है अतः सत्ता गुण है और द्रव्य गुणी है।।१७।।

अब गुण और गुणियोंमें नानापनका निराकरण करते हैं --

णत्थि गुणोत्ति व कोई, पज्जाओत्तीह वा विणा दव्वं।
दव्वत्तं पुण भावो, तम्हा दव्वं सयं सत्ता।।१८।।

इस संसारमें द्रव्यके बिना न कोई गुण है और न कोई पर्याय है। अर्थात् जितने भी गुण अथवा पर्याय हैं वे सब द्रव्यके आश्रय ही रहते हैं। और चूँकि द्रव्यका अस्तित्व उसका स्वभावभूत गुण है इसलिए द्रव्य स्वयं ही सत्तारूप है।

सारांश यह है कि जीवादि द्रव्य और उनके स्वभावभूत अस्तित्वादि गुण सर्वथा पृथक् पृथक् नहीं हैं।।१८।।

आगे सदुत्पाद और असदुत्पादमें अविरोध प्रकट करते हैं --

एवंविहे सहावे, दव्वं दव्वत्थपज्जयत्थेहिं।
सदसब्भावणिबद्धं, पाडुब्भावं सदा लभदि।।१९।।

इस प्रकारका द्रव्य, स्वभावमें द्रव्यार्थिक तथा पारमार्थिक नयोंकी विवक्षासे क्रमशः सत् और असत् इन दो भावोंसे संयुक्त उत्पादको सदा प्राप्त होता है।

जिस प्रकार क्रमसे होनेवाली कटक कुंडलादि पर्यायोंमें सुवर्ण पहलेसे ही विद्यमान रहता है नवीन नवीन उत्पन्न नहीं होता है। इसलिए उसका उत्पाद सदुत्पाद कहलाता है उसी प्रकार क्रमसे होनेवाली नर नारकादि पर्यायोंमें जीवादि द्रव्य पहले से ही विद्यमान रहता है, नवीन नवीन उत्पन्न नहीं होता है, इसलिए द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षासे उनका उत्पाद सदुत्पाद कहलाता है। और जिस प्रकार सुवर्णसे क्रमसे होनेवाली कटक कुंडलादि पर्यायें नयी उत्पन्न होती हैं, उसी प्रकार जीवादि द्रव्योंमें क्रमसे होनेवाली नर नारकादि पर्यायें नयी नयी ही उत्पन्न होती हैं, अतः पर्यायार्थिक नयसे उसका असदुत्पाद कहलाता है।।१९।।

अब द्रव्यार्थिक नयसे जिस सदुत्पादका वर्णन किया है उसीका पुनः समर्थन करते हैं --

जीवो भवं भविस्सदि, णरोऽमरो वा परो भवीय पुणो।
किं दव्वत्तं पजहदि, ण जहं अण्णो कहं होदि।।२०।।

जीवद्रव्य परिणमन करता हुआ देव अथवा अन्य कुछ रूप होगा सो तद्रूप होकर क्या अपनी द्रव्यत्व शक्तिको -- जीवत्व भावको छोड़ देता है? यदि नहीं छोड़ता है तो अन्यरूप कैसे हो सकता है?

कालक्रमसे द्रव्यमें अनंत पर्यायें उत्पन्न होती हैं, परंतु वे अन्वय शक्तिसे साथमें लगे हुए द्रव्यत्वभावको नहीं छोड़ते हैं अतः द्रव्यत्व भावकी अपेक्षा उन अनंत पर्यायोंका उत्पाद सदुत्पाद ही कहलाता है।।२०।।

अब पर्यायार्थिक नयसे द्रव्यमें स्थित जिस असदुत्पादका वर्णन किया उसका समर्थन करते हैं --

मणुओ ण होदि देवो, देवा वा माणुसो व सिद्धो वा।
एवं अहोज्जमाणो, अणण्णभावं कधं लहदि।।२१।।

जो मनुष्य है वह उस समय देव नहीं है और जो देव है वह उस समय मनुष्य अथवा सिद्ध नहीं है, क्योंकि एक द्रव्यकी एक कालमें एक ही पर्याय हो सकती है। इस प्रकार देवादि रूप नहीं होनेवाला मनुष्यादि, परस्परमें अभिन्न भावको किस प्रकार प्राप्त हो सकता है?

पर्याय क्रमवर्ती होता है अतः पूर्व पर्यायमें उत्तर पर्यायका और उत्तर पर्यायमें पूर्व पर्यायका अभाव सुनिश्चित रहता है और यही कारण है कि उत्तर क्षणमें होनेवाली पर्यायका उत्पाद असदुत्पाद कहलाता है। यह कथन पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा है।।२१।।

अब एक ही द्रव्यमें अन्यत्वभाव और अनन्यत्वभाव ये दो परस्परविरोधी भाव किस तरह रहते हैं इसका वर्णन करते हैं --

दव्वट्ठिएण सव्वं, दव्वं तं पज्जयट्ठिएण पुणो।
हवदि य अण्णमणण्णं, तक्कालं तम्मयत्तादो।।२२।।

द्रव्यार्थिक नयकी विवक्षासे सभी द्रव्य -- द्रव्यकी समस्त पर्यायें अन्य नहीं हैं और पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षासे अन्य हैं, क्योंकि उस समय वे उसी पर्यायरूप हो जाती हैं।

द्रव्यार्थिक नय अन्वयग्राही है और पर्यायार्थिक नय व्यतिरेकग्राही। द्रव्यार्थिक नय कालक्रमसे होनेवाली अनंत पर्यायोंमें अन्वयको ग्रहण करता है और इसलिए उसकी अपेक्षासे उन समस्त पर्यायोंमें अन्यत्वभाव सिद्ध होता है और पर्यायार्थिक नय कालक्रमसे होनेवाली अनंत पर्यायोंमें व्यतिरेकको ग्रहण करता है इसलिए उसकी अपेक्षा उन समस्त पर्यायोंमें अन्यत्व भाव सिद्ध होता है। सारांश यह है कि नय विवक्षासे एक ही द्रव्यमें दो परस्परविरोधी भाव सिद्ध हो जाते हैं।।२२।।

अब सब प्रकारका विरोध दूर करनेवाली सप्तभंगी वाणीका अवतार करते हैं --

अत्थित्ति य णत्थित्ति य, हवदि अवत्तव्वमिदि पुणो दव्वं।
पज्जाएण दु केणवि, तदुभयमादिट्ठमण्णं वा।।२३।।

द्रव्य किसी एक पर्यायसे अस्तिरूप है, किसी एक पर्यायकी अपेक्षा नास्तिरूप है, किसी एक पर्यायसे अवक्तव्य है, किसी एक पर्यायसे अस्तिनास्तिरूप है और किन्हीं अन्य पर्यायोंसे अन्य तीन भंगस्वरूप कहा गया है।

संसारके किसी भी पदार्थमें मुख्य रूपसे तीन धर्म पाये जाते हैं -- एक विधि, दूसरा निषेध और तीसरा अवक्तव्य। इन धर्मोंका पृथक् पृथक् रूपसे अथवा अन्य धर्मोंके साथ संयुक्त रूपसे कथन किया जाता है तब सात भंग हो जाते हैं। ये भंग किसी एक पर्यायकी अपेक्षासे होते हैं, अतः उनके साथ कथंचित् अर्थको सूचित करनेवाला 'स्यात्' शब्द लगाया जाता है। सात भंग इस प्रकार हैं -- १. स्यादस्ति, २. स्यान्नास्ति, ३. स्यादवक्तव्य, ४. स्यादस्तिनास्ति, ५. स्यादस्ति अवक्तव्य, ६. स्यान्नास्ति अवक्तव्य, और ७. स्यादस्तिनास्ति अवक्तव्य। इसका खुलासा इस प्रकार है --

१. स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल और स्वभाव इस प्रकार स्वचतुष्टकी अपेक्षा द्रव्य अस्तिरूप है।

२. परद्रव्यादि चतुष्टयकी अपेक्षा द्रव्य नास्तिरूप है।

३. एक कालमें 'अस्तिनास्ति' नहीं कह सकते इसलिए अवक्तव्य है।

४. क्रमसे वचनद्वारा अस्तिनास्ति धर्मोंका कथन हो सकता है इसलिए अस्तिनास्तिरूप है।

५. 'अस्ति' धर्मको जब अवक्तव्यके साथ मिलाकर कहते हैं तब द्रव्य अस्ति अवक्तव्यरूप है।

६. 'नास्ति' धर्मको जब अवक्तव्यके साथ मिलाकर कहते हैं तब द्रव्य नास्ति अवक्तव्यरूप है।

७. और, जब कालक्रमसे 'अस्ति''नास्ति' धर्मको अवक्तव्यके साथ मिलाकर कहते हैं तब द्रव्य

अस्तिनास्ति अवक्तव्यरूप होता है।।२३।।

आगे सदुत्पाद और असदुत्पादके समर्थनमें जीवकी जिन मनुष्यादि पर्यायोंका उल्लेख किया गया है वे मोहक्रियाके फल हैं और इसकारण वस्तुस्वभावसे पृथक् हैं ऐसा कथन करते हैं --

एसोत्ति णत्थि कोई, ण णत्थि किरिया सहाव णिव्वत्ता।
किरिया हि णत्थि अफला, धम्मो जदि णिप्फलो परमो।।२४।।

यह पर्याय टंकोत्कीर्ण -- अविनाशी है ऐसा नर नारकादि पर्यायोंमें कोई भी पर्याय नहीं है और रागादि अशुद्ध परिणतिरूप विभाव स्वभावसे उत्पन्न हुई जीवकी अशुद्ध क्रिया नहीं है यह बात भी नहीं है, अर्थात् वह अवश्य है। तथा चूँकि उत्कृष्ट वीतराग भावरूपी परम धर्म निष्फल है अर्थात् नर नारकादि पर्यायरूप फलसे रहित है अतः जीवकी रागादि परिणमनरूप क्रिया फलरहित नहीं है, अर्थात् सफल है, ये नर नारकादि पर्याय उसी क्रियाके फल हैं।

ऊपर जीवकी जिन नर नारकादि पर्यायोंका कथन किया है वे सब अनित्य हैं तथा मोह क्रियासे जन्य हैं अतः शुद्ध निश्चयकी अपेक्षा जीवसे भिन्न हैं तथा छोड़ने योग्य हैं।।२४।।

आगे मनुष्यादि पर्याय जीवकी क्रियाके फल हैं ऐसा प्रकट करते हैं --

कम्मं णामसमक्खं, सभावमध अप्पणो सहावेण।
अभिभूय णरं तिरियं, णेरइयं वा सुरं कुणदि।।२५।।

नाम नामक कर्म अपने स्वभावसे जीवके स्वभावको अभिभूत कर -- आच्छादित कर जीवको मनुष्य, तिर्यंच, नारकी अथवा देव कर देता है।

यद्यपि जीवका शुद्ध स्वभाव निष्क्रिय है तथापि संसारी दशामें उसका वह स्वभाव नाम कर्मके स्वभावसे अभिभूत हो रहा है अतः उसे मनुष्यादि पर्यायोंमें भ्रमण करना पड़ता है, वास्तवमें जीव इन प्रपंचोंमें परवर्ती है।।२५।।

आगे इस बातका निर्धार करते हैं कि मनुष्यादि पर्यायोंमें जीवके स्वभावका अभिभव -- आच्छादन कैसे हो जाता है --

णरणारयतिरियसुरा, जीवा खलु णामकम्मणिव्वत्ता।
ण हि ते लद्धसहावा, परिणममाणा सकम्माणि।।२६।।

मनुष्य नारकी तिर्यंच और देव इस प्रकार चारों गतियोंके जीव निश्चयसे नामकर्मके द्वारा रचे गये हैं और इसलिए वे अपने अपने उपार्जित कर्मोंके अनुरूप परिणमन करते हुए शुद्ध आत्मस्वभावको प्राप्त नहीं होते हैं।

यद्यपि मनुष्यादि पर्याय नामकर्मके द्वारा रचे गये हैं, फिर भी इतने मात्रसे उनमें जीवके स्वभावका

अभिभव नहीं हो जाता। जिस प्रकार कि सुवर्णमें जड़े हुए माणिक्य रत्नका अभिभव नहीं होता है उसी प्रकार मनुष्यादि शरीरसे संबद्ध जीवका अभिभव नहीं होता। उन पर्यायोंमें जो जीव अपने शुद्ध स्वभावको प्राप्त नहीं कर पाते हैं उसका कारण है कि वहाँ वे अपने-अपने उपार्जित कर्मोंके अनुरूप परिणमन करते हैं, जिस प्रकार कि जलका प्रवाह वनमें अपने प्रदेशों और स्वादसे नीम चंदनादि वृक्षरूप होकर परिणमन करता है। वहाँ वह जल अपने द्रव्यस्वभाव और स्वादस्वभावको प्राप्त नहीं कर पाता है उसी प्रकार यह आत्मा भी जब नर नारकादि पर्यायोंमें अपने प्रदेश और भावोंसे कर्मरूप होकर परिणमन करता है तब वह शुद्ध चिदानंद स्वभावको प्राप्त नहीं होता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि जीव परिणमनके दोषसे यद्यपि अनेकरूप हो जाता है तथापि उसके स्वभावका नाश नहीं होता।।२६।।

आगे, जीव द्रव्यपनेकी अपेक्षा व्यवस्थित होनेपर भी पर्यायकी अपेक्षा अनवस्थित है -- नाना रूप है यह प्रकट करते हैं --

जायदि णेव ण णस्सदि, खणभंगसमुब्भवे जणे कोई।
जो हि भवो सो विलओ, सभवविलयत्ति ते णाणा।।२७।।

जिसमें प्रत्येक क्षण उत्पाद और व्यय हो रहा है ऐसे जीवलोकमें द्रव्यदृष्टिसे न तो कोई जीव उत्पन्न होता है और न कोई नष्ट ही होता है। द्रव्यदृष्टिसे जो उत्पाद है वही व्यय है -- दोनों एकरूप हैं, परंतु पर्यायदृष्टिसे उत्पाद और व्यय नानारूप हैं -- जुदे-जुदे हैं।

जैसे किसीने घड़ा फोड़कर कूँडा बना लिया। यहाँ अब मिट्टीकी ओर दृष्टि डालकर विचार करते हैं तब कहना पड़ता है कि न मिट्टी उत्पन्न हुई है और न नष्ट ही। जो मिट्टी घड़ारूप थी वही तो कूँडारूप हुई है, इसलिए दोनों एक ही हैं, परंतु जब घड़ा और कूँडा इन दोनों पर्यायोंकी ओर दृष्टि देकर विचार करते हैं तब कहना पड़ता है कि घड़ा नष्ट हो गया और कूँडा उत्पन्न हो गया। तथा यह दोनों पर्याय कालक्रमसे हुईं अतः एक न होकर अनेक हैं। इस कथनसे यह सिद्ध हुआ कि पदार्थ द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा अवस्थित तथा एक है और पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा अनवस्थित तथा अनेक है।।२७।।

अब जीवकी अस्थिर दशाको प्रकट करते हैं --

तम्हा दु णत्थि कोई, सहावसमयट्ठिदोत्ति संसारे।
संसारो पुण किरिया, संसरमाणस्स दव्वस्स।।२८।।

इसलिए संसारमें कोई भी जीव स्वभावसे अवस्थित है -- स्थिररूप है ऐसा नहीं है और चारों गतियोंमें संसरण -- भ्रमण करनेवाले जीव द्रव्यकी जो क्रिया है -- अन्य अन्य अवस्थारूप परिणति है वही संसार है।।२८।।

आगे बतलाते हैं कि अशुद्ध परिणतिरूप संसारमें जीवके साथ पुद्गलका संबंध किस

प्रकार होता है जिससे कि उसे मनुष्यादि पर्याय धारण करना पड़ते हैं --

आदा कम्ममलिमसो, परिणामं लहदि कम्मसंजुत्तं।
तत्तो सिलिसदि कम्मं, तम्हा कम्मं तु परिणामो।।२९।।

यह जीव अनादिबद्ध कर्मोंसे मलिन होता हुआ कर्मसंयुक्त परिणामको प्राप्त होता है -- मिथ्यात्व तथा राग द्वेषादि रूप विभाव दशाको प्राप्त होता है और उस विभाव दशासे पुद्गलात्मक द्रव्य कर्मके साथ संबंधको प्राप्त करता है इससे यह सिद्ध हुआ कि भावकर्मरूप आत्माका सराग परिणाम ही कर्मका कारण होनेसे कर्म कहलाता है।

यह जीव अनादि कालसे कर्मकलंकसे दूषित होकर मिथ्यात्व तथा राग द्वेषादिरूप परिणमन करता है उसके फलस्वरूप इसके साथ द्रव्यकर्मका संबंध हो जाता है और जब उसका उदय आता है तब इसे मनुष्यादि पर्यायोंमें भ्रमण करना पड़ता है। यह द्रव्यकर्म और भावकर्मका कार्यकारणभाव अनादि कालसे चला आ रहा है इसलिए इतरेतराश्रय दोषकी आशंका नहीं करना चाहिए।

अब यह सिद्ध करते हैं कि यथार्थमें आत्मा द्रव्यकर्मोंका कर्ता नहीं है --

परिणामो सयमादा, सा पुण किरयत्ति होइ जीवमया।
किरिया कम्मत्ति मदा, तम्हा कम्मस्स ण दु कत्ता।।३०।।

जीवका जो परिणाम है वह स्वयं जीव है -- जीवरूप है, उसकी जो क्रिया है वह भी जीवसे निर्वृत्त होनेके कारण जीवमयी है। और चूँकि रागादि परिणतिरूप क्रिया ही कर्म -- भावकर्म मानी गयी है अतः जीव उसीका कर्ता है, पुद्गलरूप द्रव्यकर्मका कर्ता नहीं है।

कर्ता और कर्मका व्यवहार स्वद्रव्यमें ही हो सकता है इसलिए जीव रागादिभाव कर्मका ही कर्ता है, पुद्गलरूप द्रव्यकर्मका कर्ता नहीं है। भावकर्म जीवकी निज अशुद्ध परिणति है और द्रव्यकर्म पुद्गल द्रव्यकी परिणति है। तत्त्वदृष्टिसे दो विजातीय द्रव्योंमें कर्ताकर्म व्यवहार त्रिकालमें भी संभव नहीं है।।३०।।

अब आत्मा जिस स्वरूप परिणमन करता है उसका प्रतिपादन करते हैं --

परिणमदि चेयणाए, आदा पुण चेदणा तिधाभिमदा।
सा पुण णाणे कम्मे, फलम्मि वा कम्मणो भणिदा।।३१।।

आत्मा चेतनारूप परिणमन करता है और वह चेतना ज्ञान, कर्म तथा कर्मफलके भेदसे तीन प्रकारकी कही गयी है।

जीव चाहे शुद्ध दशामें हो चाहे अशुद्ध दशामें, प्रत्येक दशामें वह चेतनारूप ही परिणमन करता है। वह चेतना ज्ञानचेतना, कर्मचेतना और कर्मफलचेतनाके भेदसे तीन प्रकारकी कही गयी है।।३१।।

आगे उक्त तीन चेतनाओंका स्वरूप कहते हैं --

णाणं अत्थवियप्पो, कम्मं जीवेण सं समारद्धं।
तमणेगविधं भणिदं, फलत्ति सोक्खं व दुक्खं वा।।३२।।

पदार्थका विकल्प -- स्वपरका भेद लिये हुए जीवाजीवादि पदार्थोंका तत्तदाकारसे जानना ज्ञान है, जीवने जो प्रारंभ कर रखा है वह कर्म है, वह कर्म शुभाशुभादिके भेदसे अनेक प्रकारका है और सुख अथवा दुःख कर्मका फल है।

जिस प्रकार दर्पण एक ही कालमें घटपटादि विविध पदार्थोंको प्रतिबिंबित करता है उसी प्रकार ज्ञान एक ही कालमें स्वपरका भेद लिये हुए विविध पदार्थोंको प्रकट करता है। इस प्रकार आत्माका जो ज्ञान भावरूप परिणमन है उसे ज्ञानचेतना कहते हैं। जीव, पुद्गल कर्मके निमित्तसे प्रत्येक समय जो शुभ अशुभ आदि अनेक भेदोंको लिये हुए भाव कर्मरूप परिणमन करता है उसे कर्मचेतना कहते हैं तथा जीव, अपने-अपने कर्मबंधके अनुरूप जो सुख दुःखादि फलोंका अनुभव करता है उसे कर्मफलचेतना कहते हैं।।३२।।

आगे ज्ञान कर्म और कर्मके फल अभेद नयसे आत्मा ही है इसका निश्चय करते हैं --

अप्पा परिणामप्पा, परिणामो णाणकम्मफलभावी।
तम्हा णाणं कम्मं, फलं च आदा मुणेयव्वो।।३३।।

आत्मा परिणामस्वरूप है -- परिणमन करना आत्माका स्वभाव है और वह परिणाम ज्ञान, कर्म और कर्मफल रूप होता है, इसलिए ज्ञान, कर्म तथा कर्मफल ये तीनोंही आत्मा हैं ऐसा मानना चाहिए।

यद्यपि नयसे आत्मा परिणामी है और ज्ञानादि परिणाम है, आत्मा चेतक अथवा वेदक है और ज्ञानादि चेत्य अथवा वेद हैं तथापि अभेद नयकी विवक्षासे यहाँ परिणाम और परिणामीको एक मानकर ज्ञानादिको आत्मा कहा गया है ऐसा समझना चाहिए।।३३।।

आगे इस अभेद भावनाका फल शुद्धात्मतत्त्वकी प्राप्ति है यह बतलाते हुए द्रव्यके सामान्य कथनका संकोच करते हैं --

कत्ता करणं कम्मं, फलं च अप्पत्ति णिच्छिदो समणो।
परिणमदि णेव अण्णं, जदि अप्पाणं लहदि सुद्धं।।३४।।

कर्ता, कर्म, करण और फल आत्मा ही हैं ऐसा निश्चय करनेवाला मुनि यदि अन्य द्रव्यरूप परिणमन नहीं करता तो वह शुद्ध आत्माको प्राप्त कर लेता है।।३४।।

इस प्रकार द्रव्यसामान्यका वर्णन पूर्ण कर अब द्रव्यविशेषका वर्णन प्रारंभ करते हुए सर्वप्रथम द्रव्यके जीव और अजीव भेदोंका निरूपण करते हैं --

दव्वं जीवमजीवं, जीवो पुण चेदणोपयोगमयो।
पोग्गलदव्वप्पमुहं, अचेदणं हवदि य अजीवं।।३५।।

द्रव्यके दो भेद हैं -- जीव और अजीव। इनमेंसे जीव चेतनामय और उपयोगमय है तथा पुद्गल द्रव्यको आदि लेकर पाँच प्रकारका अजीव चेतनासे रहित है।

पदार्थको सामान्य-विशेषरूपसे जाननेकी जीवकी जो शक्ति है उसे चेतना कहते हैं और उस शक्तिका ज्ञान-दर्शनरूप जो व्यापार है उसे उपयोग कहते हैं। ज्ञान और दर्शनके भेदसे चेतना तथा उपयोग दोनोंके दो दो भेद हैं। यह द्विविध चेतना और द्विविध उपयोग जिसमें पाया जावे उसे जीव द्रव्य कहते हैं और जिसमें उक्त चेतना तथा तन्मूलक उपयोगका अभाव हो उसे अजीव द्रव्य कहते हैं। अजीव द्रव्यके पाँच भेद हैं -- १. पुद्गल, २. धर्म, ३. अधर्म, ४. आकाश और ५. काल।।३५।।

आगे लोक और अलोकके भेदसे द्रव्यके दो भेद दिखलाते हैं --

पुग्गलजीवणिबद्धो, धम्माधम्मत्थिकायकालड्ढो।
वट्टदि आयासे जो, लोगो सो सव्वकाले दु।।३६।।

अनंत आकाशमें जो क्षेत्र पुद्गल तथा जीवसे संयुक्त और धर्मास्तिकाय अधर्मास्तिकाय एवं कालसे सहित हो वह सर्वकाल -- अतीत, अनागत तथा वर्तमान इन तीनों कालोंमें लोक कहा जाता है।

इस गाथामें लोकका लक्षण कहा गया है अतः पारिशेष्यात् अलोकका लक्षण अपने आप प्रतिफलित होता है। जहाँ केवल आकाश ही आकाश हो उसे अलोक कहते हैं।।३६।।

आगे क्रिया और भावकी अपेक्षा द्रव्योंमें विशेषता बतलाते हैं --

उप्पादट्ठिदिभंगा, पोग्गलजीवप्पगस्स लोगस्स।
परिणामा[१] [२]जायंते, संघादादो व भेदादो।।३७।।

पुद्गल और जीव स्वरूप लोकके उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य परिणामसे -- एक समयवर्ती अर्थपर्यायसे, संघातसे -- मिलनेसे तथा भेदसे -- बिछुड़नेसे होते हैं।

संसारके प्रत्येक पदार्थोंमें उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य स्वरूप परिणमन होता रहता है। वह परिणमन किन्हींमें भावस्वरूप होता है और किन्हींमें क्रिया तथा भाव दोनोंरूप होता है। अगुरुलघु गुणके निमित्तसे प्रत्येक पदार्थमें जो समय समय पर शक्तिके अंशोंका परिवर्तन होता है उसे भाव कहते हैं और प्रदेश परिस्पंदात्मक जो हलनचलन है उसे क्रिया कहते हैं। जीव और पुद्गल द्रव्योंमें सदा भावरूप ही परिणमन होता है। जीवमें भी संसारी जीवके ही क्रियारूप परिणमन होता है मुक्त जीवके मुक्त होनेके प्रथम समयको छोड़कर अन्य अनंतकाल तक भावरूप ही परिणमन होता है। इस प्रकार क्रिया और भावकी अपेक्षा जीवादि द्रव्योंमें विशेषता है।।३७।।

---

१. परिणामादो । २. जायदि ज. वृ. ।

आगे गुणोंकी विशेषतासे ही द्रव्यमें विशेषता होती है यह सिद्ध करते हैं --

लिंगेहिं जेहिं दव्वं, जीवमजीवं च हवदि विण्णादं।
ते तब्भावविसिट्ठा, मुत्तामुत्ता गुणा णेया।।३८।।

जिन चिह्नोंसे जीव अजीव द्रव्य जाना जाता है वे द्रव्य भावसे विशिष्ट अथवा अविशिष्ट मूर्तिक और अमूर्तिक गुण जानना चाहिए।

'ते तब्भावविसिट्ठा' यहाँ पर दोनों ही वृत्तिकारोंने 'तब्भाव विसिट्ठा' और 'अतब्भाव विसिट्ठा' इस प्रकार दो पाठ मानकर वृत्ति लिखी है जिसका अभिप्राय यह है। द्रव्य और गुणमें आधार आधेय अथवा लक्ष्य-लक्षण भाव है। द्रव्यमें गुण रहते हैं अथवा गुणोंके द्वारा द्रव्यका परिज्ञान होता है। भेद नयसे जिस समय विचार करते हैं उस समय द्रव्य द्रव्यरूप ही रहता है और गुण गुणरूप ही है। द्रव्य गुण नहीं होता और गुण द्रव्य नहीं हो पाता, इसलिए यहाँ गुणोंको विशेषण दिया गया है कि वे अतद्भावसे विशिष्ट हैं, अर्थात् द्रव्यत्व भावसे विशिष्ट नहीं हैं -- जुदे हैं। और अभेद नयसे जब विचार करते हैं तब प्रदेश भेद न होनेसे द्रव्य और गुण एकरूप ही दृष्टिगत होते हैं, इसलिए इस नयविवक्षासे गुणोंको विशेषण दिया गया है कि वे तद्भावसे विशिष्ट हैं, अर्थात् द्रव्यके स्वभावसे विशिष्ट हैं, द्रव्यरूप ही हैं, उससे जुदे नहीं हैं। जो द्रव्य जैसा होता है उसके गुण भी वैसे ही होते हैं, इसलिए मूर्त द्रव्यके गुण मूर्त होते हैं -- इंद्रियग्राह्य होते हैं जैसे कि पुद्गलके रूप रस गंध स्पर्श और अमूर्त द्रव्यके गुण अमूर्त होते हैं -- इंद्रियोंके द्वारा अग्राह्य होते हैं जैसे कि जीवके ज्ञानदर्शनादि।।३८।।

आगे मूर्त और अमूर्त गुणोंका लक्षण ग्रंथकार स्वयं कहते हैं --

मुत्ता इंदियगेज्झा, पोग्गलदव्वप्पगा अणेगविधा[१]।
दव्वाणममुत्ताणं, गुणा अमुत्ता मुणेदव्वा।।३९।।

मूर्त गुण इंद्रियोंके द्वारा ग्राह्य हैं, पुद्गलद्रव्यात्मक हैं और अनेक प्रकारके हैं तथा अमूर्तिक द्रव्योंके गुण अमूर्तिक है, इंद्रियोंके द्वारा अग्राह्य हैं ऐसा जानना चाहिए।।३९।।

अब मूर्त पुद्गल द्रव्यके गुणोंको कहते हैं--

वण्णरसगंधफासा, विज्जंते पुग्गलस्स सुहुमादो।
पुढवीपरियंतस्स य, सद्दो सो पुग्गलो चित्तो।।४०।।

सूक्ष्म परमाणुसे लेकर महास्कंध पृथिवी पर्यंत रूप, रस, गंध और स्पर्श ये चार प्रकारके गुण विद्यमान रहते हैं। इनके सिवाय अक्षर अनक्षर आदिके भेदसे विविध प्रकारका जो शब्द है वह भी पौद्गल -- पुद्गल संबंधी पर्याय है।

---

१. अणेयविहा ज. वृ. ।

कर्ण इंद्रियके द्वारा ग्राह्य होने तथा भित्ति आदि मूर्त पदार्थोंके द्वारा रुक जाने आदिके कारण शब्द मूर्तिक है, परंतु रूप, रस, गंध और स्पर्शके समान वह पुद्गलमें सदा विद्यमान नहीं रहता इसलिए गुण नहीं है। शब्द परमाणुमें भी नहीं रहता, किंतु स्कंधमें रहता है अर्थात् स्कंधोंके पारस्परिक आघातसे उत्पन्न होता ह इसलिए पुद्गलका गुण न होकर उसकी पर्याय है।।४०।।

अब अन्य पाँच अमूर्त द्रव्योंके गुणोंका वर्णन करते हैं --

आगासस्सवगाहो, धम्मद्दव्वस्स गमणहेदुत्तं।
धम्मेदरदव्वस्स दु, गुणो पुणो ठाणकारणदा।।४१।।
कालस्स वट्टणा से, गुणोवओगोत्ति अप्पणो भणिदो।
णेया संखेवादो, गुणा हि मुत्तिप्पहीणाणं।।४२।। जुगलं।।

आकाशद्रव्यका अवगाह, धर्मद्रव्यका गमनहेतुत्व, अधर्मद्रव्यका स्थितिहेतुत्व, कालद्रव्यका वर्तना और जीव द्रव्यका उपयोग गुण कहा गया है। इस प्रकार अमूर्त द्रव्योंके गुण संक्षेपसे जानना चाहिए।

पुद्गलको छोड़कर अन्य पाँच द्रव्य अमूर्त हैं, इसलिए उनके गुण भी अमूर्तिक हैं। न उन द्रव्योंका इंद्रियोंके द्वारा साक्षात् ज्ञान होता है और न उनके गुणोंका। समस्त द्रव्योंके लिए अवगाहन -- स्थान देना आकाश द्रव्यका गुण है। यद्यपि अलोकाकाशमें आकाशको छोड़कर ऐसा कोई द्रव्य नहीं है जिसके लिए अवगाहन देता हो तो भी शक्तिकी अपेक्षा उसका गुण रहता ही है। जीव और पुद्गलके गमनमें सहायक होना धर्म द्रव्यका गुण है, उन्हीकी स्थितिमें निमित्त होना अधर्म द्रव्यका गुण है। समय-समय प्रत्येक द्रव्योंकी पर्यायोंके बदलनेमें सहायक होना काल द्रव्यका गुण है और जीवाजीवादि पदार्थोंको सामान्य विशेष रूपसे जानना जीव द्रव्यका गुण है। यह आकाशादि पाँच अमूर्तिक द्रव्योंके असाधारण गुणोंका संक्षिप्त विवेचन है।।४१-४२।।

आगे छह द्रव्योंमें प्रदेशवत्त्व और अप्रदेशवत्त्वकी अपेक्षा विशेषता बतलाते हैं --

जीवा [१]पोग्गलकाया, धम्माऽधम्मा पुणो य [२]आगासं।
[३]देसेहिं [४]असंखादा, णत्थि पदेसत्ति कालस्स।।४३।।

जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाशमें पाँच द्रव्य प्रदेशोंकी अपेक्षा असंख्यात हैं अर्थात् इनके असंख्यात प्रदेश हैं और कालद्रव्यके प्रदेश नहीं हैं। कालद्रव्य एकप्रदेशात्मक है, अतएव उसमें द्वितीयादि प्रदेश नहीं हैं।।४३।।[२]

---

१. पुग्गलकाया। २. आयासं। ३. सपेदसेहिं। ४. असंख्या ज. वृ.।

२. ४३ वीं गाथाके बाद ज. वृ. में निम्नांकित गाथा अधिक व्याख्यात है --

'एदाणि पंच दव्वाणि उज्झियकालं तु अत्थिकायत्ति।
भण्णंते काया पुण बहुप्पदेसाण पचयत्तं।।'

अब प्रदेशी और अप्रदेशी द्रव्य कहाँ रहते हैं इसका विवेचन करते हैं --

लोगालोगेसु णभो, धम्माधम्मेहिं आददो लोगो।
सेसे पडुच्च कालो, जीवा पुण पोग्गला सेसा।।४४।।

आकाश, लोक और अलोक दोनोंमें व्याप्त है, धर्म और अधर्मके द्वारा लोक व्याप्त है अर्थात् ये दोनों समस्त लोकमें फैलकर रहे हैं। शेष रहे जीव, पुद्गल और काल सो ये तीनों विवक्षावश लोकमें व्याप्त हैं। कालद्रव्य स्वयं एकप्रदेशी है इसलिए लोकके एक प्रदेशमें रहता है परंतु ऐसे कालद्रव्य गणनामें असंख्यात हैं और लोकाकाशके प्रत्येक प्रदेशपर रहते हैं इसलिए अनेक कालाणुओंकी अपेक्षा काल द्रव्य समस्त लोकमें स्थित है। एक जीव द्रव्यके असंख्यात प्रदेश हैं और संकोच-विस्ताररूप स्वभाव होनेसे वे छोटे-बड़े शरीरके अनुरूप लोकके असंख्यातवें भागमें अवस्थित रहते हैं। लोकपूरण समुद्घातके समय लोकमें भी व्याप्त हो जाते हैं। परंतु वह अवस्था किन्हीं जीवोंके समयमात्रके लिए होती है। अधिकांश काल शरीर प्रमाणके अनुरूप लोकाकाशमें ही रहकर बीतता है। यह एक जीव द्रव्यकी अपेक्षा विचार हुआ। नाना जीवोंकी अपेक्षा जीव द्रव्य समस्त लोकमें व्याप्त है। पुद्गल द्रव्यका अवस्थान लोकके एक प्रदेशसे लेकर समस्त लोकमें है। पुद्गलोंमें वस्तुतः द्रव्य संज्ञा परमाणुओंको है। ऐसे परमाणुरूप पुद्गल द्रव्य अनंतानंत हैं। परमाणु एकप्रदेशी है इसलिए वह लोकके एक ही प्रदेशमें स्थित रहता है परंतु जब वह परमाणु अपने स्निग्ध और रूक्षगुणके कारण अन्य परमाणुओंके साथ मिलकर स्कंध हो जाता है तब लोकके एकसे अधिक प्रदेशोंको व्याप्त करने लगता है। ऐसा नियम नहीं है कि लोकके एक प्रदेशमें एक ही परमाणु रहे। यदि ऐसा नियम मान लिया जावे तो लोकके असंख्यात प्रदेशोंमें असंख्यातसे अधिक परमाणु स्थान नहीं पा सकेंगे। नियम ऐसा है कि परमाणु एक ही प्रदेशमें रहता है, परंतु उस एक प्रदेशमें संख्यात-असंख्यात -- अनंत परमाणुओं से निर्मित स्कंध भी स्थित हो सकते हैं। पुद्गल परमाणुओंमें परस्पर अवगाहन देनेकी सामर्थ्य होनेके कारण उक्त मान्यतामें कुछ भी आपत्ति नहीं आती। इस प्रकार स्कंधकी अपेक्षा अथवा अनंतानंत परमाणुओंकी अपेक्षा पुद्गल द्रव्य भी समस्त लोकमें व्याप्त होकर स्थित है। सारांश यह हुआ कि काल, जीव और पुद्गल ये तीन द्रव्य एक द्रव्यकी अपेक्षा लोकके एक देशमें और अनेक द्रव्यकी अपेक्षा सर्व लोकमें स्थित हैं।।४४।।

आगे इन द्रव्योंमें प्रदेशत्व और अप्रदेशत्वकी संभवता दिखाते हैं --

[१]जध ते [२]णभप्पदेसा, [३]तधप्पदेसा हवंति सेसाणं।
अपदेसो परमाणू, तेण पदेसुब्भवो भणिदो।।४५।।

१-२-३ जह ते णहप्पदेसा तहप्पदेसा ज. वृ. ।

जिस प्रकार आकाशमें प्रदेश होते हैं उसी प्रकार शेष -- धर्म, अधर्म और एक जीव तथा पुद्गलके भी प्रदेश होते हैं। परमाणु स्वयं अप्रदेश है -- द्वितीयादि प्रदेशोंसे रहित है परंतु उससे ही प्रदेशोंकी उत्पत्ति कही गयी है।

पुद्गलका परमाणु आकाशके जितने क्षेत्रको रोकता है उसे आकाशका एक प्रदेश कहते हैं। ऐसे प्रदेश आकाशमें अनंत हैं। एक प्रदेशप्रमाण आकाशमें विद्यमान धर्म अधर्म द्रव्यके अंश एक प्रदेश कहलाते हैं। ऐसे प्रदेश धर्म अधर्म द्रव्यमें अनंत हैं। इसी प्रकार जीव और पुद्गलमें भी प्रदेशोंका सद्भाव समझ लेना चाहिए। एक जीव द्रव्यमें असंख्यात प्रदेश हैं तथा पुद्गलमें स्कंधकी अपेक्षा संख्यात, असंख्यात और अनंत प्रदेश हैं। परमाणु एक प्रदेशात्मक है। इस प्रकार सब द्रव्योंमें प्रदेशका व्यवहार परमाणुजन्य ही है।। ४५।।

अब कालाणु प्रदेशरहित ही है इस बातका नियम करते हैं --

[१]समओ दु अप्पदेसो, पदेसमेत्तस्स दव्वजादस्स।
वदिवददो सो वट्टदि, पदेसमागासदव्वस्स।।४६।।

समय अप्रदेश है , द्वितीयादि प्रदेशोंसे रहित है। जब एक प्रदेशात्मक पुद्गलजातिरूप परमाणु मंद गतिसे आकाश द्रव्यके एक प्रदेशसे दूसरे प्रदेशके प्रति गमन करता है तब उस समयकी उत्पत्ति होती है।

यहाँ काल द्रव्यकी समय पर्याय और उसका उपादान कारण कालाणु दोनोंको एक मानकर कथन किया।।४६।।

अब काल पदार्थके द्रव्य और पर्यायका विश्लेषण करते हैं --

वदिवददो तं देसं, तस्सम समओ तदो परो पुव्वो।
जो अत्थो सो कालो, समओ उप्पण्णपद्धंसी।।४७।।

आकाशके उस प्रदेशके प्रति मंदगतिसे जानेवाले परमाणुके जो काल लगता है उसके बराबर सूक्ष्मकाल है। काल द्रव्यकी पर्याय भूत समय कहलाता है और उसके आगे तथा पहले अन्वयी रूपसे स्थिर रहनेवाला जो पदार्थ है वह काल द्रव्य है। समय वर्तमान पर्यायकी अपेक्षा उत्पन्न प्रध्वंसी है -- उत्पन्न होकर नष्ट होता रहता है।।४७।।

अब आकाशके प्रदेशका लक्षण कहते हैं --

[२]आगासमणुनिविट्ठं, [३]आगासपदेससण्णया भणिदं।
सव्वेसिं च [४]अणूणं, सक्कदि तं देदुमवकासं।।४८।।

---

१. समयपर्यायस्योपादानकारणत्वात्समयः कालाणुः ज. वृ. ।

२. आयास ज. वृ. । ३. आयास ज. वृ.।

४. शेष पञ्चद्रव्यप्रदेशानां परमसौक्ष्म्यपरिणतानन्तपरमाणुस्कन्धानां च ज. वृ. ।

परमाणुसे रोका हुआ जो आकाश है वह आकाशका प्रदेश इस नामसे कहा गया है। वह आकाशका एक प्रदेश अन सब द्रव्योंके प्रदेशोंको तथा परम सूक्ष्म अवस्थाको प्राप्त हुए अनंत पुद्गल स्कंधोंको अवकाश देनेमें समर्थ है।।४८।।

आगे तिर्यक्प्रचय और ऊर्ध्वप्रचयका लक्षण कहते हैं --

एको व दुगे बहुगा, संखातीदा तदो अणंता य।
दव्वाणं च पदेसा, संति हि समयत्ति कालस्स।।४९।।

कालद्रव्यको छोड़कर शेष पाँच द्रव्योंके प्रदेश एक दो अर्थात् संख्यात, असंख्यात और उसके बाद अनंत तक यथायोग्य होते हैं परंतु कालद्रव्यका समय पर्यायरूप एक ही प्रदेश है।

प्रदेशोंके समूहको तिर्यक्प्रचय और क्रमवर्ती समयोंके समूहको ऊर्ध्वताप्रचय कहते हैं। ऊर्ध्वताप्रचय सभी द्रव्योंमें होता है परंतु तिर्यक्प्रचय उन्हीं द्रव्योंमें संभव है जिनमें कि अनेक प्रदेश पाये जाते हैं। यतः कालद्रव्य एकप्रदेशी है अतः उसमें तिर्यक्प्रचय नहीं होता, केवल ऊर्ध्वताप्रचय ही होता है।।४९।।

अब कालद्रव्यमें जो ऊर्ध्वप्रचय होता है वह निरन्वय नहीं होता, किंतु द्रव्यपनेसे अन्वयी रूप -- ध्रुवरूप होता है यह सिद्ध करते हैं --

उप्पादो पद्धंसो, विज्जदि जदि जस्स एकसमयम्मि।
समयस्स सोवि समयो, सभावसमवट्ठिदो हवदि।।५०।।

जिस कालाणुरूप समयका एक ही समयमें उत्पाद और व्यय होता है वह समय भी -- काल पदार्थ भी अपने अपने स्वभावमें अवस्थित रहता है।

कालाणु द्रव्य होनेके कारण ध्रुवरूप रहता है और उसमें समयरूप पर्यायोंका उत्पाद तथा व्यय होता रहता है। मंदगतिसे चलनेवाला पुद्गल परमाणु जब पूर्व कालाणुको छोड़कर उत्तरवर्ती कालाणुके पास पहुँचता है तब नवीन समय पर्यायका उत्पाद होता है और पूर्व समय पर्यायका व्यय होता है। परंतु कालाणु दोनोंमें अन्वयरूपसे विद्यमान रहता है।।५०।।

आगे यह सिद्ध करते हैं कि वर्तमान समयके समान काल द्रव्यके अतीत-अनागत सभी समयोंमें उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य होते हैं --

[१]एकम्मि संति समये, संभवठिदिणाससण्णिदा अट्ठा।
समयस्स सव्वकालं, एस हि कालाणुसब्भावो।।५१।।

एक समय पर्यायमें कालाणुरूप कालद्रव्यके उत्पाद स्थिति तथा विनाशरूप भाव होते हैं। निश्चयसे यह उत्पादादित्रयरूप कालाणुका सद्भाव सदाकाल विद्यमान रहता है।

---

१. एगम्हि ज. वृ. ।

जिस प्रकार काल द्रव्य एक ही समयमें उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यरूप परिणमन करता है उसी प्रकार सब समयमें परिणमन करता है।।५१।।

आगे कालद्रव्य अप्रदेश है इसका यह अर्थ नहीं है कि उसमें एक भी प्रदेश नहीं होता। यहाँ अप्रदेशका अर्थ एकप्रदेशी है। यदि कालद्रव्यको एकप्रदेशी न माना जाय तो उसका अस्तित्व ही सिद्ध नहीं हो सकेगा। यह बतलाते हैं --

जस्स ण संति पदेसा, पदेसमेत्तं व तच्चदो णादुं।
सुण्णं जाण तमत्थं, अत्थंतरभूदमत्थीदो।।५२।।

जिस द्रव्यमें बहुत प्रदेश नहीं हैं अथवा जो परमार्थसे एकप्रदेशी भी नहीं जाना जा सकता है अर्थात् जिसमें एक भी प्रदेश नहीं है अस्तित्वसे बहिर्भूत उस पदार्थको तुम शून्य जानो।

पदार्थका अस्तित्व उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यसे होता है तथा उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य प्रदेशों पर निर्भर हैं। अतः जिस द्रव्यमें एक भी प्रदेश नहीं होगा उसका अस्तित्व सिद्ध नहीं हो सकता। यतः कालद्रव्य अस्तित्वरूप है अतः उसे एकप्रदेशी मानना चाहिए। अप्रदेशका अर्थ द्वितीयादि प्रदेशसे रहित समझना चाहिए।।५२।।

इस प्रकार ज्ञेय तत्त्वको कहकर अब ज्ञान ज्ञेयके विभागसे आत्माका निश्चय करना चाहते है, अतः सर्वप्रथम आत्माको परभावोंसे जुदा करनेके लिए उसके व्यवहार जीवत्वके कारण दिखलाते हैं --

सपदेसेहिं समग्गो, लोगो अट्ठेहिं णिट्ठिदो णिच्चो।
जो त्तं जाणदि जीवो, पाण[1]चदुक्काहिसंबद्धो।।५३।।

यह लोक अपने प्रदेशोंसे परिपूर्ण है, जीवाजीवादि पदार्थोंसे भरा हुआ है और नित्य है। इसे जो जानता है तथा इंद्रिय, बल, आयु और श्वासोच्छ्वास इन चार प्राणोंसे संयुक्त है वह जीव है।

यद्यपि जीव निश्चयसे स्वतःसिद्ध परमचैतन्यरूप निश्चयप्राणसे जीवित रहता है तथापि यहाँ व्यवहारकी अपेक्षा उसे इंद्रियादि चार बाह्य प्राणोंसे जीवित रहनेवाला बतलाया है। वह भी इसलिए कि इन सर्वगम्य बाह्य प्राणोंसे अल्पज्ञ मनुष्य भी जीवको लोकके अन्य पदार्थोंसे अत्यंत भिन्न समझने लगें।।५३।।

अब वे चार प्राण कौन हैं? यह स्वयं ग्रंथकार बतलाते हैं --

इंदियपाणो य तधा, बलपाणो तह य आउपाणो य।
आणप्पाणप्पाणो, जीवाणं होंति पाणा ते।।५४।।

---

१. पाणचउक्केण संबद्धो , ज. वृ.

स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और कर्ण ये पाँच इंद्रियप्राण, इसी प्रकार मनोबल, वचनबल और कायबल ये तीन बलप्राण, इसी प्रकार आयुप्राण और श्वासोच्छ्वास प्राण ये जीवोंके (चार अथवा दस) प्राण होते हैं।

जिनके संयोगसे जीव जीवित अथवा मृत कहलावे उन्हें प्राण कहते हैं। ऐसे प्राण अभेदविवक्षासे चार और भेदविवक्षासे दस होते हैं।।५४।।[१]

अब जीव शब्दकी निरुक्तिपूर्वक यह बतलाते हैं कि प्राण जीवत्वके कारण हैं तथा पौद्गलिक हैं --

पाणेहिं चदुहिं जीवदि, जीवस्सदि जो हि जीविदो पुव्वं।
सो जीवो पाणा पुण, पोग्गलदव्वेहिं णिव्वत्ता।।५५।।

जो पूर्वोक्त चार प्राणोंसे वर्तमानमें जीवित है, आगे जीवित होगा और पहले जीवित था वह जीव है। वे सभी प्राण पुद्गल द्रव्यसे रचे गये हैं।

'यः प्राणैः जीवति स जीवः' जो प्राणोंसे जीवित है वह जीव है, यह वर्तमान प्राणियोंकी अपेक्षा निरुक्ति है। 'यः प्राणैः जीविष्यति स जीवः' जो प्राणोंसे जीवित होगा वह जीव है, यह विग्रहगति में स्थित जीवोंकी अपेक्षा निरुक्ति है और 'यः प्राणैरजीवत्' जो प्राणोंसे जीवित था वह जीव है, यह मुक्त जीवोंकी जीवकी निरुक्ति है ऐसा समझना चाहिए।।५५।।

अब प्राण पौद्गलिक हैं इस बातको स्वतंत्ररूपसे सिद्ध करते हैं --

जीवो पाणणिबद्धो, बद्धो मोहादिएहिं कम्मेहिं।
उवभुंजं कम्मफलं, बज्झदि अण्णेहिं कम्मेहिं।।५६।।

मोह आदि पौद्गलिक कर्मोंसे बँधा हुआ जीव पूर्वोक्त प्राणोंसे बद्ध होता है और उनके संबंधसे ही कर्मोंके फलको भोगता हुआ अन्य ज्ञानावरणादि पौद्गलिक कर्मोंसे बद्ध होता है।

यतः प्राणोंके कारण और कार्य दोनों ही पौद्गलिक हैं अतः प्राण भी पौद्गलिक ही हैं -- पुद्गलसे निष्पन्न हैं ऐसा जानना चाहिए।।५६।।

अब प्राण पौद्गलिक कर्मके कारण हैं यह स्पष्ट करते हैं --

पाणाबाधं जीवो, मोहपदेसेहिं कुणदि जीवाणं।
जदि सो हवदि हि बंधो, णाणावरणादिकम्मेहिं।।५७।।

यदि वह प्राणसंयुक्त जीव, मोह तथा राग-द्वेषरूप भावोंसे स्वजीव और परजीवोंके प्राणोंका घात

---

१. ५४ वीं गाथाके बाद ज. वृ. में निम्न गाथा अधिक व्याख्यात है --
'पंचवि इंदियपाणा मणवचिकाया य तिण्णि बलपाणा।
आणप्पाणप्पाणो आउगपाणेण होंति दस पाणा।।'

करता है तो उसके ज्ञानावरणादि कर्मोंसे बंध होता है।

यह जीव इंद्रियादि प्राणोंके द्वारा कर्मफलको भोगता है, उसे भोगता हुआ मोह तथा राग द्वेषको प्राप्त होता है, और मोह तथा राग द्वेषसे स्वजीव तथा परजीवोंके प्राणोंका विघात करता है। अन्य जीवोंके प्राणोंका विघात न भी कर सके तो भी अंतरंगके कलुषित हो जानेसे स्वकीय भाव प्राणोंका घात तो करता ही है। इस प्रकार संक्लिष्ट परिणाम होनेसे ज्ञानावरणादि नवीन कर्मोंका बंध करता है। इससे यह सिद्ध होता है कि प्राण पौद्गलिक कर्मोंके कारण हैं।।५७।।

आगे इन पौद्गलिक प्राणोंकी संतति क्यों चलती है? इसका अंतरंग कारण कहते हैं --

आदा कम्ममलिमसो, [१]धारदि पाणे पुणो पुणो अण्णे।
ण जहदि जाव ममत्तं, देहपधायेसु विसएसु।।५८।।

अनादि कालीन कर्मसे मलिन आत्मा तब तक बार-बार दूसरे प्राणोंको धारण करता रहता है जब तक कि वह शरीरादि विषयोंमें ममत्वभावको नहीं छोड़ता है।

संसार शरीर और भोगोंमें ममता बुद्धि ही प्राणोंकी संततिको आगे चलानेमें अंतरंग कारण है।।५८।।

अब पौद्गलिक प्राणोंकी संततिके रोकनेमें अंतरंग कारण बतलाते हैं --

जो इंदियादिविजई, भवीय उवओगमप्पगं झादि।
कम्मेहिं सो ण रंजदि, किह तं पाणा अणुचरंति।।५९।।

जो इंद्रिय विषय कषाय आदिको जीतनेवाला होकर शुद्ध उपयोगरूप आत्माका ध्यान करता है वह कर्मोंसे अनुरक्त नहीं होता फिर प्राण उसका अनुचरण कैसे कर सकते हैं -- उसके साथ कैसे संबंध कर सकते हैं? अर्थात् नहीं कर सकते।।५९।।

आगे आत्माको अन्य पदार्थोंसे बिलकुल ही जुदा करनेके लिए व्यवहार जीवकी चतुर्गतिरूप पर्यायका स्वरूप कहते हैं --

अत्थित्तणिच्छिदस्स हि, अत्थस्सत्थंतरम्मि संभूदो।
अत्थो पज्जायो सो, संठाणादिप्पभेदेहिं।।६०।।

स्वलक्षणभूत स्वरूपास्तित्वसे निश्चित जीव पदार्थकी अन्य पदार्थ -- पुद्गल द्रव्यके संयोगसे उत्पन्न हुई जो दशाविशेष है वह पर्याय है। वह पर्याय संस्थान, संहनन आदिके भेदसे अनेक प्रकारकी है।

नामकर्मादि रूप पुद्गलके साथ संबंध होनेपर जीवमें नर नारकादि रूप पर्यायें उत्पन्न होती हैं जो अपने संस्थान संहनन आदिके भेदसे विविध पदार्थकी हुआ करती हैं। पर संयोगज होनेके कारण ऐसी

---

१. धरेदि ज. वृ. ।

सभी पर्यायें विभाव पर्यायें कहलाती हैं अतएव त्याज्य हैं।।६०।।

अब जीवकी पूर्वोक्त पर्यायोंको दिखलाते हैं --

णरणारयतिरियसुरा, संठाणादीहिं अण्णहा जादा।
पज्जाया जीवाणं, [२]उदयादु हि णामकम्मस्स।।६१।।

संसारी जीवोंकी जो नर, नारक, तिर्यंच और देव पर्याय हैं वे नामकर्मके उदयसे संस्थान, संहनन आदिके द्वारा स्वभाव पर्यायसे भिन्न विभावरूप होते हैं।

जिस प्रकार एक ही अग्नि ईंधनके भेदसे अनेक प्रकारकी दिखती है उसी प्रकार एक ही आत्मा कर्मोदयवश अनेकरूप दिखायी देता है।।६१।।

आगे यद्यपि आत्मा अन्य द्रव्योंके साथ संकीर्ण है -- मिला हुआ है तो भी उसका स्वरूपास्तित्व स्वपरके विभागका कारण है यह दिखलाते हैं --

तं सब्भावणिबद्धं , दव्वसहावं तिहा समक्खादं।
जाणदि जो सवियप्पं, ण मुहदि सो अण्णदवियम्हि।।६२।।

जो पुरुष उस पूर्वकथित द्रव्यके स्वरूपास्तित्वसे युक्त द्रव्यगुण पर्याय अथवा उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यके भेदसे तीन प्रकार कहे हुए द्रव्यके स्वभावको भेदसहित जानता है वह शुद्धात्म द्रव्यसे भिन्न अन्य अचेतन द्रव्योंमें मोहको प्राप्त नहीं होता।

आत्मद्रव्यका स्वरूपास्तित्व ही उसे परपदार्थोंसे विविक्त सिद्ध करता है ।।६२।।

आगे सब प्रकारसे आत्माको भिन्न करनेके लिए परद्रव्यके संयोगका कारण दिखलाते हैं -

अप्पा उवओगप्पा, उवओगो णाणदंसणं भणिदो।
सो हि सुहो असुहो वा, उवओगो अप्पणो हवदि।।६३।।

आत्मा उपयोगस्वरूप है, ज्ञान और दर्शन उपयोग कहे गये हैं और आत्माका वह उपयोग शुभ तथा अशुभ होता है।

आत्माके चैतन्यानुविधायी परिणामको उपयोग कहते हैं। उस उपयोगका परिणमन ज्ञान दर्शनके भेदसे दो प्रकारका होता है। सामान्य चेतनाके परिणामको दर्शनोपयोग और विशेष चेतनाके परिणामको ज्ञानोपयोग कहते हैं। आत्माका यह उपयोग अपने आपमें शुद्ध होता है, परंतु मोहका उदय उसे मलिन करता रहता है। जिस उपयोगके साथ मोहका उदय मिश्रित रहता है वह अशुद्धोपयोग कहलाता है और जो उपयोग मोहके उदयसे अमिश्रित रहता है वह शुद्धोपयोग कहलाता है। मोहका उदय असंख्यात प्रकारका होता है परंतु संक्षेपमें उसके शुभ-अशुभके भेदसे दो भेद माने जाते हैं। शुद्धोपयोग कर्मबंधका कारण नहीं

---

२. उययादि दि ज. वृ. ।

है, परंतु शुभ-अशुभके भेदसे विभाजित अशुद्धोपयोग कर्मबंधका कारण माना गया है। इस प्रकार आत्माका जो परद्रव्यके साथ संयोग होता है उसमें उसका अशुद्धोपयोग ही कारण है।।६३।।

अब कौन उपयोग किस कर्मका कारण है यह बतलाते हैं --

उवओगो जदि हि सुहो, पुण्णं जीवस्स संचयं जादि।
असुहो वा [१]तध पावं, तेसिमभावे ण चयमत्थि।। ६४।।

यदि जीवका उपयोग शुभ होता है तो पुण्यकर्म संचय -- बंधको प्राप्त होता है और अशुभ होता है तो पापकर्मसंचयको प्राप्त होता है। उन शुभ-अशुभ उपयोगोंके अभावमें कर्मोंका चय -संग्रह - बंध नहीं होता है।।६४।।

आगे शुभोपयोगका स्वरूप कहते हैं --

जो जाणादि जिणिंदे, पेच्छदि सिद्धे तधेव अणगारे।
जीवे य साणुकंपो, उवओगो सो सुहो तस्स।।६५।।

जो जीव परमभट्टारक महादेवाधिदेव श्री अर्हंत भगवान्‌को जानता है, ज्ञानावरणादि अष्ट कर्मसे रहित और सम्यग्दर्शनादि गुणोंसे विभूषित श्री सिद्ध परमेष्ठीको ज्ञानदृष्टिसे देखता है, उसी प्रकार आचार्य उपाध्याय और साधुरूप निष्परिग्रह गुरुओंको जानता है देखता है तथा जीवमात्रपर दयाभावसे सहित है उस जीवका वह उपयोग शुभोपयोग कहलाता है।।६५।।

अब अशुभोपयोगका स्वरूप बतलाते हैं --

विषयकसाओगाढो, दुस्सुदिदुच्चित्तदुट्ठगोट्ठिजुदो।
उग्गो उम्मग्गपरो, उवओगो जस्स सो असुहो।।६६।।

जीवका जो उपयोग विषय और कषायसे व्याप्त है, मिथ्या शास्त्रोंका सुनना, आर्त रौद्ररूप खोटे ध्यानोंमें प्रवृत्त होना तथा दुष्ट - कुशील मनुष्योंके साथ गोष्ठी करना आदि कार्योंसे युक्त है, हिंसादि पापोंके आचरणमें उग्र है और उन्मार्ग -- विपरीत मार्गके चलानेमें तत्पर है वह अशुभोपयोग है।।६६।।

आगे शुभाशुभ भावसे रहित शुद्धोपयोगका वर्णन करते हैं --

असुहोवओगरहिदो, सुहोवजुत्तो ण अण्णदवियम्मि।
होज्झं मज्झत्थोऽहं, णाणप्पगमप्पगं झाए।।६७।।

जो अशुभोपयोगसे रहित है और शुभोपयोगमें भी जो उद्यत नहीं हो रहा है ऐसा मैं आत्मातिरिक्त अन्य द्रव्योंमें मध्यस्थ होता हूँ और ज्ञानस्वरूप आत्माका ही ध्यान करता हूँ।

---

१. तह ज. वृ. ।

जो अशुभोपयोगको पहले छोड़ चुका है, अब शुभोपयोगमें भी प्रवृत्त होनेके लिए जिसका जी नहीं चाहता, जो शुद्धात्माको छोड़कर अन्य सब द्रव्योंमें मध्यस्थ हो रहा है और जो निरंतर सहज चैतन्यसे उद्भासित एक निजशुद्ध आत्माका ही ध्यान करता है वह शुद्धोपयोगी है। इस जीवके उपयोगको शुद्धोपयोग कहते हैं। इस शुद्धोपयोग के प्रभावसे आत्माका परद्रव्य के साथ संयोग छूट जाता है। इसलिए ही श्री कुंदकुंद स्वामीने शुद्धोपयोगी होनेकी भावना प्रकट की है।।६७।।

आगे शरीरादि परद्रव्यमें भी माध्यस्थ्य भाव प्रकट करते हैं --

णाहं देहो ण मणो, ण चेव वाणी ण कारणं तेसिं।
कत्ता ण [१]ण कारयिदा, अणुमत्ता णेव कत्तीणं।।६८।।

न मैं शरीर हूँ, न मन हूँ, न वचन हूँ, न उनका कारण हूँ, न उनका करनेवाला हूँ, न करानेवाला हूँ और न करनेवालोंको अनुमति देनेवाला हूँ।

परमविवेकी मनुष्य जिसप्रकार शरीरसे इतर पदार्थोंमें परत्वबुद्धि रखते हैं उसी प्रकार स्वशरीरमें भी परत्वबुद्धि रखते हैं। स्वशरीर ही नहीं, उसके आश्रयसे होनेवाले काय, वचन और मनोयोगमें भी परत्व बुद्धि रखते हैं। यही कारण है कि कुंदकुंद स्वामीने यहाँ यह भावना प्रकट की है कि मैं कायादि तीनों योगोंमेंसे कोई भी नहीं हूँ, न मैं इन्हें स्वयं करता हूँ, न दूसरेसे कराता हूँ और न इनके करनेवालोंको अनुमति ही देता हूँ।।६८।।

आगे इस बातका निश्चय करते हैं कि शरीर, वचन और मन तीनोंही परद्रव्य हैं --

देहो य मणो वाणी, पोग्गलदव्वप्पगत्ति णिद्दिट्ठा।
पोग्गलदव्वं पि पुणो, पिंडी परमाणुदव्वाणं।।६९।।

शरीर, मन और वचन तीनों ही पुद्गल द्रव्यात्मक हैं ऐसे कहे गये हैं और पुद्गल द्रव्य भी परमाणुरूप द्रव्योंका स्कंधरूप पिंड है।।६९।।

आगे आत्माके परद्रव्य तथा उसके कर्तृत्वका अभाव सिद्ध करते हैं --

णाहं पोग्गल[२]मइओ, ण ते मया [३]पोग्गला कया पिंडं।
तम्हा हि ण देहोऽहं, कत्ता वा तस्स देहस्स।।७०।।

मैं पुद्गलरूप नहीं हूँ और न मेरे द्वारा वे पुद्गल पिंड -- शरीररूप किये गये हैं। इसलिए निश्चयसे मैं शरीर नहीं हूँ और न उस शरीरका कर्ता ही हूँ।

मैं सहज चैतन्यसे उद्भासित अखंड चैतन द्रव्य हूँ और शरीर पुद्गलसे निर्वृत्त अचेतन पदार्थ है, एक द्रव्य दूसरे द्रव्यका कर्ता नहीं है, सभी द्रव्योंका सहज स्वभावसे शाश्वतिक परिणमन हो रहा है। मैं

१. ज. वृ. । २. पुग्गल ज. वृ. । ३. पुग्गला ज. वृ.।

अपने सहज शुद्ध स्वभावका ही कर्ता हो सकता हूँ, जड़ शरीरका कर्ता त्रिकालमें भी नहीं हो सकता, उसके कर्ता तो पुद्गल परमाणु हैं जिनके कि द्वारा शरीराकार स्कंधकी रचना हुई है। ..... इस प्रकारके विचारोंसे श्री कुंदकुंद स्वामीने अपनी शुद्ध आत्माको अन्य द्रव्योंसे अत्यंत विभक्त सिद्ध किया है।।७०।।

आगे 'यदि आत्मा पुद्गल परमाणुओंमें शरीराकार परिणमन नहीं करता है तो फिर उनमें शरीररूप पर्यायकी उत्पत्ति किस प्रकार होती है' इस प्रश्नका उत्तर देते हैं --

अपदेसो परमाणू, पदेसमेत्तो य समयसद्दो जो।
णिद्धो वा लुक्खो वा, दुपदेसादित्तमणुहवदि।।७१।।

जो परमाणु द्वितीयादि प्रदेशोंसे रहित है, एक प्रदेशमात्र है और स्वयं शब्दसे रहित है, वह यतः स्निग्ध अथवा रूक्ष गुणका धारक होता है अतः द्विप्रदेशादिपनेका अनुभव करता है।

यद्यपि परमाणु एकप्रदेशरूप है तो भी वह स्निग्ध अथवा रूक्ष गुणके कारण दूसरे परमाणुओंके साथ मिलकर स्कंध बन जाता है। ऐसा स्कंध दोप्रदेशीसे लेकर संख्यात असंख्यात और अनंत प्रदेशी तक होता है। जीवका शरीर भी ऐसे ही परमाणुओंके संयोगसे बना हुआ है। यथार्थमें पुद्गल परमाणुओंका पुंज ही शरीरका कर्ता है। यह जीव मोहके उदयसे व्यर्थ ही अपने आपको उसका कर्ता धर्ता मानकर रागी द्वेषी होता है।।७१।।

आगे परमाणुका वह स्निग्ध अथवा रूक्ष गुण किस प्रकारका है यह कहते हैं --

एगुत्तरमेगादी, अणुस्स णिद्धत्तणं व लुक्खत्तं।
परिणामादो भणिदं, जाव अणंतत्तमणुहवदि।।७२।।

परमाणुमें जो स्निग्धता और रूक्षता रहती है उसमें अगुरुलघु गुणके कारण प्रत्येक समय परिणमन होता रहता है। इस परिणमनके कारण वह स्निग्धता और रूक्षता एकसे लेकर एक अंशकी वृद्धि होते होते अनंतपने तकका अनुभव करने लगती है ऐसा कहा गया है।

स्निग्धता और रूक्षता पुद्गलके गुण हैं। प्रत्येक गुणमें अनंत अविभाज्य शक्ति के अंश होते हैं जिन्हें गुणांश या अविभागप्रतिच्छेद्य कहते हैं। अगुरुलघु गुणकी सहायता पाकर इन गुणांशोंमें प्रत्येक समय हानि वृद्धि होती रहती है। इस हानि वृद्धिको आगममें षड्गुणी हानिवृद्धि कहा है। उसके संख्यातभागवृद्धि, असंख्यातभागवृद्धि, अनंतभागवृद्धि, संख्यातगुणवृद्धि, असंख्यातगुणवृद्धि, अनंतगुणवृद्धि, संख्यातभागहानि, असंख्यातभागहानि, अनंतभागहानि, संख्यातगुणहानि, असंख्यातगुणहानि और अनंतगुणहानि इस प्रकार नाम भी हैं। स्निग्ध और रूक्ष गुणके अंशोंमें जब वृद्धि होने लगती है तब एक अंशसे लेकर बढ़ते-बढ़ते अनंत अंशतक बढ़ जाते हैं और जब उनमें हानि होने लगती है तब घटते-घटते एक अंश तक रह जाते हैं। परमाणुमें जब स्निग्धता और रूक्षताके अंश घटते-घटते एक अंश तक रह जाते हैं तब वे जघन्य गुणके

धारक कहलाने लगते हैं। ऐसे परमाणुओंका दूसरे परमाणुके साथ बंध नहीं होता। हाँ, उन परमाणुओंकी स्निग्धता और रूक्षताके अंशमें जब पुनः वृद्धि हो जायेगी तब फिर वे बंधके योग्य हो जायेंगे। परमाणुओंका जो परस्परमें बंध होता है उसमें उनकी रूक्षता और स्निग्धता ही कारण मानी गयी है। परमाणुओंका यह बंध अपनेसे दो अधिक गुणवालेके साथ होता है ऐसा नियम है। यह बंध स्निग्धका स्निग्धके साथ, रूक्षका रूक्षके साथ तथा स्निग्धका रूक्षके साथ अथवा रूक्षका स्निग्धके साथ होता है। दो गुणवालेका चार गुणवालेके साथ अथवा तीन गुणवालेका पाँच गुणवालेके साथ बंध होता है। इस प्रकार गुणीकी समता अथवा विषमता दोनों ही अवस्थाओंमें बंध होता है, परंतु गुणोंका दो अधिक होना आवश्यक है। जघन्य गुणवाले तथा समान गुणवाले परमाणुओंका परस्परमें बंध नहीं होता।।७२।।

आगे किस प्रकारके स्निग्ध और रूक्ष गुणसे परमाणु पिंडपर्यायको प्राप्त होते हैं यह दिखलाते हैं --

णिद्धा वा लुक्खा वा, [१]अणुपरिणामा समा व विसमा वा।
समदो दुराधिगा वा, बज्झंति हि आदिपरिणामा।।७३।।

अपने शक्त्यंशोंसे परिणमन करनेवाले परमाणु यदि स्निग्ध हों अथवा रूक्ष हों, दो चार छह आदि अंशोंकी गिनतीकी अपेक्षा सम हों अथवा तीन पाँच सात आदि अंशोंकी गिनतीकी अपेक्षा विषम हों, अपने अंशोंसे दो अधिक हों और आदि अंश -- जघन्य अंश से रहित हो तो परस्पर बंधको प्राप्त होते हैं, अन्यथा नहीं।।७३।।

पूर्वोक्त बातको पुनः स्पष्ट करते हैं --

णिद्धत्तणेण दुगुणो, चदुगुणणिद्धेण बंधमणुहवदि।
लुक्खेण वा तिगुणिदो, अणु बज्झदि पंचगुणजुत्तो।।७४।।

स्निग्धतासे द्विगुण अर्थात् स्निग्धगुणके दो अंशोंको धारण करनेवाला परमाणु चतुर्गुण स्निग्धता के साथ अर्थात् स्निग्धताके चार अंश धारण करनेवाले परमाणुके साथ बंधका अनुभव करता है। और रूक्षता के त्रिगुण अर्थात् रूक्षगुणके तीन अंशोंको धारण करनेवाला परमाणु पाँचगुण युक्त रूक्ष अर्थात् रूक्षगुणके पाँच अंशोंको धारण करनेवाले परमाणुके साथ बँधता है -- मिलकर स्कंध दशाको प्राप्त होता है।

इस कथनसे यह नहीं समझ लेना चाहिए कि स्निग्धका स्निग्धकेही साथ और रूक्षका रूक्षके ही साथ बंध होता है। यह तो द्विगुणाधिकका बंध होता है इसका उदाहरणमात्र है। वैसे बंध स्निग्ध स्निग्धका, रूक्ष रूक्षका, स्निग्ध रूक्षका और रूक्ष स्निग्धका होता है[२]।।७४।।

---

१. अणुपरिणामशब्देनात्र परिणामपरिणता अणवो गृह्यन्ते। ज. वृ.। २. अगले पृष्ठ पर देखिए ....

आगे आत्मा द्विप्रदेशादि पुद्गल स्कंधोंका कर्ता नहीं याह कहते हैं --

दुपदेसादी खंधा, सुहुमा वा बादरा ससंठाणा।
पुढविजलतेउवाऊ, सगपरिणामेहिं जायंते[२]।।७५।।

दो प्रदेशोंको आदि लेकर संख्यात, असंख्यात तथा अनंत पर्यंत प्रदेशोंको धारण करनेवाले, सूक्ष्म अथवा बादर, विभिन्न आकारोंसे सहित तथा पृथिवी, जल, अग्नि और वायुरूप स्कंध अपने-अपने स्निग्ध और रूक्ष गुणोंके परिणमनसे होते हैं।

तात्पर्य यह है कि पुद्गल स्कंधोंका कर्ता पुद्गल द्रव्य ही है, आत्मा नहीं है।।७५।।

आगे आत्मा पुद्गल स्कंधोंको खींचकर लानेवाला भी नहीं है यह बतलाते हैं --

ओगाढगाढणिचिदो, [३]पोग्गलकाएहिं सव्वदो लोगो।
सुहुमेहिं बादरेहिं य, [४]अप्पाउग्गेहिं जोग्गेहिं।।७६।।

यह लोक सब जगह सूक्ष्म, स्थूल, अप्रायोग्य -- कर्मवर्गणारूप होनेकी योग्यतासे रहित तथा योग्य -- कर्मवर्गणारूप होनेकी योग्यतासे सहित पुद्गल कायोंसे ठसाठस भरा हुआ है।

कर्मरूप होनेयोग्य पुद्गलवर्गणाएँ लोकके प्रत्येक प्रदेशमें विद्यमान हैं, अतः जब जीव रागद्वेषादि भावोंसे युक्त होता है तब अपने ही क्षेत्रमें विद्यमान कर्मरूप होनेयोग्य पुद्गल वर्गणाओंके साथ संबंधको प्राप्त हो जाता है। इससे यह सिद्ध होता हुआ कि[५] जीव जहाँ रहता है वहीं उसके बंधयोग्य पुद्गल भी रहते हैं, वह अन्य बाह्य स्थानसे उन्हें खींचकर नहीं लाता है।।७६।।

आगे आत्मा पुद्गलपिंडको कर्मरूप नहीं परिणमाता है यह कहते हैं --

कम्मत्तणपाओग्गा, खंधा जीवस्स परिणइं पप्पा।
गच्छंति कम्मभावं, ण दु ते जीवेण परिणमिदा।।७७।।

कर्मरूप होनेके योग्य पुद्गलस्कंध, जीवकी राग-द्वेषादिरूप परिणतिको प्राप्त कर स्वयं ही कर्मरूप

पिछले पृष्ठ से आगे १. उक्तं च --

'णिद्धा णिद्धेण बज्झंति लुक्खा लुक्खा य पोग्गला।
णिद्ध लुक्खा य बज्झंति रूवारूवीय पोग्गला।।'
'णिद्धस्स णिद्धेण दुराहिएण, लुक्खस्स लुक्खेण दुराहिएण।
णिद्धस्स लुक्खेण हवेदि बंधो जहण्णवज्जे विसमे समे वा।।'

२. 'स्निग्धरूक्षत्वाभ्यां बन्धः।' 'न जघन्यगुणानाम्।' 'गुणसाम्ये सदृशानाम्।' 'द्व्यदिकादिगुणानां तु।' अध्याय ५, तत्त्वार्थसूत्र। ज. वृ. ३. पुग्गलकायेहिं ज. वृ.। ४. अप्पाओग्गेहिं ज. वृ. । ५. ततो ज्ञायते यत्रैव शरीरावगाढक्षेत्रे जीवस्तिष्ठति बन्धयोग्यपुद्गला अपि तत्रैव तिष्ठन्ति न च बहिर्भागाज्जीव आनयति। ज. वृ.।

परिणमनको प्राप्त हो जाते हैं। वे जीवके द्वारा नहीं परिणमाये जाते हैं।

कर्म पुद्गलमय है इसलिए उनका उपादान पुद्गलस्कंध ही है जीव केवल निमित्त है[१]।।७७।।

आगे शरीराकार परिणत पुद्गलपिंडोंका कर्ता जीव नहीं है यह कहते हैं --

ते ते कम्मत्तगदा, [२]पोग्गलकाया पुणो[३]हि जीवस्स।
संजायंते देहा, देहंतरसंकमं पप्पा।।७८।।

वे वे द्रव्यकर्मरूप परिणत हुए पुद्गल स्कंध अन्य पर्यायका संबंध पाकर फिर भी जीवके शरीररूप उत्पन्न हो जाते हैं।

जीवके परिणामोंका निमित्त पाकर जो पुद्गलकाय कर्मरूप परिणत होते हैं वे अन्य जन्ममें शरीराकार हो जाते हैं। यह सब क्रिया पुद्गल स्कंधोंमें अपने आपही होती है अतः जीव शरीराकार परिणत पुद्गलपिंडोंका भी कर्ता नहीं है।।७८।।

अब आत्माके शरीरका अभाव बतलाते हैं --

ओरालिओ य देहो, देहो वेउव्विओ य तेजयिओ।
आहारय कम्मइओ, [४]पोग्गलदव्वप्पगा सव्वे।।७९।।

औदारिक शरीर, वैक्रियिक शरीर, तैजस शरीर, आहारक शरीर और कार्मण शरीर ये सब शरीर पुद्गल द्रव्यात्मक हैं।

यतः शरीर पुद्गल द्रव्यात्मक है अतः आत्माके नहीं हैं।।७९।।

आगे यदि ऐसा है तो शरीरादि समस्त परद्रव्योंसे जुदा करनेवाला जीवका असाधारण -- उसी एकमें पाया जानेवाला लक्षण क्या है? ऐसा प्रश्न होनेपर उत्तर देते हैं --

अरसमरूवमगंधं, अव्वत्तं चेदणागुणमसद्दं।
जाण अलिंगग्गहणं, जीवमणिद्दिट्ठसंठाणं।।८०।।

जो रसरहित हो, रूपरहित हो, गंधरहित हो, अव्यक्त हो -- स्पर्शरहित हो, शब्दरहित हो, इंद्रियोंके द्वारा जिसका ग्रहण नहीं हो सकता हो, सब प्रकारके आकारोंसे रहित हो और चेतनागुणसे सहित हो उसे जीव जानो।

पाँच प्रकारके रस, पाँच प्रकारके रूप, दो प्रकारके गंध, आठ प्रकारके स्पर्श, अनेक प्रकारके

---

१. 'जीवकृतं परिणामं निमित्तमात्रं प्रपद्य पुनरन्ये।
स्वयमेव परिणमन्तेऽत्र पुद्गलाः कर्मभावेन।।' -- पु. सि.

२. पुग्गलकाया .ज. वृ. । ३. पुणो वि ज. वृ. । ४. पुग्गल ज. वृ. ।

शब्द तथा द्विकोण, त्रिकोण आदि विविध प्रकारके संस्थान पुद्गलमें ही पाये जाते हैं और मूर्त होनेसे उसीका इंद्रियोंके द्वारा ग्रहण -- ज्ञान होता है, परंतु जीव उससे भिन्न है, उसका एक चेतना ही असाधारण गुण है जो समस्त जीवोंमें पाया जाता है और जीवको छोड़कर किसी अन्य द्रव्यमें नहीं पाया जाता। वह जीव अमूर्तिक है अतः इंद्रियोंके द्वारा उसका साक्षात्कार नहीं हो सकता है।।८०।।

आगे अमूर्त आत्मामें जब स्निग्ध और रूक्ष गुणका अभाव है तब उसका पौद्गलिक कर्मोंके साथ बंध कैसे होता है? यह पूर्वपक्ष रखते हैं --

मुत्तो रूवादिगुणो, बज्झदि फासेहिं अण्णमण्णेहिं।
तव्विवरीदो अप्पा, बंधदि किध पोग्गलं कम्मं।।८१।।

रूपादि गुणोंसे संपन्न -- मूर्त पुद्गल द्रव्य, स्निग्धत्व-रूक्षत्व स्पर्शसे परस्परमें बंधको प्राप्त होता है यह ठीक है, परंतु उससे विपरीत आत्मा पौद्गलिक कर्मको किस प्रकार बाँधता है?।।८१।।

आगे अमूर्तिक आत्माके भी बंध होता है ऐसा सिद्धांत पक्ष रखते हैं --

रूवादिएहिं रहिदो, पेच्छदि जाणादि रूवमादीणि।
दव्वाणि गुणे य जधा, तध बंधो तेण जाणीहि।।८२।।

रूपादि गुणोंसे रहित आत्मा जिस प्रकार रूप आदि से सहित घटपटादि पुद्गल द्रव्यों और उनके गुणोंको देखता तथा जानता है उसी प्रकार रूपादि गुणोंसे युक्त कर्मरूप पुद्गल द्रव्यके साथ इसका बंध होता है ऐसा जानो।

जिस प्रकार रूपादिसे रहित आत्मा रूपादि पदार्थोंको जान सकता है, देख सकता है उसी प्रकार रूपादिसे रहित आत्मा रूपादि गुणोंसे युक्त कर्मरूप पुद्गलोंको ग्रहण कर सकता है। ऐसा वस्तुका स्वभाव है। अतः इसमें कोई बाधा नहीं दिखती। अथवा इसका भाव इस प्रकार समझना चाहिए -- जैसे कोई बालक मिट्टीके बैलको अपना समझकर देखता है, जानता है, परंतु वह मिट्टीका बैल उस बालकसे सर्वथा जुदा है। जुदा होनेपर भी यदि कोई उस मिट्टीके बैलको तोड़ देता है तो वह बालक दुःखी होता है। इसी प्रकार कोई गोपाल सचमुचके बैलको देखता है, जानता है, परंतु वह बैल उस गोपालसे सर्वथा जुदा है। जुदा होनेपर भी यदि कोई उस बैलको चुरा लेता है या नष्ट कर देता है तो वह गोपाल दुःखी होता है। जबकि उक्त दोनोंही प्रकारके बैल बालक तथा गोपालसे जुदे हैं तब वे उनके अभावमें दुःखी क्यों होते हैं? इससे यह बात विचारमें आती है कि वे बालक और गोपाल उन बैलोंको अपना देखते जानते हैं। इस कारण अपने परिणामोंसे बँध रहे हैं। उनका ज्ञान बैलके निमित्तसे तदाकार परिणत हो रहा है इसलिए परस्वरूप बैलोंसे संबंधका व्यवहार आ जाता है। इसी प्रकार इस आत्माका कर्मरूप पुद्गलके साथ कुछ संबंध नहीं है, परंतु अनादि कालसे एक क्षेत्रावगाह कर ठहरे हुए पुद्गलोंके निमित्तसे जीवमें राग-द्वेषादि

भाव पैदा होते हैं। इन्हींके कारण कर्मोंका बंध करनेवाला कहलाता है। 'गाय बाँध दी गयी है' यहाँ तत्त्वदृष्टिसे विचार करते हैं तब बंधन रस्सीका रस्सीके साथ है, न कि रस्सीका गायके साथ। फिर भी 'गाय बाँध दी गयी ' ऐसा व्यवहार होता है। उसका भी कारण यह है कि जब तक रस्सीका रस्सीके साथ संबंध रहेगा तब तक गाय उस स्थानसे अन्यत्र नहीं जा सकेगी। इसी प्रकार नवीन कर्मोंका संबंध आत्माका एक क्षेत्रावगाहमें स्थित पुरातन कर्मोंके साथ होता है, न कि आत्माके साथ, फिर भी आत्मा बद्ध कहलाता है। उसका भी कारण यह है कि जब तक पुरातन कर्मोंके साथ नवीन कर्मोंका संबंध जारी रहता है तब तक आत्मा स्वतंत्र नहीं रह सकता। इन दोनोंमें ऐसा ही निमित्त-नैमित्तिक संबंध है।।८२।।

आगे भाव बंधका स्वरूप कहते हैं --

उवओगमओ जीवो, मुज्झदि रज्जेदि वा पदुस्सेदि।
पप्पा विविधे विसए, जो हि पुणो तेहिं संबंधो।।८३।।

जो उपयोग स्वभाववाला जीव विविध प्रकारके -- इष्ट अनिष्ट विषयोंको पाकर मोहित होता है -- उन्हें अपना मानने लगता है, राग करता है अथवा द्वेष करता है वह उन्हीं भावोंसे बंधको प्राप्त होता है।

मोह -- परपदार्थको अपना मानना, राग -- इष्ट वस्तुओंके मिलनेपर प्रसन्न होना और द्वेष -- प्रतिकूल सामग्री मिलनेपर विषादयुक्त होना ये तीनों भाव ही भावबंध हैं।।८३।।

अब भावबंधके अनुसार द्रव्यबंधका स्वरूप बतलाते हैं --

भावेण जेण जीवो, पेच्छदि जाणादि आगदं विसए।
रज्जदि तेणेव पुणो, बज्झदि कम्मत्ति उवएसो।।८४।।

जीव इंद्रियोंके विषयमें आये हुए इष्ट अनिष्ट पदार्थोंको जिस भावसे जानता है, देखता है और राग करता है उसी भावसे पौद्गलिक द्रव्यकर्मका बंध होता है ऐसा उपदेश है।

मोहकर्मके दो भेद हैं -- १. दर्शन मोहनीय और २. चारित्र मोहनीय। दर्शनमोहके उदयसे यह जीव आत्मस्वरूपको भूलकर परपदार्थमें आत्मबुद्धि करने लगता है इसे मोह अथवा मिथ्या दर्शन कहते हैं। चारित्र मोहनीयके उदयसे यह जीव इष्ट पदार्थोंको पाकर प्रसन्नताका अनुभव करने लगता है और अनिष्ट पदार्थोंको पाकर दुःखी होता है। जीवकी इस परिणतिको राग, द्वेष अथवा कषाय कहते हैं। द्विविध मोहके उदयसे आत्मामें जो विकार होता है वह भावबंध कहलाता है। इस भावबंधके होनेपर आत्माके साथ एक क्षेत्रावगाह रूपसे स्थित कार्मण वर्गणामें कर्मरूप परिणमन हो जाता है, इसे द्रव्यबंध कहते हैं। इस कथनसे यह सिद्ध हुआ कि द्रव्यबंध भावबंधपूर्वक होता है।।८४।।

आगे पुद्गलबंध, जीवबंध और उभयबंधका स्वरूप बतलाते हैं --

फासेहिं पोग्गलाण[१], बंधो जीवस्स रागमादीहिं।
अण्णोण्णं अवगाहो, [२]पोग्गलजीवप्पगो अप्पा।।८५।।

यथायोग्य स्निग्ध ओर रूक्ष स्पर्श गुणोंके द्वारा पूर्व और नवीन कर्मरूप पुद्गल परमाणुओंका जो बंध है वह पुद्गलबंध है, रागादि भावोंसे जीवमें जो विकार उत्पन्न होता है वह जीवबंध है और पुद्गल तथा जीवका जो परस्परमें अवगाह -- प्रदेशानुप्रवेश होता है वह पुद्गलजीवबंध -- उभयबंध कहा गया है।।८५।।

आगे द्रव्यबंध भावबंधहेतुक है यह सिद्ध करते हैं --

सपदेसो सो अप्पा, तेसु पदेसेसु पोग्गला[३] काया।
पविसंति जहाजोग्गं, तिट्ठंति[४] य जंति बज्झंति।।८६।।

वह आत्मा लोकाकाशके तुल्य असंख्यातप्रदेशी होनेसे सप्रदेश है, उन असंख्यात प्रदेशोंमें कर्मवर्गणाके योग्य पुद्गलपिंड काय वचन और मनोयोगके अनुसार प्रवेश करते हैं, बंधको प्राप्त होते हैं, स्थितिको प्राप्त होते हैं और फिर चले जाते हैं -- निर्जीर्ण हो जाते हैं।

आगममें द्रव्यकर्मबंधकी चार अवस्थाएँ बतलायी हैं -- १. प्रदेशबंध, २. प्रकृतिबंध, ३. स्थितिबंध और ४. अनुभागबंध। तीव्र, मंद अथवा मध्यम योगोंका आलंबन पाकर आत्माके असंख्यात प्रदेशोंमें जो कर्मपिंडका प्रवेश होता है उसे प्रदेशबंध कहते हैं, प्रविष्ट कर्मपिंड आत्मप्रदेशोंके साथ संबंधको प्राप्त होते हैं उसे प्रकृतिबंध कहते हैं, कषायभावके अनुसार कर्मपिंड उन आत्मप्रदेशोंमें यथायोग्य समयतक स्थित रहते हैं उसे स्थितिबंध कहते हैं और आबाधाकाल पूर्ण होनेपर कर्मपिंड अपना फल देते हुए खिरने लगते हैं उसे अनुभागबंध कहते हैं। यह चारों प्रकारका द्रव्यबंध भावबंधपूर्वक होता है।।८६।।

आगे द्रव्यबंधका हेतु होनेसे रागादि परिणामरूप भावबंध ही निश्चयसे बंध है यह सिद्ध करते हैं --

रत्तो बंधदि कम्मं, मुच्चदि कम्मेहिं रागरहिदप्पा।
एसो बंधसमासो, जीवाणं जाण णिच्छयदो।।८७।।

रागी जीव कर्मोंको बाँधता है और रागरहित आत्मा कर्मोंसे मुक्त होता है। संसारी जीवोंका यह बंधतत्त्वका संक्षेप कथन निश्चय से जानो।

निश्चयसे बंध और मोक्षका संक्षिप्त कारण रागका सद्भाव तथा रागका अभाव ही है, इसलिए रागभावको दूर करनेका प्रयत्न करना चाहिए।।८७।।

आगे परिणाम ही द्रव्यबंधके साधक हैं यह बतलाते हुए परिणामोंकी विशेषताका वर्णन करते हैं --

---

१. पुग्गलाणं ज. वृ. । २. पुग्गल ज. वृ.। ३. पुग्गला ज. वृ. । ४. चिट्ठंति ज. वृ.।

परिणामादो बंधो, परिणामो रागदोसमोहजुदो।
असुहो मोहपदेसो, सुहो व असुहो हवदि रागो।।८८।।

जीवके परिणामसे द्रव्यबंध होता है, वह परिणाम राग द्वेष तथा मोहसे सहित होता है, उनमें मोह और द्वेष अशुभ हैं तथा राग शुभ और अशुभ दोनों प्रकारका है।।८८।।

आगे द्रव्यरूप पुण्यपाप बंधका कारण होनेसे शुभाशुभ परिणामोंकी क्रमशः पुण्य-पाप संज्ञा है और शुभाशुभ भावसे रहित शुद्धोपयोगरूप परिणाम मोक्षका कारण है यह कहते हैं --

सुहपरिणामो पुण्णं, असुहो पावत्ति भणियमण्णेसु।
परिणामो णण्णगदो, दुक्खक्खयकारणं समये।।८९।।

निज शुद्धात्म द्रव्यसे अन्य -- बहिर्भूत शुभाशुभ पदार्थोंमें जो शुभ परिणाम है उसे पुण्य और जो अशुभ परिणाम है उसे पाप कहा है। तथा अन्य पदार्थोंसे हटकर निजशुद्धात्म द्रव्यमें जो परिणाम है वह आगममें दुःखक्षयका कारण बतलाया गया है। ऐसा परिणाम शुद्ध कहलाता है।।८९।।

आगे जीवकी स्वद्रव्यमें प्रवृत्ति और परद्रव्यसे निवृत्ति करनेके लिए स्वपरका भेद दिखलाते हैं --

भणिदा पुढविप्पमुहा, जीवनिकायाध थावरा य तसा।
अण्णा ते जीवादो, जीवोवि य तेहिंदो अण्णो।।९०।।

पृथिवीको आदि लेकर स्थावर और त्रसरूप जो जीवोंके छह निकाय कहे गये हैं वे सब जीवसे भिन्न हैं और जीव भी उनसे भिन्न हैं।

यह त्रस और स्थावरका विकल्प शरीरजन्य है। वास्तवमें जीव न त्रस है न स्थावर है। वह तो शुद्ध चैतन्य घनानंदरूप आत्मद्रव्य मात्र है।।९०।।

आगे स्व-परका भेदज्ञान होनेसे जीवकी स्वद्रव्यमें प्रवृत्ति होती है और स्वपरका भेदज्ञान न होनेसे परद्रव्यमें प्रवृत्ति होती है यह दिखलाते हैं --

जो ण विजाणदि एवं, परमप्पाणं सहावमासेज्ज।
कीरदि अज्झवसाणं, अहं ममेदत्ति मोहादो।।९१।।

जो जीव इस प्रकार स्वभावको प्राप्त कर पर तथा आत्माको नहीं जानता वह मोहसे 'मैं शरीरादिरूप हूँ, ये शरीरादि मेरे हैं' ऐसा मिथ्या परिणाम करता है।

जबतक इस जीवको भेदविज्ञान नहीं होता तब तक यह दर्शनमोहके उदयसे 'मैं शरीरादिरूप हूँ' ऐसा, और चारित्रमोहके उदयसे 'ये शरीरादि मेरे हैं -- मैं इनका स्वामी हूँ' ऐसा विपरीताभिनिवेश करता रहता है। यह विपरीताभिनिवेश ही संसारभ्रमणका कारण है, इसलिए इसे दूर करनेके लिए भेदविज्ञान

प्राप्त करना चाहिए।।९१।।

आगे आत्माका कर्म क्या है? इसका निरूपण करते हैं --

कुव्वं सभावमादा, हवदि हि कत्ता सगस्स भावस्स।
पोग्गलदव्वमयाणं, ण दु कत्ता सव्वभावाणं।।९२।।

अपने स्वभावको करता हुआ आत्मा निश्चयसे स्वभावका ही -- स्वकीय चैतन्य परिणामका ही कर्ता है, पुद्गल द्रव्यरूप कर्म तथा शरीरादि समस्त भावोंका कर्ता नहीं है।

निश्चयसे कर्तृ-कर्मका व्यवहार वहीं बनता है जहाँ व्याप्य व्यापक होता है। जीव व्यापक है और उसके चैतन्य परिणाम व्याप्य हैं, अतः जीव स्वकीय चैतन्य परिणामका ही कर्ता हो सकता है। ज्ञानावरणादि द्रव्य कर्म और औदारिक शरीरादि नोकर्म पुद्गल द्रव्य हैं। इनका जीवके साथ व्याप्य-व्यापक भाव किसी तरह सिद्ध नहीं है अतः वह इनका कर्ता त्रिकालमें भी नहीं हो सकता।।९२।।

आगे पुद्गल परिणाम आत्माका कर्म क्यों नहीं? यह शंका दूर करते हैं --

गेण्हदि णेव ण मुंचदि, करेदि ण हि पोग्गलाणि कम्माणि।
जीवो पोग्गलमज्झे, वट्टण्णवि सव्वकालेसु।।९३।।

जीव सदाकाल पुद्गलके बीचमें रहता हुआ भी पौद्गलिक कर्मोंको न ग्रहण करता है, न छोड़ता है और न करता ही है।

जिस प्रकार अग्नि लोहपिंडके बीचमें रहकर भी उसे न ग्रहण करती है, न छोड़ती है और न करती है उसी प्रकार यह जीव भी पुद्गलके बीच रहकर भी न उसे ग्रहण करता है न छोड़ता है और न करता ही है। संसारके सर्व पदार्थ स्वतंत्र हैं और अपने उपादानसे होनेवाले उनके परिणमन भी स्वतंत्र हैं, फिर जीव पुद्गल द्रव्यका कर्ता कैसे हो सकता है?।।९३।।

आगे यदि ऐसा है तो आत्मा पुद्गल कर्मोंके द्वारा क्यों ग्रहण किया जाता और क्यों छोड़ा जाता? यह बतलाते हैं --

स इदाणिं कत्ता सं, सगपरिणामस्स दव्वजादस्स।
आदीयदे कदाई, विमुच्चदे कम्मधूलीहिं।।९४।।

वह आत्मा इस समय -- संसारी दशामें आत्मद्रव्यसे उत्पन्न हुए अपने ही अशुद्ध परिणामोंका कर्ता होता हुआ कर्मरूप धूलिके द्वारा ग्रहण किया जाता है और किसी कालमें छोड़ दिया जाता है।

जब आत्मा अपने आपमें उत्पन्न हुए रागादि अशुद्ध भावोंको करता है तब कर्मरूप धूली उसे आवृत कर देती है और जब आबाधा पूर्ण हो जाती है तब वही कर्मरूपी धूली उस आत्मासे जुदी हो जाती है -- उसे छोड़ देती है। इन दोनोंका ऐसा ही निमित्त-नैमित्तिक संबंध है। यथार्थमें आत्मा न कर्मोंको ग्रहण

करती है और न कर्म आत्माको ग्रहण करते हैं। यदि ग्रहण करने लगें तो दोनोंका एक अस्तित्व हो जावे, परंतु ऐसा त्रिकालमें भी नहीं हो सकता, क्योंकि सत्का कभी नाश नहीं होता और असत्की उत्पत्ति नहीं होती।।९४।।

आगे पुद्गल कर्मोंमें ज्ञानावरणादि रूप विचित्रता किसकी की हुई है यह निरूपण करते हैं --

परिणमदि जदा अप्पा, सुहम्मि रागदोसजुदो।
तं पविसदि कम्मरयं, णाणावरणादि भावेहिं।।९५।।

जिस समय यह आत्मा रागद्वेषसे सहित होता हुआ शुभ अथवा अशुभ भावोंमें परिणमन करता है उसी समय कर्मरूपी धूली ज्ञानावरणादि आठ कर्म होकर आत्मामें प्रवेश करती है।

जिस प्रकार वर्षा ऋतुमें जब नूतन मेघका जल भूमिके साथ संयोग करता है तब वहाँके अन्य पुद्गल अपने आप विविध रूप होकर हरी घास, शिलींध्र तथा इंद्रगोप कीटक आदिरूप परिणमन करने लगते हैं, इसी प्रकार जब रागी द्वेषी आत्मा शुभ-अशुभ भावोंमें परिणमन करता है तब उसका निमित्त पाकर कर्मरूपी धूलीमें ज्ञानावरणादिरूप विचित्रता स्वयं उत्पन्न हो जाती है। तात्पर्य यह हुआ कि पुद्गलात्मक कर्मोंमें जो विचित्रता देखी जाती है उसका कर्ता पुद्गल ही है, जीव नहीं [१]।।९५।।

आगे अभेदनयसे बंधके कारणभूत रागादिरूप परिणमन करनेवाला आत्मा ही बंध कहलाता है यह कहते हैं --

सपदेसो सो अप्पा, कसायदो मोहरागदोसेहिं।
कम्मरजेहिं सिलिट्ठो, बंधोत्ति परूविदो समये।।९६।।

जो लोकाकाशके बराबर असंख्यात प्रदेशोंसे सहित है तथा मोह राग एवं द्वेषसे कषायित -- कषैला होता हुआ कर्मरूपी धूलीसे श्लिष्ट हो रहा है -- संबद्ध हो रहा है वह आत्मा ही बंध है ऐसा आगममें कहा गया है।

जिसप्रकार अनेक प्रदेशोंवाला वस्त्र, लोध्र, फिटकरी आदि पदार्थोंके द्वारा कषैला होकर जब लाल पीले आदि रंगोंमें रँगा जाता है तब वह लाल, पीला आदि हो जाता है। उस समय 'यह वस्त्र लाल या पीले रंगसे रँगा हुआ है' ऐसा न कहकर 'लाल वस्त्र', 'पीला वस्त्र' यही व्यवहार होने लगता है। उसी प्रकार जब यह आत्मा भावकर्मसे कषायित होकर कर्मरजसे आश्लिष्ट होता है -- भावबंधपूर्वक द्रव्यबंधको

---

१. ९५ वीं गाथाके बाद ज. वृ. में निम्न गाथा अधिक व्याख्यात है --
'सुपयडीणं विसोही तिव्वो असुहाण संकिलेसम्मि।
विपरीदो दु जहण्णो अणुभागो सव्वपयडीणं।।'

प्राप्त होता है तब 'यह आत्माका बंध है' ऐसा न कहकर अभेदनयसे 'यह बंध है' ऐसा कहा जाने लगता है। इस दृष्टिसे आत्मा ही बंध है ऐसा कथन सिद्ध हो जाता है।।९६।।

आगे निश्चयबंध और व्यवहारबंध का स्वरूप दिखलाते हैं --

एसो बंधसमासो, जीवाणं णिच्चएण णिद्दिट्ठो।
अरहंतेहिं जदीणं, ववहारो अण्णहा भणिदो।।९७।।

जीवोंके जो रागादि भाव हैं वे ही निश्चयसे बंध हैं इस प्रकार बंध तत्त्वकी संक्षिप्त व्याख्या अर्हंत भगवान्ने मुनियोंके लिए बतलायी है। व्यवहारबंध इससे विपरीत कहा है अर्थात् आत्माके साथ कर्मोंका जो एक क्षेत्रावगाह होता है वह व्यवहारबंध है।।९७।।

आगे अशुद्धनयसे अशुद्ध आत्माकी ही प्राप्ति होती है ऐसा उपदेश करते हैं --

ण जहदि जो दु ममत्तिं, अहं ममेदत्ति देहदविणेसु।
सो सामण्णं चत्ता, पडिवण्णो होइ उम्मग्गं।।९८।।

जो पुरुष शरीर तथा धनादिकमें 'मैं इन रूप हूँ' और 'ये मेरे हैं' इस प्रकारकी ममत्वबुद्धिको नहीं छोड़ता है वह शुद्धात्मपरिणति रूप मुनिमार्गको छोड़कर अशुद्ध परिणतिरूप उन्मार्गको प्राप्त होता है।

शरीर तथा धनादिकको अपना बतलाना अशुद्ध नयका काम है, इसलिए जो अशुद्ध नयसे शरीरादिमें अहंता और ममताको नहीं छोड़ता वह मुनि पदसे भ्रष्ट होकर मिथ्यामार्गको प्राप्त होता है अतः अशुद्ध नयका आलंबन छोड़कर सदा शुद्ध नयका ही आलंबन ग्रहण करना चाहिए।।९८।।

आगे शुद्धनयसे शुद्धात्माका लाभ होता है ऐसा निश्चय करते हैं --

णाहं होमि परेसिं, ण मे परे संति णाणमहमेक्को।
इदि जो झायदि झाणे, सो अप्पाणं हवदि झादा।।९९।।

'मैं शरीरादि परद्रव्योंका नहीं हूँ और ये शरीरादि परपदार्थ भी मेरे नहीं हैं। मैं तो एक ज्ञानरूप हूँ' इस प्रकार जो ध्यानमें अपने शुद्ध आत्माका चिंतन करता है वही ध्याता है -- वास्तविक ध्यान करनेवाला है।

शुद्धनय शुद्धात्माको शरीर धनादि बाह्य पदार्थोंसे भिन्न बतलाता है। इसलिए उसका आलंबन लेकर जो अपने आपको बाह्य पदार्थोंसे असंपृक्त --शुद्ध -- टंकोत्कीर्ण ज्ञान स्वभाव अनुभव करता है वह शुद्धात्माको प्राप्त होता है और वही सच्चा ध्याता कहलाता है।।९९।।

आगे नित्य होनेसे शुद्ध आत्मा ही ग्रहण करनेयोग्य है ऐसा उपदेश देते हैं --

एवं णाणप्पाणं, दंसणभूदं अदिंदियमहत्थं।
धुवमचलमणालंबं, मण्णेऽहं अप्पगं सुद्धं।।१००।।

मैं आत्माको ऐसा मानता हूँ कि वह ज्ञानात्मक है, दर्शनरूप है, अतींद्रिय है, सबसे महान् है, नित्य है, अचल है, परपदार्थोंके आलंबनसे रहित है और शुद्ध है।।१००।।

आगे विनाशी होनेके कारण आत्माके सिवाय अन्य पदार्थ प्राप्त करनेयोग्य नहीं हैं ऐसा उपदेश देते हैं --

देहा वा दविणा वा, सुहदुक्खा वाध सत्तुमित्तजणा।
जीवस्स ण संति धुवा, धुवोवओगप्पगा अप्पा।।१०१।।

शरीर अथवा धन, अथवा सुख-दुःख, अथवा शत्रु-मित्र जन, ये सभी जीवके अविनाशी नहीं हैं। केवल ज्ञान दर्शनस्वरूप शुद्ध आत्मा ही अविनाशी है।

शरीर, धन तथा शत्रु-मित्रजन तो स्पष्ट जुदे ही हैं और इन्हें नष्ट होते प्रत्यक्ष देखते भी हैं, परंतु इच्छाकी पूर्तिसे होनेवाला सुख और इच्छाके सद्भावमें उत्पन्न होनेवाला दुःख भी आत्मासे जुदा है अर्थात् आत्माका स्व स्वभाव नहीं है। तथा संयोगजन्य है अतः क्षणभंगुर है। जो सुख इच्छाके अभावमें उत्पन्न होता है उसमें किसी बाह्य पदार्थके आलंबनकी अपेक्षा नहीं रहती अतः वह नित्य है तथा स्वस्वभावरूप है। परंतु ऐसा सुख वीतराग -- सर्वज्ञदशाके प्रकट हुए बिना प्राप्त नहीं हो सकता।।१०१।।

आगे शुद्धात्माकी उपलब्धिसे क्या होता है ? यह कहते हैं --

जो एवं जाणित्ता, झादि परं अप्पगं विसुद्धप्पा।
सागाराणागारो, खवेदि सो मोहदुग्गंठिं।।१०२।।

जो गृहस्थ अथवा मुनि ऐसा जानकर परमात्मा -- उत्कृष्ट आत्मस्वरूपका ध्यान करता है वह विशुद्धात्मा होता हुआ मोहकी दुष्ट गाँठको क्षीण करता है -- खोलता है।

शुद्धात्माकी उपलब्धिका फल अनादिकालीन मोहकी दुष्ट गाँठको खोलना है ऐसा जानकर उसकी प्राप्तिके लिए सतत प्रयत्नशील रहना चाहिए।।१०२।।

आगे मोहकी गाँठ खुलनेसे क्या होता है? यह कहते हैं --

जो णिहदमोहगंठी, रागपदोसे खवीय सामण्णे।
होज्जं समसहदुक्खो, सो सोक्खं अक्खयं लहदि।।१०३।।

जो पुरुष मोहकी गाँठको खोलता हुआ मुनि अवस्थामें राग द्वेषको नष्टकर सुख-दुःखमें समान दृष्टिवाला होता है वह अविनाशी मोक्षसुखको पाता है।

मोक्षका अविनाशी सुख उसी जीवको प्राप्त हो सकता है जो सर्वप्रथम दर्शनमोहकी गाँठको

खोलकर सम्यग्दृष्टि बनता है, फिर मुनि अवस्थामें राग और द्वेषको क्षीण करता हुआ सुख-दुःखमें मध्यस्थ रहता है-- अनुकूल प्रतिकूल सामग्रीके मिलनेपर हर्ष-विषादका अनुभव नहीं करता है।।१०३।।

आगे एकाग्ररूपसे चिंतन करना ही जिसका लक्षण है ऐसा ध्यान आत्माकी अशुद्ध दशा को नहीं रहने देता ऐसा निश्चय करते हैं --

जो खविदमोहकलुसो, विसयविरत्तो मणो णिरुंभित्ता।
समवट्ठिदो सहावे, सो अप्पाणं हवदि धादा[1]।।१०४।।

जिसने मोहजन्य कलुषताको दूर कर दिया है, जो पंचेंद्रियोंके विषयोंसे विरक्त है और मनको रोककर जो स्वस्वभावमें सम्यक् प्रकारसे स्थित है वही पुरुष आत्माका ध्यान करनेवाला है।

जब तक इस पुरुषका हृदय मिथ्यादर्शनके द्वारा कलंकित हो रहा है, विषयकषायमें इसकी आसक्ति बढ़ रही है, पवनवेगसे ताड़ित ध्वजाके समान जबतक इसका चित्त चंचल रहता है और विविध इच्छाओंके कारण जब तक इसका ज्ञानोपयोग आत्मस्वभावमें स्थिर न रहकर इधर उधर भटकता रहता है तबतक यह पुरुष शुद्ध आत्मस्वरूपका ध्यान नहीं कर सकता यह निश्चित है।।१०४।।

आगे जिन्हें शुद्धात्मतत्त्वकी प्राप्ति हो गयी है ऐसे सर्वज्ञ भगवान् किसका ध्यान करते हैं ऐसा प्रश्न प्रकट करते हैं --

णिहदघणघादिकम्मो, पच्चक्खं सव्वभावतच्चण्हू।
णेयंतगदो समणो, झादि किमट्ठं[2] असंदेहो।।१०५।।

जिन्होंने अत्यंत दृढ घातिया कर्मोंको नष्ट कर दिया है, जो प्रत्यक्षरूपसे समस्त पदार्थोंको जाननेवाले हैं, जो जाननेयोग्य पदार्थोंके अंतको प्राप्त हैं तथा संदेहरहित हैं ऐसे महामुनि केवली भगवान् किसलिए अथवा किस पदार्थका ध्यान करते है?।।१०५।।

आगे केवली भगवान् इसका ध्यान करते हैं यह बतलाते हुए पूर्वोक्त प्रश्नका समाधान प्रकट करते हैं --

सव्वाबाधविजुत्तो, समंतसव्वक्खसोक्खणाणड्ढो।
भूदो अक्खातीदो, झादि अणक्खो परं सोक्खं।।१०६।।

जो सब प्रकारकी पीड़ाओंसे रहित हैं, सर्वांगपरिपूर्ण आत्मजन्य अनंत सुख तथा अनंत ज्ञानसे युक्त हैं और स्वयं इंद्रियरहित होकर इंद्रियातीत हैं -- इंद्रियज्ञानके अविषय हैं ऐसे केवली भगवान् अनुकूलतारूप उत्कृष्ट सुखका ध्यान करते हैं।

सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती और व्युपरतक्रियानिवर्ती नामक दो शुक्लध्यान केवली भगवान्के तेरहवें

---

१. झादा ज. वृ. । २. कमट्ठं ज. वृ.

और चौदहवें गुणस्थानमें होते हैं ऐसा आगममें लिखा है। ध्यानका लक्षण एकाग्रचिंतानिरोध होता है -- किसी पदार्थमें मनोव्यापारको स्थिर करना ध्यान कहलाता है। जबकि केवली भगवान् त्रिलोक और त्रिकालसंबंधी समस्त पदार्थोंको एक साथ जान रहे हैं तब उनके किसी एक पदार्थमें एकाग्रचिंतानिरोधरूप ध्यान किस प्रकार संभव हो सकता है? यह प्रश्न स्वाभाविक है। इसका उत्तर श्री कुंदकुंद भगवान्ने इस प्रकार दिया है कि सर्वज्ञदेव जो परम सुखका अनुभव करते हैं वही उनका ध्यान है। यहाँ ऐसा नहीं समझना चाहिए कि उन्हें परमसुख प्राप्त नहीं है इसलिए उनका ध्यान करते हैं। परमसुख तो उन्हें घातिचतुष्कका क्षय होते ही प्राप्त हो जाता है इसलिए उसकी प्राप्तिके लिए ध्यान करते हैं यह बात नहीं है। किंतु स्थिरीभूत ज्ञानसे उसका अनुभव करते हैं ऐसा भाव ग्रहण करना चाहिए। वास्तवमें स्थिरीभूत ज्ञानको ध्यान कहते हैं। ज्ञानमें अस्थिरताके कारण कषाय और योग होते हैं। इसमेंसे कषाय तो दशम गुणस्थानतक ही रहती है, उसके आगे योगजन्य अस्थिरता रहती है जो तेरहवें गुणस्थानके अंतमें नष्ट होने लगती है और चौदहवें गुणस्थानमें बिलकुल नष्ट हो जाती है। अतः अस्थिरताके नष्ट जानेसे उनका ज्ञान स्थिरीभूत हो जाता है। यही उनका ध्यान है।।१०६।।

आगे यह शुद्धात्माकी प्राप्ति ही मोक्षमार्ग है ऐसा निश्चय करते हैं --

एवं जिणा जिणिंदा, सिद्धा मग्गं समुट्ठिदा समणा।
जादा णमोत्थु तेसिं, तस्स य णिव्वाणमग्गस्स।।१०७।।

यतः सामान्य केवली, तीर्थंकर केवली तथा अन्य सामान्य मुनि इसी शुद्धात्मोपलब्धिरूप मार्गका अवलंबन कर सिद्ध हुए हैं अतः उन्हें और उस मोक्षमार्गको मेरा नमस्कार हो।।१०७।।

आगे श्री कुंदकुंद स्वामी स्वयं इसी मोक्षमार्गकी परिणतिको स्वीकृत करते हुए अपनी भावना प्रकट करते हैं --

तम्हा तध[1] जाणित्ता, अप्पाणं जाणगं [2]सभावेण।
परिवज्जामि ममत्तिं, उवट्ठिदो णिम्ममत्तम्मि।।१०८।।

इसलिए मैं भी उन्हीं सामान्य केवली तथा तीर्थंकर केवली आदिके समान स्वभावसे ज्ञायक आत्माको जानकर ममताको छोड़ता हूँ और ममताके अभावरूप वीतरागभावमें अवस्थित होता हूँ।।१०८।।[3]

इति भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यकृते प्रवचनसार परमागमे ज्ञेयतत्त्वप्रज्ञापनो नाम द्वितीयः श्रुतस्कन्धः समाप्तः।

---

१. तह ज. वृ. । २. सहावेण ज.वृ.

३. १०८ वीं गाथाके बाद ज. वृ. में निम्नलिखित गाथाकी व्याख्या अधिक मिलती है --

'दंसणसंसुद्धाणं सम्मण्णाणोवजोगजुत्ताणं।
अव्वाबाधरदाणं णमो णमो सिद्धसाहूणं।।'

चारित्राधिकारः

आगे श्री कुंदकुंदस्वामी दुःखोंसे छुटकारा चाहनेवाले पुरुषोंको मुनिपद ग्रहण करनेकी प्रेरणा करते हैं --

एवं पणमिय सिद्धे, जिणवरवसहे पुणो पुणो समणे।
पडिवज्जद सामण्णं, जदि इच्छदि दुक्खपरिमोक्खं।।१।।

हे भव्यजीवो! यदि आप लोग दुःखोंसे छुटकारा चाहते हैं तो इस प्रकार सिद्धोंको, जिनवरोंमें श्रेष्ठ तीर्थंकर अर्हंतोंको और आचार्योपाध्याय सर्व साधुरूप मुनियोंको बार-बार प्रणाम कर मुनिपदको प्राप्त करें।।१।।

मुनि होनेका इच्छुक पुरुष पहले क्या करे यह उपदेश देते हैं --

आपिच्छ बंधुवग्गं, विमोइदो गुरुकलत्तपुत्तेहिं।
आसिज्ज णाणदंसण,चरित्ततववीरियायारं।।२।।
समणं गणिं गुणड्ढं, कुलरूववयोविसिट्ठमिट्ठदरं।
समणेहि तं पि पणदो, पडिच्छ मं चेदि अणुगहिदो।।३।।

जो मुनि होना चाहता है वह सर्वप्रथम अपने बंधुवर्गसे पूछकर गुरु, स्त्री तथा पुत्रोंसे छुटकारा प्राप्त करे। फिर ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और वीर्य इन पाँच आचारोंको प्राप्त होकर ऐसे आचार्यके पास पहुँचे जो कि अनेक गुणोंसे सहित हों, कुल, रूप तथा अवस्थासे विशिष्ट हों और अन्य मुनि जिसे अत्यंत चाहते हों। उनके पास पहुँचकर उन्हें प्रणाम करता हुआ यह कहे कि हे प्रभो! मुझे अंगीकार कीजिए। अनंतर उनके द्वारा अनुगृहीत होकर निम्नांकित भावना प्रकट करे।।२-३।।

णाहं होमि परेसिं, ण मे परे णत्थि मज्झमिह किंचि।
इदि णिच्छिदो जिदिंदो, जादो जधजादरूवधरो।।४।।

'मैं दूसरोंका नहीं हूँ, दूसरे मेरे नहीं हैं और न इस लोकमें मेरा कुछ है।' इस प्रकार निश्चित होकर जितेंद्रिय होता हुआ सद्योजात बालकके समान दिगंबर रूपको धारण करे।।४।।

आगे सिद्धिके कारणभूत बाह्य लिंग और अंतरंग लिंग इन दो लिंगोंका वर्णन करते हैं --

---

१. सासादनादिक्षीणकषायान्ता एकदेशजिना उच्यन्ते शेषाश्चानागारकेवलिनो जिनवरा भण्यन्ते। तीर्थकरपरमदेवाश्च जिनवरवृषभा इति तान् जिनवरवृषभान् ज. वृ.।

[१]जधजादरूवजादं, [२]उप्पाडिदकेसमंसुगं सुद्धं।
रहितं हिंसादीदो, अपडिकम्मं हवदि लिंगं।।५।।
[३]मुच्छारंभविजुत्तं, जुत्तं [४]उवजोगजोगसुद्धीहिं।
लिंगं ण परावेक्खं, अपुणब्भवकारणं [५]जोण्हं।।६।। जुगलं।।

जो सद्योजात बालकके समान निर्विकार निर्ग्रंथ रूपके धारण करनेसे उत्पन्न होता है, जिसमें शिर तथा दाढ़ी-मूँछके बाल उखाड़ दिये जाते हैं, जो शुद्ध है -- निर्विकार है, हिंसादि पापोंसे रहित है और शरीरकी सँभाल तथा सजावटसे रहित है वह बाह्य लिंग है। तथा जो मूर्च्छा -- परपदार्थमें ममता परिणाम और आरंभसे रहित है, उपयोग और योगकी शुद्धिसे सहित है, परकी अपेक्षासे दूर है एवं मोक्षका कारण है वह श्री जिनेंद्रदेवके द्वारा कहा हुआ अंतरंगलिंग -- भावलिंग है।

जैनागममें बहिरंग लिंग और अंतरंग लिंग -- दोनों ही लिंग परस्पर सापेक्ष रहकर ही कार्यके साधक बतलाये हैं। अंतरंग लिंगके बिना बहिरंग केवल नटके समान वेष मात्र है, उससे आत्माका कुछ भी कल्याण साध्य नहीं है और बहिरंग लिंगके बिना अंतरंग लिंगका होना संभव नहीं है। क्योंकि जब तक बाह्य परिग्रहका त्याग होकर यथार्थ निर्ग्रंथ अवस्था प्रकट नहीं हो जाती तब तक मूर्च्छा या आरंभरूप आभ्यंतर परिग्रहका त्याग नहीं हो सकता और जबतक हिंसादि पापोंका अभाव तथा शरीरासक्तिका भाव दूर नहीं हो जाता तबतक उपयोग और योगकी शुद्धि नहीं हो सकती। इस प्रकार उक्त दोनों लिंग ही अपुनर्भव -- फिरसे जन्म धारण नहीं करना अर्थात् मोक्षके कारण हैं।।५-६।।

आगे श्रमण कौन होता है? यह कहते हैं --

आदाय तंपि गुरुणा, परमेण तं णमंसित्ता।
सोच्चा सवयं किरियं, उवट्ठिदो होदि सो समणो।।७।।

जो परमभट्टारक अर्हंत परमेश्वर अथवा दीक्षागुरुसे पूर्वोक्त दोनों लिंगोंको ग्रहण कर उन्हें नमस्कार करता है और व्रतसहित आचारविधिको सुनकर शुद्ध आत्मस्वरूपमें उपस्थित रहता है -- अपने उपयोगको अन्य पदार्थोंसे हटाकर शुद्ध आत्मस्वरूपके चिंतनमें लीन रहता है वह श्रमण होता है।।७।।

आगे यद्यपि श्रमण अखंडित सामायिक चारित्र को प्राप्त होता है तो भी कदाचित् छेदोपस्थापक हो जाता है, यह कहते हैं --

वदसमिदिंदियरोधो, लोचावस्सक [६]मचेलमण्हाणं।
खिदिसयणमदंतयणं[७], ठिदिभोयणमेयभत्तं च।।८।।

१. जथजादरूपजादं ज. वृ.। २. उप्पादिय ज. वृ. । ३. मुच्छारंभविमुक्कं ज. वृ. । ४. उवओग ज. वृ. । ५. जेण्हं ज. वृ.।
६. लोचावस्सय ज. वृ.। ७. --मदंतवणं ज. वृ. ।

एदे खलु मूलगुणा, समणाणं जिणवरेहिं पण्णत्ता।
तेसु पमत्तो समणो, छेदोवट्ठावगो होदि।।९।।

पाँच[१] महाव्रत, [२]पाँच समितियाँ, [३]पाँच इंद्रियोंका निरोध करना, केशलोच करना, [४]छह आवश्यक, वस्त्रका त्याग, स्नानका त्याग, पृथिवीपर सोना, दंतधावन नहीं करना, खड़े-खड़े भोजन करना और एक बार भोजन करना ये मुनियोंके मूलगुण निश्चयपूर्वक श्री जिनेंद्रदेवके द्वारा कहे गये हैं। जो मुनि इनमें प्रमाद करता है वह छेदोपस्थापक होता है।

ये अट्ठाईस मूलगुण निर्विकल्प सामायिक चारित्रके भेद हैं, इन्हींसे मुनिपदकी सिद्धि होती है। इनमें प्रमाद होनेसे निर्विकल्पक सामायिक चारित्रका भंग हो जाता है इसलिए इनमें सदा सावधान रहना चाहिए। मुनिके अनुभवमें जब यह बात आवे कि मेरे संयमके अमुक भेदमें भंग हुआ है तब वह उसी भेदमें आत्माको फिरसे स्थापित करे। ऐसी दशामें वह मुनि छेदोपस्थापक कहलाता है।।८-९।।

आगे आचार्योंके प्रव्रज्यादायक और छेदोपस्थापकके भेदसे दो भेद हैं ऐसा कहते हैं --

लिंगग्गहणं तेसिं, गुरुत्ति पव्वज्जदायगो होदि।
छेदेसूवट्ठग्गा, सेसा णिज्जावया समणा।।१०।।

उन मुनियोको पूर्वोक्त लिंग ग्रहण करानेवाले गुरु प्रव्रज्यादायक -- दीक्षा देनेवाले गुरु होते हैं और एकदेश तथा सर्वदेशके भेदसे दो प्रकारका छेद होनेपर जो पुनः उसी संयममें फिरसे स्थापित करते हैं वे अन्य मुनि निर्यापक गुरु कहलाते हैं।

विशाल मुनिसंघमें दीक्षागुरु और निर्यापक गुरु इस प्रकार पृथक् पृथक् दो गुरु होते हैं। दीक्षागुरु नवीन शिष्योंको दीक्षा देते हैं और निर्यापक गुरु संयमका भंग होनेपर संघस्थ मुनियोंको प्रायश्चित्तादिके द्वारा पुनः संयममें स्थापित करते हैं। अल्पमुनिसंघमें एक ही आचार्य दोनों काम कर सकते हैं।।१०।।

आगे संयमका भंग होनेपर उसके पुनः जोड़नेकी विधि कहते हैं --

पयदम्हि समारद्धे, छेदो समणस्स कायचेट्ठम्मि।
जायदि जदि तस्स पुणो, आलोयणपुव्विया किरिया।।११।।
[५]छेदुपजुत्तो समणो, समणं ववहारिणं जिणमदम्मि।
आसेज्जालोचित्ता, उवट्ठिदं तेण कायव्वं।।१२।।

यत्नपूर्वक प्रारंभ हुई शरीरकी चेष्टामें यदि साधुके भंग होता है तो उसका आलोचनापूर्वक फिरसे

---

१. अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। २. ईर्या, भाषा, ऐषणा, आदाननिक्षेपण और प्रतिष्ठापन। ३. स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और कर्ण इनका निरोध करना। ४. समता, वंदन, स्तुति, प्रतिक्रमण, स्वाध्याय, कायोत्सर्ग। ५. छेदपउत्तो ज. वृ. ।

वही क्रिया करना प्रायश्चित्त है और जो साधु अंतरंग संयमभंगरूप उपयोगसे सहित है वह जिनमतमें व्यवहार क्रियामें चतुर किसी अन्य मुनिके पास जाकर आलोचना करे तथा उनके द्वारा बतलाये हुए प्रायश्चित्तका आचरण करे।

बहिरंग और अंतरंगके भेदसे संयमका भंग दो प्रकारका है -- जहाँ प्रमादरहित ठीक ठीक प्रवृत्ति करते हुए भी कदाचित् शारीरिक क्रियाओंमें भंग हो जाता है उसे बहिरंग संयमका भंग कहते हैं। इसका प्रायश्चित्त यही है कि उस भंगकी आलोचना करे तथा पुनः वैसी प्रवृत्ति न कर पूर्ववत् ठीक ठीक आचरण करे। जहाँ उपयोगरूप संयमका भंग होता है उसे अंतरंग संयमका भंग कहते हैं। जिस मुनिके यह अंतरंग संयमका भंग हुआ हो वह जिनप्रणीत आचारमार्गमें निपुण किसी निर्यापकाचार्यके पास जाकर छलरहित अपने दोषोंकी आलोचना करे और वे निर्यापकाचार्य जो प्रायश्चित्त दें उसका शुद्ध हृदयसे आचरण करे। ऐसा करनेसे ही छूटा हुआ संयम पुनः प्राप्त हो जाता है।।११-१२।।

आगे मुनिपदके भंगका कारण होनेसे परपदार्थोंके साथ संबंध छोड़ना चाहिए ऐसा कहते हैं --

अधिवासे य विवासे, छेदविहूणो भवीय सामण्णे।
समणो विहरदु णिच्चं, परिहरमाणो णिबंधाणि।।१३।।

मुनि, मुनिपदमें अंतरंग और बहिरंग भंगसे रहित होकर निरंतर परपदार्थोंमें राग द्वेषपूर्ण संबंधोंको छोड़ता हुआ गुरुओंके समीपमें अथवा किसी अन्य स्थानमें विहार करे।

नवदीक्षित साधु अपने गुरुजनोंसे अधिष्ठित गुरुकुलमें निवास करे अथवा अन्य किसी स्थानपर। परंतु वह सदा मुनिपदके भंगके कारणोंको बचाता रहे और बाह्य पदार्थोंमें राग द्वेषरूप संबंधको छोड़ता रहे अन्यथा उसका चारित्र मलिन होनेकी संभावना रहती है।।१३।।

आगे आत्मद्रव्यमें संबंध होनेसे ही मुनिपदकी पूर्णता होती है ऐसा उपदेश करते हैं --

चरदि णिबद्धो णिच्चं, समणो णाणम्मि दंसणमुहम्मि।
पयदो मूलगुणेसु य, जो सो पडिपुण्णसामण्णो।।१४।।

जो मुनि ज्ञानमें तथा दर्शन आदि गुणोंमें लीन रहकर निरंतर प्रवृत्ति करता है और पूर्वोक्त मूलगुणोंमें निरंतर प्रयत्नशील रहता है उसीका मुनिपना पूर्णताको प्राप्त होता है।

सच्चा श्रमण -- साधु -- मुनि वही है जो बाह्य पदार्थोंसे हटकर शुद्ध ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोगरूप स्वस्वभावमें निरंतर लीन रहता है। तथा अट्ठाईस मूलगुणोंका निरतिचार पालन करता है।।१४।।

आगे मुनिपदके भंगका कारण होनेसे मुनिको प्रासुक आहार आदिमें भी ममत्व नहीं करना चाहिए यह कहते हैं --

भत्ते वा खवणे वा, [१]आवसधे वा पुणो विहारे वा।
उवधिम्मि[२] वा णिबद्धं, णेच्छदि समणम्मि विकधम्मि[३]।।१५।।

उत्तममुनि भोजनमें अथवा उपवासमें अथवा गुहा आदि निवासस्थानमें अथवा विहारकार्यमें अथवा शरीररूप परिग्रहमें अथवा साथ रहनेवाले अन्य मुनियोंमें अथवा विकथामें ममत्वपूर्वक संबंधकी इच्छा नहीं करता है।।१५।।

आगे प्रमादपूर्ण प्रवृत्ति ही मुनिपदका भंग है ऐसा कहते हैं --

अपयत्ता वा चरिया, सयणासणठाणचंकमादीसु।
समणस्स [४]सव्वकालं, हिंसा सा [५]संततत्ति मदा।।१६।।

सोना, बैठना, खड़ा होना तथा विहार करना आदि क्रियाओंमें साधुकी जो प्रयत्न रहित -- स्वच्छंद प्रवृत्ति है वह निरंतर अखंड प्रवाहसे चलनेवाली हिंसा है ऐसा माना गया है।

प्रमादपूर्ण प्रवृत्तिसे हिंसा होती है और हिंसासे मुनिपदका भंग होता है अतः मुनिको चाहिए कि वह सदा प्रमादरहित प्रवृत्ति करे।।१६।।

आगे छेद अर्थात् मुनिपदका भंग अंतरंग और बहिरंगके भेदसे दो प्रकारका होता है ऐसा कहते हैं --

मरदु व जिवदु व जीवो, अयदाचारस्स णिच्छिदा हिंसा।
पयदस्स णत्थि बंधो, हिंसामेत्तेण समिदीसु।।१७।।

दूसरा जीव मरे अथवा न मरे, परंतु अयत्नाचारपूर्वक प्रवृत्ति करनेवालेके हिंसा निश्चित है अर्थात् वह नियमसे हिंसा करनेवाला है तथा जो पाँचों समितियोंमें प्रयत्नशील रहता है अर्थात् यत्नाचारपूर्वक प्रवृत्ति करता है उसके बाह्य हिंसामात्रसे बंध नहीं होता है।

आत्मामें प्रमादकी उत्पत्ति होना भावहिंसा है और शरीरके द्वारा किसी प्राणीका विघात होना द्रव्यहिंसा है। भावहिंसासे मुनिपदका अंतरंग भंग होता है और द्रव्यहिंसासे बहिरंग भंग होता है। बाह्यमें जीव चाहे न मरे परंतु जो मुनि अयत्नाचारपूर्वक गमनागमनादि करता है उसके प्रमादके कारण भावहिंसा होनेसे मुनिपदका अंतरंग भंग निश्चितरूपसे होता है और जो मुनि प्रमादरहित प्रवृत्ति करता है उसके बाह्य जीवोंका विघात होनेपर भी प्रमादके अभावमें भावहिंसा न होनेसे हिंसाजन्य पापबंध नहीं होता है। भावहिंसाके साथ होनेवाली द्रव्यहिंसा ही पापबंधका कारण है। केवल द्रव्यहिंसासे पापबंध नहीं होता, परंतु भावहिंसा हिंसा की अपेक्षा नहीं रखती। वह हो अथवा न भी हो, परंतु भावहिंसाके होनेपर नियमसे पापबंध होता है।

१.आवसहे ज. वृ. । २. उवधिम्हि ज. वृ. । ३. विकहम्मि ज. वृ. ४. सव्वकाले ज. वृ.। ५. संतत्तियत्ति ज. वृ. ।

इसलिए निरंतर प्रमादरहित ही प्रवृत्ति करनी चाहिए।।१७।।[१]

आगे भावहिंसारूप अंतरंग भंग (छेद) का सर्व प्रकारसे त्याग करना चाहिए ऐसा कहते हैं --

अयदाचारो समणो, छस्सुवि कायेसु [२]बंधगोत्ति मदो।
चरदि जदं जदि णिच्चं, कमलं व जले णिरुवलेवो।।१८।।

अयत्नाचारपूर्वक प्रवृत्ति करनेवाला साधु कायोंके विषयमें बंध करनेवाला है ऐसा माना गया है और वही साधु यदि निरंतर यत्नाचारपूर्वक प्रवृत्ति करता है तो जलमें कमलकी तरह कर्मबंधरूप लेपसे रहित होता है।।१८।।

आगे अंतरंग छेदका कारण होनेसे परिग्रहका सर्वथा त्याग करना चाहिए ऐसा कहते हैं --

हवदि व ण हवदि बंधो, [३]मदे हि जीवेऽध [४]कायचेट्ठम्मि।
बंधो धुवमुवधीदो, इदि समणा छंडिया सव्वं।।१९।।

गमनागमनरूप शरीरकी चेष्टामें जीवके मरनेपर कर्मका बंध होता भी है और नहीं भी होता है, परंतु परिग्रहसे कर्मबंध निश्चित होता है इसलिए मुनि सब प्रकारके परिग्रहका त्याग करते हैं।

यदि अंतरंगमें प्रमादपरिणति है तो बाह्यमें जीववध कर्मबंधका कारण होता है अन्यथा नहीं। इसलिए कहा है कि शरीरकी चेष्टामें जो त्रस स्थावर जीवोंका विघात होता है उससे कर्मबंध होता भी है और नहीं भी होता है। परंतु परिग्रह अंतरंगके मूर्च्छा परिणामके बिना नहीं होता अतः उसके रहते हुए कर्मबंध जारी ही रहता है। यह विचार कर मुनि सब प्रकारके परिग्रहका त्याग कर चुकते हैं। यहाँतक कि वस्त्र तथा भोजनपात्र वगैरह कुछ भी अपने पास नहीं रखते हैं।।१९।।

अब यहाँ कोई यह आशंका करे कि बाह्य परिग्रहका सर्वथा त्याग कर देनेपर भी यदि अंतरंगमें उसकी लालसा बनी रहती है तो उस त्यागसे क्या लाभ है? इस प्रश्नका समाधान करते हुए कहते हैं कि मुनिका जो बाह्य परिग्रह त्याग है वह अंतरंग लालसासे रहित ही होता है --

ण हि णिरवेक्खो चाओ, ण हवदि भिक्खुस्स [५]आसयविसुद्धी।
अविसुद्धस्स य चित्ते, कहं णु[६] कम्मक्खओ विहिओ।।२०।।

---

१. १७ वीं गाथाके बाद ज. वृ. में निम्नांकित दो गाथाओंकी व्याख्या अधिक है --

उच्चालियम्हि पाए इरियासमिदस्स णिग्गमत्थाए।
आबाधेज्ज कुलिंगं मरिज्ज तं जोगमासेज्ज।।
ण हि तस्स तण्णिमित्तो बंधो सुहुमो य देसिदो समये ।
मुच्छा परिग्गहोच्चिय अज्झप्पयमाणदो दिट्ठो।। जुम्मं

२. वधकरोत्ति ज. वृ. । ३. मदम्हि ज. वृ. । ४. कायचेट्ठम्हि ज. वृ. ।५. आसयविसोहो ज. वृ. ६. कहं तु ज. वृ

मुनिका त्याग यदि निरपेक्ष नहीं है -- अंतरंगकी लालसासे रहित नहीं है तो उसके आशय -- उपयोगकी विशुद्धि नहीं हो सकती और जिसके आशयमें विशुद्धता नहीं है उसके कर्मोंका क्षय कैसे हो सकता है? अर्थात् नहीं हो सकता।

जिस प्रकार जब तक धानका छिलका दूर नहीं हो जाता तब तक उसके भीतर रहनेवाले चावलकी लालिमा दूर नहीं की जा सकती इसी प्रकार जब तक बाह्य परिग्रहका त्याग नहीं हो जाता तब तक अंतरंगमें निर्मलता नहीं आ सकती और जब तक अंतरंगमें निर्मलता नहीं आ जाती तब तक कर्मोंका क्षय किस प्रकार हो सकता है? अर्थात् नहीं हो सकता। अभिप्राय यह है कि कर्मक्षयके लिए अंतरंगकी विशुद्धि आवश्यक है और अंतरंगकी विशुद्धिके लिए बाह्य परिग्रहका त्याग आवश्यक है। जहाँ बाह्य परिग्रहके त्यागका उपदेश है वहाँ अंतरंगकी लालसाका त्याग भी स्वतःसिद्ध है, क्योंकि उसके बिना केवल बाह्य त्यागसे आत्माका कल्याण नहीं हो सकता यह निश्चित है[१]।।२०।।

आगे अंतरंग संयमका घात परिग्रहसे ही होता है ऐसा कहते हैं --

किध[२] [३]तम्मि णत्थि मुच्छा, आरंभो वा असंजमो तस्स।
तध[४] परदव्वम्मि रदो, [५]कधमप्पाणं [६]पसाधयदि।।२१।।

उस परिग्रहकी आकांक्षा रखनेवाले पुरुषमें मूर्च्छा -- ममतापरिणाम, आरंभ तथा संयमका विघात किस प्रकार नहीं हो? अर्थात् सब प्रकारसे हो। तथा जो साधु परद्रव्यमें रत रहता है वह आत्माका प्रसाधन कैसे कर सकता है -- आत्माको उज्ज्वल कैसे बना सकता है?

यदि कोई ऐसा कहे कि हम बाह्य परिग्रह रखते हुए भी उसमें मूर्च्छा परिणाम नहीं करते हैं इसलिए हमारी उससे कोई हानि नहीं होती है। इसके उत्तरमें श्री कुंदकुंद स्वामी कहते हैं कि जिसके पास परिग्रह है उसकी उस परिग्रहमें मूर्च्छा न हो, तज्जन्य आरंभ न हो और उन दोनोंके निमित्तसे उसके संयममें कोई बाधा न हो यह संभव नहीं है। जहाँ परिग्रह होगा वहाँ मूर्च्छा, आरंभ और असंयम नियमसे रहते हैं। इसके सिवाय जो शुद्ध आत्मद्रव्यको छोड़कर परद्रव्यमें रत रहता है वह अपनी आत्माका प्रसाधन नहीं कर पाता,

---

१. २० वीं गाथाके बाद ज. वृ. में निम्नलिखित गाथाएं अधिक पायी जाती हैं --

गेण्हदि व चेलखंडं भायणमत्थित्ति भणिदमिदि सुत्ते।
जदि सो चत्तालंबो हवदि कहं वा अणारंभो।।१।।
वत्थक्खंडं दुद्दियभायणमण्णं च गेण्हदि णियदं।
विज्जदि पाणारंभो विक्खेवो तस्स चित्तम्मि।।२।।
गेण्हइ विधुणइ धोवइ सोसेइ जदं तु आदवे खित्ता।
पत्थं च चेलखंडं विभेदि परदो य पालयदि।।३।। विसेसयं

२. किह ज. वृ. । ३. तम्हि ज. वृ. । ४. तह । ५. कह ज. वृ. । ६. पसाहयदि ज. वृ. ।

क्योंकि उसके लिए उपयोगका तन्मयैकभाव आवश्यक है और वह तब तक संभव नहीं होता जबतक परिग्रहमें आसक्ति बनी रहती है। इसलिए अंतरंग संयमका घातक समझकर साधुको परिग्रह दूरसे ही छोड़ देना चाहिए।।२१।।

आगे परमोपेक्षारूप संयम धारण करनेकी शक्ति न होनेपर आहार तथा संयम, शौच और ज्ञानके उपकरण मुनि ग्रहण कर सकते हैं ऐसा कहते हैं --

छेदो जेण ण विज्जदि, गहणविसग्गेसु सेवमाणस्स ।
समणो तेणिह वट्टदु, कालं खेत्तं वियाणत्ता।।२२।।

ग्रहण करते तथा छोड़ते समय धारण करनेवाले मुनिके जिस परिग्रहसे संयमका घात न हो, मुनि, काल तथा क्षेत्रका विचार कर उस परिग्रहसे इस लोकमें प्रवृत्ति कर सकता है।

यद्यपि जहाँ समस्त परिग्रहका त्याग होता है ऐसा परमोपेक्षरूप संयम ही आत्माका धर्म है। यही उत्सर्गमार्ग है, परंतु अब क्षेत्र और कालके दोषसे मनुष्य हीन शक्तिके धारक होने लगे हैं अतः परमोपेक्षारूप संयमके धारक मुनि अत्यल्प रह गये हैं। हीन शक्तिके धारक मुनियोंको शरीरकी रक्षा के लिए आहार ग्रहण करना पड़ता है, विहारादिके समय शारीरिक शुद्धिके लिए कमंडलु रखना पड़ता है, उठते-बैठते समय जीवोंका विघात बचानेके लिए मयूरपिच्छी रखनी पड़ती है तथा उपयोगकी स्थिरता और ज्ञानकी वृद्धिके लिए शास्त्र रखना होता है। यद्यपि ये परिग्रह हैं और परमोपेक्षारूप संयमके धारक मुनिके इनका अभाव होता है, परंतु अल्प शक्तिके धारक मुनियोंका इनके बिना निर्वाह नहीं हो सकता इसलिए कुंदकुंद स्वामी अपवाद मार्गके रूपमें इनके ग्रहण करनेको आज्ञा प्रदान करते हैं। इनके ग्रहण करते समय मुनिको इस बातका विचार अवश्य करना चाहिए कि हमारे द्वारा स्वीकृत उपकरणोंमें कोई उपकरण संयमका विघात करनेवाला तो नहीं है। यदि हो तो उसका परित्याग करना चाहिए। यहाँ कितने ही लोग, कालका अर्थ शीतादि ऋतु और क्षेत्रका अर्थ शीतप्रधान आदि देश लेकर ऐसा व्याख्यान करने लगे हैं कि मुनि शीतप्रधान देशोंमें शीत ऋतुके समय कंबलादि ग्रहण कर सकते हैं ऐसी कुंदकुंद स्वामीकी आज्ञा है। सो यह उनकी मिथ्या कल्पना है। कुंदकुंद स्वामी तो अणुमात्र परिग्रहके धारक मुनिको निगोदका पात्र बतलाते हैं। वे कंबल धारण करनेकी आज्ञा किस प्रकार दे सकते हैं? इसी गाथामें वे स्पष्ट लिख रहे हैं कि जिनके ग्रहण करने तथा छोड़नेमें वीतराग भावरूप संयम पदका भंग न हो ऐसे परिग्रहसे मुनि अपनी प्रवृत्ति -- निर्वाह मात्र कर सकता है, उसे अपना समझकर ग्रहण नहीं कर सकता। कंबलादिके ग्रहण और त्याग दोनोंमें ही राग द्वेषकी उत्पत्ति होनेसे वीतराग भाव रूप संयमका घात होता है यह प्रत्येक मनुष्य अनुभवसे समझ सकता है अतः वह कदापि ग्राह्य नहीं है।।२२।।

आगे अपवादमार्गी मुनिके द्वारा ग्रहण करनेयोग्य परिग्रहका स्पष्ट वर्णन करते हैं --

अप्पडिकुट्ठं[१] उवधिं, अपत्थणिज्जं असंजदजणेहिं[२]।
मुच्छादिजणणरहिदं[३], गेण्हदु समणो जदि[४] वियप्पं।।२३।।

अपवादमार्गी उस परिग्रहको ग्रहण करे जो कि कर्मबंधका साधक न होनेसे अप्रतिक्रुष्ट हो -- अनिंदित हो, असंयमी मनुष्य जिसे पानेकी इच्छा न करते हों, ममता आदिकी उत्पत्तिसे रहित हो और थोड़ा हो।

अपवादमार्गी मुनिको कमंडलु, पीछी और शास्त्र ग्रहण करनेकी आज्ञा है सो मुनि ऐसे कमंडलु आदिको ग्रहण करे जिसके निर्माणमें हिंसा आदि पाप न होते हों, जिसे देखकर अन्य मनुष्योंका मन न लुभा जावे, जो रागादि भावोंको बढ़ानेवाले न हों और परिमाणमें एकाधिक न हों। जैसे मुनि यदि कमंडलु ग्रहण करें तो मिट्टी या लकड़ीका अथवा तूँबा आदिका ग्रहण करें। ताँबा, पीतल या चर्म आदिका ग्रहण न करें तथा एकसे अधिक न रखें। क्योंकि चर्मका बना कमंडलु हिंसाजन्य और हिंसाका जनक होनेसे प्रतिक्रुष्ट है -- निंदित है। ताँबा, पीतल आदिका कमंडलु अन्य असंयमी मनुष्योंके द्वारा चुराया जा सकता है। और एकसे अधिक होनेपर उसके संरक्षणादिजन्य आकुलता उत्पन्न होने लगती है। इसी प्रकार पीछी भी ऐसी हो जो सजावटसे रहित हो। मयूरपिच्छसे बनी हुई। शास्त्र भी एक दो से अधिक साथमें न रखें। कितनेही साधुओंके साथ अनेकों शास्त्रोंसे भरी पेटियाँ चलती हैं। यह जिज्ञासाके विरुद्ध होनेसे ठीक नहीं है।।२३।।

आगे उत्सर्ग मार्ग ही वस्तुधर्म है अपवाद मार्ग नहीं ऐसा उपदेश देते हैं --

किं किंचण त्ति तक्कं, अपुणब्भवकामिणोध देहेवि[५]।
संगत्ति[६]जिणवरिंदा, [७]अप्पडिकम्मत्तिमुद्दिट्ठा।।२४।।

जब मोक्षके अभिलाषी मुनिके, शरीरमें भी यह परिग्रह है, ऐसा जानकर श्री जिनेंद्रदेवने अप्रतिकर्मत्व अर्थात् ममत्वभावसहित शरीरकी क्रियाके त्यागका उपदेश दिया है तब उस मुनिके क्या अन्य कुछ भी परिग्रह है ऐसा विचार होता है।

जब श्री जिनेंद्रदेवने शरीरको भी परिग्रह बतलाकर उसमें ममतामयी क्रियाओंके त्यागका उपदेश दिया है तब अन्य परिग्रह मुनि कैसे रख सकते हैं?[८] ।।२४।।

आगे यथार्थमें उपकरण कौन है? यह बतलाते हैं --

उवयरणं जिणमग्गे, लिंगं जहजादरूवमिदि भणिदं।
गुरुवयणं पि य विणओ, सुत्तज्झयणं च पण्णत्तं।।२५।।

---

१. अप्पदिकुट्ठं ज. वृ. । २. असंजदजणस्स ३. रहियं ज. वृ. । ४. जदिवि अप्पं । ५. देहोवि ज. वृ. । ६. संगोत्ति ज. वृ. । ७. अप्पडिकम्मत्त । ८. २४ वीं गाथाके आगे ज. वृ. में स्त्रीमुक्तिका निराकरण करनेवाली ११ गाथाओंकी व्याख्या अधिक की गयी है। वे गाथाएँ इस प्रकार हैं -- **(गाथाएँ अगले पृष्ठ पर देखिए ------**

जिनमार्गमें यथार्थजातरूप -- निर्ग्रंथ मुद्रा, गुरुओंके वचन, उनकी विनय और शास्त्रोंका अध्ययन ये उपकरण कहे गये हैं।

जिनके द्वारा परम वीतरागरूप शुद्ध आत्मदशाकी प्राप्तिमें सहयोग प्राप्त हो उन्हें उपकरण कहते हैं। ऐसे उपकरण जिनशासनमें निम्नलिखित ४ माने गये हैं। १. सद्योजात बालकके समान निर्विकार दिगंबर मुद्रा, २. पूज्य गुरुओंके वचनानुसार प्रवृत्ति करना, ३. गुण तथा गुणाधिक मुनियोंकी विनय करना और ४. शास्त्र अध्ययन करना। यथार्थमें आत्माकी शुद्ध दशाकी प्राप्तिमें इन्हीं कारणोंसे साक्षात् सहयोग प्राप्त होता है इसलिए ये ही वास्तविक उपकरण हैं। परंतु ये चारों ही सहजानंदरूप शुद्धात्मद्रव्यसे बहिर्भूत शरीररूप पुद्गल द्रव्यके आश्रित हैं अतः परिग्रह हैं और त्याज्य हैं।।२५।।

पहले कह आये हैं कि मुनिके शरीरमात्र परिग्रह होता है। अब आगे उसके पालनकी विधिका

---पिछले पृष्ठसे आगे

पेच्छदि ण हि इह लोगं परं च समणिंददेसिदो धम्मो।
धम्मम्हि तम्हि कहा वियप्पियं लिंगमित्थीणं।।१।।
णिच्छयदो इत्थीणं सिद्धी ण हि तेण जम्मणा दिट्ठा।
तम्हा तप्पडिरूवं वियप्पियं लिंगमित्थीणं।।२।।
पइडीपमादमइया एतासिं वित्ति भासिया पमदा।
तम्हा ताओ पमदा पमादबहुलोत्ति णिद्दिट्ठा।।३।।
संति धुवं पमदाणं मोहपदोसा भयं दुगुंछा य।
चित्ते चित्ता माया तम्हा तासिं ण णिव्वाणं।।४।।
ण विणा वट्टदि णारी एक्कं वा तेसु जीवलोयम्हि।
ण हि संउणं च गत्तं तम्हा तासिं च संवरणं ।।५।।
चित्तस्सावो तासिं सित्थिल्लं अत्तवं च पक्खलणं।
विज्जदि सहसा तासु अ उप्पादो सुहममणुआणं।।६।।
लिंगम्हि य इत्थीणं थणंतरे णाहिकखपदेसेसु ।
भणिदो सुहुमुप्पादो तासिं कह संजमो होदि।।७।।
जदि दंसणेण सुद्धा सुत्तज्झयणेण चावि संजुत्ता।
घोरं चरदि य चरियं इत्थिस्स ण णिज्जरा भणिदा।।८।।
तम्हा तं पडिरूवं लिंगं तासिं जिणेहि णिद्दिट्ठं।
फलरूववओजुत्ता समणीओ तस्समाचारा।।९।।
वण्णेसु तीसु एक्को कल्लाणंगो तवोसहो वयसा।
सुमुहो कुंछारहिदो लिंगग्गहणे हवदि जोग्गो।।१०।।
जो रयणत्तयणासो सो भंगो जिणवरेहि णिद्दिट्ठो।
सेसं भंगेण पुणो ण होदि सल्लेहणा अरिहो।।११।।

उपदेश देते हैं --

इह लोगणिरावेक्खो, [१]अप्पडिबद्धो परम्मि लोयम्मि।
जुत्ताहारविहारो, रहिदकसाओ हवे समणो।।२६।।

इस लोकसे निरपेक्ष और परलोककी आकांक्षासे रहित साधु कषायरहित होता हुआ योग्य आहार-विहार करनेवाला हो।

मुनि इस लोकसंबंधी मनुष्य पर्यायसे निरपेक्ष रहता है और परलोकमें प्राप्त होनेवाले देवादि पर्यायसंबंधी आकांक्षा नहीं करता है इसलिए इष्टानिष्ट सामग्रीके संयोगसे होनेवाले कषायभावपर विजय प्राप्त करता हुआ योग्य आहार ग्रहण करता है तथा ईर्यासमितिपूर्वक आवश्यक विहार भी करता है।।२६।।[२]

आगे योग्य आहारविहार करनेवाला साधु आहारविहारसे रहित होता है ऐसा उपदेश देते हैं

जस्स अणेसणमप्पा, तंपि तओ[३]तप्पडिच्छगा समणा।
अण्णं भिक्खमणेसणमध[४] ते समणा अणाहारा।।२७।।

मुनिकी आत्मा परद्रव्यका ग्रहण न करनेसे निराहार स्वभाववाली है, वही उनका अंतरंग तप है। मुनि निरंतर उसी अंतरंग तपकी इच्छा करते है और एषणाके दोषोंरहित जो भिक्षावृत्ति करते हैं उसे सदा अन्य अर्थात् भिन्न समझते हैं, इसलिए वे आहार ग्रहण करते हुए भी निराहार हैं ऐसा समझना चाहिए।

इसी प्रकार विकाररहित स्वभाव होनेके कारण विहार करते हुए भी विहाररहित होते हैं ऐसा जानना चाहिए।।२७।।

आगे मुनिके मुक्ताहारपन कैसे होता है यह कहते हैं --

केवलदेहो समणो, देहे[५] ण ममेत्तिरहिदपरम्मो।
आउत्तो तं तवसा, [६]अणिगूहं अप्पणो सत्तिं।।२८।।

श्रमण केवल शरीररूप परिग्रहसे युक्त होता है, शरीरमें भी 'यह मेरा नहीं है' ऐसा विचार कर सजावटसे रहित होता है, और अपनी शक्तिको न छुपाकर उसे तपसे युक्त करता है अर्थात् तपमें लगाता है।

मुनि शरीरको सदा स्वशुद्धात्म द्रव्यसे बहिर्भूत मानते हैं इसलिए कभी उसका संस्कार नहीं करते

---

१. अप्पडिबद्धो। ज. वृ. । २. २६ वीं गाथाके बाद ज. वृ में निम्नलिखित गाथा अधिक व्याख्यात है --
कोहादिएहि चउविहि विकहाहि तहिंदियाणमत्थेहिं।
समणो हवदि पमत्तो उवजुत्तो णेह णिद्दाहिं।।१।।
३. तवो ज. वृ. । ४. एषणादोषशून्यम् ज. वृ., अन्नस्याहारस्यैषणं वाञ्छान्नेषणम्। ज. वृ. । ५. देहेवि ममत्त ज. वृ. ।
६. अणिगूहिय ज. वृ. ।

हैं और अपनी शक्तिअनुसार उसे तपमें लगाते हैं। इसलिए उनके युक्ताहारपना अनायास सिद्ध है।।२८।।

आगे युक्ताहारका स्वरूप विस्तारसे समझाते हैं --

एक्कं खलु तं भत्तं, अप्पडिपुण्णोदरं जधा लद्धं[१]।
चरणं भिक्खेण दिवा, ण रसावेक्खं ण मधुमंसं[२]।।२९।।

मुनिका वह भोजन निश्चयसे एक ही बार होता है, अपूर्ण उदर (खाली पेट) होता है, सरस-नीरस जैसा मिल जाता है वैसा ही ग्रहण किया जाता है, भिक्षावृत्तिसे प्राप्त होता है, दिनमें ही लिया जाता है, रसकी अपेक्षासे रहित होता है और मधुमांसरूप नहीं होता है।।२९।।[३]

आगे उत्सर्गमार्ग और अपवादमार्गकी मित्रतासे ही चारित्रकी स्थिरता रह सकती है ऐसा कहते हैं --

बालो वा वुड्ढो वा, समभिहदो वा पुणो गिलाणो वा।
चरियं चरउ सजोग्गं, मूलच्छेदं जधा ण हवदि।।३०।।

जो मुनि बालक है अथवा वृद्ध है अथवा तपस्या के मार्गके श्रमसे खिन्न है, अथवा रोगादिसे पीड़ित है वह अपने योग्य उस प्रकार चर्याका आचरण कर सकता है जिस प्रकारकी मूल संयमका घात न हो।

'संयमका साधन शुद्धात्मतत्त्व ही है, शरीर नहीं है' ऐसा विचार कर शरीररक्षाकी ओर दृष्टि न डाल, बालक, वृद्ध, श्रांत अथवा ग्लान मुनिको भी स्वस्थ तरुण तपस्वीके समान ही कठोर आचरण करना चाहिए यह उत्सर्गमार्ग है और 'शरीर भी संयमका साधन है, क्योंकि मनुष्यशरीरके नष्ट होनेपर देवादिके शरीरसे संयम धारण नहीं किया जा सकता है' ऐसा विचार कर शरीररक्षाकी ओर दृष्टि डाल बालक, वृद्ध, श्रांत अथवा ग्लान मुनि मूलसंयमका घात न करते हुए कोमल आचरण कर सकते हैं, यह अपवाद मार्ग है। आचार्य कुंदकुंद स्वामी यहाँ प्रकट कर रहे हैं कि उक्त दोनों मार्ग परस्परमें सापेक्ष हैं। आचरणमें शिथिलता न आ जावे इसलिए मूल संयमकी विराधना न करते हुए अपवाद मार्ग भी धारण करना चाहिए। क्योंकि

---

१. जहालद्धं ज. वृ. । २. मदुमंसं ज. वृ.।

३. २९ वीं गाथाके आगे ज. वृ. में निम्नांकित ३ गाथाएँ अधिक व्याख्यात हैं --

पक्केसु य आमेसु य विपच्चमाणासु मंसपेसीसु।
संतत्तियमुववादो तज्जादीणं णिगोदाणं।।१।।
जो पक्कमपक्कं वा पेसी मंसस्स खादि पासदि वा।
सो किल णिहणदि पिंडं जीवाणमणेगकोडीणं।।२।।
अप्पडिकुट्ठं पिंडं पाणिगयं गेव देयमाणस्स।
दत्ताभोत्तुमजोग्गं भुत्तो वा होदि पुडिकुट्ठो।।३।। ज. वृ. (अप्पडिकुट्ठाहारं --) इत्यपि पाठः।

किसी एक मार्गके आलंबनसे संयमकी सिद्धि नहीं हो सकती है।।३०।।

आगे उत्सर्गमार्ग और अपवादमार्गके विरोधसे चारित्रमें स्थिरता नहीं आ सकती है यह कहते हैं --

आहारे व विहारे, देसं कालं समं खमं उवधिं।
जाणित्ता ते समणो, वट्टदि जदि अप्पलेवी सो।।३१।।

मुनि, देश काल श्रम और शरीररूप परिग्रहको अच्छी तरह जानकर आहार तथा विहारमें प्रवृत्ति करता है। यद्यपि ऐसा करनेसे अल्प कर्मबंध होता है तो भी वह आहारादिमें उक्त प्रकारसे प्रवृत्ति करता है।

आहारादिके ग्रहणमें अल्प कर्मबंध होता है। इस भयसे जो अत्यंत कठोर आचरणके द्वारा शरीरको नष्ट कर देते हैं वे देवपर्यायमें पहुँचकर असंयमी हो जाते हैं और संयमके अभावमें उनके अधिक कर्मबंध होने लगता है। इस प्रकार अपवादमार्गका विरोध कर केवल उत्सर्ग मार्गके अपनानेसे चारित्र गुणका घात होता है। इसी प्रकार कोई शिथिलाचारी मुनि आहार विहारमें प्रवृत्ति करते हुए शुद्धात्म भावनाकी उपेक्षा कर देते हैं उनके ऐसा करनेसे अधिक कर्मबंध होने लगता है। इस प्रकार उत्सर्गमार्गका विरोध कर केवल अपवाद मार्गके अपनानेसे चारित्र गुणका घात होता है। अतः उसकी स्थिरता रखनेवाले मुनियोंको उक्त दोनों मार्गोंमें निर्विरोध प्रवृत्ति करनी चाहिए ऐसी शास्त्राज्ञा है।।३१।।

आगे एकाग्रतारूप मोक्षमार्गका कथन करते हैं। उस एकाग्रताका मूल साधन आगम है, अतः उसीमें चेष्टा करनी चाहिए यह बतलाते हैं --

एयग्गगदो समणो, एयग्गं णिच्छिदस्स अत्थेसु।
णिच्छित्ती आगमदो, आगमचेट्ठा तदो जेट्ठा।।३२।।

श्रमण वही है जो एकाग्रताको प्राप्त है, एकाग्रता उसीके होती है जो जीवाजीवादि पदार्थोंके विषयमें निश्चित है अर्थात् संशय विपर्ययादि रहित सम्यग्ज्ञानका धारक है और पदार्थोंका निश्चय आगमसे होता है इसलिए आगमके विषयमें चेष्टा करना -- आगमका ज्ञान प्राप्त करनेके लिए उद्योग करना श्रेष्ठ है।।३२।।

आगे आगमसे हीन मुनि कर्मोंका क्षय नहीं कर सकता यह कहते हैं --

आगमहीणो समणो, णेवप्पाणं परं वियाणादि।
अविजाणंतो अत्थे, खवेदि कम्माणि किध भिक्खू।।३३।।

आगमसे हीन मुनि न आत्माको जानता है और न आत्मासे भिन्न शरीरादि परपदार्थोंको। स्व-पर पदार्थोंको नहीं जाननेवाला भिक्षु कर्मोंका क्षय कैसे कर सकता है?

आगे मोक्षमार्गमें गमन करनेवाले साधुके आगम ही चक्षु है यह बतलाते हैं --

आगमचक्खू साहू, इंदियचक्खूणि सव्वभूदाणि।
देवा य[1] ओहिचक्खू, सिद्धा पुण सव्वदो चक्खू।।३४।।

मुनि आगमरूपी नेत्रोंके धारक हैं, संसारके समस्त प्राणी इंद्रियरूपी चक्षुओंसे सहित हैं, देव अवधिज्ञानरूपी नेत्रसे युक्त हैं और अष्टकर्मरहित सिद्ध भगवान् सब ओरसे चक्षुवाले हैं अर्थात् केवलज्ञानके द्वारा समस्त पदार्थोंको युगपत् जाननेवाले हैं।।३४।।

आगे आगमरूपी चक्षुके द्वारा ही सब पदार्थ जाने जाते हैं ऐसा कहते हैं --

सव्वे आगमसिद्धा, अत्था गुणपज्जएहिं चित्तेहिं।
जाणंति आगमेण[2] हि पेछित्ता[3] तेवि ते समणा।।३५।।

विविध गुणपर्यायोंसे सहित जीवाजीवादि समस्त पदार्थ आगमसे सिद्ध हैं। निश्चयसे उन पदार्थोंको वे महामुनि आगमके द्वारा ही जानते हैं।।३५।।

जिसे आगमज्ञान नहीं है वह मुनि ही नहीं है ऐसा कहते हैं --

आगमपुव्वा दिट्ठी, ण [4]भवदि जस्सेह संजमो तस्स।
णत्थित्ति भणइ सुत्तं, असंजदो [5]हवदि [6]किध समणो।।३६।।

इस लोकमें जिसके आगमज्ञानपूर्वक सम्यग्दर्शन नहीं होता है उसके संयम नहीं होता है ऐसा सिद्धांत कहते हैं। फिर जिसके संयम नहीं है वह मुनि कैसे हो सकता है?

जिस पुरुषके प्रथमही आगमको जानकर पदार्थोंका श्रद्धान न हुआ हो उस पुरुषके संयम भाव भी नहीं होता है यह निश्चय है और जिसके संयम नहीं है वह मुनि कैसे हो सकता है? अर्थात् नहीं हो सकता है। मुनि बननेके लिए आगमज्ञान, सम्यग्दर्शन और तीनों संयमकी प्राप्ति आवश्यक है।।३६।।

आगे जब तक आगमज्ञान, तत्त्वार्थश्रद्धान और संयम इन तीनोंकी एकता नहीं होती तबतक मोक्षमार्ग प्रकट नहीं होता ऐसा कहते हैं --

ण हि आगमेण सिज्झदि, सद्दहणं जदि ण[7]अत्थि अत्थेसु।
सद्दहमाणो अत्थे, असंजदो वा ण णिव्वादि।।३७।।

यदि जीवाजीवादि पदार्थोंमें श्रद्धान नहीं है तो मात्र आगमके जान लेनेसे ही जीव सिद्ध नहीं होता है। अथवा पदार्थोंका श्रद्धान करता हुआ भी यदि असंयत हो तो भी निर्वाण प्राप्त नहीं कर सकता है।

सिद्ध होनेके लिए आगमज्ञान, पदार्थश्रद्धान और संयम तीनोंका यौगपद्य -- एक समय प्राप्त होना ही समर्थ कारण है।।३७।।

---

१. देवादि ज. वृ. । २. आगमेण य ज. वृ. । ३. पेच्छित्ता ज. वृ. ।४. हवदि ज. वृ.। ५. होदि ज. वृ. ।
६. किह ज. वृ. । ७. जदि वि णत्थि ज.वृ. ।

आगे आत्मज्ञानी जीवकी महत्ता प्रकट करते हैं --

जं अण्णाणी कम्मं, खवेइ भवसयसहस्सकोडीहिं।
तं णाणी तिहिं गुत्तो, खवेइ उस्सासमेत्तेण।।३८।।

अज्ञानी जीव, जिस कर्मको लाखों-करोडों पर्यायों द्वारा क्षपित करता है, तीन गुप्तियोंसे गुप्त आत्मज्ञानी जीव उस कर्मको उच्छ्वासमात्रमें क्षपित कर देता है।

ज्ञानकी और खासकर आत्मज्ञानकी बड़ी महिमा है।।३८।।

आगे आत्मज्ञानशून्य पुरुषके आगमज्ञान, तत्त्वार्थश्रद्धान और संयमभावकी एकता भी कार्यकारी नहीं है यह कहते हैं --

परमाणुपमाणं वा, मुच्छा देहादियेसु जस्स पुणो।
विज्जदि जदि सो सिद्धिं, ण लहदि सव्वागमधरोवि।।३९।।

जिसके शरीरादि परपदार्थोंमें परमाणुप्रमाण भी ममताभाव विद्यमान है वह समस्त आगमका धारक होकर भी सिद्धिको प्राप्त नहीं होता है ।

जो शुद्धात्मद्रव्यसे अतिरिक्त शरीरादि परपदार्थोंमें थोड़ी भी मूर्च्छा रखता है उन्हें अपना मानता है वह समस्त आगमका जाननेवाला होकर भी आत्मज्ञानसे शून्य है और जो आत्मज्ञानसे शून्य है वह मुक्तिको प्राप्त नहीं कर सकता है यह निश्चय है।।३९।।[१]

आगे कैसा मुनि संयत कहलाता है यह बतलाते हैं --

पंचसमिदो तिगुत्तो, पंचेंदियसंवुडो[२] [३]जिदकसाओ।
दंसणणाणसमग्गो, समणो सो संजदो भणिदो।।४०।।

जो ईर्यादि पाँच समितियोंसे सहित है, कायगुप्ति वचनगुप्ति मनोगुप्ति इन तीन गुप्तियोंसे युक्त है, स्पर्शनादि पाँच इंद्रियोंको रोकनेवाला है, क्रोधादि कषायोंको जीतनेवाला है और सम्यग्दर्शन तथा सम्यग्ज्ञानसे पूर्ण है -- संपन्न है ऐसा साधु ही संयत कहा गया है।।४०।।

आगे श्रमण अर्थात् साधुका लक्षण कहते हैं --

समसत्तुबंधुवग्गो, समसुहदुक्खो पसंसणिंदसमो।
समलोट्ठकंचणो पुण, जीविदमरणे समो समणो।।४१।।

---

१. ३९ वीं गाथाके आगे ज. वृ. में निम्नांकित गाथा अधिक उपलब्ध है --

चागो य अणारंभो, विसयविरागो खओ कसायाणं।
सो संजमोत्ति भणिदो, पव्वज्जाए विसेसेण।।१।।

२. ...संउडो ज. वृ. । ३. जिय .... ज. वृ. ।

जिसे शत्रु और मित्रोंका समूह एक समान हों, सुख और दुःख एक समान हों, प्रशंसा और निंदा एकसमान हों, पत्थरके ढेले और सुवर्ण एक समान हों तथा जो जीवन और मरणमें समभाववाला हो वह श्रमण अर्थात् साधु है।।४१।।

आगे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रमें एक साथ प्रवृत्ति करनेवाला मुनि ही एकाग्रताको प्राप्त होता है यह कहते हैं --

दंसणणाणचरित्तेसु, तीसु जुगवं समुट्ठिदो जो दु।
एयग्गगदोत्ति मदो, सामण्णं तस्स [१]परिपुण्णं।।४२।।

जो साधु सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनोंमें एकसाथ उद्यत रहता है वह एकाग्रगत है तथा उसीका मुनिपद पूर्णताको प्राप्त होता है ऐसा माना गया है।।४२।।

आगे एकाग्रताका अभाव मोक्षमार्ग नहीं है यह प्रकट करते हैं --

मुज्झदि वा रज्जदि वा, दुस्सदि वा दव्वमण्णमासेज्ज।
जदि समणो अण्णाणी, बज्झदि कम्मेहिं विविहेहिं।।४३।।

यदि साधु अन्य द्रव्यको पाकर मोह करता है अथवा राग करता है अथवा द्वेष करता है तो वह अज्ञानी है तथा विविध कर्मोंसे बद्ध होता है।

शुद्धात्मद्रव्यको छोड़कर परपदार्थमें आत्मबुद्धि करना तथा इष्ट-अनिष्ट वस्तुओंमें रागद्वेष करना मोहोदयके कार्य हैं। जब तक जीवके मोहका उदय रहता है तब तक वह अज्ञानी रहता है और अनेक प्रकारका कर्मबंध उसके जारी रहता है।।४३।।

आगे एकाग्रता ही मोक्षका मार्ग है यह बतलाते हैं --

[२]अत्थेसु जो ण मुज्झदि, ण हि रज्जदि णेव दोसमुपयादि[३]।
समणो जदि सो णियदं, खवेदि कम्माणि विविधाणि[४]।।४४।।

जो मुनि बाह्य पदार्थोंमें न मोह करता है, न राग करता है और न द्वेष करता है वह निश्चित ही अनेक कर्मोंका क्षय करता है।।४४।।

समणा सुद्धुवजुत्ता, सुहोवजुत्ता य होंति समयम्मि।
तेसुवि सुद्धुवउत्ता, अणासवा सासवा सेसा।।४५।।

मुनि परमागममें शुद्धोपयोगी और शुभोपयोगी के भेदसे दो प्रकारके कहे गये हैं। उनमेंसे शुद्धोपयोगी आस्रवसे रहित और शेष -- शुभोपयोगी आस्रवसे सहित हैं।।४५।।

---

१. पडिपुण्णं ज. वृ. । २. अट्ठेसु ज. वृ. ३. --मुवयादि ज. वृ. । ४. विविहाणि ज. वृ.

आगे शुभोपयोगी श्रमणका लक्षण प्रकट करते हैं --

अरहंतादिसु भत्ती, वच्छलदा पवयणाभिजुत्तसु[१]।
विज्जदि जदि सासण्णे, सा सुहजुत्ता भवे[२] चरिया।।४६।।

यदि मुनि अवस्थामें अरहंत आदिमें भक्ति तथा परमागमसे युक्त महामुनियोंमें वत्सलता -- गोवत्सकी तरह स्नेहानुवृत्ति है तो वह शुभोपयोगसे युक्त चर्या है।।४६।

आगे शुभोपयोगी मुनियोंकी प्रवृत्ति दिखलाते हैं --

वंदणणमंसणेहिं, अब्भुट्ठाणाणुगमणपडिवत्ती।
समणेसु समावणओ, ण णिंदिया रायचरियम्मि।।४७।।

सराग चारित्रकी दशामें अपनेसे पूज्य मुनियोंको वंदना करना, नमस्कार करना, आते हुए देख उठकर खड़ा होना, जाते समय पीछे पीछे चलना इत्यादि प्रवृत्ति तथा उनके श्रम -- थकावटको दूर करना निंदित नहीं है।।४७।।

आगे शुभोपयोगी मुनियोंकी अन्य प्रवृत्तियाँ दिखलाते हैं --

दंसणणाणुवदेसो, सिस्सग्गहणं च पोसणं तेसिं।
चरिया हि सरागाणं, जिणिंदपूजोवदेसो य।।४८।।

दर्शन और ज्ञानका उपदेश देना, शिष्योंका संग्रह करना, उनका पोषण करना तथा जिनेंद्रदेवकी पूजाका उपदेश देना यह सब सरागी अर्थात् शुभोपयोगी मुनियोंकी प्रवृत्ति है।।४८।।

आगे जो कुछ भी प्रवृत्तियाँ होती हैं वे शुभोपयोगी मुनियोंके ही होती हैं ऐसा प्रतिपादन करते हैं --

उवकुणदि जोवि णिच्चं, चादुव्वण्णस्स समणसंघस्स।
[३]कायविराधणरहिदं, सोवि सरागप्पधाणो से ।।४९।।

जो ऋषि मुनि यति और अनगार के भेदसे चतुर्विध मुनिसमूहका षट्कायिक जीवोंकी विराधनासे रहित उपकार करता है -- वैयावृत्त्यके द्वारा उनको सुख पहुँचाता है वह भी सरागप्रधान अर्थात् शुभोपयोगी साधु है।।४९।।

आगे षट्कायिक जीवोंकी विराधना न करते हुए ही वैयावृत्त्य करना चाहिए ऐसा कहते हैं --

जदि कुणदि कायखेदं, वेज्जावच्चत्थमुज्जदो समणो।
ण हवदि हवदि अगारी, धम्मो सो सावयाणं से।।५०।।

१. पवयणाहिजुत्तेसु ज. वृ. । २. हवे ज. वृ. । ३. ...विराहण... ज. वृ.

यदि वैयावृत्त्यके लिए उद्यत हुआ साधु षट्कायिक जीवोंकी हिंसा करता है तो वह मुनि नहीं है। वह तो श्रावकोंका धर्म है।।

यद्यपि वैयावृत्त्य अंतरंग तप है और शुभोपयोगी मुनियोंके कर्तव्योंमेंसे एक कर्तव्य है तथापि वे उस प्रकारकी वैयावृत्त्य नहीं करते जिसमें कि षट्कायिक जीवोंकी विराधना हो। विराधनापूर्वक वैयावृत्त्य करना श्रावकोंका धर्म है, न कि मुनियोंका।।५०।।

यद्यपि परोपकारमें शुभ कषायके प्रभावसे अल्प कर्मबंध होता है तो भी शुभोपयोगी पुरुष उसे करे ऐसा उपदेश देते हैं --

जोण्हाणं णिरवेक्खं, सागारणगारचरियजुत्ताणं।
अणुकंपयोवयारं, कुव्वदु लेवो यदिवियप्पं।।५१।।

यद्यपि अल्प कर्मबंध होता है तथापि शुभोपयोगी श्रमण, गृहस्थ अथवा मुनिधर्मकी चर्यासे युक्त श्रावक और मुनियोंका निरपेक्ष हो दयाभावसे उपकार करे।।५१।।

आगे उसी परोपकारके कुछ प्रकार बतलाते हैं --

रोगेण वा [१]छुधाए, तण्हणया[२] वा समेण वा रूढं।
[३]देट्ठा समणं साधू, पडिवज्जदु आदसत्तीए।।५२।।

शुभोपयोगी मुनि, किसी अन्य मुनिको रोगसे, भूखसे, प्याससे अथवा श्रम -- थकावट आदिसे आक्रांत देख उसी अपनी शक्ति अनुसार स्वीकृत करे अर्थात् वैयावृत्त्यद्वारा उसका खेद दूर करे।।५२।।

आगे शुभोपयोगी मुनि वैयावृत्त्यके निमित्त लौकिक जनोंसे वार्तालाप भी करते हैं यह दिखलाते हैं --

वेज्जावच्चणिमित्तं, गिलाणगुरुबालवुड्ढसमणाणं।
लोगिगजणसंभासा, ण णिंदिदा वा सुहोवजुदा।।५३।।

ग्लान (बीमार) गुरु बाल अथवा वृद्ध साधुओंकी वैयावृत्त्यके निमित्त, शुभ भावोंसे सहित लौकिक जनोंके साथ वार्तालाप करना भी निंदित नहीं है।।५३।।

आगे यह शुभोपयोग मुनियोंके गौण और श्रावकोंके मुख्य रूपसे होता है ऐसा कथन करते हैं --

एसा पसत्थभूता, समणाणं वा पुणो घरत्थाणं।
चरिया परेत्ति भणिदा, ता एव परं लहदि सोक्खं।।५४।।

---

१. छुहाए ज. वृ. । २. तण्हाए ज. वृ. । ३. दिट्ठा ज. वृ. ।

यह शुभरागरूप प्रवृत्ति मुनियोंके अल्प रूपमें और गृहस्थोंके उत्कृष्ट रूपमें होती है। गृहस्थ इसी शुभ प्रवृत्तिसे उत्कृष्ट सुख प्राप्त करते हैं।।५४।।

आगे कारणकी विपरीततासे शुभोपयोगके फलमें विपरीतता -- भिन्नता सिद्ध होती है यह कहते हैं --

रागो पसत्थभूदो, वत्थुविसेसेण फलदि विवरीदं।
णाणाभूमिगदाणि हि, बीयाणि व सस्सकालम्मि।।५५।।

जिस प्रकार नाना प्रकारकी भूमिमें पड़े हुए बीजसे धान्योत्पत्तिके समय भिन्न भिन्न प्रकारके फल मिलते हैं उसी प्रकार यह शुभ राग वस्तुकी विशेषतासे -- जघन्य मध्यम उत्कृष्ट पात्रकी विभिन्नतासे विपरीत -- भिन्न भिन्न प्रकारका फल मिलता है।।५५।।

आगे कारणकी विपरीततासे फलकी विपरीतता दिखलाते हैं --

छदुमत्थविविहवत्थुसु, वदणियमज्झयणझाणदाणरदो।
ण लहदि अपुण्णभावं, भावं सादप्पगं लहदि।।५६।।

छद्मस्थ जीवोंद्वारा अपनी बुद्धिसे कल्पित देव गुरु धर्मादिक पदार्थोंका उद्देश्य कर व्रत नियम अध्ययन ध्यान तथा दानमें तत्पर रहनेवाला पुरुष अपुनर्भाव अर्थात् मोक्षको प्राप्त नहीं होता किंतु सुखस्वरूप देव या मनुष्य पर्यायको प्राप्त होता है।।५६।।

आगे इसी बातको और भी स्पष्ट करते हैं --

अविदिदपरमत्थेसु य, [१]विसयकसायाधिगेषु [२]पुरिसेसु।
जुट्ठं कदं व दत्तं, फलदि कुदेवेसु मणुजेसु[३]।।५७।।

परमार्थको नहीं जाननेवाले तथा विषय कषायसे अधिक पुरुषोंकी सेवा करना, टहल चाकरी करना और उन्हें दान देना कुदेवों तथा नीच मनुष्योंमें फलता है।।५७।।

आगे इसीका समर्थन करते हैं --

जदि ते विसयकसाया, पावत्ति परूविदा व सत्थेसु।
कह[४] ते [५]तप्पडिबद्धा, पुरिसा नित्थारगा होंति।।५८।।

यदि वे विषय कषाय पाप हैं इस प्रकार शास्त्रोंमें कहे गये हैं तो उन पापरूप विषय कषायोंमें आसक्त पुरुष संसारसे तारनेवाले कैसे हो सकते हैं? अर्थात् किसी भी प्रकार नहीं हो सकते।।५८।।

आगे पात्रभूत तपोधन का लक्षण कहते हैं --

---

१. विसयकषायादिगेसु ज.वृ. । २. पुरुसेसु ज. वृ.। ३. मणुवेसु ज. वृ. । ४. किह ज. वृ. । ५. तं पडिबद्धा ज. वृ. ।

उवरदपावो पुरिसो, समभावो धम्मिगेसु सव्वेसु।
गुणसमिदिदोवसेवी, हवदि स भागी सुमग्गस्स।।५९।।

जो पुरुष पापोंसे विरत है, समस्त धर्मात्माओंमें साम्यभाव रखता है और गुणसमूहको सेवा करता है वह सुमार्गका भागी है अर्थात् मोक्षमार्गका पथिक है।।५९।।

आगे इसीको पुनः स्पष्ट करते हैं --

असुभोवयोगरहिदा, सुद्धुवजुत्ता सुहोवजुत्ता वा।
णित्थारयंति लोगं, तेसु पसत्थं लहदि भत्तो।।६०।।

जो अशुभोपयोगसे रहित हैं और शुद्धोपयोग अथवा शुभोपयोगसे युक्त हैं वे उत्तम मुनि भव्य मनुष्यको तारते हैं। उनकी भक्ति करनेवाला मनुष्य प्रशस्त फलको पाता है।।६०।।

आगे गुणाधिक मुनियोंके प्रति कैसी प्रवृत्ति करनी चाहिए यह कहते हैं --

दिट्ठा पगदं वत्थू, अब्भुट्ठाणप्पधाणकिरियाहिं।
वट्टदु तदो गुणादो, विसेसिदव्वोत्ति[1] उवदेसो।।६१।।

इसलिए निर्विकार निर्ग्रंथ रूपके धारक उत्तम पात्रको देखकर जिनमें उठकर खड़े होनेकी प्रधानता है ऐसी क्रियाओंसे प्रवृत्ति करना चाहिए, क्योंकि गुणोंके द्वारा आदर विनयादि विशेष करना योग्य है ऐसा अरहंत भगवान्का उपदेश है [2]।।६१।।

आगे अब्भ्युत्थानादि क्रियाओंको विशेष रूपसे बतलाते हैं --

अब्भुट्ठाणं गहणं, उवासणं पोसणं च सक्कारं।
अंजलिकरणं पणमं, भणिदं इह गुणाधिगाणं हि।।६२।।

इस लोकमें निश्चयपूर्वक अपनेसे अधिक गुणवाले महापुरुषोंके लिए उठकर खड़े होना, आइये, आइये आदि कहकर अंगीकार करना, समीपमें बैठकर सेवा करना, अन्नपानादिकी व्यवस्था कराकर पोषण करना, गुणोंकी प्रशंसा करते हुए सत्कार करना, विनयसे हाथ जोड़ना तथा नमस्कार करना योग्य कहा गया है।।६२।।

आगे श्रमणाभास मुनियोंके विषयमें उक्त समस्त क्रियाओंका निषेध करते हैं --

अब्भुट्ठेया समणा, सुत्तत्थविसारदा उपासेया।
संजमतवणाणड्ढा, पणिवदणीया हि समणेहिं।।६३।।

---

१. विशेषदव्वत्ति ज. वृ. । २. ज. वृ. में इस गाथाका ऐसा भाव प्रकट किया गया है कि निर्विकार निर्ग्रंथ रूपके धारक तपोधनको अपने संघमें आता देख तीन दिन पर्यंत उनका उठकर खड़े होना आदि सामान्य क्रियाओं द्वारा सत्कार करना चाहिए और तीन दिन बाद विशिष्ट परिचय होनेपर गुणोंके अनुसार उनके सत्कारमें विशेषता करनी चाहिए।

जो आगमके अर्थमें निपुण हैं तथा संयम तप और ज्ञानसे सहित हैं ऐसे मुनि ही निश्चयसे अन्य मुनियोंके द्वारा सेवा करनेके योग्य तथा वंदना करनेके योग्य हैं।

जो उक्त गुणोंसे रहित हैं ऐसे श्रमणाभास मुनियोंके प्रति अभ्युत्थानादि क्रियाओंका प्रतिषेध है।।६३।।

आगे श्रमणाभासका लक्षण कहते हैं --

ण हवदि समणो त्ति मदो, संजमतवसुत्तसंपजुत्तो वि ।
जदि सद्दहदि ण अत्थे, आदपधाणे जिणक्खादे।।६४।।

यदि कोई मुनि संयम, तप तथा आगमसे युक्त होकर भी जिनेंद्र भगवान्‌के द्वारा कहे हुए जीवादि पदार्थका श्रद्धान नहीं करता है तो वह श्रमण नहीं है -- मुनि नहीं है ऐसा माना गया है।

सम्यग्दर्शनसे हीन मुनि श्रमणाभास कहलाता है।।६४।।

आगे समीचीन मुनिको जो दोष लगाता है वह चारित्रहीन है ऐसा कहते हैं --

अववददि सासणत्थं, समणं दिट्ठा पदोसदो जो हि।
किरियासु णाणुमण्णदि, हवदि हि सो णट्ठचारित्तो।।६५।।

जो मुनि जिनेंद्रदेवकी आज्ञामें स्थित अन्य मुनिको देखकर द्वेषवश उनकी निंदा करता है तथा अभ्युत्थान आदि क्रियाओंके होनेपर प्रसन्न नहीं होता वह निश्चयसे चारित्ररहित है।।६५।।

आगे जो स्वयं गुणहीन होकर अपनेसे अधिक गुणवाले मुनिसे अपनी विनय कराना चाहता है उसकी निंदा करते हैं --

गुणदोधिगस्स विणयं, पडिच्छगो जोवि होमि समणोत्ति।।
होज्जं गुणाधरो जदि, सो होदि अणंतसंसारी।।६६।।

जो मुनि स्वयं गुणोंका धारक न होता हुआ भी 'मैं मुनि हूँ ' इस अभिमानवश अधिक गुणवाले महामुनियोंसे विनयकी इच्छा करता है वह अनंतसंसारी है अर्थात् अनंत कालतक संसारमें भ्रमण करनेवाला है।।६६।।

आगे जो स्वयं गुणाधिक होकर हीनगुणवाले मुनिकी वंदनादि क्रिया करता है उसकी निंदा करते हैं --

अधिगगुणा सामण्णे, वट्टंति गुणाधरेहिं किरियासु।
जदि ते मिच्छुवजुत्ता, हवंति पब्भट्ठचारित्ता।।६७।।

जो मुनि मुनिपदमें स्वयं अधिक गुणवाले होकर गुणहीन मुनियोंके साथ वंदनादि क्रियाओंमें प्रवृत्त होते हैं अर्थात् उन्हें नमस्कारादि करते हैं वे मिथ्यात्वसे युक्त तथा चारित्रसे भ्रष्ट होते हैं।।६७।।

आगे मुनिका असत्संगसे बचना चाहिए ऐसा कहते हैं --

णिच्छिदसुत्तत्थपदो, समिदकसायो[१] तवोधिगो[२] चावि।
लोगिगजणसंसग्गं, ण [३]जहदि जदि संजदो ण[४] हवदि।।६८।।

जिसने आगमके अर्थ और पदोंका निश्चय किया है, जिसकी कषायें शांत हो चुकी हैं और जो तपश्चरणसे अधिक है ऐसा होकर भी यदि मुनि लौकिक मनुष्योंके संसर्गको नहीं छोड़ता है तो वह संयमी नहीं है।६८।।[५]

आगे लौकिक मनुष्यका लक्षण कहते हैं --

णिग्गंथं पव्वइदो[६], वट्टदि जदि एहिगेहि कम्मेहिं।
सो लोगिगोदि भणिदो, संजमतवसंपजुत्तोवि[७]।।६९।।

यदि कोई मुनि निर्ग्रंथ दीक्षा धारण करके इस लोकसंबंधी ज्योतिष तंत्र मंत्र आदि क्रियाओं द्वारा प्रवृत्ति करता है तो वह संयम तथा तपसे युक्त होता हुआ भी लौकिक है ऐसा कहा गया है।।६९।।

आगे सत्संग करना चाहिए ऐसा कहते हैं --

तम्हा समं गुणादो, समणो समणं गुणेहिं वा अहियं।
अधिवसदु तम्हि णिच्चं, इच्छदि जदि दुक्खपरिमोक्खं।।७०।।

इसलिए यदि साधु दुःखसे छुटकारा चाहता है तो वह निरंतर ऐसे मुनिके साथ रहे जो कि गुणोंकी अपेक्षा अपने समान हो अथवा अपनेसे अधिक हो।।७०।।

आगे संसार तत्त्वका उद्घाटन करते हैं --

जे अजधागहिदत्था, एदे तच्चत्ति णिच्छिदा समये।
अच्चंतफलसमिद्धं, भमंति तेत्तो परं कालं।।७१।।

जो जिनमतमें स्थित होकर भी पदार्थको ठीक-ठीक ग्रहण नहीं करते हैं और अतत्त्वको 'यह तत्त्व है' ऐसा निश्चित कर बैठे हैं वे वर्तमान कालसे लेकर अनंत फलोंसे परिपूर्ण दीर्घकाल तक भ्रमण करते रहते हैं।।७१।।

आगे मोक्षतत्त्वका स्वरूप बतलाते हैं --

---

१. समितकषाओ ज. वृ.। २. तओधिगो ज. वृ. । ३. चयदि ज. वृ. । ४. णविदि ज. वृ. ।

४. ६८ वीं गाथाके आगे ज. वृ. में निम्न गाथा अधिक व्याख्यात है --

तिसिदं व भुक्खिदं वा दुहिंदं दट्ठूण जो हि दुहिदमणो।
पडिवज्जदि तं किवया तस्सेसा होदि अणुकंपा।।१।।

६. पव्वयिदो ज.वृ.। ७ ... संजुदो चावि ज. वृ. ।

अजधाचारविजुत्तो, जदत्थपदणिच्छिदोपसंतप्पा।
अफले चिरं ण जीवदि, इह सो संपुण्णसामण्णो।।७२।।

जो मिथ्याचरित्रसे रहित है तथा यथावस्थित पदार्थोंका निश्चय होनेसे जिसकी आत्मा शांत है -- कषायके उद्रेकसे रहित है वह संपूर्ण मुनिपदको धारण करनेवाला मुनि इस निःसार संसारमें चिरकाल तक जीवित नहीं रहता अर्थात् शीघ्र ही मुक्त हो जाता है।।७२।।

आगे मोक्षतत्त्वका साधनतत्त्व दिखलाते हैं --

सम्मं विदिदपदत्था, चत्ता उवहिं बहित्थमज्झत्थं।
विसयेसु णावसत्ता, जे ते सुद्धत्ति णिद्दिट्ठा।।७३।।

जिन्होंने यथार्थ रूपसे समस्त तत्त्वोंको जान लिया है और जो बहिरंग तथा अंतरंग परिग्रहको छोड़कर पंचेंद्रियोंके विषयोंमें लीन नहीं हैं वे महामुनि शुद्ध हैं -- मोक्षतत्त्वको साधन करनेवाले हैं ऐसा कहा गया है।।७३।।

आगे मोक्षतत्त्वका साधनतत्त्व सब मनोरथोंका स्थान है ऐसा कहते हैं --

सुद्धस्स य सामण्णं, भणियं सुद्धस्स दंसणं णाणं।
सुद्धस्स य णिव्वाणं, सोच्चिय सिद्धो णमो तस्स।।७४।।

साक्षात् मोक्षतत्त्वको साधन करनेवाले शुद्धोपयोगी मुनिके ही मुनिपद कहा गया है, उसीके दर्शन और ज्ञान कहे गये हैं, उसीके मोक्ष कहा गया है और वही सिद्धस्वरूप है। ऐसे शुद्धोपयोगी महामुनिको नमस्कार हो।।७४।।

आगे शिष्यजनोंको शास्त्रका फल दिखलाते हुए प्रकृत ग्रंथको समाप्त करते हैं --

बुज्झदि सासणमेयं, सागारणगारचरिययया जुत्तो।
जो सो पवयणसारं, लहुणा कालेण पप्पोदि।।७५।।

जो पुरुष, गृहस्थ अथवा मुनिकी चर्यासे युक्त होता हुआ अरहंत भगवान्के इस शासनको समझता है वह अल्प कालमें ही प्रवचनसारको -- सिद्धांतके रहस्यभूत परमात्मभावको पा लेता है।।

***

नियमसार

*

नियमसार

जीवाधिकार

मंगलाचरण और प्रतिज्ञावाक्य

णमिऊण जिणं वीरं, अणंतवरणाणदंसणसहावं।
वोच्छामि णियमसारं, केवलिसुदकेवलीभणिदं।।१।।

अनंत और उत्कृष्ट ज्ञान दर्शन स्वभावसे युक्त श्री महावीर जिनेंद्रको नमस्कार कर मैं केवली और श्रुतकेवली द्वारा कहे हुए नियमसारको कहूँगा।।१।।

मोक्षमार्ग और उसका फल

मग्गो मग्गफलं ति य, दुविहं जिणसासणे समक्खादं।
मग्गो मोक्खउवाओ, तस्स फलं होइ णिव्वाणं।।२।।

जिनशासनमें मार्ग और मार्गफल इस तरह दो प्रकारका कथन किया गया है। इनमें मोक्ष का उपाय अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र मार्ग है और निर्वाणकी प्राप्ति होना मार्गका फल है।।२।।

नियमसार पदकी सार्थकता

णियमेण य जं कज्जं, तण्णियमं णाणदंसणचरित्तं।
विवरीयपरिहरत्थं, भणिदं खलु सारमिदि वयणं।।३।।

नियमसे जो करनेयोग्य है वह नियम है; ऐसा नियम ज्ञान, दर्शन, चारित्र है। इनमें विपरीत अर्थात् मिथ्याज्ञान, मिथ्यादर्शन और मिथ्याचारित्रका परिहार करनेके लिए 'सार' यह वचन नियमसे कहा गया है।

भावार्थ -- नियमसारका अर्थ सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र है। इन्हींका इस ग्रंथमें वर्णन किया जायेगा।।३।।

नियम और उसका फल

णियमं मोक्खउवाओ, तस्स फलं हवदि परमणिव्वाणं।
एदेसिं तिण्हं पि य, पत्तेयपरूवणा होई।।४।।

नियम अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र मोक्षका उपाय है और उसका फल

परमनिर्वाण है। इस ग्रंथमें इन तीनोंका पृथक्-पृथक् निरूपण है।।४।।

व्यवहार सम्यग्दर्शनका स्वरूप

अत्तागमतच्चाणं, सद्दहणादो हवेइ सम्मत्तं।
ववगयअसेसदोसो, सयलगुणप्पा हवे अत्ता।।५।।

आप्त, आगम और तत्त्वोंके श्रद्धानसे सम्यग्दर्शन होता है। जिसके समस्त दोष नष्ट हो गये हैं तथा जो समस्त गुणोंसे तन्मय है ऐसा पुरुष आप्त कहलाता है।।५।।

अठारह दोषोंका वर्णन

[१]छुहतण्हभीरुरोसो, रागो मोहो चिंता जरा रुजा मिच्चू।
स्वेदं खेद मदो रइ, विम्हियणिद्दा जणुव्वेगो।।६।।

क्षुधा, तृष्णा, भय, द्वेष, राग, मोह, चिंता, बुढ़ापा, रोग, मृत्यु, पसीना, खेद, मद, रति, विस्मय, निद्रा, जन्म और उद्वेग ये अठारह दोष हैं।।६।।

परमात्माका स्वरूप

णिस्सेसदोसरहिओ, केवलणाणाइपरमविभवजुदो ।
सो परमप्पा उच्चइ, तव्विवरीओ ण परमप्पा।।७।।

जो (पूर्वोक्त) दोषोंसे रहित है तथा केवलज्ञान आदि परम वैभवसे युक्त है वह परमात्मा कहा जाता है। उससे जो विपरीत है वह परमात्मा नहीं है।।७।।

आगम और तत्त्वार्थका स्वरूप

तस्स मुहग्गदवयणं, पुव्वापरदोसविरहियं सुद्धं।
आगममिदि परिकहियं, तेण दु कहिया हवंति तच्चत्था।।८।।

उन परमात्माके मुखसे निकले हुए वचन, जो कि पूर्वापर दोषसे रहित तथा शुद्ध हैं 'आगम' इस शब्दसे कहे गये हैं और उस आगमके द्वारा कहे गये जो पदार्थ हैं वे तत्त्वार्थ हैं।।८।।

तत्त्वार्थोंका नामोल्लेख

जीवा पोग्गलकाया, धम्माधम्मा य काल आयासं।
तच्चत्था इदि भणिदा, णाणागुणपज्जएहिं संजुत्ता।।९।।

---

१. क्षुधा तृषा भयं द्वेषो रागो मोहश्च चिन्तनम्।
जरा रुजा च मृत्युश्च स्वेदः खेदो मदो रतिः।।१५।।
विस्मयो जननं निद्रा विषादोऽष्टादश ध्रुवाः।
त्रिजगत्सर्वभूतानां दोषाः साधारणा इमे।।१६।।

जीव, पुद्गलकाय, धर्म, अधर्म, काल और आकाश ये तत्त्वार्थ कहे गये हैं। ये तत्त्वार्थ अनेक गुण और पर्यायोंसे संयुक्त हैं।।

जीवका लक्षण तथा उपयोगके भेद

जीवो उवओगमओ, उवओगो णाणदंसणो होइ।
णाणुवओगो दुविहो, सहावणाणं विभावणाणं त्ति।।१०।।

जीव उपयोगमय है अर्थात् जीवका लक्षण उपयोग है। उपयोग ज्ञानदर्शनरूप है अर्थात् उपयोगके ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोगके भेदसे दो भेद हैं। उनमें ज्ञानोपयोग स्वभावज्ञान और विभावज्ञानके भेदसे दो प्रकारका है।।१०।।

स्वभावज्ञान और विभावज्ञानका विवरण

केवलमिंदियरहियं, असहायं तं सहावणाणं त्ति।
सण्णादिदरवियप्पे, विहावणाणं हवे दुविहं।।११।।

इंद्रियोंसे रहित तथा प्रकाश आदि बाह्य पदार्थोंकी सहायतासे निरपेक्ष जो केवलज्ञान है वह स्वभावज्ञान है। सम्यग्ज्ञान और मिथ्याज्ञानके विकल्पसे विभावज्ञान दो प्रकारका है।।११।।

सम्यग्विभावज्ञान तथा मिथ्या विभावज्ञानके भेद

सण्णाणं चउभेदं, मदिसुदओही तहेव मणपज्जं।
अण्णाणं तिवियप्पं, मदियाई भेददो चेव।।१२।।

सम्यग्विभावज्ञानके चार भेद हैं -- मति, श्रुत, अवधि और मनःपर्यय। और अज्ञानरूप विभावज्ञान कुमति, कुश्रुत तथा कुअवधिके भेदसे तीन प्रकारका है।।१२।।

दर्शनोपयोगके भेद

तह दंसणउवओगो, ससहावेदरवियप्पदो दुविहो।
केवलमिंदियरहियं, असहायं तं सहावमिदि भणिदं।।१३।।

उसी प्रकार दर्शनोपयोग, स्वभावदर्शनोपयोग और विभावदर्शनोपयोगके भेदसे दो प्रकारका है। इनमें इंद्रियोंसे रहित तथा परपदार्थकी सहायतासे निरपेक्ष जो केवलदर्शन है वह स्वभावदर्शन है इस प्रकार कहा गया है।

विभावदर्शन और पर्यायके भेद

चक्खु अचक्खू ओही, तिण्णिवि भणिदं विभावदिच्छित्ति।
पज्जाओ दुवियप्पो, सपरावेक्खो य णिरवेक्खो।।१४।।

चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन और अवधिदर्शन ये तीनों दर्शन, विभावदर्शन हैं इस प्रकार कहा गया है।

स्वपरापेक्ष और निरपेक्षके भेदसे पर्यायके दो भेद हैं।।

विभावपर्याय और स्वभावपर्यायका विवरण

णरणारयतिरियसुरा, पज्जाया ते विभावमिदि भणिदा।
कम्मोपाधिविवज्जिय,पज्जाया ते सहावमिदि भणिदा।।१५।।

मनुष्य, नारक, तिर्यंच और देव ये विभावपर्यायें कही गयी हैं तथा कर्मरूप उपाधिसे रहित जो पर्यायें हैं वे स्वभावपर्यायें कही गयी हैं।।१५।।

मनुष्यादि पर्यायोंका विस्तार

माणुस्सा दुवियप्पा, कम्ममहीभोगभूमिसंजादा।
सत्तविहा णेरइया, णादव्वा पुढविभेएण।।१६।।

कर्मभूमिज और भोगभूमिजके भेदसे मनुष्य दो प्रकारके हैं तथा पृथिवियोंके भेदसे नारकी सात प्रकारके जानने चाहिए।।१६।।

चउदहभेदा भणिया, तेरिच्छा सुरगणा चउब्भेदा।
एदेसिं वित्थारं, लोयविभागेसु णादव्वं।।१७।।

तिर्यंचोंके चौदह और देवसमूहके चार भेद कहे गये हैं। इन सबका विस्तार लोकविभागमें जानना चाहिए।

भावार्थ -- सूक्ष्म एकेंद्रिय पर्याप्तक, अपर्याप्तक, बादरएकेंद्रिय पर्याप्तक, अपर्याप्तक, द्वींद्रिय पर्याप्तक, अपर्याप्तक, त्रींद्रिय पर्याप्तक, अपर्याप्तक, चतुरिंद्रिय पर्याप्तक, अपर्याप्तक, असंज्ञिपंचेंद्रिय पर्याप्तक, अपर्याप्तक और संज्ञिपंचेंद्रिय पर्याप्तक, अपर्याप्तकके भेदसे तिर्यंचोंके चौदह भेद हैं। तथा भवनवासी, व्यंतर, ज्योतिष्क और वैमानिकके भेदसे देवसमूहके चार भेद हैं। इन सबका विस्तार लोकविभाग नामक परमागममें जानना चाहिए।।१७।।

आत्माके कर्तृत्व-भोक्तृत्वका वर्णन

कर्ता भोत्ता आदा, पोग्गलकम्मस्स होदि ववहारा।
कम्मजभावेणादा, कत्ता भोत्ता दु णिच्छयदो।।१८।।

आत्मा पुद्गल कर्मका कर्ता भोक्ता व्यवहारसे है और आत्मा कर्मजनित भावका कर्ता भोक्ता निश्चयसे अर्थात् अशुद्ध निश्चयसे है।

भावार्थ -- अनुपचरित असद्भूत व्यवहार नयकी अपेक्षा आत्मा द्रव्यकर्मका कर्ता और उसके फलका भोक्ता है और अशुद्ध निश्चय नयकी अपेक्षा कर्मजनित मोह राग द्वेष आदि भावकर्मका कर्ता तथा भोक्ता है। अनुपचरित असद्भूत व्यवहार नयसे शरीरादि नोकर्मका कर्ता है तथा उपचरित असद्भूत

व्यवहार नयसे घटपटादिका कर्ता है। यह अशुद्ध जीवका कथन है।

द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नयसे जीवकी पर्यायोंका वर्णन

दव्वत्थिएण जीवा, वदिरित्ता पुव्वभणिदपज्जाया।
पज्जयणएण जीवा, संजुत्ता होंति दुविहेहिं।।१९।।

द्रव्यार्थिक नयसे जीव, पूर्वकथित पर्यायोंसे व्यतिरिक्त -- भिन्न है और पर्यायार्थिक नयसे जीव स्वपरापेक्ष तथा निरपेक्ष -- दोनों प्रकारकी पर्यायोंसे संयुक्त है।।

भावार्थ -- यहाँ द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा जीवकी भिन्नता तथा अभिन्नता का वर्णन किया गया है इसलिए स्याद्वादकी शैलीसे जीवका स्वरूप समझना चाहिए।।१९।।

इस प्रकार श्री कुंदकुंदाचार्य विरचित नियमसार ग्रंथमें
जीवाधिकार नामका पहला अधिकार समाप्त हुआ।

**

२
अजीवाधिकार

पुद्गल द्रव्यके भेदोंका कथन

अणुखंधवियप्पेण दु, पोग्गलदव्वं हवेइ दुवियप्पं।
खंधा हु छप्पयारा, परमाणू चेव दुवियप्पो।।२०।।

अणु और स्कंधके विकल्पसे पुद्गल द्रव्य दो विकल्पवाला है। इनमें स्कंध छह प्रकारके हैं और अणु दो भेदोंसे युक्त है।

भावार्थ -- प्रथम ही पुद्गल द्रव्यके दो भेद हैं -- १. स्वभाव पुद्गल और २. विभाव पुद्गल। उनमें परमाणु स्वभाव पुद्गल है और स्कंध विभाव पुद्गल है। स्वभाव पुद्गलके कार्यपरमाणु और कारण परमाणुकी अपेक्षा दो भेद हैं तथा विभाव पुद्गल -- स्कंधके अतिस्थूल आदि छह भेद हैं। इन छह भेदोंके नाम तथा उदाहरण आगेकी गाथाओंमें स्पष्ट किये गये हैं।।२०।।

स्कंधोंके छह भेद

अइथूलथूल थूलं, थूलसुहुमं च सुहुमथूलं च।
सुहुमं अइसुहुमं इदि, धरादियं होदि छब्भेयं।।२१।।

भूपव्वदमादीया, भणिदा अइथूलथूलमिदि खंधा।
थूला इदि विण्णेया, सप्पीजलतेलमादीया।।२२।।
छायातवमादीया, थूलेदरखंधमिदि वियाणाहि।
सुहुमथूलेदि भणिया, खंधा चउरक्खविसया य।।२३।।
सुहुमा हवंति खंधा, पावोग्गा कम्मवग्गणस्स पुणो।
तव्विवरीया खंधा, अइसुहुमा इदि परूवेंदि।।२४।।

अतिस्थूल, स्थूल, स्थूलसूक्ष्म, सूक्ष्मस्थूल, सूक्ष्म और अतिसूक्ष्म ऐसे पृथिवी आदि स्कंधके छह भेद हैं।।२१।।

भूमि पर्वत आदि अतिस्थूल स्कंध कहे गये हैं तथा घी, जल, तेल आदि स्थूल स्कंध हैं ऐसा जानना चाहिए।।२२।।

छाया आतप आदि स्थूलसूक्ष्म स्कंध हैं ऐसा जानो। तथा चार इंद्रियोंके विषय सूक्ष्मस्थूल स्कंध हैं ऐसा कहा गया है।।२३।।

कर्मवर्गणारूप होनेके योग्य स्कंध सूक्ष्म हैं और इनसे विपरीत अर्थात् कर्मवर्गणारूप न होनेके योग्य स्कंध अतिसूक्ष्म हैं ऐसा आचार्य निरूपण करते हैं।।२४।।

भावार्थ -- जो पृथक् करनेपर पृथक् हो जावें और मिलानेपर मिल न सकें ऐसे पुद्गल स्कंधोंको अतिस्थूलस्थूल कहते हैं, जैसे पृथिवी, पर्वत आदि। जो पृथक् करनेपर पृथक् हो जावें और मिलानेपर पुनः मिल जावें ऐसे पुद्गल स्कंधोंको स्थूल कहते हैं, जैसे घी, जल, तेल आदि तरल पदार्थ। जो नेत्रोंसे दिखायी तो देते हैं पर ग्रहण नहीं किये जा सकते ऐसे स्कंधोंको स्थूलसूक्ष्म कहते हैं, जैसे छाया, आतप आदि। जो नेत्रोंसे देखनेमें तो नहीं आते परंतु अपनी-अपनी इंद्रियों द्वारा ग्रहण किये जाते हैं ऐसे स्कंधोंको सूक्ष्मस्थूल कहते हैं, जैसे कर्ण, घ्राण, रसना और स्पर्शन इंद्रियके विषयभूत शब्द, गंध, रस और स्पर्श। जो कर्मवर्गणारूप परिणमन करनेके योग्य हैं ऐसे स्कंध सूक्ष्म कहलाते हैं, ये इंद्रियज्ञानके द्वारा नहीं जाने जाते मात्र कार्यद्वारा इनका अनुमान होता है। तथा जो इतने सूक्ष्म हैं कि कर्मवर्गणारूप परिणमन नहीं कर सकते उन्हें अतिसूक्ष्म स्कंध कहते हैं, ये अवधिज्ञानादि द्वारा प्रत्यक्ष ज्ञानके द्वारा जाने जाते हैं।।२१-२४।।

कारण परमाणु और कार्य परमाणु का लक्षण

धाउचउक्कस्स पुणो, जं हेऊ कारणंति तं णेयो।
खंधाणां अवसाणो, णादव्वो कज्जपरमाणू।।२५।।

जो पृथ्वी, जल, तेज और वायु इन चार धातुओंका कारण है उसे कारण परमाणु जानना चाहिए और स्कंधोंके अवसानको अर्थात् स्कंधोंमें भेद होते-होते जो अंतिम अंश रहता है उसे कार्यपरमाणु जानना

चाहिए।

भावार्थ -- पृथिवी, जल, अग्नि और वायुका जो रूप अपने ज्ञानमें आता है वह अनेक परमाणुओंके मेलसे बना हुआ स्कंध है। इस स्कंधके बननेमें जो परमाणु मूल कारण हैं वे कारणपरमाणु कहलाते हैं। स्निग्ध और रूक्ष गुणके कारण परमाणु परस्परमें मिलकर स्कंध बनते हैं। जब उनमें स्निग्धता और रूक्ष गुणोंका नाश होता है तब विघटन होता है। इस तरह विघटन होते होते जो अंतिम अंश -- अविभाज्य अंश रह जाता है वह कार्य परमाणु कहलाता है।।२५।।

परमाणुका लक्षण

अत्तादि अत्तमज्झं, अत्तंतं णेव इंदिए गेज्झं।
अविभागी जं दव्वं, परमाणू तं वियाणाहि।।२६।।

आपही जिसका आदि है, आप ही जिसका मध्य है, आप ही जिसका अंत है, जो इंद्रियोंके द्वारा ग्रहणमें नहीं आता तथा जिसका दूसरा विभाग नहीं हो सकता उसे परमाणु द्रव्य जानो।

भावार्थ -- परमाणु एकप्रदेशी होनेसे उसमें आदि, मध्य और अंतका विभाग नहीं होता तथा उतना सूक्ष्म परिणमन है कि वह इंद्रियोंके द्वारा ग्राह्य नहीं होता। इसी तरह एकप्रदेशी होनेसे उसमें विभाग नहीं हो पाता है।।२६।।

परमाणुके स्वभावगुण और विभावगुणका वर्णन

एयरसरूवगंधं, दोफासं तं हवे सहावगुणं।
विहावगुणमिदि भणिदं, जिणसमये सव्वपयडत्तं।।२७।।

एक रस, एक रूप, एक गंध और दो स्पर्शोंसे युक्त जो परमाणु है वह स्वभावगुणवाला है और द्व्यणुक आदि स्कंध दशामें अनेक रस, अनेक रूप, अनेक गंध और अनेक स्पर्शवाला जो परमाणु है वह जिनशासनमें सर्वप्रकट रूपसे विभाव गुणवाला है ऐसा कहा गया है।

भावार्थ -- जो परमाणु स्कंध दशासे विघटित होकर एकप्रदेशीपनको प्राप्त हुआ है उसमें खट्टा, मीठा, कडुआ, कषायला और चिर्परा इन पाँच रसोंमेंसे कोई एक रस होता है, श्वेत, पीत, नील, लाल और कृष्ण इन पाँच वर्णोंमेंसे कोई एक वर्ण होता है, सुगंध दुर्गंध इन दो गंधोंमेंसे कोई एक गंध होता है और शीत उष्णसे कोई एक तथा स्निग्ध रूक्षमेंसे कोई एक इस प्रकार दो स्पर्श होते हैं। कर्कश, मृदु, गुरु और लघु ये चार स्पर्श आपेक्षिक होनेसे परमाणुमें विवक्षित नहीं है। इस प्रकार पाँच गुणोंसे युक्त परमाणु स्वभाव गुणवाला परमाणु कहा गया है, परंतु यही परमाणु जब स्कंध दशामें अनेक रस, अनेक रूप, अनेक गंध और अनेक स्पर्शोंसे युक्त होता है तब विभावगुण वाला कहा गया है। तात्पर्य यह है कि परमाणु स्वभाव पुद्गल है और स्कंध विभावपुद्गल है।।२७।।

पुद्गलकी स्वभाव पर्याय और विभाव पर्यायका वर्णन

अण्णणिरावेक्खो जो, परिणामो सो सहावपज्जायो।
खंधसरूवेण पुणो, परिणामो सो विहावपज्जायो।।२८।।

जो अन्यनिरपेक्ष परिणाम है वह स्वभावपर्याय है और स्कंधरूपसे जो परिणाम है वह विभाव पर्याय है।

भावार्थ -- पुद्गल द्रव्यका परमाणुरूप जो परिणमन है वह अन्य परमाणुओंसे निरपेक्ष होनेके कारण स्वभाव पर्याय है और स्कंधरूप जो परिणमन है वह अन्य परमाणुओंसे सापेक्ष होनेके कारण विभाव पर्याय है।।२८।।

परमाणुमें द्रव्यरूपताका वर्णन

पोग्गलदव्वं उच्चइ, परमाणू णिच्छएण इदरेण।
पोग्गलदव्वेत्ति पुणो, ववदेसो होदि खंधस्स।।२९।।

निश्चय नयसे परमाणुको पुद्गल द्रव्य कहा जाता है और व्यवहारसे स्कंधके 'पुद्गल द्रव्य है' ऐसा व्यपदेश होता है।

भावार्थ -- पुद्गल द्रव्यके परमाणु और स्कंधकी अपेक्षा दो भेद हैं। दोनों भेदोंमें द्रव्य और पर्यायरूपता है, क्योंकि द्रव्यके बिना पर्याय नहीं रहता और पर्यायके बिना द्रव्य नहीं रहता ऐसा आगमका उल्लेख है। यहाँ निश्चयनयकी अपेक्षा परमाणुको द्रव्य और स्कंधको पर्याय कहा गया है। स्कंधमें जो पुद्गल द्रव्यका व्यवहार होता है अथवा परमाणुमें जो पर्यायका व्यवहार होता है उसे व्यवहार नयका विषय बताया है, एतावता नयविवक्षासे दोनोंमें उभयरूपता है।।२९।।

धर्म, अधर्म और आकाश द्रव्यका लक्षण

गमणणिमित्तं धम्ममधम्मं ठिदि जीवपुग्गलाणं च।
अवगहणं आयासं, जीवादीसव्वदव्वाणं।।३०।।

जो जीव और पुद्गलोंके गमनका निमित्त है वह धर्म है। जो जीव और पुद्गलोंकी स्थितिका निमित्त है वह अधर्म है। तथा जो जीवादि समस्त द्रव्योंके अवगाहनका निमित्त है वह आकाश है।

भावार्थ -- छह द्रव्योंमें सिर्फ जीव और पुद्गल द्रव्यमें क्रिया है, शेष चार द्रव्य क्रियारहित हैं। जिनमें क्रिया होती है उन्हींमें क्रियाका अभाव होनेपर स्थितिका व्यवहार होता है। इस तरह जीव और पुद्गल इन दो द्रव्योंकी क्रियामें जो प्रेरक तत्त्व है वह धर्म द्रव्य है तथा उन्हीं दो द्रव्योंमें जो अप्रेरक निमित्त है वह अधर्म द्रव्य है। अवगाहन समस्त द्रव्योंका होता है इसलिए आकाशका लक्षण बतलाते हुए कहा गया है कि जो जीवादि समस्त द्रव्योंके अवगाहन स्थान देनेमें निमित्त है वह आकाश द्रव्य है।।३०।।

व्यवहारकालका वर्णन

समयावलिभेदेण दु, दुवियप्पं अहव होइ तिवियप्पं।
तोदो संखेज्जावलिहदसंठाणप्पमाणं तु ।।३१।।

समय और आवलिके भेदसे व्यवहार कालके दो भेद हैं अथवा अतीत, वर्तमान और भविष्यत्के भेदसे तीन भेद हैं। उनमें काल, आवलि तथा हतसंस्थान अर्थात् संस्थानसे रहित सिद्धोंका जितना प्रमाण है उतना है।

भावार्थ -- व्यवहारकालसे समय और आवलिकी अपेक्षा दो भेद हैं। इनमें समय काल द्रव्यकी सबसे लघु पर्याय है। असंख्यात समयोंकी एक आवलि होती है। यहाँ आवलि, निमेष, काष्ठा, कला, नाड़ी, दिन रात आदिका उपलक्षण है। दूसरी विधिसे कालके भूत, वर्तमान और भविष्यत्की अपेक्षा तीन भेद हैं। इनमें भूतकाल संख्यात आवलि तथा सिद्धोंके बराबर है[1]।।३१।।

भविष्यत् तथा वर्तमान कालका लक्षण और निश्चयकालका स्वरूप

जीवा दु पुग्गलादोऽणंतगुणा भावि[2] संपदा समया।
लोयायासे संति य, परमट्ठो सो हवे कालो।।३२।।

भावी अर्थात् भविष्यत् काल जीव तथा पुद्गलसे अनंतगुणा है। संप्रति अर्थात् वर्तमान काल समयमात्र है। लोकाकाशके प्रदेशोंपर जो कालाणु हैं वह परमार्थ अर्थात् निश्चय काल है।।३२।।

जीवादि द्रव्योंके परिवर्तनका कारण तथा धर्मादि चार द्रव्योंकी स्वभाव गुणपर्यायरूपताका वर्णन

जीवादीदव्वाणं, परिवट्टणकारणं हवे कालो।
धम्मादिचउण्णाणं, सहावगुणपज्जया होंति।।३३।।

जीवादि द्रव्योंके परिवर्तनका कारण काल है। धर्मादिक चार द्रव्योंके स्वभाव गुण पर्यायें होती हैं।

---

१. यहाँ 'तीदो संखेज्जावलिहदसंठाणप्पमाणं तु' इस पाठके बदले गोम्मटसार जीवकांड में 'तीदो संखेज्जावलिहदसिद्धाणं पमाणं तु' ऐसा पाठ है जिसका अर्थ होता है -- संख्यात आवलिसे गुणित सिद्धोंका जितना प्रमाण है उतना अतीत काल है।

२. मुद्रित प्रतियोंमें 'चावि' पाठ है जोकि त्रुटिपूर्ण जान पड़ता है। वर्तमान और भविष्यत् कालका लक्षण जीवकांडमें भी इस प्रकार बताया है --

समओ दु वट्टमाणो जीवादो सव्वपुग्गलातो वि।
भावी अणंतगुणिदो इदि ववहारो हवे कालो।।५७८।।

वर्तमान काल समयमात्र है और भावीकाल जीवों तथा समस्त पुद्गल द्रव्योंसे अनंतगुणा है। इस प्रकार व्यवहार कालका वर्णन है।

भावार्थ --जीवादिक द्रव्योंमें जो समय-समयमें वर्तनारूप परिणमन होता है उसका निमित्त कारण काल द्रव्य है। धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन चार द्रव्योंके जो गुण तथा पर्याय हैं वे सदा स्वभावरूप ही होते हैं, उनमें विभावरूपता नहीं आती।।३३।।

अस्तिकाय तथा उसका लक्षण

एदे छद्दव्वाणि य कालं मोत्तूण अत्थिकायत्ति।
णिद्दिट्ठा जिणसमये काया हु बहुपदेसत्तं।।३४।।

काल द्रव्यको छोड़कर ये छह द्रव्य जिनशासनमें 'अस्तिकाय' कहे गये हैं। बहुप्रदेशीपना कायद्रव्यका लक्षण है।

भावार्थ -- जिनागममें काल द्रव्यको छोड़कर शेष जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाश ये पाँच द्रव्य अस्तिकाय कहे कहे हैं। जिनमें बहुत प्रदेश हों उन्हें अस्तिकाय कहते हैं। काल द्रव्य एकप्रदेशी है अतः वह अस्तिकायमें सम्मिलित नहीं है।।३४।।

किस द्रव्यके कितने प्रदेश हैं इसका वर्णन

संखेज्जासंखेज्जाणंतपदेसा हवंति मुत्तस्स।
धम्माधम्मस्स पुणो, जीवस्स असंखदेसा हु।।३५।।
लोयायासे ताव, इदरस्स अणंतयं हवे देसा।
कालस्स ण कायत्तं, एयपदेसो हवे जम्हा।।३६।।

मूर्त अर्थात् पुद्गल द्रव्यके संख्यात, असंख्यात और अनंत प्रदेश होते हैं। धर्म, अधर्म तथा एक जीव द्रव्यके असंख्यात प्रदेश हैं। लोकाकाशमें धर्मादिकके समान असंख्यात प्रदेश हैं, परंतु अलोकाकाशमें अनंत प्रदेश हैं। काल द्रव्यमें कायपना नहीं है, क्योंकि वह एकप्रदेशी है।।३५-३६।।

द्रव्योंमें मूर्तिक तथा अमूर्तिक चेतनाका अभाव

पुग्गलदव्वं मोत्तं, मुत्तिविरहिया हवंति सेसाणि।
चेदणभावो जीवो, चेदणगुणवज्जिया सेसा।।३७।।

पुद्गल द्रव्य मूर्तिक है, शेष द्रव्य अमूर्तिक हैं। जीव द्रव्य चेतन है और शेष द्रव्य चेतनागुणसे रहित हैं।।३७।।

इस प्रकार श्री कुंदकुंदाचार्य विरचित नियमसार ग्रंथमें
अजीवाधिकार नामका दूसरा अधिकार समाप्त हुआ।।२।।

***

३
शुद्ध भावाधिकार

हेय उपादेय तत्त्वोंका वर्णन

जीवादिबहित्तच्चं, हेयमुवादेयमप्पणो अप्पा।
कम्मोपाधिसमुब्भवगुणपज्जाएहिं वदिरित्तो।।३८।।

जीवादि बाह्यतत्त्व हेय हैं -- छोड़नेके योग्य हैं और कर्मरूप उपाधिसे उत्पन्न होनेवाले गुण तथा पर्यायोंसे रहित आत्मा आत्माके लिए उपादेय है -- ग्रहण करनेके योग्य है।।३८।।

निर्विकल्प तत्त्वका स्वरूप

णो खलु सहावठाणा, णो माणवमाणभावठाणा वा।
णो हरिसभावठाणा, णो जीवस्साहरिस्सठाणा वा।।३९।।

निश्चयसे जीवके स्वभावस्थान (विभाव स्वभावके स्थान) नहीं हैं, मान अपमान भावके स्थान नहीं हैं, हर्षभावके स्थान नहीं हैं तथा अहर्षभावके स्थान नहीं हैं।।३९।।

णो ठिदिबंधट्ठाणा, जीवस्स ण उदयठाणा वा।
जो अणुभागट्ठाणा, जीवस्स ण उदयठाणा वा।।४०।।

जीवके स्थितिबंधस्थान नहीं है, प्रकृतिस्थान नहीं है, प्रदेशस्थान नहीं है, अनुभागस्थान नहीं है और उदयस्थान नहीं है।

भावार्थ -- प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेशकी अपेक्षा बंधके चार भेद हैं सो जीवके चारोंही प्रकारके बंधस्थान नहीं हैं। जब बंधस्थान नहीं हैं तब उनके उदयस्थान कैसे हो सकते हैं? वास्तवमें बंध और उदयकी अवस्था व्यवहारनयसे है, यहाँ निश्चयनयकी प्रधानतासे उसका निषेध किया गया है।।४०।।

णो खइयभावठाणा, णो खयउवसमसहावठाणा वा।
ओदइयभावठाणा, णो उवसमणे सहावठाणा वा।।४१।।

जीवके क्षायिक भावके स्थान नहीं हैं, क्षायोपशमिक स्वभावके स्थान नहीं हैं, औदयिक भावके स्थान नहीं है और औपशमिक स्वभावके स्थान नहीं हैं।

भावार्थ -- कर्मोंकी क्षय, क्षयोपशम, उपशम और उदयरूप अवस्थाओंमें होनेवाले भाव क्रमसे क्षायिक, क्षायोपशमिक, औपशमिक और औदयिक भाव कहलाते हैं। ये परनिमित्तसे होनेके कारण जीवके

स्वभावस्थान नहीं हैं। निश्चयनय जीवके कर्मबंधको स्वीकृत नहीं करता इसलिए कर्मोंके निमित्तसे होनेवाली अवस्थाएँ भी जीवकी नहीं हैं।।४१।।

चउगइभवसंभमणं, जाइजरामरणरोयसोका य।
कुलजोणिजीवमग्गणठाणा जीवस्स णो संति।।४२।।

जीवके चतुर्गतिरूप संसारमें परिभ्रमण, जन्म, जरा, मरण, रोग, शोक, कुल, योनि, जीवस्थान और मार्गणास्थान नहीं हैं।।४२।।

णिद्दंडो णिद्वंदो, णिम्ममो णिक्कलो णिरालंबो।
णीरागो णिद्दोसो, णिम्मूढो णिब्भयो अप्पा।।४३।।

आत्मा निर्दंड -- मन वचन कायके व्यापारसे रहित है, निर्द्वंद्व है, निर्मम है, निष्कल -- शरीररहित है, निरालंब है, नीराग है, निर्मूढ़ है और निर्भय है।।४३।।

णिग्गंथो णीरागो, णिस्सल्लो सयलदोसणिम्मुक्को।
णिक्कामो णिक्कोहो, णिम्माणो णिम्मदो अप्पा।।४४।।

आत्मा निर्ग्रंथ है, नीराग है, निःशल्य है, सकल दोषोंसे निर्मुक्त है, निष्काम है, निष्क्रोध है, निर्मान है और निर्मद है।।४४।।

वण्णरसगंधफासा, थीपुंसणओसयादिपज्जाया।
संठाणा संहणणा, सव्वे जीवस्स णो संति।।४५।।

वर्ण, रस, गंध, स्पर्श, स्त्री, पुरुष, नपुंसकादि पर्याय, संस्थान और संहननादि पर्याय ये सभी जीवके नहीं हैं।।४५।।

तब फिर जीव कैसा है?

अरसमरूवमगंधं, अव्वत्तं चेदणागुणसमुद्दं।
जाण अलिंगग्गहणं, जीवमणिद्दिट्ठसंठाणं।।४६।।

जीवको रसरहित, रूपरहित, गंधरहित (अतएव बाह्यमें) अव्यक्त -- अप्रकट, चेतनागुणसे सहित, शब्दरहित, लिंग अर्थात् इंद्रियोंके द्वारा अग्राह्य और किसी निर्दिष्ट आकारसे रहित जानो।।४६।।

जारिसिया सिद्धप्पा, भवमल्लिय जीव तारिसा होंति।
जरमरणजम्ममुक्का, अट्ठगुणालंकिया जेण।।४७।।

जैसे सिद्धात्माएँ हैं वैसे ही संसारी जीव हैं, क्योंकि (स्वभावदृष्टिसे भी) जरा, मरण और जन्मसे रहित तथा सम्यक्त्वादि आठ गुणोंसे अलंकृत हैं।।४७।।

असरीरा अविणासा, अणिंदिया णिम्मला विसुद्धप्पा।

जह लोयग्गे सिद्धा, तह जीवा संसिदी णेया।।४८।।

जिस प्रकार लोकाग्रमें स्थित सिद्ध भगवान् शरीररहित, अविनाशी, अतींद्रिय, निर्मल और विशुद्धात्मा हैं उसी प्रकार (स्वभावदृष्टिसे) संसारमें स्थित जीव जो शरीररहित, अविनाशी, अतींद्रिय, निर्मल और विशुद्धात्मा हैं।।४८।।

एदे सव्वे भावा, ववहारणयं पडुच्च भणिदा दु।
सव्वे सिद्धसहावा, शुद्धणया संसिदी जीवा।।४९।।

वास्तवमें ये सब भाव व्यवहारनयकी अपेक्षा कहे गये हैं। शुद्ध नयसे संसारमें रहनेवाले सब जीव सिद्ध स्वभाववाले हैं।

भावार्थ -- यद्यपि संसारी जीवकी वर्तमान पर्याय दूषित है तो भी उसे द्रव्य स्वभावकी अपेक्षा सिद्ध भगवान्के समान कहा गया है।।४९।।

परद्रव्य हेय है और स्वद्रव्य उपादेय है

पुव्वुत्तसयलभावा, परदव्वं परसहावमिदि हेयं।
सगदव्वमुवादेयं, अंतरतच्चं हवे अप्पा।।५०।।

पहले कहे हुए समस्त भाव परद्रव्य तथा परस्वभाव हैं, इसलिए हेय हैं -- छोड़नेके योग्य हैं और आत्मा अंतस्तत्त्व -- स्वभाव तथा स्वद्रव्य है अतः उपादेय है।।५०।।

सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानके लक्षण तथा उनकी उत्पत्ति के कारण

विवरीयाभिणिवेसविवज्जियसद्दहणमेव सम्मत्तं।
संसयविमोहविब्भमविवज्जियं होदि सण्णाणं।।५१।।
चलमलिणमगाढत्तविवज्जियं सद्दहणमेव सम्मत्तं।
अधिगमभावो णाणं, हेयोपादेयतच्चाणं।।५२।।
सम्मत्तस्स णिमित्तं, जिणसुत्तं तस्स जाणया पुरिसा।
अंतरहेऊ भणिदा, दंसणमोहस्स खयपहुदी।।५३।।
सम्मत्तं सण्णाणं, विज्जदि मोक्खस्स होदि सुण चरणं।
ववहारणिच्चएण दु, तम्हा चरणं पवक्खामि।।५४।।
ववहारणयचरित्ते, ववहारणयस्स होदि तवचरणं ।
णिच्छयणयचारित्ते, तवचरणं होदि णिच्छयदो।।५५।।

विपरीत अभिप्रायसे रहित श्रद्धान ही सम्यक्त्व है तथा संशय, विपर्यय और अनध्यवसायसे रहित

ज्ञान ही सम्यग्ज्ञान है।।५१।।

(अथवा) चल, मलिन और अगाढत्व दोषोंसे रहित श्रद्धान ही सम्यक्त्व है और हेयोपादेय तत्त्वोंका ज्ञान होना ही सम्यग्ज्ञान है।।५२।।

सम्यक्त्वका बाह्य निमित्त जिनसूत्र -- जिनागम और उसके ज्ञायक पुरुष हैं तथा अंतरंग निमित्त दर्शनमोहनीय कर्मका क्षय आदि कहा गया है।

भावार्थ -- निमित्त कारणके दो भेद हैं -- एक बहिरंग निमित्त और दूसरा अंतरंग निमित्त। सम्यक्त्वकी उत्पत्तिका बहिरंग निमित्त जिनागम और ज्ञाता पुरुष हैं तथा अंतरंग निमित्त दर्शनमोहनीय अर्थात् मिथ्यात्व, सम्यङ्मिथ्यात्व तथा सम्यक्त्व प्रकृति एवं अनंतानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ इन प्रकृतियोंका उपशम, क्षय और क्षयोपशमका होना है। बहिरंग निमित्तके मिलनेपर कार्यकी सिद्धि होती भी है और नहीं भी होती, परंतु अंतरंग निमित्तके मिलनेपर कार्यकी सिद्धि नियमसे होती है।।५३।।

सम्यक्त्व और सम्यग्ज्ञान तो मोक्षके लिए हैं ही। सुन, सम्यक्चारित्र भी मोक्षके लिए है इसलिए मैं व्यवहार और निश्चय नयसे सम्यक्चारित्रको कहूँगा।

भावार्थ -- मोक्षप्राप्तिके लिए जिस प्रकार सम्यक्त्व और सम्यग्ज्ञान आवश्यक कहे गये हैं उसी प्रकार सम्यक्चारित्रको आवश्यक कहा गया है, इसलिए यहाँ व्यवहार और निश्चय दोनों नयोंके आलंबनसे सम्यक्चारित्रको कहूँगा।।५४।।

व्यवहार नयके चारित्रमें व्यवहार नयका तपश्चरण होता है और निश्चयनयके चारित्रमें निश्चय नयका तपश्चरण होता है।

भावार्थ -- व्यवहार नयसे पापक्रियाके त्यागको चारित्र कहते हैं इसलिए इस चारित्रमें व्यवहार नयके विषयभूत अनशन-ऊनोदर आदिको तप कहा जाता है। तथा निश्चय नयसे निजस्थितिमें अविचल स्थितिको चारित्र कहा जाता है इसलिए इस चारित्रमें निश्चयनयके विषयभूत सहज निश्चयनयात्मक परमभाव स्वरूप परमात्मामें प्रतपनको तप कहा गया है।।५५।।

इस प्रकार श्री कुंदकुंदाचार्य विरचित नियमसार ग्रंथमें शुद्धभावाधिकार
नामका तीसरा अधिकार समाप्त हुआ।।३।।

***

४

व्यवहारचारित्राधिकार

अहिंसा महाव्रतका स्वरूप

कुलजोणिजीवमग्गणठाणाइसु जाणिऊण जीवाणं।
तस्सारंभणियत्तणपरिणामो होइ पढमवदं।।५६।।

कुल, योनि, जीवसमास तथा मार्गणास्थान आदिमें जीवोंका ज्ञान कर उनके आरंभसे निवृत्तिरूप जो परिणाम है वह पहला अहिंसा महाव्रत है।

सत्य महाव्रतका स्वरूप

रागेण व दोसेण व, मोहेण व मोसभासपरिणामं।
जो पजहदि साहु सया, बिदियवयं होइ तस्सेव।।५७।।

जो साधु रागसे , दोषसे अथवा मोहसे असत्य भाषाके परिणामको छोड़ता है उसीके सदा दूसरा सत्य महाव्रत होता है।।५७।।

अचौर्य महाव्रतका स्वरूप

गामे वा णयरे वा, रण्णे वा पेच्छिऊण परमत्थं।
जो मुचदि गहणभावं, तिदियवदं होदि तस्सेव।।५८।।

जो ग्राममें, नगरमें अथवा वनमें परकीय वस्तुको देखकर उसके ग्रहणके भावको छोड़ता है उसीके तीसरा अचौर्य महाव्रत होता है।।५८।।

ब्रह्मचर्य महाव्रतका स्वरूप

दट्ठूण इच्छिरूवं, वांछाभावं णिवत्तदे तासु।
मेहुणसण्ण विवज्जिय, परिणामो अह तुरीयवदं।।५९।।

जो स्त्रियोंके रूपको देखकर उनमें वांछाभावको छोड़ता है अथवा मैथुन संज्ञासे रहित जिसके परिणाम हैं उसीके चौथा महाव्रत होता है।।५९।।

परिग्रहत्याग महाव्रतका स्वरूप

सव्वेसिं गंथाणं, तागो णिरवेक्खभावणापुव्वं।
पंचमवदमिदि भणिदं, चारित्तभरं वहंतस्स।।६०।।

निरपेक्ष भावनापूर्वक अर्थात् संसारसंबंधी किसी भोगोपभोग अथवा मान सम्मानकी इच्छा नहीं

रखते हुए समस्त परिग्रहोंका जो त्याग है, चारित्रके भारको धारण करनेवाले मुनिका वह पाँचवाँ परिग्रहत्याग महाव्रत कहा गया है।।६०।।

ईर्यासमितिका स्वरूप

पासुगमग्गेण दिवा, अवलोगंतो जुगप्पमाणं हि।
गच्छइ पुरदो समणो, इरियासमिदी हवे तस्स।।६१।।

जो साधु दिनमें प्रासुक -- जीवजंतुररहित मार्गसे युगप्रमाण -- चार हाथ प्रमाण भूमिको देखता हुआ आगे चलता है उसके ईर्या समिति होती है।।६१।।

भाषासमितिका स्वरूप

पेसुण्णहासकक्कसपरणिंदप्पप्पसंसियं वयणं।
परिचत्ता सपरहिदं, भासासमिदी वदंतस्स।।६२।।

पैशुन्य - चुगली, हास्य, कर्कश, परनिंदा और आत्मप्रशंसारूप वचनको छोड़कर स्वपर हितकारी वचनको बोलनेवाले साधुके भाषासमिति होती है।।६२।।

एषणासमितिका स्वरूप

कदकारिदाणुमोदणरहिदं तह पासुगं पसत्थं च ।
दिण्णं परेण भत्तं, समभुत्ती एसणासमिदी।।६३।।

परके द्वारा दिये हुए, कृत कारित अनुमोदनासे रहित, प्रासुक तथा प्रशस्त आहारको ग्रहण करनेवाले साधुके एषणासमिति होती है।।६३।।

आदाननिक्षेपण समितिका स्वरूप

पोथइकमंडलाइं, गहणविसग्गेसु पयतपरिणामो।
आदावणणिक्खेवणसमिदी होदित्ति णिद्दिट्ठा।।६४।।

पुस्तक तथा कमंडलु आदिको ग्रहण करते समय अथवा रखते समय जो प्रमादरहित परिणाम है वह आदान-निक्षेपण समिति होती है ऐसा कहा गया है।।६४।।

प्रतिष्ठापन समितिका स्वरूप

पासुगभूमिपदेसे, गूढे रहिए परोपरोहेण।
उच्चारादिच्चागो, पइठासमिदी हवे तस्स।।६५।।

परकी रुकावटसे रहित, गूढ और प्रासुक भूमिप्रदेशमें जिसके मल आदिकका त्याग हो उसके प्रतिष्ठापन समिति होती है।।६५।।

मनोगुप्तिका लक्षण

कालुस्समोहसण्णारागद्दोसाइअसुहभावाणं।
परिहारो मणगुत्ती, ववहारणयेण परिकहियं।।६६।।

कलुषता, मोह, संज्ञा, राग, द्वेष आदि अशुभ भावोंका जो त्याग है उसे व्यवहार नयसे मनोगुप्ति कहा गया है।।६६।।

वचनगुप्तिका लक्षण

थीराजचोरभत्तकहादिवयणस्स पावहेउस्स।
परिहारो वचगुत्ती, अलीयादिणियत्तिवयणं वा।।६७।।

पापके कारणभूत स्त्री, राज, चोर और भोजन कथा आदि संबंधी वचनोंका परित्याग अथवा असत्य आदिके त्यागरूप जो वचन वह वचनगुप्ति है।।६७।।

कायगुप्तिका लक्षण

बंधणछेदणमारण, आकुंचण तह पसारणादीया।
कायकिरियाणियत्ती, णिद्दिट्ठा कायगुत्तित्ति।।६८।।

बाँधना, छेदना, मारना, सकोड़ना तथा पसारना आदि शरीरसंबंधी क्रियाओंसे निवृत्ति होना कायगुप्ति कही गयी है।।६८।।

निश्चयनयसे मनोगुप्ति और वचनगुप्तिका स्वरूप

जा रायादिणियत्ती, मणस्स जाणीहि तम्मणोगुत्ती।
अलियादिणियत्तिं वा, मोणं वा होइ वदिगुत्ती।।६९।।

मनकी जो रागादि परिणामोंसे निवृत्ति है उसे मनोगुप्ति जानो और असत्यादिकसे निवृत्ति अथवा मौन धारण करना वचनगुप्ति है।।६९।।

निश्चयनयसे कायगुप्तिका स्वरूप

कायकिरियाणियत्ती, काउस्सग्गो सरीरगे गुत्ती।
हिंसाइणियत्ती वा, सरीरगुत्तित्ति णिद्दिट्ठा।।७०।।

शरीरसंबंधी क्रियाओंका त्याग करना अथवा कायोत्सर्ग करना कायगुप्ति है अथवा हिंसादि पापोंसे निवृत्ति होना कायगुप्ति है ऐसा कहा गया है।।७०।।

अर्हत् परमेश्वरका स्वरूप

घणघाइकम्मरहिया, केवलणाणाइ परमगुणसहिया।
चोत्तिसअदिसअजुत्ता, अरिहंता एरिसा होंति।।७१।।

घन -- अत्यंत अहितकारी घातिया कर्मोंसे रहित, केवलज्ञानादि परम गुणोंसे सहित और चौंतीस अतिशयोंसे सहित ऐसे अरहंत होते हैं।।७१।।

सिद्ध परमेष्ठीका स्वरूप

णट्ठट्ठकम्मबंधा, अट्ठमहागुणसमण्णिया परमा।
लोयग्गठिदा णिच्चा, सिद्धा ते एरिसा होंति।।७२।।

जिन्होंने अष्ट कर्मोंका बंध नष्ट कर दिया है, जो आठ महागुणोंसे सहित हैं, उत्कृष्ट हैं, लोकके अग्रभागमें स्थित हैं तथा नित्य हैं वे ऐसे सिद्ध परमेष्ठी होते हैं।।७२।।

आचार्य परमेष्ठीका स्वरूप

पंचाचारसमग्गा, पंचिंदियदंतिदप्पणिद्दलणा।
धीरा गुणगंभीरा, आयरिया एरिसा होंति।।७३।।

जो पाँच प्रकारके (दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप और वीर्य) आचारोंसे परिपूर्ण हैं, पाँच इंद्रियरूपी हस्तियोंके गर्वको चूर करनेवाले हैं, धीर हैं तथा गुणोंसे गंभीर हैं ऐसे आचार्य होते हैं।।७३।।

उपाध्याय परमेष्ठीका स्वरूप

रयणत्तयसंजुत्ता, जिणकहियपयत्थदेसया सूरा।
णिक्कंखभावसहिया, उवज्झाया एरिसा होंति।।७४।।

जो रत्नत्रय (सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र) से संयुक्त हैं, जो जिनेंद्र भगवान्के द्वारा कहे हुए पदार्थोंका उपदेश करनेवाले हैं, शूरवीर हैं, परिषह आदिके सहनेमें समर्थ हैं तथा निष्कांक्षभावसे सहित हैं अर्थात् जो उपदेशके बदले किसी पदार्थकी इच्छा नहीं रखते हैं ऐसे उपाध्याय होते हैं।।७४।।

साधु परमेष्ठीका स्वरूप

वावारविप्पमुक्का, चउव्विहाराहणासयारत्ता।
णिग्गंथा णिम्मोहा, साहू एदेरिसा होंति।।७५।।

जो व्यापारसे सर्वथा रहित हैं, चार प्रकारकी (दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप) आराधनाओंमें सदा लीन रहते हैं, परिग्रह रहित हैं तथा निर्मोह हैं ऐसे साधु होते हैं।।७५।।

व्यवहारनयके चारित्रका समारोप कर निश्चयनयके चारित्रका वर्णन करनेकी प्रतिज्ञा

एरिसयभावणाए, ववहारणयस्स होदि चारित्तं।
णिच्छयणयस्स चरणं, एत्तो उड्ढं पवक्खामि।।७६।।

इस प्रकारकी भावनासे व्यवहार नयका चारित्र होता है, अब इसके आगे निश्चय नयके चारित्रको कहूँगा।।७६।।

इस प्रकार श्री कुंदकुंद आचार्य विरचित नियमसार ग्रंथमें व्यवहारचारित्राधिकार नामका चौथा अधिकार समाप्त हुआ।।४।।

५

परमार्थप्रतिक्रमणाधिकार

णाहं णारयभावो, तिरियत्थो मणुवदेवपज्जाओ।
कत्ता ण हि कारइदा, अणुमंता णेव कत्तीणं।।७७।।
णाहं मग्गणठाणो, णाहं गुणठाण जीवठाणो ण।
कत्ता ण हि कारइदा, अणुमंता णेव कत्तीणं।।७८।।
णाहं बालो वुड्ढो, ण चेव तरुणो ण कारणं तेसिं।
कत्ता ण हि कारइदा, अणुमंता णेव कत्तीणं।।७९।।
णाहं रागो दोसो, ण चेव मोहो ण कारणं तेसिं।
कत्ता ण हि कारइदा, अणुमंता णेव कत्तीणं।।८०।।
णाहं कोहो माणो, ण चेव माया ण होमि लोहोहं।
कत्ता ण हि कारइदा, अणुमंता णेव कत्तीणं।।८१।।

मैं नारक पर्याय, तिर्यंच पर्याय, मनुष्य पर्याय अथवा देव पर्याय नहीं हूँ। निश्चयसे मैं उनका न कर्ता हूँ, न करानेवाला हूँ और न करनवालोंकी अनुमोदना करनेवाला हूँ।।७७।।

मैं मार्गणास्थान नहीं हूँ, गुणस्थान नहीं हूँ और न जीवस्थान हूँ। निश्चयसे मैं उनका न करनेवाला हूँ, न करानेवाला हूँ और न करनेवालोंकी अनुमोदना करनेवाला हूँ।।७८।।

मैं बालक नहीं हूँ, वृद्ध नहीं हूँ, तरुण नहीं हूँ और न उनका कारण हूँ। निश्चयसे मैं उनका न करनेवाला हूँ, न करानेवाला हूँ और न करनेवालोंकी अनुमोदना करनेवाला हूँ।।७९।।

मैं राग नहीं हूँ, द्वेष नहीं हूँ, मोह नहीं हूँ और न उनका कारण हूँ। निश्चयसे मैं उनका न करनेवाला हूँ, न करानेवाला हूँ और करनंवालोंकी अनुमोदना करनेवाला नहीं हूँ।।८०।।

मैं क्रोध नहीं हूँ, मान नहीं हूँ, माया नहीं हूँ और लोभ नहीं हूँ। मैं उनका करनेवाला नहीं हूँ, करानेवाला नहीं हूँ और करनेवालोंकी अनुमोदना करनेवाला नहीं हूँ।।८१।।

एरिसभेदब्भासे, मज्झत्थो होदि तेण चारित्तं।
तं दढकरणणिमित्तं, पडिक्कमणादी पवक्खामि।।८२।।

इस प्रकारके भेदज्ञानका अभ्यास होनेपर जीव मध्यस्थ होता है और उस मध्यस्थभावसे चारित्र होता है। आगे उसी चारित्रमें दृढ़ करनेके लिए प्रतिक्रमण आदिको कहूँगा।।८२।।

प्रतिक्रमण किसके होता है?

मोत्तूण वयणरयणं, रागादीभाववारणं किच्चा।
अप्पाणं जो झायदि, तस्स दु होदित्ति पडिकमणं।।८३।।

जो वचनोंकी रचनाको छोड़कर तथा रागादिभावोंका निवारणकर आत्माका ध्यान करता है उसके प्रतिक्रमण होता है।।८३।।

आराहणाइ वट्टइ, मोत्तूण विराहणं विसेसेण।
सो पडिकमणं उच्चइ, पडिक्कमणमओ हवे जम्हा।।८४।।

जो विराधनाको विशेष रूपसे छोड़कर आराधनामें वर्तता है वह साधु प्रतिक्रमण कहा जाता है, क्योंकि वह प्रतिक्रमणमय है।

भावार्थ -- यहाँ अभेद विवक्षाके कारण प्रतिक्रमण करनेवाले साधुको ही प्रतिक्रमण कहा गया है।।८४।।

मोत्तूण अणायारं, आयारे जो दु कुणदि थिरभावं।
सो पडिकमणं उच्चइ, पडिकमणमओ हवे जम्हा।।८५।।

जो साधु अनाचारको छोड़कर आचारमें स्थिरभाव करता है वह प्रतिक्रमण कहा जाता है, क्योंकि वह प्रतिक्रमणमय होता है।।८५।।

उम्मग्गं परिचत्ता, जिणमग्गे जो दु कुणदि थिरभावं।
सो पडिकमणं उच्चइ, पडिकमणमओ हवे जम्हा।।८६।।

जो उन्मार्गको छोड़कर जिनमार्गमें स्थिरभाव करता है वह प्रतिक्रमण कहलाता है, क्योंकि वह प्रतिक्रमणमय होता है।।८६।।

मोत्तूण सल्लभावं, णिस्सल्ले जो दु साहु परिणमदि।
सो पडिकमणं उच्चइ, पडिकमणमओ हवे जम्हा।।८७।।

जो साधु शल्यभावको छोड़कर निःशल्यभावमें परिणमन करता है -- उसरूप प्रवृत्ति करता है वह प्रतिक्रमण कहा जाता है, क्योंकि वह प्रतिक्रमणमय है।।८७।।

चत्ता ह्यगुत्तिभावं, तिगुत्तिगुत्तो हवेइ जो साहू।
सो पडिकमणं उच्चइ, पडिकमणमओ हवे जम्हा।।८८।।

जो साधु अगुप्तिभावको छोड़कर तीन गुप्तियोंसे गुप्त -- सुरक्षित रहता है वह प्रतिक्रमण कहा जाता है, क्योंकि वह प्रतिक्रमणमय होता है।।८८।।

मोत्तूण अट्टरुद्दं, झाणं जो झादि धम्मसुक्कं वा।
सो पडिकमणं उच्चइ, जिणवरणिद्दिट्ठसुत्तेसु।।८९।।

जो आर्त और रौद्र ध्यानको छोड़कर धर्म्य अथवा शुक्ल ध्यान करता है वह जिनेंद्र भगवान्के द्वारा कथित शास्त्रोंमें प्रतिक्रमण कहा जाता है।।८९।।

मिच्छत्तपहुदिभावा, पुव्वं जीवेण भाविया सुइरं।
सम्मत्तपहुदिभावा, अभाविया होंति जीवेण।।९०।।

जीवने पहले चिरकालतक मिथ्यात्व आदि भाव भाये हैं। सम्यक्त्व आदि भाव जीवने नहीं भाये हैं।।९०।।

मिच्छादंसणणाणचरित्तं चइऊण णिरवसेसेण।
सम्मत्तणाणचरणं, जो भावइ सो पडिक्कमणं।।९१।।

जो संपूर्ण रूपसे मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्रको छोड़कर सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रकी भावना करता है वह प्रतिक्रमण है।।९१।।

आत्मध्यान ही प्रतिक्रमण है

उत्तमअट्ठं आदा, तम्हि ठिदा हणदि मुणिवरा कम्मं।
तम्हा दु झाणमेव हि, उत्तमअट्ठस्स पडिकमणं।।९२।।

उत्तमार्थ आत्मा है, उसमें स्थिर मुनिवर कर्मका घात करते हैं इसलिए उत्तमार्थ -- उत्कृष्ट पदार्थ आत्माका ध्यान करना ही प्रतिक्रमण है।।९२।।

झाणणिलीणो साहू, परिचागं कुणइ सव्वदोसाणं।
तम्हा दु झाणमेव हि, सव्वदिचारस्स पडिकमणं।।९३।।

ध्यानमें विलीन साधु सब दोषोंका परित्याग करता है इसलिए निश्चयसे ध्यान ही सब अतिचारों -- समस्त दोषोंका प्रतिक्रमण है।।९३।।

व्यवहार प्रतिक्रमणका वर्णन

पडिकमणणामधेये, सुत्ते जह वण्णिदं पडिक्कमणं।
तह णच्चा जो भावइ, तस्स सदा होइ पडिक्कमणं।।९४।।

प्रतिक्रमण नामक शास्त्रमें जिस प्रकार प्रतिक्रमणका वर्णन किया है उसे जानकर जो उसकी भावना करता है उस समय उसके प्रतिक्रमण होता है।।९४।।

इस प्रकार श्री कुंदकुंदाचार्य विरचित नियमसार ग्रंथमें परमार्थप्रतिक्रमण नामका
पाँचवाँ अधिकार पूर्ण हुआ।।५।।

***

६

निश्चयप्रत्याख्यानाधिकार

मोत्तूण सयलजप्पमणागयसुहमसुहवारणं किच्चा।
अप्पाणं जो झायदि, पच्चक्खाणं हवे तस्स।।९५।।

जो समस्त वचनजालको छोड़कर तथा आगामी शुभ-अशुभका निवारण कर आत्माका ध्यान करता है उसके प्रत्याख्यान होता है।।९५।।

आत्माका ध्यान किस प्रकार किया जाता है?

केवलणाणसहावो, केवलदंसणसहाव सुहमइओ।
केवलसत्तिसहावो, सोहं इदि चिंतए णाणी।।९६।।

ज्ञानी जीवको इस प्रकार चिंतन करना चाहिए कि मैं केवलज्ञानस्वभाव हूँ, केवलदर्शनस्वभाव हूँ, सुखमय हूँ और केवलशक्तिस्वभाव हूँ।

भावार्थ -- ज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्य ही मेरे स्वभाव हैं, अन्य भाव विभाव हैं। इस प्रकार ज्ञानी जीव आत्माका ध्यान करते हैं।।९६।।

णियभावं णइ मुच्चइ, परभावं णेव गेण्हए केइं।
जाणदि पस्सदि सव्वं, सोहं इदि चिंतए णाणी।।९७।।

जो निजभावको नहीं छोड़ता है, परभावको कुछ भी ग्रहण नहीं करता है, मात्र सबको जानता देखता है वह मैं हूँ, इस प्रकार ज्ञानी जीवको चिंतन करना चाहिए।।९७।।

पयडिट्ठिदिअणुभागप्पदेसबंधेहिं वज्जिदो अप्पा।
सोहं इदि चिंतिज्जो, तत्थेव य कुणदि थिरभावं।।९८।।

प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश बंधोंसे रहित जो आत्मा है वही मैं हूँ इस प्रकार चिंतन करता हुआ ज्ञानी जीव उसी आत्मामें स्थिरभावको करता है।।९८।।

ममत्तिं परिवज्जामि, णिम्ममत्तिमुवट्ठिदो।
आलंबणं च मे आदा, अवसेसं च वोसरे।।९९।।

मैं ममत्वको छोड़ता हूँ और निर्ममत्वमें स्थित होता हूँ, मेरा आलंबन आत्मा है और शेष सबका परित्याग करता हूँ।।९९।।

आदा खु मज्झ णाणे, आदा मे दंसणे चरित्ते य।
आदा पच्चक्खाणे, आदा मे संवरे जोगे।।१००।।

निश्चयसे मेरा आत्मा ही ज्ञानमें है, मेरा आत्माही दर्शन और चारित्रमें है, आत्मा ही प्रत्याख्यानमें है और आत्मा ही संवर तथा योग -- शुद्धोपयोगमें है।

भावार्थ -- गुण-गुणीमें अभेद कर आत्माहीको ज्ञान, दर्शन, चारित्र, प्रत्याख्यान, संवर तथा शुद्धोपयोगरूप कहा है।।१००।।

जीव अकेला ही जन्म मरण करता है

एगो य मरदि जीवो, एगो य जीवदि सयं।
एगस्स जादि मरण, एगो सिज्झदि णीरयो।।१०१।।

यह जीव अकेला ही मरता है और अकेला ही स्वयं जन्म लेता है। एकका मरण होता है और एक ही कर्मरूपी रजसे रहित होता हुआ सिद्ध होता है।।१०१।।

ज्ञानी जीवकी भावना

एको मे सासदो अप्पा, णाणदंसणलक्खणो।
सेसा मे बाहिरा भावा, सव्वे संजोगलक्खणा।।१०२।।

ज्ञान दर्शनवाला, शाश्वत एक आत्मा ही मेरा है। संयोगलक्षणवाले शेष समस्त भाव मुझसे बाह्य हैं।।१०२।।

आत्मगत दोषोंसे छूटने का उपाय

जं किंचि मे दुच्चरितं, सव्वं तिविहेण वोसरे।
सामाइयं तु तिविहं, करेमि सव्वं णिरायारं।।१०३।।

मेरा जो कुछ भी दुश्चारित्र -- अन्यथा प्रवर्तन है उस सबको त्रिविध -- मन वचन कायसे छोड़ता हूँ और जो त्रिविध (सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि के भेदसे तीन प्रकारका) चारित्र है उस सबको निराकार -- निर्विकल्प करता हूँ।।१०३।।

सम्मं मे सव्वभूदेसु, वेरं मज्झं ण केणवि।
आसाए वोसरित्ता णं, समाहि पडिवज्जए।।१०४।।

मेरा सब जीवोंमें साम्यभाव है, मेरा किसीके साथ वैर नहीं है। वास्तवमें आशाओंका परित्याग कर समाधि प्राप्त की जाती है।।१०४।।

निश्चय प्रत्याख्यानका अधिकारी कौन है?

णिक्कसायस्स दंतस्स, सूरस्स ववसायिणो।
संसारभयभीदस्स, पच्चक्खाणं सुहं हवे।।१०५।।

जो निष्कषाय है, इंद्रियोंका दमन करनेवाला है, समस्त परिषहोंको सहन करनेमें शूरवीर है, उद्यमशील है तथा संसारके भयसे भीत है उसीके सुखमय प्रत्याख्यान -- निश्चय प्रत्याख्यान होता है।।

एवं भेदब्भासं, जो कुव्वइ जीवकम्मणो णिच्च।
पच्चक्खाणं सक्कदि, धरिदे सो संजदो णियमा ।।१०६।।

इस प्रकार जो निरंतर जीव और कर्मके भेदका अभ्यास करता है वह संयत -- साधु नियमसे प्रत्याख्यान धारण करनेको समर्थ है।।१०६।।

इस प्रकार श्री कुंदकुंदाचार्य विरचित नियमसार ग्रंथमें निश्चयप्रत्याख्यानाधिकार नामका छठवाँ अधिकार पूर्ण हुआ।।६।।

***

७

परमालोचनाधिकार

आलोचना किसके होती है ?

णोकम्मकम्मरहियं, विहावगुणपज्जएहिं वदिरित्तं।
अप्पाणं जो झायदि, समणस्सालोयणं होदि।।१०७।।

जो नोकर्म और कर्मसे रहित तथा विभावगुणपर्यायोंसे भिन्न आत्माका ध्यान करता है उस साधुके आलोचना होती है।।१०७।।

आलोचनाके चार रूप

आलोयणमालुंछणवियडीकरणं च भावसुद्धी य।
चउविहमिह परिकहियं, आलोयणलक्खणं समए।।१०८।।

आलोचन, आलुंछन, अविकृतीकरण और भावशुद्धि इस तरह आगममें आलोचनाका लक्षण चार प्रकारका कहा गया है।।१०८।।

आलोचनका स्वरूप

जो पस्सदि अप्पाणं, समभावे संठवित्तु परिणामं।
आलोयणमिदि जाणह, परमजिणंदस्स उवएसं।।१०९।।

जो जीव अपने परिणामको समभावमें स्थापित कर अपने आत्माको देखता है -- उसके वीतरागभावका चिंतन करता है वह आलोचन है ऐसा परम जिनेंद्रका उपदेश जानो।।१०९।।

आलुंछनका स्वरूप

कम्ममहीरुहमूलच्छेदसमत्थो सकीय परिणामो।
साहीणो समभावो, आलुंछणमिदि समुद्दिट्ठं।।११०।।

कर्मरूप वृक्षका मूलच्छेद करनेमें समर्थ, स्वाधीन, समभावरूप जो अपना परिणाम है वह आलुंछन इस नामसे कहा गया है।.११०।।

अविकृतीकरणका स्वरूप

कम्मादो अप्पाणं, भिण्णं भावेइ विमलगुणणिलयं।
मज्झत्थभावणाए, वियडीकरणं त्ति विण्णेयं।।१११।।

जो मध्यस्थभावनामें कर्मसे भिन्न तथा निर्मलगुणोंके निवासस्वरूप आत्माकी भावना करता है उसकी वह भावना अविकृतीकरण है ऐसा जानना चाहिए।।१११।।

भावशुद्धिका स्वरूप

मदमाणमायलोहविवज्जियभावो दु भावसुद्धि त्ति।
परिकहियं भव्वाणं, लोयालोयप्पदरिसीहिं।।११२।।

भव्य जीवोंका मद, मान, माया और लोभसे रहित जो भाव है वह भावशुद्धि है ऐसा लोकालोकको देखनेवाले सर्वज्ञ भगवान्ने कहा है।।११२।।

इस प्रकार श्री कुंदकुंदाचार्य विरचित नियमसार ग्रंथमें
परमालोचनाधिकार नामका सातवाँ अधिकार समाप्त हुआ।।७।।

***

८

शुद्धनिश्चयप्रायश्चित्ताधिकार

निश्चय प्रायश्चित्तका स्वरूप

वदसमिदिसीलसंजमपरिणामो करणणिग्गहो भावो।
सो हवदि पायछित्तं, अणवरयं चेव कायव्वो।।११३।।

व्रत, समिति, शील और संयमरूप परिणाम तथा इंद्रियनिग्रहरूप जो भाव है वह प्रायश्चित्त है। यह प्रायश्चित्त निरंतर करनेयोग्य है।।११३।।

कोहादिसगब्भावक्खयपहुदिभावणाए णिग्गहणं।
पायच्छित्तं भणिदं, णियगुणचिंता य णिच्छयदो।।११४।।

क्रोधादिक स्वकीय विभाव भावोंके क्षय आदिककी भावनामें लीन रहना तथा निजगुणोंका चिंतन करना निश्चयसे प्रायश्चित्त कहा गया है।।११४।।

कषायोंपर विजय प्राप्त करनेका उपाय

कोहं खमया माणं, समद्दवेणज्जवेण मायं च।
संतोसेण य लोहं, जयदि खु ए चहुविहकसाए।।११५।।

क्रोधसे क्षमाको, मानको स्वकीय मार्दव धर्मसे, मायाको आर्जवसे और लोभको संतोषसे इस तरह चार कषायोंको जीव निश्चयसे जीतता है।।११५।।

निश्चय प्रायश्चित्त किसके होता है?

उक्किट्ठो जो बोहो, णाणं तस्सेव अप्पणो चित्तं।
जो धरइ मुणी णिच्चं, पायच्छित्तं हवे तस्स।।११६।।

उसी आत्माका जो उत्कृष्ट बोध, ज्ञान अथवा चिंतन है उसे जो मुनि निरंतर धारण करता है उसके प्रायश्चित्त होता है।।११६।।

किं बहुणा भणिएण दु, वरतवचरणं महेसिणं सव्वं।
पायच्छित्तं जाणह, अणेयकम्माण खयहेऊ।।११७।।

बहुत कहनेसे क्या? महर्षियोंका जो उत्कृष्ट तपश्चरण है उस सबको तू अनेक कर्मोंके क्षयका कारण प्रायश्चित्त जान।।११७।।

तप प्रायश्चित्त क्यों है?

णंताणंतभवेण, समज्जिअसुहअसुहकम्मसंदोहो।
तवचरणेण विणस्सदि, पायच्छित्तं तवं तम्हा।।११८।।

क्योंकि अनंतानंत भवोंके द्वारा उपार्जित शुभ-अशुभ कर्मोंका समूह तपश्चरणके द्वारा विनष्ट हो जाता है इसलिए तप प्रायश्चित्त है।।११८।।

ध्यान ही सर्वस्व क्यों है?

अप्पसरूवालंबणभावेण दु सव्वभावपरिहारं।
सक्कदि काउं जीवो, तम्हा झाणं हवे सव्वं।।११९।।

आत्मस्वरूपका अवलंबन करनेवाले भावसे जीव समस्त विभाव भावोंका निराकरण करनेमें समर्थ होता है इसलिए ध्यान ही सबकुछ है।।११९।।

सुहअसुहवयणरयणं, रायादीभाववारणं किच्चा।
अप्पाणं जो झायदि, तस्स दु णियमं हवे णियमा।।१२०।।

शुभ-अशुभ वचनोंकी रचना तथा रागादिक भावोंका निवारण कर जो आत्माका ध्यान करता है उसके नियमसे नियम अर्थात् रत्नत्रय होता है।।१२०।।

कायोत्सर्ग किसके होता है?

कायाईपरदव्वे, थिरभावं परिहरत्तु अप्पाणं।
तस्स हवे तणुसग्गं, जो झायइ णिव्विअप्पेण।।१२१।।

जो शरीर आदि परद्रव्यमें स्थिरभावको छोड़कर निर्विकल्प रूपसे आत्माका ध्यान करता है उसके कायोत्सर्ग होता है।।१२१।।

इस प्रकार श्री कुंदकुंदाचार्य विरचित नियमसार ग्रंथमें शुद्ध निश्चय प्रायश्चित्ताधिकार नामका आठवाँ अधिकार समाप्त हुआ।।८।।

***

९

परमसमाध्यधिकार

वयणोच्चारणकिरियं, परिचत्ता वीयरायभावेण।
जो झायदि अप्पाणं, परमसमाही हवे तस्स।।१२२।।

जो वचनोच्चारणकी क्रियाको छोड़कर वीतराग भावसे आत्माका ध्यान करता है उसके परमसमाधि होती है।।१२२।।

संयमणियमतवेण दु, धम्मज्झाणेण सुक्कझाणेण।
जो झायइ अप्पाणं, परमसमाही हवे तस्स।।१२३।।

जो संयम, नियम और तपसे तथा धर्म्यध्यान और शुक्लध्यानके द्वारा आत्माका ध्यान करता है उसके परमसमाधि होती है।।१२३।।

समताके बिना सब व्यर्थ है --

किं काहदि वणवासो, कायकलेसो विचित्तउववासो।
अज्झयणमोणपहुदी, समदा रहियस्स समणस्स।।१२४।।

समताभावसे रहित साधुका वनवास, कायक्लेश, नाना प्रकारका उपवास तथा अध्ययन और मौन आदि धारण करना क्या करता है? कुछ नहीं।।१२४।।

स्थायी सामायिक व्रत किसके होता है?

विरदो सव्वसावज्जे, तिगुत्तो पिहिदिंदिओ।
तस्स सामाइगं ठाइ, इदि केवलिसासणे।।१२५।।

जो समस्त सावद्य -- पापसहित कार्योंमें विरत है, तीन गुप्तियोंको धारण करनेवाला है तथा जिसने इंद्रियोंको निरुद्ध कर लिया है उसके स्थायी सामायिक होता है ऐसा केवली भगवान्‌के शासनमें कहा गया है।।१२५।।

जो समो सव्वभूदेसु, थावरेसु तसेसु वा।
तस्स सामाइगं ठाई, इदि केवलिसासणे।।१२६।।

जो स्थावर अथवा त्रस सब जीवोंमें समभाववाला है उसके स्थायी सामायिक होता है ऐसा केवली भगवान्‌के शासनमें कहा गया है।।१२६।।

जस्स सण्णिहिदो अप्पा, संजमे णियमे तवे।
तस्स सामाइगं ठाई, इदि केवलिसासणे।।१२७।।

जिसका आत्मा संयम, नियम तथा तपमें सन्निहित रहता है उसके स्थायी सामायिक होता है ऐसा केवली भगवान्के शासनमें कहा गया है।।१२७।।

जस्स रागो दु दोसो दु, विगडिं ण जणेदि दु।
तस्स सामाइगं ठाई, इदि केवलिसासणे।।१२८।।

राग और द्वेष जिसके विकार उत्पन्न नहीं करते हैं उसके स्थायी सामायिक होता है ऐसा केवली भगवान्के शासनमें कहा गया है।।१२८।।

जो दु अट्ट च रुद्दं च, झाणं वच्चेदि णिच्चसा।
तस्स सामाइगं ठाई, इदि केवलिसासणे।।१२९।।

जो निरंतर आर्त और रौद्र ध्यानका परित्याग करता है उसके स्थायी सामायिक होता है ऐसा केवली भगवान्के शासनमें कहा गया है।।१२९।।

जो दु पुण्णं च पावं च, भावं वच्चेदि णिच्चसा।
तस्स सामाइगं ठाई, इदि केवलिसासणे।।१३०।।

जो निरंतर पुण्य और पापरूप भावको छोड़ता है उसके स्थायी सामायिक होता है ऐसा केवली भगवान्के शासनमें कहा गया है।।१३०।।

जो दु हस्सं रई सोगं, अरतिं वज्जेदि णिच्चसा ।
तस्स सामाइगं ठाई, इदि केवलिसासणे।।१३१।।
जो दुगंछा भयं वेदं, सव्वं वज्जदि णिच्चसा।
तस्स सामाइगं ठाई, इदि केवलिसासणे।।१३२।।

जो निरंतर हास्य, रति, शोक और अरतिका परित्याग करता है उसके स्थायी सामायिक होता है ऐसा केवली भगवान्के शासनमें कहा गया है।।१३१।।

जो निरंतर जुगुप्सा, भय और सब प्रकारके वेदोंको छोड़ता है उसके स्थायी सामायिक होता है ऐसा केवली भगवान्के शासनमें कहा गया है।।१३२।।

जो दु धम्मं च सुक्कं, झाणं झाएदि णिच्चसा।
तस्स सामाइगं ठाई, इदि केवलिसासणे।।१३३।।

जो निरंतर धर्म्य और शुक्ल ध्यानका ध्यान करता है उसके स्थायी सामायिक होता है ऐसा केवली

भगवान्‌के शासनमें कहा गया है।।१३३।।

इस तरह श्री कुंदकुंदाचार्य विरचित नियमसार ग्रंथमें परमसमाध्यधिकार नामक
नौवाँ अधिकार समाप्त हुआ।।९।।

***

१०

परमभक्त्यधिकार

सम्मत्तणाणचरणे, जो भत्तिं कुणइ सावगो समणो।
तस्स दु णिव्वुदिभत्ती, होदि त्ति जिणेहि पण्णत्तं।।१३४।।

जो श्रावक अथवा मुनि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रमें भक्ति करता है उसे निवृत्ति भक्ति -- मुक्तिकी प्राप्ति होती है ऐसा जिनेंद्र भगवान्‌ने कहा है।।१३४।।

मोक्खंगयपुरिसाणं, गुणभेदं जाणिऊण तेसिंपि।
जो कुणदि परमभत्तिं, ववहारणयेण परिकहियं।।१३५।।

मोक्षको प्राप्त करनेवाले पुरुषोंके गुणभेदको जानकर उनकी भी परम भक्ति करता है उसे भी निवृत्ति भक्ति -- मुक्तिकी प्राप्ति होती है ऐसा व्यवहारनयसे कहा गया है।।१३५।।

मोक्खपहे अप्पाणं, ठविऊण य कुणदि णिव्वुदी भत्ती।
तेण दु जीवो पावइ, असहायगुणं णियप्पाणं।।१३६।।

मोक्षमार्गमें अपने आपके स्थापित कर जो निवृत्ति भक्ति -- मुक्ति की आराधना करता है उससे जीव असहाय -- स्वापेक्ष गुणोंसे युक्त निज आत्माको प्राप्त करता है।।१३६।।

रायादीपरिहारे, अप्पाणं जो दु जुंजदे साहू।
सो जोगभत्तिजुत्तो, इदरस्स य कह हवे जोगो।।१३७।।

जो साधु अपने आत्माको रागादिकके परित्यागमें लगाता है वह योगभक्तिसे युक्त है, अन्य साधुके योग कैसे हो सकता है?।।१३७।।

सव्वविअप्पाभावे, अप्पाणं जो दु जुंजदे साहू।
सो जोगभत्तिजुत्तो, इदरस्स य किह हवे जोगो।।१३७।।

जो साधु अपने आत्माको समस्त विकल्पोंके अभावोंमें लगाता है वह योग भक्तिसे युक्त है, अन्य साधुके योग किस प्रकार हो सकता है?।।१३८।।

योगका लक्षण

विवरीयाभिणिवेसं, परिचत्ता जोण्हकहियतच्चेसु।
जो जुंजदि अप्पाणं, णियभावे सो हवे जोगो।।१३९।।

जो विपरीत अभिप्रायको छोड़कर जिनेंद्रदेव द्वारा कथित तत्त्वोंमें अपने आपको लगाता है उसका वह निजभाव ही योग है।।१३९।।

उसहादिजिणवरिंदा, एवं काऊण जोगवरभत्तिं।
णिव्वुदिसुहमावण्णा, तम्हा धरु जोगवरभत्तिं।।१४०।।

ऋषभादि जिनेंद्र इस प्रकार योगकी उत्तम भक्ति कर निर्वाणके सुखको प्राप्त हुए हैं इसलिए तू भी योगकी उत्तम भक्तिको धारण कर।।१४०।।

इस प्रकार श्री कुंदकुंद स्वामी विरचित नियमसार ग्रंथमें परमभक्त्यधिकार नामका
दसवाँ अधिकार समाप्त हुआ।।१०।।

***

११

निश्चयपरमावश्यकाधिकार

आवश्यक शब्दकी निरुक्ति

जो ण हवदि अण्णवसो, तस्स दु कम्मं भणंति आवासं।
कम्मविणासणजोगो, णिव्वुदिमग्गो त्ति पिज्जुत्तो।।१४१।।

जो अन्यके वशमें नहीं होता उसके कार्यको आवश्य (आवश्यक) कहते हैं। कर्मोंका नाश करनेवाला जो योग है वही निवृति -- निर्वाणका मार्ग है ऐसा कहा गया है।।१४१।।

आवश्यक युक्तिका निरुक्तार्थ

ण वसो अवसो अवसस्स कम्म वावस्सयं त्ति बोधव्वा।
जुत्ति त्ति उवाअं ति य, णिरवयवो होदि णिज्जेत्ति।।१४२।।

जो अन्यके वश नहीं है वह अवश है और अवशका जो कर्म है वह आवश्यक (आवश्य) है ऐसा ा चाहिए। युक्ति इसका अर्थ उपाय है। आवश्यककी जो युक्ति है वह आवश्यक युक्ति है। इस तरह

आवश्यक युक्ति शब्दका संपूर्ण निरुक्ति अर्थ है।

भावार्थ -- शब्दसे निकलनेवाले अर्थको निरुक्ति कहते हैं। यहाँ आवश्यक युक्ति शब्द का ऐसा ही अर्थ बतलाया गया है।।१४२।।

वट्टदि जो सो समणो, अण्णवसो होदि असुहभावेण।
तम्हा तस्स दु कम्मं, आवस्सयलक्खणं ण हवे।।१४३।।

जो साधु अशुभ भावसे प्रवृत्ति करता है वह अन्य वश है इसलिए उसका कार्य आवश्यक नामसे युक्त नहीं है।

भावार्थ -- अवश साधुका कार्य आवश्यक है, अन्यवश साधुका कार्य आवश्यक नहीं है।।१४३।।

जो चरदि संजदो खलु, सुहभावे सो हवेइ अण्णवसो।
तम्हा तस्स दु कम्मं, आवासयलक्खणं ण हवे।।१४४।।

जो साधु निश्चयसे शुभ भावमें प्रवृत्ति करता है वह अन्यवश है इसलिए उसका कर्म आवश्यक नामवाला नहीं है।

भावार्थ -- एकसौ तैंतालीस तथा एकसौ चवालीसवीं गाथामें कहा गया है कि जो साधु शुभ और अशुभ भावोंमें प्रवृत्ति करता है वह अवश नहीं है, किंतु अन्यवश है। इसलिए उसका जो कर्म है वह आवश्य अथवा आवश्यक नहीं कहला सकता है।।१४४।।

दव्वगुणपज्जयाणं, चित्तं जो कुणइ सो वि अण्णवसो।
मोहंधयारववगयसमणा कहयंति एरिसयं।।१४५।।

जो साधु द्रव्य, गुण और पर्यायोंके मध्यमें अपना चित्त लगाता है अर्थात् उनके विकल्पमें पड़ता है वह भी अन्यवश है ऐसा मोहरूपी अंधकारसे रहित मुनि कहते हैं।।१४५।।

आत्मवश कौन है?

परिचत्ता परभावं, अप्पाणं झादि णिम्मलसहावं।
अप्पवसं सो होदि हु, तस्स दु कम्मं भणंति आवासं।।१४६।।

जो परपदार्थको छोड़कर निर्मल स्वभाववाले आत्माका ध्यान करता है वश आत्मवश है। निश्चयसे उसके कर्मको आवश्यक कर्म कहते हैं।।१४६।।

शुद्ध निश्चय आवश्यक प्राप्तिका उपाय

आवासं जइ इच्छसि, अप्पसहावेसु कुणदि थिरभावं।
तेण दु सामण्णगुणं, संपुण्णं होदि जीवस्स।।१४७।।

यदि तू आवश्यककी इच्छा करता है तो आत्मस्वभावमें अत्यंत स्थिर भावको कर। उस

जीवका श्रामण्यगुण -- मुनिधर्म पूर्ण होता है।।१४७।।

आवश्यक करनेकी प्रेरणा

आवासएण हीणो, पब्भट्ठो होदि चरणदो समणो।
पुव्वुत्तकमेण पुणो, तम्हा आवासयं कुज्जा।।१४८।।

क्योंकि आवश्यकसे रहित साधु चारित्रसे अत्यंत भ्रष्ट है इसलिए पूर्वोक्त क्रमसे आवश्यक करना चाहिए।।१४८।।

आवासएण जुत्तो, समणो सो होदि अंतरंगप्पा।
आवासय परिहीणो, समणो सो होदि बहिरप्पा।।१४९।।

जो साधु आवश्यक कर्मसे युक्त है वह अंतरात्मा है और जो आवश्यक कर्मसे रहित है वह बहिरात्मा है।।१४९।।

अंतरबाहिरजप्पे, जो वट्टइ सो हवेइ बहिरप्पा।
जप्पेसु जो ण वट्टइ, सो उच्चइ अंतरंगप्पा।।१५०।।

जो साधु अंतर्जल्प और बाह्य जल्पमें वर्तता है वह बहिरात्मा है और जो (किसी भी प्रकारके) जल्पोंमें नहीं वर्तता है वह अंतरात्मा कहा जाता है।।१५०।।

जो धम्मसुक्कझाणम्हि परिणदो सोवि अंतरंगप्पा।
झाणविहीणो समणो, बहिरप्पा इदि विजाणीहि।।१५१।।

जो धर्म्यध्यान और शुक्लध्यानमें परिणत है वह भी अंतरात्मा है। ध्यानविहीन साधु बहिरात्मा है ऐसा जान।।१५१।।

प्रतिक्रमण आदि क्रियाओंकी सार्थकता

पडिकमणपहुदि किरियं, कुव्वंतो णिच्छयस्स चारित्तं।
तेण दु विरागचरिए, समणो अब्भुट्ठिदो होदि।।१५२।।

प्रतिक्रमण आदि क्रियाओंको करनेवालेके निश्चय चारित्र होता है और उस निश्चय चारित्रसे साधु वीतराग चारित्रमें उद्यत होता है।

भावार्थ -- यहाँ प्रतिक्रमण आदि क्रियाओंकी सार्थकता बतलाते हुए कहा गया है कि जो साधु प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान तथा आलोचना आदि क्रियाओंको करता रहता है उसीके निश्चय चारित्र होता है और उस निश्चय चारित्रके द्वारा ही साधु वीतराग चारित्रमें आरूढ़ होता है।।१५२।।

वयणमयं पडिकमणं, वयणमयं पच्चखाण णियमं च।
आलोयण वयणमयं, तं सव्वं जाण सज्झाउं।।१५३।।

जो वचनमय प्रतिक्रमण, वचनमय प्रत्याख्यान और वचनमय आलोचना है उस सबको तू स्वाध्याय जान।

भावार्थ -- प्रतिक्रमण आदिके पाठ बोलना स्वाध्यायमें गर्भित हैं।।१५३।।

जदि सक्कदि कादुं जे, पडिकमणादिं करेज्ज झाणमयं।
सत्तिविहीणो जा जइ, सद्दहणं चेव कायव्वं।।१५४।।

हे मुनिशार्दूल! यदि करनेकी सामर्थ्य है तो तुझे ध्यानमय प्रतिक्रमणादि करना चाहिए और यदि शक्तिसे रहित है तो तुझे तब तक श्रद्धान ही करना चाहिए।।१५४।।

जिणकहियपरमसुत्ते, पडिकमणादिय परीक्खऊण फुडं।
मोणव्वएण जोई, णियकज्जं साहये णिच्चं।।१५५।।

जिनेंद्रदेवके द्वारा कहे हुए परमागममें प्रतिक्रमणादिकी अच्छी तरह परीक्षा कर योगीको निरंतर मौनव्रतसे निजकार्य सिद्ध करना चाहिए।।१५५।।

विवाद वर्जनीय है

णाणाजीवा णाणाकम्मं णाणाविहं हवे लद्धी।
तम्हा वयणविवादं, सगपरसमएहिं वज्जिज्जो।।१५६।।

नाना जीव हैं, नाना कर्म हैं और नाना प्रकारकी लब्धियाँ हैं, इसलिए स्वधर्मियों और परधर्मियोंके साथ वचनसंबंधी विवाद वर्जनीय है -- छोड़नेके योग्य है।।१५६।।

सहजतत्त्वकी आराधनाकी विधि

लद्धूणं णिहि एक्को, तस्स फलं अणुहवेइ सुजणत्तें।
तह णाणी णाणणिहिं, भुंजेइ चइत्तु परतत्तिं।।१५७।।

जिस प्रकार कोई एक मनुष्य निधिको पाकर स्वजन्मभूमिमें स्थित हो उसका फल भोगता है उसी प्रकार ज्ञानी जीव ज्ञानरूपी निधिको पाकर परसमूहको छोड़ उसका अनुभव करता है।।१५७।।

सव्वे पुराणपुरिसा, एवं आवासयं य काऊण।
अपमत्तपहुदिठाणं, पडिवज्ज य केवली जादा।।१५८।।

समस्त पुराणपुरुष इस प्रकार आवश्यक कर अप्रमत्तादिक स्थानोंको प्राप्त करके केवली हुए हैं।

भावार्थ -- जितने पुराणपुरुष अबतक केवली हुए हैं वे सब पूर्वोक्त विधिसे प्रमत्तविरत नामक छठवें गुणस्थानमें आवश्यक कर्मको करके अप्रमत्तादि गुणस्थानोंको प्राप्त हुए हैं और तदनंतर केवली हुए हैं।।१५८।।

इस प्रकार श्री कुंदकुंदाचार्य विरचित नियमसार ग्रंथमें निश्चयपरमावश्यकाधिकार नामका ग्यारहवाँ अधिकार पूर्ण हुआ।।११।।

***

१२

शुद्धोपयोगाधिकार

निश्चय और व्यवहार नयसे केवलीकी व्याख्या

जाणदि पस्सदि सव्वं, ववहारणएण केवली भगवं।
केवलणाणी जाणदि, पस्सदि णियमेण अप्पाणं।।१५९।।

व्यवहार नयसे केवली भगवान् सबको जानते और देखते हैं, परंतु निश्चय नयसे केवलज्ञानी अपने आपको जानते देखते हैं।।१५९।।

केवलज्ञान और केवलदर्शन साथ साथ होते हैं

जुगवं वट्टइ णाणं, केवलणाणिस्स दंसणं च तहा।
दिणयरपयासतापं, जह वट्टइ तह मुणेयव्वं।।१६०।।

जिसप्रकार सूर्यका प्रकाश और प्रताप एक साथ वर्तता है उसी प्रकार केवलज्ञानीका ज्ञान और दर्शन एकसाथ वर्तता है ऐसा जानना चाहिए।

भावार्थ -- छद्मस्थ जीवोंके पहले दर्शन होता है उसके बाद ज्ञान होता है, परंतु केवली भगवान्के दर्शन और ज्ञान दोनों साथही होते हैं।।१६०।।

ज्ञान और दर्शनके स्वरूपकी समीक्षा

णाणं परप्पयासं, दिट्ठी अप्पप्पयासया चेव।
अप्पा सपरपयासो, होदि त्ति हि मण्णसे जदि हि।।१६१।।

ज्ञान परप्रकाशक है, दर्शन स्वप्रकाशक है और आत्मा स्वपरप्रकाशक है ऐसा यदि तू वास्तवमें मानता है (तो यह तेरी विरुद्ध मान्यता है।) ।।१६१।।

णाणं परप्पयासं, तइया णाणेण दंसणं भिण्णं।
ण हवदि परदव्वगयं, दंसणमिदि वण्णिदं तम्हा।।१६२।।

यदि ज्ञान परप्रकाशक ही है तो दर्शन ज्ञानसे भिन्न सिद्ध होगा क्योंकि दर्शन परद्रव्यगत नहीं होता

ऐसा पूर्वसूत्रमें कहा गया है।।१६२।।

अप्पा परप्पयासो, तइया अप्पेण दंसणं भिण्णं।

ण हवदि परदव्वगयं, दंसणमिदि वण्णिदं तम्हा।।१६३।।

यदि आत्मा परप्रकाशक ही है तो दर्शन आत्मासे भिन्न होगा क्योंकि दर्शन परद्रव्यगत नहीं होता ऐसा पहले कहा गया है।।१६३।।

णाणं परप्पयासं, ववहारणयेण दंसणं तम्हा।

अप्पा परप्पयासो, ववहारणयेण दंसणं तम्हा।।१६४।।

व्यवहारनयसे ज्ञान परप्रकाशक है इसलिए दर्शन परप्रकाशक है और आत्मा व्यवहारनयसे परप्रकाशक है इसलिए दर्शन परप्रकाशक है।।१६४।।

णाणं अप्पपयासं, णिच्छयणयएण दंसणं तम्हा।

अप्पा अप्पपयासो, णिच्छयणयएण दंसणं तम्हा।।१६५।।

निश्चयनयसे ज्ञान स्वप्रकाशक है इसलिए दर्शन स्वप्रकाशक है और निश्चयनयसे आत्मा स्वप्रकाशक है इसलिए दर्शन स्वप्रकाशक है।।१६५।।

अप्पसरूवं पेच्छदि, लोयालोयं ण केवली भगवं।

जइ कोइ भणइ एवं, तस्स य किं दूसणं होइ।।१६६।।

केवली भगवान् निश्चयसे आत्मस्वरूपको देखते हैं, लोक-अलोकको नहीं देखते हैं, यदि ऐसा कोई कहता है तो उसे क्या दूषण है? अर्थात् नहीं है।।१६६।।

प्रत्यक्ष ज्ञानका वर्णन

मुत्तममुत्तं दव्वं, चेयणमियरं सगं च सव्वं च।

पेच्छंतस्स दु णाणं, पच्चक्खमणिंदियं होइ।।१६७।।

मूर्त, अमूर्त, चेतन, अचेतन द्रव्य तथा स्व और समस्त परद्रव्यको देखनेवाला ज्ञान प्रत्यक्ष एवं अतींद्रिय होता है।।१६७।।

परोक्ष ज्ञानका वर्णन

पुव्वुत्तसयलदव्वं, णाणागुणपज्जएण संजुत्तं।

जो ण य पेच्छइ सम्मं, परोक्खदिट्ठी हवे तस्स।।१६८।।

जो नाना गुण और पर्यायोंसे संयुक्त पूर्वोक्त समस्त द्रव्योंको अच्छी तरह नहीं देखता है उसकी दृष्टि परोक्ष दृष्टि है अर्थात् उसका ज्ञान परोक्ष ज्ञान है।।१६८।।

लोयालोयं जाणइ, अप्पाणं णेव केवली भगवं।
जइ कोइ भणइ एवं, तस्स य किं दूसणं होइ।।१६९।।

केवली भगवान् (व्यवहारसे) लोकालोकको जानते हैं, आत्माको नहीं, ऐसा यदि कोई कहता है तो क्या उसका दूषण है? अर्थात् नहीं है।।१६९।।

णाणं जीवसरूवं, तम्हा जाणेइ अप्पगं अप्पा।
अप्पाणं ण वि जाणदि, अप्पादो होदि विदिरित्तं।।१७०।।

ज्ञान जीवका स्वरूप है इसलिए आत्मा आत्माको जानता है, यदि ज्ञान आत्माको न जाने तो वह आत्मासे भिन्न -- पृथक् सिद्ध हो।।१७०।।

अप्पाणं विणु णाणं, णाणं विणु अप्पगो ण संदेहो।
तम्हा सपरपयासं, णाणं तह दंसणं होदि।।१७१।।

आत्माको ज्ञान जानो और ज्ञान आत्मा है ऐसा जानो, इसमें संदेह नहीं है इसलिए ज्ञान तथा दर्शन दोनों स्वपरप्रकाशक हैं।।१७१।।

केवलज्ञानीके बंध नहीं है

जाणंतो पस्संतो, ईहा पुव्वं ण होइ केवलिणो।
केवलणाणी तम्हा, तेण दु सोऽबंधगो भणिदो।।१७२।।

जानते देखते हुए केवलीके पूर्वमें इच्छा नहीं होती इसलिए वे केवलज्ञानी अबंधक -- बंधरहित कहे गये हैं।

भावार्थ -- बंधका कारण इच्छा है, मोह कर्मका सर्वथा क्षय होनेसे केवलीके जानने देखनेके पहले कोई इच्छा नहीं होती और इच्छाके बिना उनके बंध नहीं होता।।१७२।।

केवलीके वचन बंधके कारण नहीं हैं

परिणामपुव्ववयणं, जीवस्स य बंधकारणं होई।
परिणामरहियवयणं, तम्हा णाणिस्स ण हि बंधो।।१७३।।
ईहापुव्वं वयणं, जीवस्स य बंधकारणं होई।
ईहारहियं वयणं, तम्हा णाणिस्स ण हि बंधो।।१७४।।

परिणामपूर्वक -- अभिप्रायपूर्वक वचन जीवके बंधका कारण है। क्योंकि ज्ञानीका वचन परिणामरहित है इसलिए उसके बंध नहीं होता।।१७३।।

इच्छापूर्वक वचन जीवके बंधका कारण होता है, क्योंकि ज्ञानी जीवका वचन इच्छारहित है

इसलिए उसके बंध नहीं होता।।१७४।।

ठाणणिसेज्जविहारा, ईहापुव्वं ण होइ केवलिणो।
तम्हा ण होइ बंधो, साकट्ठं मोहणीयस्स।।१७५।।

केवलीके खड़े रहना, बैठना और विहार करना इच्छापूर्वक नहीं होते हैं, इसलिए उन्हें तन्निमित्तक बंध नहीं होता। बंध उसके होता है जो मोहके उदयसे इंद्रियजन्य विषयोंके सहित होता है।।१७५।।

कर्मक्षयसे मोक्ष प्राप्त होता है

आउस्स खएण पुणो, णिण्णासो होइ सेसपयडीणं।
पच्छा पावइ सिग्घं, लोयग्गं समयमेत्तेण।।१७६।।

आयुके क्षयसे केवलीके समस्त प्रकृतियोंका क्षय हो जाता है, पश्चात् वे समयमात्रमें शीघ्र ही लोकाग्रको प्राप्त कर लेते हैं।।१७६।।

कारण परमतत्त्वका स्वरूप

जाइजरमरणरहियं, परमं कम्मट्ठवज्जियं सुद्धं।
णाणाइचउसहावं, अक्खयमविणासमच्छेयं।।१७७।।

वह कारणपरमतत्त्व जन्म जरा और मरणसे रहित है, उत्कृष्ट है, आठ कर्मोंसे वर्जित है, शुद्ध है, ज्ञानादिक चार गुणरूप स्वभावसे सहित है, अक्षय है, अविनाशी है और अच्छेद्य -- छेदन करनेके अयोग्य है।।१७७।।

अव्वाबाहमणिंदियमणोवमं पुण्णपावविणिमुक्कं।
पुणरागमणविरहियं, णिच्चं अचलं अणालंबं।।१७८।।

वह कारणपरमतत्त्व अव्याबाध, अनिंद्रिय, अनुपम, पुण्य-पापसे निर्मुक्त, पुनरागमनसे रहित, नित्य, अचल और अनालंब -- परके आलंबनसे रहित है।।१७८।।

निर्वाण कहाँ होता है?

णवि दुःखं णवि सुक्खं, णवि पीडा णेव विज्जदे बाहा।
णवि मरणं णवि जणणं, तत्थेव य होइ णिव्वाणं।।१७९।।

जहाँ न दुःख है, न सांसारिक सुख है, न पीड़ा है, न बाधा है, न मरण है और न जन्म है, वहीं निर्वाण होता है।।१७९।।

ण वि इंदिय उवसग्गा, ण वि मोहो विम्हियो ण णिद्दा य।
णय तिण्हा णेव छुहा, तत्थेव य होइ णिव्वाणं।।१८०।।

जहाँ न इंद्रियाँ हैं, न उपसर्ग है, न मोह है, न विस्मय है, न तृषा है और न क्षुधा है वहीं निर्वाण होता है।।१८०।।

ण वि कम्मं णोकम्मं, णवि चिंता णेव अट्टरुद्दाणि।
णवि धम्मसुक्कझाणे, तत्थेव य होइ णिव्वाणं।।१८१।।

जहाँ न कर्म है, न नोकर्म है, न चिंता है, न आर्त-रौद्र ध्यान है और न धर्म्य शुक्ल ध्यान हैं, वहीं निर्वाण होता है।।१८१।।

सिद्ध भगवान्का स्वरूप

विज्जदि केवलणाणं, केवलसोक्खं च केवलं विरयं।
केवलदिट्ठि अमुत्तं अत्थित्तं सपदेसत्तं।।१८२।।

उन सिद्ध भगवान्के केवलज्ञान है, केवलसुख है, केवलवीर्य है, केवलदर्शन है, अमूर्तिकपना है, अस्तित्व है तथा प्रदेशोंसे सहितपना है।।१८२।।

निर्वाण और सिद्धमें अभेद

णिव्वाणमेव सिद्धा, सिद्धा णिव्वाणमिदि समुद्दिट्ठा।
कम्मविमुक्को अप्पा, गच्छइ लोयग्गपज्जंत्तं।।१८३।।

निर्वाण ही सिद्ध हैं और सिद्ध ही निर्वाण हैं ऐसा कहा गया है। कर्मसे विमुक्त आत्मा लोकाग्रपर्यंत जाता है।।१८३।।

कर्मविमुक्त आत्मा लोकाग्रपर्यंत ही क्यों जाता है?

जीवाणं पुग्गलाणं, गमणं जाणेहि जाव धम्मत्थी।
धम्मत्थिकायभावे, तत्तो परदो ण गच्छंति।।१८४।।

जीव और पुद्गलोंका गमन जहाँ तक धर्मास्तिकाय है वहाँ तक होता है। लोकाग्रके आगे धर्मास्तिकायका अभाव होनेसे कर्ममुक्त आत्माएँ नहीं जाती हैं।।१८४।।

ग्रंथका समारोप

णियमं णियमस्स फलं, णिद्दिट्ठं पवयणस्स भत्तीए।
पुव्वावरविरोधो जदि, अवणीय पूरयंतु समयण्हा।।१८५।।

इस ग्रंथमें प्रवचनकी भक्तिसे नियम और नियमका फल दिखलाया गया है। इसमें यदि पूर्वापर विरोध हो तो आगमके ज्ञाता पुरुष उसे दूर कर पूर्ति करें।।१८५।।

ईसाभावेण पुणो, केई णिंदंति सुंदरं मग्गं।
तेसिं वयणं सोच्चाऽभत्तिं मा कुणह जिणमग्गे।।१८६।।

और कितने ही लोग ईर्ष्याभावसे सुंदर मार्गकी निंदा करते हैं, इसलिए उनके वचन सुनकर जिनमार्गमें अभक्ति -- अश्रद्धा न करो।।१८६।।

णियभावणाणिमित्तं, मए कदं णियमसारणामसुदं।
णच्चा जिणोवदेसं, पुव्वावरदोसणिम्मुक्कं।।१८७।।

मैने पूर्वापर दोषसे रहित जिनोपदेशको जानकर निजभावनाके निमित्त यह नियमसार नामका शास्त्र रचा है।।१८७।।

इस प्रकार श्री कुंदकुंदाचार्य विरचित नियमसारमें शुद्धोपयोगाधिकार नामका
बारहवाँ अधिकार समाप्त हुआ।।१२।।

*

अष्टपाहुड

*

अष्टपाहुड

दर्शनपाहुड

काउण णमुक्कारं, जिणवरवसहस्स वड्ढमाणस्स।
दंसणमग्गं वोच्छामि, जहाकमं समासेण।।१।।

मैं आद्य जिनेंद्र श्री ऋषभदेव तथा अंतिम जिनेंद्र श्री वर्द्धमान स्वामीको नमस्कार कर क्रमानुसार संक्षेपसे सम्यग्दर्शनके मार्गको कहूँगा।।१।।

दंसणमूलो धम्मो, उपइट्ठो जिणवरेहिं सिस्साणं।
तं सोऊण सकण्णे, दंसणहीणो ण वंदिव्वो।।२।।

श्री जिनेंद्र भगवान्ने शिष्योंके लिए दर्शनमूल धर्मका उपदेश दिया है इसलिए उसे अपने कानोंसे सुनो। जो सम्यग्दर्शनसे रहित है वह वंदना करनेयोग्य नहीं है।।२।।

दंसणभट्टा भट्टा, दंसणभट्टस्स णत्थि णिव्वाणं।
सिज्झंति चरियभट्टा, दंसणभट्टा ण सिज्झंति।।३।।

जो सम्यग्दर्शनसे भ्रष्ट हैं वे ही वास्तवमें भ्रष्ट हैं, क्योंकि सम्यग्दर्शनसे भ्रष्ट मनुष्यको मोक्ष प्राप्त नहीं होता। जो सम्यक्चारित्रसे भ्रष्ट हैं वे सिद्ध हो जाते हैं परंतु जो सम्यग्दर्शनसे भ्रष्ट हैं वे सिद्ध नहीं हो सकते।।३।।

सम्मत्तरयणभट्टा, जाणंता बहुविहाइं सत्थाइं।
आराहणाविरहिया, भमंति तत्थेव तत्थेव।।४।।

जो सम्यक्त्वरूपी रत्नसे भ्रष्ट हैं वे बहुत प्रकारके शास्त्रोंको जानते हुए भी आराधनाओंसे रहित होनेके कारण उसी संसारमें भ्रमण करते रहते हैं।।४।।

सम्मत्तविरहियाणं, सुट्ठु वि उग्गं तवं चरंताणं।
ण लहंति बोहिलाहं, अवि वाससहस्सकोडीहिं।।५।।

जो मनुष्य सम्यग्दर्शनसे रहित हैं वे भले ही करोड़ों वर्षोंतक उत्तमतापूर्वक कठिन तपश्चरण करें तो भी उन्हें रत्नत्रय प्राप्त नहीं होता है।।५।।

सम्मत्तणाणदंसणबलवीरियवड्ढमाण जे सव्वे।
कलिकलुसपावरहिया, वरणाणी होंति अइरेण।।६।।

जो पुरुष सम्यक्त्व, ज्ञान, दर्शन, बल और वीर्यसे वृद्धिको प्राप्त हैं तथा कलिकाल संबंधी मलिन पापसे रहित हैं वे सब शीघ्र ही उत्कृष्ट ज्ञानी हो जाते हैं।।६।।

सम्मत्तसलिलपवहे, णिच्चं हियए पवट्टए जस्स।
कम्मं वालुयवरणं, बंधुच्चिय णासए तस्स।।७।।

जिस मनुष्यके हृदयमें सम्यक्त्वरूपी जलका प्रवाह निरंतर प्रवाहित होता है उसका पूर्वबंधसे संचित कर्मरूपी बालूका आवरण नष्ट हो जाता है।।७।।

जे दंसणेसु भट्ठा, णाणे भट्ठा चरित्तभट्ठा य।
ऐदे भट्ठविभट्ठा, सेसं पि जणं विणासंति।।८।।

जो मनुष्य दर्शनसे भ्रष्ट हैं, ज्ञानसे भ्रष्ट हैं और चारित्रसे भ्रष्ट हैं वे भ्रष्टोंमें भ्रष्ट हैं -- अत्यंत भ्रष्ट हैं तथा अन्य जनोंको भी भ्रष्ट करते हैं।।८।।

जो कोवि धम्मसीलो, संजमतवणियमजोयगुणधारी।
तस्स य दोस कहंता, भग्गा भग्गत्तणं दिंति।।९।।

जो कोई धर्मात्मा संयम, तप, नियम और योग आदि गुणोंका धारक है उसके दोषोंको कहते हुए क्षुद्र मनुष्य स्वयं भ्रष्ट हैं तथा दूसरोंको भी भ्रष्टता प्रदान करते हैं।।९।।

जह मूलम्मि विणट्ठे, दुमस्स परिवार णत्थि परवड्ढी।
तह जिणदंसणभट्ठा, मूलविणट्ठा ण सिज्झंति।।१०।।

जैसे जड़के नष्ट हो जानेपर वृक्षके परिवारकी वृद्धि नहीं होती वैसे ही जो पुरुष जिनदर्शनसे भ्रष्ट हैं वे मूलसे विनष्ट हैं -- उनका मूल धर्म नष्ट हो चुका है, अतः ऐसे जीव सिद्ध अवस्थाको प्राप्त नहीं हो पाते हैं।।१०।।

जह मूलाओ खंधो, साहापरिवार बहुगुणो होई।
तह जिणदंसणमूलो, णिद्दिट्ठो मोक्खमग्गस्स।।११।।

जिस प्रकार वृक्षकी जड़से शाखा आदि परिवारसे युक्त कई गुणा स्कंध उत्पन्न होता है उसी प्रकार मोक्षमार्गकी जड़ जिनदर्शन -- जिनधर्मका श्रद्धान है ऐसा कहा गया है।।११।।

जे दंसणेसु भट्ठा, पाए पाडंति दंसणधराणं।
ते होंति लुल्लमूआ, बोही पुण दुल्लहा तेसिं।।१२।।

जो मनुष्य स्वयं सम्यग्दर्शनसे भ्रष्ट होकर अपने चरणोंमें सम्यग्दृष्टियोंको पाड़ते हैं अर्थात् सम्यग्दृष्टियोंसे अपने चरणोंमें नमस्कार कराते हैं वे लूले और गूँगे होते हैं तथा उन्हें रत्नत्रय अत्यंत दुर्लभ रहता है। यहाँ लूले और गूँगेसे तात्पर्य स्थावर जीवोंसे है क्योंकि यथार्थमें वे ही गतिरहित तथा शब्दहीन होते हैं।।१२।।

जे वि पडंति च तेसिं, जाणंता लज्जगारवभयेण।
तेसिं पि णत्थि बोही, पावं अणुमोयमाणाणं।।१३।।

जो सम्यग्दृष्टि मनुष्य मिथ्यादृष्टियोंको जानते हुए भी लज्जा, गौरव और भयसे उनके चरणोंमें पड़ते हैं वे भी पापकी अनुमोदना करते हैं अतः उन्हें रत्नत्रयकी प्राप्ति नहीं होती।।१३।।

दुविहं पि गंथचायं, तीसुवि जोएसु संजमो ठादि।
णाणम्मि करणसुद्धे, उब्भसणे दंसणं होई।।१४।।

जहाँ अंतरंग और बहिरंगके भेदसे दोनों प्रकारके परिग्रहका त्याग होता है, मन वचन काय इन तीनों योगोंमें संयम स्थित रहता है, ज्ञान कृत, कारित, अनुमोदनासे शुद्ध रहता है और खड़े होकर भोजन किया जाता है वहाँ सम्यग्दर्शन होता है।।१४।।

सम्मत्तादो णाणं, णाणादो सव्वभाव उवलद्धी।
उवलद्धपयत्थे पुण, सेयासेयं वियाणेदि।।१५।।

सम्यग्दर्शनसे सम्यग्ज्ञान होता है, सम्यग्ज्ञानसे समस्त पदार्थोंकी उपलब्धि होती है और समस्त पदार्थोंकी उपलब्धि होनेसे यह जीव सेव्य तथा असेव्यको -- कर्तव्य-अकर्तव्यको जानने लगता है।।१५।।

सेयासेयविदण्हू, उद्धुददुस्सील सीलवंतो वि।
सीलफलेणब्भुदयं, तत्तो पुण लहइ णिव्वाणं।।१६।।

सेव्य और असेव्यको जाननेवाला पुरुष अपने मिथ्या स्वभावको नष्ट कर शीलवान् हो जाता है तथा शीलके फलस्वरूप स्वर्गादि अभ्युदयको पाकर फिर निर्वाणको प्राप्त हो जाता है।।१६।।

जिणवयणमोसहमिणं, विसयसुहविरेयणं अमिदभूयं।
जरमरणवाहिहरणं, खयकरणं सव्वदुक्खाणं।।१७।।

यह जिनवचनरूपी औषधि विषयसुखको दूर करनेवाली है, अमृतरूप है, बुढ़ापा, मरण आदिकी पीड़ाको हरनेवाली है तथा समस्त दुःखोंका क्षय करनेवाली है।।१७।।

एगं जिणस्स रूवं, बीयं उक्किट्ठसावयाणं तु।
अवरट्ठियाण तइयं, चउत्थ पुण लिंगदंसणं णत्थि।।१८।।

जिनमतमें तीन लिंग -- वेष बतलाये हैं, उनमें एक तो जिनेंद्रभगवान्‌का निर्ग्रंथ लिंग है, दूसरा उत्कृष्ट श्रावकों -- ऐलक क्षुल्लकोंका है और तीसरा आर्यिकाओंका है, इसके सिवाय चौथा लिंग नहीं है।।१८।।

छह दव्व णव पयत्था, पंचत्थी सत्त तच्च णिद्दिट्ठा ।
सद्दहइ ताण रूवं, सो सद्दिट्ठी मुणेयव्वो।।१९।।

छह द्रव्य, नौ पदार्थ, पाँच अस्तिकाय और सात तत्त्व कहे गये हैं। जो उनके स्वरूपका श्रद्धान करता है उसे सम्यग्दृष्टि जानना चाहिए।।१९।।

जीवादी सद्दहणं, सम्मत्तं जिणवरेहिं पण्णत्तं।
ववहारा णिच्छयदो, अप्पाणं हवइ सम्मत्तं।।२०।।

जिनेंद्र भगवान्‌ने सात तत्त्वोंके श्रद्धानको व्यवहार सम्यक्त्व कहा है और शुद्ध आत्माके श्रद्धानको निश्चय सम्यक्त्व बतलाया है।।२०।।

एवं जिणपण्णत्तं, दंसणरयणं धरेह भावेण।
सारं गुणरयणत्तय, सोवाणं पढम मोक्खस्स।।२१।।

इस प्रकार जिनेंद्र भगवान्‌के द्वारा कहा हुआ सम्यग्दर्शन रत्नत्रयमें साररूप है और मोक्षकी पहली सीढ़ी है, इसलिए हे भव्य जीवो! उसे अच्छे अभिप्रायसे धारण करो।।२१।।

जं सक्कइ तं कीरइ, जं च ण सक्कइ तं च सद्दहणं।
केवलिजिणेहि भणियं, सद्दहमाणस्स सम्मत्तं।।२२।।

जितना चारित्र धारण किया जा सकता है उतना धारण करना चाहिए और जितना धारण नहीं किया जा सकता उसका श्रद्धान करना चाहिए, क्योंकि केवलज्ञानी जिनेंद्र देवने श्रद्धान करनेवालोंके सम्यग्दर्शन बतलाया है।।२२।।

दंसणणाणचरित्ते, तवविणये णिच्चकालसुपसत्था।
एदे दु वंदणीया, जे गुणवादी गुणधराणं।।२३।।

जो दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप तथा विनयमें निरंतर लीन रहते हैं और गुणोंके धारक आचार्य आदिका गुणगान करते हैं वे वंदना करनेयोग्य -- पूज्य हैं।।२३।।

सहजुप्पण्णं रूवं, दट्ठुं जो मण्णए ण मच्छरिओ।
सो संजमपडिवण्णो, मिच्छाइट्ठी हवइ एसो।।२४।।

मात्सर्य भावमें भरा हुआ जो पुरुष जिनेंद्रभगवान्‌के सहजोत्पन्न -- दिगंबर रूपको देखनेके योग्य

नहीं मानता वह संयमी होनेपर भी मिथ्यादृष्टि है।।२४।।

अमराण वंदियाणं, रूवं दट्ठूण सीलसहियाणं।
ये गारवं करंति य, सम्मत्तविवज्जिया होंति।।२५।।

शीलसहित तथा देवोंके द्वारा वंदनीय जिनेंद्र देवके रूपको देखकर जो अपना गौरव करते हैं--अपनेको बड़ा मानते हैं वे भी सम्यग्दर्शनसे रहित हैं।।२५।।

असंजदं ण वंदे, वच्छविहीणोवि तो ण वंदिज्ज।
दोण्णिवि होंति समाणा, एगो वि ण संजदो होदि।।२६।।

असंयमीको वंदना नहीं करनी चाहिए और भावसे सहित बाह्य नग्न रूपको धारण करनेवाला भी वंदनीय नहीं है। क्योंकि वे दोनों ही समान हैं, उनमें एक भी संयमी नहीं है।।२६।।

ण वि देहो वंदिज्जइ, ण वि य कुलो ण वि य जाइसंजुत्तो।
को वंदमि गुणहीणो, णहु सवणो णेव सावओ होइ।।२७।।

न शरीरकी वंदना की जाती है, न कुलकी वंदना की जाती है और न जातिसंयुक्तकी वंदना की जाती है। गुणहीनकी कौन वंदना करता है? क्योंकि गुणोंके बिना न मुनि होता है और न श्रावक होता है।।२७।।

वंदमि तवसावण्णा, सीलं च गुणं च बंभचेरं च।
सिद्धिगमणं च तेसिं, सम्मत्तेण सुद्धभावेण।।२८।।

मैं तपस्वी साधुओंको, उनके शीलको, मूलोत्तर गुणोंको, ब्रह्मचर्यको और मुक्तिगमनको सम्यक्त्वसहित शुद्ध भावसे वंदना करता हूँ।।२८।।

चउसट्ठिचमरसहिओ, चउतीसहि अइसएहिं संजुत्तो।
अणवरबहुसत्तहिओ, कम्मक्खय कारणणिमित्तो।।२९।।

जो चौंसठ चमरसहित हैं, चौंतीस अतिशयोंसे युक्त हैं, निरंतर प्राणियोंका हित करनेवाले हैं और कर्मक्षयके कारण हैं ऐसे तीर्थंकर परमदेव वंदनाके योग्य हैं।।२९।।

णाणेण दंसणेण य, तवेण चरियेण संजमगुणेण।
चउहिं पि समाजोग्गे, मोक्खो जिणसासणे दिट्ठो।।३०।।

ज्ञान, दर्शन, तप और चारित्र इन चार गुणोंसे संयम होता है और इन चारोंका समागम होनेपर मोक्ष होता है ऐसा जिनशासनमें कहा है।।३०।।

णाणं णरस्स सारो, सारो वि णरस्स होइ सम्मत्तं।
सम्मत्ताओ चरणं, चरणाओ होइ णिव्वाणं।।३१।।

सर्वप्रथम मनुष्यके लिए ज्ञान सार है और ज्ञानसे भी अधिक सार सम्यग्दर्शन है, क्योंकि सम्यग्दर्शनसे सम्यक्चारित्र होता है और सम्यक्चारित्रसे निर्वाण होता है।।३१।।

णाणम्मि दंसणम्मि य, तवेण चरियेण सम्मसहियेण।
चोण्हं हि समाजोगे, सिद्धा जीवा ण संदेहो।।३२।।

ज्ञान, दर्शन, सम्यक्त्वसहित तप और चारित्र इन चारोंके समागम होनेपरही जीव सिद्ध हुए हैं इसमें संदेह नहीं है।।३२।।

कल्लाणपरंपरया, कहंति जीवा विसुद्धसम्मत्तं।
सम्मद्दंसणरयणं, अग्घेदि सुरासुरे लोए।।३३।।

जीव कल्याणकी परंपराके साथ निर्मल सम्यक्त्वको प्राप्त करते हैं, इसलिए सम्यग्दर्शनरूपी रत्न लोकमें देव-दानवोंके द्वारा पूजा जाता है।।३३।।

लद्धूण य मणुयत्तं, सहियं तह उत्तमेण गुत्तेण।
लद्धूण य सम्मत्तं, अक्खय सुक्खं च मोक्खं च।।३४।।

यह जीव उत्तम गोत्रसहित मनुष्य पर्यायको पाकर तथा वहाँ सम्यक्त्वको प्राप्त कर अक्षय सुख और मोक्षको प्राप्त होता है।।३४।।

विहरदि जाव जिणिंदो, सहसट्ठ सुलक्खणेहिं संजुत्तो।
चउतीस अतिसयजुदो, सा पडिया थावरा भणिया।।३५।।

एक हजार आठ लक्षणों और चौंतीस अतिशयोंसे सहित जिनेंद्र भगवान् जब तक विहार करते हैं तब तक उन्हें स्थावर प्रतिमा कहते हैं।।३५।।

बारसविहतवजुत्ता, कम्मं खविऊण विहिवलेण स्सं।
वोसट्ठचत्तदेहा, णिव्वाणमणुत्तरं पत्ता।।३६।।

जो बारह प्रकारके तपसे युक्त हो विधिपूर्वक अपने कर्मोंका क्षय कर व्युत्सर्ग --निर्ममतासे शरीर छोड़ते हैं वे सर्वोत्कृष्ट मोक्षको प्राप्त होते हैं।।३६।।

इस प्रकार दर्शनपाहुड समाप्त हुआ।

***

सूत्रपाहुड

अरहंतभासियत्थं, गणधरदेवेहिं गंथियं सम्मं।
सुत्तत्थमग्गणत्थं, सवणा साहंति परमत्थं।।१।।

जिसका प्रतिपादनीय अर्थ अर्हंतदेवके द्वारा कहा गया है, जो गणधरदेवोंके द्वारा अच्छी तरह रचा गया है और आगमके अर्थका अन्वेषण ही जिसका प्रयोजन है ऐसे परमार्थभूत सूत्रको मुनि सिद्ध करते हैं।।१।।

सुत्तम्मि जं सुदिट्ठं, आइरियपरंपरेण मग्गेण।
णाऊण दुविहसुत्तं, वट्टइ सिवमग्ग जो भव्वो।।२।।

द्वादशांग सूत्रमें आचार्योंकी परंपरासे जिसका उपदेश हुआ है ऐसे शब्द-अर्थरूप द्विविध श्रुतको जानकर जो मोक्षमार्गमें प्रवृत्त होता है वह भव्य जीव है।।२।।

सुत्तम्मि जाणमाणो, भवस्स भवणासणं च सो कुणदि।
सूई जहा असुत्ता, णासदि सुत्ते सहा णोवि।।३।।

जो मनुष्य सूत्रके जाननेमें निपुण है वह संसारका नाश करता है। जैसे सूत्र -- डोरासे रहित सूई नष्ट हो जाती है और सूत्रसहित सुई नष्ट नहीं होती।।३।।

पुरिसो वि जो ससुत्तो, ण विणासइ सो गओ वि संसारे।
सच्चेयणपच्चक्खं, णासदि तं सो अदिस्समाणो वि।।४।।

वैसे ही जो पुरुष सूत्र -- आगमसे सहित है वह चतुर्गतिरूप संसारके मध्य स्थित होता हुआ भी नष्ट नहीं होता है। भले ही वह दूसरोंके नाम द्वारा दृश्यमान न हो फिर भी स्वात्माके प्रत्यक्षसे वह उस संसारको नष्ट करता है।।४।।

सुत्तत्थं जिणभणियं, जीवाजीवादि बहुविहं अत्थं।
हेयाहेयं च तहा, जो जाणइ सो हु सद्दिट्ठी।।५।।

जो मनुष्य जिनेंद्र भगवान्के द्वारा कहे गये सूत्रके अर्थको, जीव-अजीवादि बहुत प्रकारके पदार्थोंको तथा हेय-उपादेय तत्त्वको जानता है वही वास्तवमें सम्यग्दृष्टि है।।५।।

जं सुत्तं जिणउत्तं, ववहारो तह जाण परमत्थो।
तं जाणिऊण सोई, लहइ सुहं खवइ मलपुंजं।।६।।

जो सूत्र जिनेंद्र भगवान्के द्वारा कहा गया है उसे व्यवहार तथा निश्चयसे जानो। उसे जानकर ही

योगी सुख प्राप्त करता है और मलके समूहको नष्ट करता है।।६।।

सूत्तत्थपयविणट्ठो, मिच्छाइट्ठी हु सो पुणेयव्वो।
खेडेवि ण कायव्वं, पाणिप्पत्तं सचेलस्स।।७।।

जो मनुष्य सूत्रके अर्थ और पदसे रहित है उसे मिथ्यादृष्टि मानना चाहिए। इसलिए वस्त्रसहित मुनिको खेलमें भी पाणिपात्र भोजन नहीं करना चाहिए।।७।।

हरिहरतुल्लोवि णरो, सग्गं गच्छेइ एइ भवकोडी।
तह वि ण पावइ सिद्धिं, संसारत्थो पुणो भणिदो।।८।।

जो मनुष्य सूत्रके अर्थसे रहित है वह हरि-हरके तुल्य होनेपर भी स्वर्गको प्राप्त होता है, करोड़ों पर्याय धारण करता है, परंतु मुक्तिको प्राप्त नहीं होता। वह संसारी ही कहा गया है।।८।।

उक्किट्ठसीहचरियं, बहुपरियम्मो य गरुयभारो य।
जो विहरइ सच्छंदं, पावं गच्छदि होदि मिच्छत्तं।।९।।

जो मनुष्य उत्कृष्ट सिंहके समान निर्भय चर्या करता है, बहुत तपश्चरणादि परिकर्म करता है, बहुत भारी भारसे सहित है और स्वच्छंद -- आगमके प्रतिकूल विहार करता है वह पापको प्राप्त होता है तथा मिथ्यादृष्टि है।।९।।

णिच्चेलपाणिपत्तं, उवइट्ठं परमजिणवरिंदेहिं।
एक्को वि मोक्खमग्गो, सेसा य अमग्गया सव्वे।।१०।।

परमोत्कृष्ट श्री जिनेंद्र भगवान्ने वस्त्ररहित -- दिगंबर मुद्रा और पाणिपात्रका जो उपदेश दिया है वही एक मोक्षका मार्ग है और अन्य सब अमार्ग है।।१०।।

जो संजमेसु सहिओ, आरंभपरिग्गहेसु विरओ वि।
सो होइ वंदणीओ, ससुरासुरमाणुसे लोए।।११।।

जो संयमोंसे सहित है तथा आरंभ और परिग्रहसे विरत है वही सुर असुर एवं मनुष्य सहित लोकमें वंदना करनेयोग्य है।।११।।

जे बावीसपरीषह, सहंति सत्तीसएहिं संजुत्ता।
ते होंति वंदणीया, कम्मक्खयणिज्जरा साहू।।१२।।

जो मुनि सैकडों शक्तियोंसे सहित हैं, बाईस परिषह सहन करते हैं और कर्मोंका क्षय तथा निर्जरा करते हैं वे मुनि वंदना करनेके योग्य हैं।।१२।।

अवसेसा जे लिंगी, दंसणणाणेण सम्मसंजुत्ता।
चेलेण य परिगहिया, ते भणिया इच्छणिज्जा य।।१३।।

दिगंबर मुद्राके सिवाय जो अन्य लिंगी है, सम्यग्दर्शन और सम्यग्दर्शनसे संयुक्त है तथा वस्त्रमात्रके द्वारा परिग्रही हैं वे उत्कृष्ट श्रावक इच्छाकार कहने योग्य हैं अर्थात् उनसे इच्छामि या इच्छाकार करना चाहिए।।१३।।

इच्छायारमहत्थं, सुत्तठिओ जो हु छंडए कम्मं।
ठाणे ठिय सम्मत्तं, परलोयसुहंकरो होई।।१४।।

जो पुरुष सूत्रमें स्थित होता हुआ इच्छाकार शब्दके महान् अर्थको जानता है, आरंभ आदि समस्त कार्य छोड़ता है और सम्यक्त्वसहित श्रावकके पदमें स्थिर रहता है वह परलोकमें सुखी होता है।।१४।।

अह पुण अप्पा णिच्छदि, धम्माइं करेइ णिरवसेसाइं।
तहवि ण पावइ सिद्धिं, संसारत्थो पुणो भणिदो।।१५।।

जो आत्माको तो नहीं चाहता है किंतु अन्य समस्त धर्मादि कार्य करता है वह इतना करनेपर भी सिद्धिको प्राप्त नहीं होता है वह संसारी कहा गया है।।१५।।

एएण कारणेण य, तं अप्पा सद्दहेह तिविहेण।
जेण य लहेइ मोक्खं, तं जाणिज्जइ पयत्तेण।।१६।।

इस कारण उस आत्माका मन वचन कायसे श्रद्धान करो। क्योंकि जिससे मोक्ष प्राप्त होता है उसे प्रयत्नपूर्वक जानना चाहिए।।१६।।

बालग्गकोडिमेत्तं, परिगहगहणं ण होइ साहूणं।
भुंजेइ पाणिपत्ते, दिण्णण्णं इक्कठाणम्मि।।१७।।

मुनियोंके बालके अग्रभागके बराबर भी परिग्रहका ग्रहण नहीं होता है वे एक ही स्थानमें दूसरोंके द्वारा दिये हुए प्रासुक अन्नको अपने हाथरूपी पात्रमें ग्रहण करते हैं।।१७।।

जहजायरूवसरिसो, तिलतुसमित्तं ण गिहदि हत्तेसु।
जइ लेइ अप्पबहुयं, तत्तो पुण जाइ णिग्गोदं।।१८।।

जो मुनि यथाजात बालकके समान नग्न मुद्राके धारक हैं वे अपने हाथमें तिलतुषमात्र भी परिग्रह ग्रहण नहीं करते। यदि वे थोड़ा बहुत परिग्रह ग्रहण करते हैं तो निगोद जाते हैं अर्थात् निगोद पर्यायमें उत्पन्न होते हैं।।१८।।

जस्स परिग्गहगहणं, अप्पं बहुयं च हवइ लिंगस्स।
सो गरहिउ जिणवयणे, परिगहरहिओ निरायारो।।१९।।

जिस लिंगमें थोड़ा बहुत परिग्रहका ग्रहण होता है वह निंदनीय लिंग है। क्योंकि जिनागममें

परिग्रहरहितको ही निर्दोष साधु माना गया है।।१९।।

पंचमहव्वयजुत्तो, तिहिं गुत्तिहिं जो स संजदो होई।
णिग्गंथमोक्खमग्गो, सो होदि हु वंदणिज्जो य।।२०।।

जो मुनि पाँच महाव्रतसे युक्त और तीन गुप्तियोंसे सहित है वही संयमी होता है। वही निर्ग्रंथ मोक्षमार्ग है और वही वंदना करनेके योग्य है।।२०।।

दुइयं च उत्तलिंगं, उक्किट्ठं अवरसावयाणं च।
भिक्खं भमेइ पत्ते, समिदीभासेण मोणेण।।२१।।

दूसरा लिंग ग्यारहवीं प्रतिमाधारी उत्कृष्ट श्रावकोंका है जो भिक्षाके लिए भाषा समिति अथवा मौनपूर्वक भ्रमण करते हैं और पात्रमें भोजन करते हैं।।२१।।

लिंगं इत्थीण हवदि, भुंजइ पिंडं सु एयकालम्मि।
अज्जिय वि एकवत्था, वत्थावरणेण भुंजेइ।।२२।।

तीसरा लिंग स्त्रियोंका अर्थात् क्षुल्लिकाओंका है। वे दिनमें एक ही बार भोजन करती हैं। आर्यिका एक ही वस्त्र रखती हैं और वस्त्र सहित ही भोजन करती हैं।।२२।।

णवि सिज्झइ वत्थधरो, जिणसासणे जइवि होइ तित्थयरो।
णग्गो विमोक्खमग्गो, सेसा उम्मग्गया सव्वे।।२३।।

जिनशासनमें ऐसा कहा है कि वस्त्रधारी यदि तीर्थंकर भी हो भी वह मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकता। एक नग्न वेष ही मोक्षमार्ग है, बाकी सब उन्मार्ग है -- मिथ्यामार्ग है।।२३।।

लिगम्मि य इत्थीणं, थणंतरे णाहिकक्खदेसेसु।
भणिओ सुहमो काओ, तासिं कह होइ पव्वज्जा।।२४।।

स्त्रियोंके योनि, स्तनोंका मध्य, नाभि तथा कांख आदि स्थानोंमें सूक्ष्म जीव कहे गये हैं अतः उनके प्रव्रज्या -- महाव्रतरूप दीक्षा कैसे हो सकती है?।।२४।।

जइ दंसणेण सुद्धा, उत्ता मग्गेण सावि संजुत्ता।
घोरं चरिय चरित्तं, इत्थीसु ण पव्वया भणिया।।२५।।

स्त्रियोंमें यदि कोई सम्यग्दर्शनसे शुद्ध है तो वह भी मोक्षमार्गसे युक्त कही गयी है। वह यद्यपि घोर चरित्रका आचरण कर सकती है तो भी उसके मोक्षोपयोगी प्रव्रज्या नहीं कही गयी है।

भावार्थ -- सम्यग्दृष्टि स्त्री सोलहवें स्वर्ग तक ही उत्पन्न हो सकती है, आगे नहीं। अतः उसके मोक्षमार्गोपयोगी दीक्षाका विधान नहीं है। हाँ, आर्यिकाका व्रत उन्हें प्राप्त होता है और उपचारसे वे महाव्रतकी

धारक भी कही जाती हैं।।२५।।

चित्तासोहि ण तेसिं, ढिल्लं भावं तहा सहावेण।
विज्जदि मासा तेसिं, इत्थीसु ण संकया झाणं।।२६।।

स्त्रियोंका मन शुद्ध नहीं होता, उनका परिणाम स्वभावसे ही शिथिल होता है, उनके प्रत्येक मासमें मासिक धर्म होता है और सदा भीरु प्रकृति होनेसे उनके ध्यान नहीं होता है।।२६।।

माहेण अप्पगाहा, समुद्दसलिले सचेलअत्थेण।
इच्छा जाहु णियत्ता, ताह णियत्ताइं सव्वदुक्खाइं।।२७।।

जिसप्रकार कोई मनुष्य अपना वस्त्र धोनेके लिए समुद्रके जलमेंसे थोड़ा जल ग्रहण करता है, उसी प्रकार जो ग्रहण करनेयोग्य आहारादिमेंसे थोड़ा आहारादि ग्रहण करते हैं। इसी प्रकार जिन मुनियोंकी इच्छा निवृत्त हो गयी है उनके सब दुःख निवृत्त हो गये हैं।।२७।।

इस प्रकार सूत्रपाहुड समाप्त हुआ।

***

चारित्रपाहुड

सव्वण्हु सव्वदंसी, णिम्मोहा वीयराय परमेट्ठी।
वंदित्तु तिजगवंदा, अरहंता भव्वजीवेहिं।।१।।
णाणं दंसण सम्मं, चारित्तं सोहिकारणं तेसिं।
मुक्खाराहणहेउं, चारित्तं पाहुडं वोच्छे।।२।।

मैं सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, निर्मोह, वीतराग, परमपदमें स्थित, त्रिजगत्के द्वारा वंदनीय, भव्यजीवोंके द्वारा पूज्य अरहंतोंको वंदना कर सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रकी शुद्धिका कारण तथा मोक्षप्राप्तिका हेतु रूप चारित्रपाहुड कहूँगा।।१-२।।

जं जाणइ तं णाणं, जं पिच्छइ तं च दंसणं भणियं।
णाणस्स पिच्छियस्स य, समवण्णा होइ चारित्तं।।३।।

जो जानता है वह ज्ञान है, जो देखता है अर्थात् श्रद्धान करता है वह दर्शन कहा गया है। तथा ज्ञान और दर्शनके संयोगसे चारित्र होता है।।३।।

एए तिण्णिवि भावा, हवंति जीवस्स अक्खयामेया।
तिण्हं पि सोहणत्थे, जिणभणियं दुविह चारित्तं।।४।।

जीवके ये ज्ञानादिक तीनों भाव अक्षय तथा अमेय होते हैं। इन तीनोंकी शुद्धिके लिए जिनेंद्र भगवान्‌ने दो प्रकारका चारित्र कहा है।।४।।

जिणणाणदिट्ठिसुद्धं, पढमं सम्मत्तचरणचारित्तं।
बिदियं संजमचरणं, जिणणाणसदेसियं तं पि।।५।।

इनमें पहला सम्यक्त्वके आचरणरूप चारित्र है जो जिनेंद्रभाषित ज्ञान और दर्शनसे शुद्ध है तथा दूसरा संयमके आचरणरूप चारित्र है वह भी जिनेंद्र भगवान्‌के ज्ञानसे उपदेशित तथा शुद्ध है।।५।।

एवं चिय णाऊण य, सव्वे मिच्छत्तदोससंकाइ।
परिहरि सम्मत्तमला, जिणभणिया तिविहजोएण।।६।।

इस प्रकार जानकर जिनदेवसे कहे हुए मिथ्यात्वके उदयमें होनेवाले शंकादि दोषोंको तथा त्रिमूढ़ता आदि सम्यक्त्वके सब मलोंका मन वचन कायसे छोड़ो।।६।।

णिस्संकिय णिक्कंखिय, णिव्विदिगिंछा अमूढदिट्ठी य।
उवगूहण ठिदिकरणं, वच्छल्लपहावणा य ते अट्ठ।।७।।

निःशंकित, निःकाक्षित, निर्विचिकित्सता, अमूढ़दृष्टि, उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावना ये सम्यग्दर्शनके आठ अंग अथवा गुण हैं।।७।।

तं चेव गुणविसुद्धं, जिणसम्मत्तं सुमुक्खठाणाय।
जं चरइ णाणजुत्तं, पढमं सम्मत्तचारित्तं।।८।।

वही जिन भगवान्‌का श्रद्धान जब निःशंकित आदि गुणोंसे विशुद्ध तथा यथार्थ ज्ञानसे युक्त होता तब प्रथम सम्यक्त्वाचरण चारित्र कहलाता है। यह सम्यक्त्वाचरण चारित्र मोक्षप्राप्तिका साधन है।।८।।

सम्मत्तचरणसुद्धा, संजमचरणस्स जइ व सुपसिद्धा।
णाणी अमूढदिट्ठी, अचिरे पावंति णिव्वाणं।।९।।

जो सम्यक्त्वाचरण चारित्रसे शुद्ध है, ज्ञानी है और मूढ़तारहित है वे यदि संयमचरण चारित्रसे युक्त हों तो शीघ्र ही निर्वाणको प्राप्त होते हैं।।१०।।

सम्मत्तचरणभट्ठा, संजमचरणं चरंति जे वि णरा।
अण्णाणणाणमूढा, तहवि ण पावंति णिव्वाणं।।११।।

जो मनुष्य सम्यक्त्वचरण चारित्रसे भ्रष्ट हैं किंतु संयमचरण चारित्रका आचरण करते हैं वे

मिथ्याज्ञान और सम्यग्ज्ञानके विषयमें मूढ़ होनेके कारण निर्वाणको नहीं पाते हैं।।१०।।

वच्छल्लं विणएण य, अणुकंपाए सुदाणदच्छाए।
मग्गणगुणसंसणाए, उवगूहण रक्खणाए य।।११।।
एएहिं लक्खणेहिं य, लक्खिज्जइ अज्जवेहिं भावेहिं।
जीवो आराहंतो, जिणसम्मत्तं अमोहेण।।१२।।

मोहका अभाव होनेसे जिनोपदिष्ट सम्यक्त्वकी आराधना करनेवाला सम्यग्दृष्टि पुरुष वात्सल्य, विनय, दान देनेमें दक्ष, दया, मोक्षमार्गकी प्रशंसा, उपगूहन, संरक्षण -- स्थितीकरण और आर्जवभाव इन लक्षणोंसे जाना जाता है।।११-१२।।

उच्छाहभावणासंपसंससेवा कुदंसणे सद्धा।
अण्णाणमोहमग्गे, कुव्वंतो जहदि जिणधम्मं।।१३।।

अज्ञान और मोहके मार्गरूप मिथ्यामतमें उत्साह, भावना, प्रशंसा, सेवा और श्रद्धा करता हुआ पुरुष जिनोपदिष्ट सम्यक्त्वको छोड़ देता है।।१३।।

उच्छाहभावणासंपसंससेवा सुदंसणे सद्धा।
ण जहदि जिणसम्मत्तं, कुव्वंतो णाणमग्गेण।।१४।।

समीचीन मतमें ज्ञानमार्गके द्वारा उत्साह, भावना, प्रशंसा, सेवा और श्रद्धाको करता हुआ पुरुष जिनोपदिष्ट सम्यक्त्वको नहीं छोड़ता है।।१४।।

अण्णाणं मिच्छत्तं, वज्जहि णाणे विसुद्धसम्मत्ते।
अह मोहं सारंभं, परिहर धम्मे अहिंसाए।।१५।।

हे भव्य! तू ज्ञानके होनेपर अज्ञानको, विशुद्ध सम्यक्त्वके होनेपर मिथ्यात्वको और अहिंसाधर्मके होनेपर आरंभसहित मोहको छोड़ दे।।१५।।

पव्वज्ज संगचाए, पयट्ट सुतवे सुसंजमे भावे।
होइ सुविसुद्धझाणं, णिम्मोहे वीयरायत्ते।।१६।।

हे भव्य! तू परिग्रहका त्याग होनेपर दीक्षा ग्रहण कर, और उत्तम संयमभावके होनेपर श्रेष्ठ तपमें प्रवृत्त हो, क्योंकि मोहरहित वीतरागभावके होनेपर ही अत्यंत विशुद्ध ध्यान होता है।।१६।।

मिच्छादंसणमग्गे, मलिणे अण्णाणमोहदोसेहिं।
बज्झंति मूढजीवा, मिच्छत्ताबुद्धिउदएण।।१७।।

मूढ़जीव, अज्ञान और मोहरूपी दोषोंसे मलिन मिथ्यादर्शनके मार्गमें मिथ्यात्व तथा मिथ्याज्ञानके

उदयसे लीन होते हैं।।१७।।

सम्मद्दंसण पस्सदि, जाणदि णाणेण दव्वपज्जाया।
सम्मेण य सद्दहदि य, परिहरदि चारित्तजे दोसे।।१८।।

जब यह जीव समीचीन दर्शनके द्वारा सामान्य सत्तात्मक पदार्थोंको देखता है, सम्यग्ज्ञानके द्वारा द्रव्य और पर्यायोंको जानता है तथा सम्यग्दर्शनके द्वारा उनका श्रद्धान करता है तभी चारित्रसंबंधी दोषोंको छोड़ता है।।१८।।

एए तिण्णि वि भावा, हवंति जीवस्स मोहरहियस्स।
णियगुणमाराहंतो, अचिरेण वि कम्म परिहरइ।।१९।।

ये तीनों भाव -- सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र मोहरहित जीवके होते हैं। आत्मगुणकी आराधना करनेवाला निर्मोह जीव शीघ्र ही कर्मोंका नाश करता है।।१९।।

संखिज्जमसंखिज्जगुणं च संसारिमेरूमत्ता णं।
सम्मत्तमणुचरंता, करंति दुक्खक्खयं धीरा।।२०।।

सम्यक्त्वका आचरण करनेवाले धीर वीर पुरुष संसारी जीवोंकी मर्यादारूप कर्मोंकी संख्यातगुणी तथा असंख्यातगुणी निर्जरा करते हुए दुःखोंका क्षय करते हैं।।२०।।

दुविहं संजमचरणं, सायारं तह हवे णिरायारं।
सायारं सग्गंथे, परिग्गहारहिय खलु णिरायारं।।२१।।

सागार और निरागारके भेदसे संयमचरण चारित्र दो प्रकारका होता है। उनमेंसे सागार चारित्र परिग्रहसहित श्रावकके होता है और निरागार चारित्र परिग्रहरहित मुनिके होता है।।२१।।

दंसण वय सामाइय, पोसह सचित्त रायभत्ते य।
बंभारंभ परिग्गह, अणुमण उद्दिट्ठ देसविरदो य।।२२।।

दर्शन, व्रत, सामायिक, प्रोषध, सचित्तत्याग, रात्रिभुक्तित्याग, ब्रह्मचर्य, अनुमतित्याग, और उद्दिष्टत्याग ये ग्यारह भेद देशविरत -- श्रावकके हैं।।२२।।

पंचेवणुव्वयाइं, गुणव्वयाइं हवंति तह तिण्णि।
सिक्खावय चत्तारि य, संजमचरणं च सायारं।।२३।।

पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत, चार शिक्षाव्रत इस तरह बारह प्रकारका सागार संयमचरण चारित्र है।।२३।।

थूले तसकायवहे, थूले मोसे अदत्तथूले य।
परिहारो परमहिला, परिग्गहारंभपरिमाणं।।२४।।

त्रस विघातरूप स्थूल हिंसा, स्थूल असत्य, स्थूल अदत्तग्रहण तथा परस्त्रीसेवनका त्याग करना एवं परिग्रह एवं आरंभका परिमाण करना ये क्रमशः अहिंसाणुव्रत, सत्याणुव्रत, अचौर्याणुव्रत, ब्रह्मचर्याणुव्रत और परिग्रहपरिमाणाणुव्रत हैं।।२४।।

दिसिविदिसमाण पढमं, अणत्थदंडस्स वज्जणं बिदियं।
भोगोगभोगपरिमा, इयमेव गुणव्वया तिण्णि।।२५।।

दिशाओं और विदिशाओंमें गमनागमनका प्रमाण करना सो पहला दिग्व्रत नामा गुणव्रत है। अनर्थदंडका त्याग करना सो दूसरा अनर्थदंडनामा गुणव्रत है और भोग-उपभोगका परिमाण करना सो तीसरा भोगोपभोगपरिमाण नामा गुणव्रत है। इस प्रकार ये तीन गुणव्रत हैं।।२५।।

सामाइयं च पढमं, बिदियं च तहेव पोसहं भणियं।
तइयं च अतिहिपुज्जं, चउत्थ सल्लेहणा अंते।।२६।।

सामायिक पहला शिक्षाव्रत है, प्रोषध दूसरा शिक्षाव्रत कहा गया है, अतिथिपूजा तीसरा शिक्षाव्रत है और जीवनके अंतमें सल्लेखना धारण करना चौथा शिक्षाव्रत है।।२६।।

एवं सावयधम्मं, संजमचरणं उदेसियं सयलं।
सुद्धं संजमचरणं, जइधम्मं णिक्कलं वोच्छे।।२७।।

इस प्रकार श्रावकधर्मरूप संयमचरणका निरूपण किया। अब आगे यतिधर्मरूप सकल, शुद्ध और निष्फल संयमचरणका निरूपण करूँगा।।२७।।

पंचिंदियसंवरणं, पंचवया पंचविंसकिरियासु।
पंच समिदि तयगुत्ती, संजमचरणं णिरायारं।।२८।।

पाँच इंद्रियोंका दमन, पाँच व्रत, इनकी पच्चीस भावनाएँ, पाँच समितियाँ और तीन गुप्तियाँ यह निरागार संयमचरण चारित्र है।।२८।।

अमणुण्णे य मणुण्णे, सजीवदव्वे अजीवदव्वे य।
ण करेइ रायदोसे, पंचेंदियसंवरो भणिओ।।२९।।

अमनोज्ञ और मनोज्ञ स्त्रीपुत्रादि सजीव द्रव्योंमें तथा गृह, सुवर्ण, रजत आदि अजीव द्रव्योंमें जो राग द्वेष नहीं करता है वह पंचेंद्रियोंका संवर कहा गया है।।२९।।

हिंसाविरइ अहिंसा, असच्चविरई अदत्तविरई य ।
तुरियं अबंभविरई, पंचम संगम्मि विरई य।।३०।।

हिंसाका त्याग अहिंसा महाव्रत है। असत्यका त्याग सत्य महाव्रत है। अदत्त वस्तुका त्याग अचौर्य महाव्रत है। कुशीलविरत होना ब्रह्मचर्य महाव्रत है और परिग्रहसे विरत होना अपरिग्रह महाव्रत

है।।३०।।

साहंति जं महल्ला, आयरियं जं महल्लपुव्वेहिं।
जं च महल्लाणि तदो, महव्वया महहे याइं।। ३१।।

जिन्हें महापुरुष धारण करते हैं, जो पहले महापुरुषोंके द्वारा धारण किये गये हैं और जो स्वयं महान हैं।।३१।।

वयगुत्ती मणगुत्ती, इरियासमिदी सुदाणणिरवेक्खो।
अवलोयभोयणाए, अहिंसए भावणा होंति।।३२।।

१. वचनगुप्ति, २. मनोगुप्ति, ३. कायगुप्ति, ४. सुदाननिक्षेप और ५. आलोकितभोजन ये अहिंसाव्रतकी पाँच भावनाएँ हैं।।३२।।

कोहभयहासलोहापोहाविवरीयभासणा चेव।
बिदियस्स भावणाए, ए पंचेव य तहा होंति।।३३।।

क्रोधत्याग, भयत्याग, हासत्याग, लोभत्याग और अनुवीचिभाषण (आगमानुकूल भाषण) ये सत्यव्रतकी भावनाएँ हैं।।३३।।

सुण्णायारणिवासो, विमोचितावास जं परोधं च ।
एसणसुद्धिसउत्तं, साहम्मीसंविसंवादो।।३४।।

शून्यागारनिवास, विमोचितावास, परोपरोधाकरण, एषणशुद्धि और सधर्माविसंवाद ये पाँच अचौर्यव्रतकी भावनाएँ हैं।।३४।।

महिलालोयणपुव्वरइसरणससत्तवसहि विकहाहिं।
पुट्ठियरसेहिं विरओ भावण पंचावि तुरियम्मि।।३५।।

रागभावपूर्वक स्त्रियोंके देखनेसे विरक्त होना, पूर्वरतिके स्मरणका त्याग करना, स्त्रियोंसे संसक्त वसतिका त्याग करना, विकथाओंसे विरत होना और पुष्टिकर भोजनका त्याग करना ये पाँच ब्रह्मचर्य व्रतकी भावनाएँ हैं।।३५।।

अपरिग्गहसमणुण्णेसु, सद्दपरिसररसरूवगंधेसु।
रायद्दोसाईणं परिहारो भावणा होंति।।३६।।

मनोज्ञ और अमनोज्ञ शब्द, स्पर्श, रस, रूप, और गंधमें रागद्वेष आदिका त्याग करना ये पाँच परिग्रहत्याग व्रत की भावनाएँ हैं।।३६।।

इरियाभासाएसण, जा सा आदाण चेव णिक्खेवो।
संजमसोहिणिमित्ते, खंति जिणा पंचसमिदीओ।।३७।

ईर्या, भाषा, एषणा, आदाननिक्षेपण तथा प्रतिष्ठापन ये पाँच समितियाँ संयमकी शुद्धिके लिए श्री जिनेंद्रदेवने कही हैं।।३७।।

भव्वजणबोहणत्थं, जिणमग्गे जिणवरेहिं जह भणियं।
णाणं णाणसरूवं, अप्पाणं तं वियाणेहि।।३८।।

भव्य जीवोंको समझानेके लिए जिनमार्गमें जिनेंद्रदेवने जैसा कहा है वैसा ज्ञान तथा ज्ञानस्वरूप आत्माको हे भव्य! तू अच्छी तरह जान।।३८।।

जीवाजीवविभत्ती, जो जाणइ सो हवेइ सण्णाणी।
रायादिदोसरहिओ, जिणसासणमोक्खमग्गुत्ति।।३९।।

जो मनुष्य जीव और अजीवका विभाग जानता है -- शरीरादि अजीव तथा आत्माको जुदा-जुदा जानता है वह सम्यग्ज्ञानी है। जो रागद्वेषसे रहित है वह जिनशासनमें मोक्षमार्ग है ऐसा कहा गया है।।३९।।

दंसणणाणचरित्तं, तिण्णिवि जाणेह परमसद्धाए।
जं जाणिऊण जोई, अइरेण लहंति णिव्वाणं।।४०।।

दर्शन, ज्ञान और चारित्र इन तीनोंको तू अत्यंत श्रद्धासे जान। जिन्हें जानकर मुनिजन शीघ्रही निर्वाण प्राप्त करते हैं।।४०।।

पाऊण णाणसलिलं, णिम्मलसुविसुद्धभावसंजुत्ता।
हुंति सिवालयवासी, तिहुवणचूडामणी सिद्धा।।४१।।

जो पुरुष ज्ञानरूपी जलको पीकर निर्मल और अत्यंत विशुद्ध भावोंसे संयुक्त होते हैं वे शिवालयमें रहनेवाले तथा त्रिभुवनके चूडामणि सिद्ध परमेष्ठी होते हैं।।४१।।

णाणगुणेहि विहीणा, ण लहंते ते सुइच्छियं लाहं।
इय णाउं गुणदोसं, तं सण्णाणं वियाणेहि।।४२।।

जो मनुष्य ज्ञानगुणसे रहित हैं वे अपनी इष्ट वस्तुको नहीं पाते हैं इसलिए गुणदोषोंको जाननेके लिए सम्यग्ज्ञानको तू अच्छी तरह जान।।४२।।

चारित्तसमारूढो, अप्पासु परं ण ईहए णाणी।
पावइ अइरेण सुहं, अणोवमं जाण णिच्छयदो।।४३।।

जो मनुष्य चारित्रगुणसे युक्त तथा सम्यग्ज्ञानी है वह अपने आत्मामें परपदार्थकी इच्छा नहीं करता है ऐसा मनुष्य शीघ्र ही अनुपम सुख पाता है यह निश्चयसे जान।।४३।।

एवं संखेवेण य, भणियं णाणेण वीयरायेण।
सम्मत्तसंजमासय, दुण्हं पि उदेसियं चरणं।।४४।।

इस प्रकार वीतराग जिनेंद्रदेवने केवलज्ञानके द्वारा जिसका निरूपण किया था वह सम्यक्त्व तथा संयमके आश्रयरूप दोनों प्रकारका चारित्र मैंने संक्षेपसे कहा है।।४४।।

भावेह भावसुद्धं, फुडु रइयं चरणपाहुडं चेव।
लहु चउगइ चइऊणं, अइरेणऽपुणब्भवा होई।।४५।।

हे भव्य जीवो! प्रकट रूपसे रचे हुए इस चारित्रपाहुड़का तुम शुद्ध भावोंसे चिंतन करो जिससे चतुर्गतिसे छूटकर शीघ्र ही पुनर्जन्मसे रहित हो जाओ -- जन्म-मरणकी व्यथासे छूटकर मुक्त हो जाओ।।४५।।

इस प्रकार चारित्रपाहुड़ पूर्ण हुआ।

*

बोधपाहुड

बहुसत्थअत्थजाणे, संजमसम्मत्तसुद्धतवयरणे।
वंदित्ता आयरिए, कसायमलवज्जिदे सुद्धे।।१।।
सयलजणबोहणत्थं, जिणमग्गे जिणवरेहिं जह भणियं।
वुच्छामि समासेण, छक्कायसुहंकरं सुणह।।२।।

जो बहुत शास्त्रोंके अर्थको जाननेवाले हैं, जिनका तपश्चरण संयम और सम्यक्त्वसे शुद्ध है, जो कषायरूपी मलसे रहित हैं और जो अत्यंत शुद्ध हैं ऐसे आचार्योंकी वंदना कर मैं जिनमार्गमें श्री जिनदेवके द्वारा जैसा कहा गया है तथा जो छह कायके जीवोंको सुख उपजानेवाला है ऐसा बोधपाहुड ग्रंथ समस्त जीवोंको समझानेके लिए संक्षेपसे कहूँगा। हे भव्य! तू उसे सुन।।१-२।।

आयदणं चेदिहरं, जिणपडिमा दंसणं च जिणबिंबं।
भणियं सुवीयरायं, जिणमुद्दा णाणमदत्थं।।३।।
अरहंतेण सुदिट्ठं, जं देवं तित्थमिह य अरहंतं।
पावज्ज गुणविसुद्धा, इय णायव्वा जहाकमसो।।४।।

आयतन, चैत्यगृह, जिनप्रतिमा, दर्शन, रागरहित जिनबिंब, जिनमुद्रा, आत्माके प्रयोजनभूत ज्ञान, देव, तीर्थ, अरहंत और गुणोंसे विशुद्ध दीक्षा ये ग्यारह स्थान जैसे अरहंत भगवान्‌ने कहे हैं वैसे यथाक्रमसे जाननेयोग्य हैं।।३-४।।

मय राय दोस मोहो, कोहो लोहो य जस्स आयत्ता।
पंच महव्वयधारी, आयदणं महरिसी भणियं।।५।।

मद, राग, द्वेष, मोह, क्रोध और लोभ जिसके आधीन हो गये हैं और जो पाँच महाव्रतोंको धारण करता है ऐसा महामुनि आयतन कहा गया है।।५।।

सिद्धं जस्स सदत्थं, विसुद्धझाणस्स णाणजुत्तस्स।
सिद्धायदणं सिद्धं, मुणिवरवसहस्स मुणिदत्थं।।६।।

जो विशुद्ध ध्यान तथा केवलज्ञानसे युक्त है ऐसे जिस मुनिश्रेष्ठके शुद्ध आत्माकी सिद्धि हो गयी है उस समस्त पदार्थोंको जाननेवाले केवलज्ञानको सिद्धायतन कहा गया है।।६।।

बुद्धं जं बोहंतो, अप्पाणं चेदयाइं अण्णं च।
पंचमहव्वयसुद्धं, णाणमयं जाण चेदिहरं।।७।।

जो आत्माको ज्ञानस्वरूप तथा दूसरे जीवोंको चैतन्यस्वरूप जानता है ऐसे पाँच महाव्रतोंसे शुद्ध और ज्ञानसे तन्मय मुनिको हे भव्य! तू चैत्यगृह जान।।७।।

चेइयबंधं मोक्खं, दुक्खं सुक्खं च अप्पयं तस्स।
चेइहरं जिणमग्गे, छक्कायहियंकरं भणियं।। ८।।

बंध मोक्ष दुःख ओर सुखका जिस आत्माको ज्ञान हो गया है वह चैत्य है, उसका घर चैत्यगृह कहलाता है तथा जिनमार्गमें छहकायके जीवोंका हित करनेवाला संयमी मुनि चैत्यगृह कहा गया है।।८।।

सपरा जंगमदेहा, दंसणणाणेण सुद्धचरणाणं।
णिग्गंथ वीयरागा, जिणमग्गे एरिसा पडिमा।।९।।

दर्शन ओर ज्ञानसे पवित्र चारित्रवाले निष्परिग्रह वीतराग मुनियोंका जो अपना तथा दूसरेका चलता फिरता शरीर है वह जिनमार्गमें प्रतिमा कहा गया है।।९।।

जं चरदि सुद्धचरणं, जाणइ पिच्छेइ सुद्धसम्मत्तं।
सा होइ वंदणीया, णिग्गंथा संजदा पडिमा।।१०।।
दंसण अणंत णाणं, अणंतवीरिय अणंतसुक्खा य।
सासयसुक्ख अदेहा, मुक्का कम्मट्ठबंधेहिं।।११।।
णिरुवममचलमखोहा, णिम्मिविया जंगमेण रूवेण।
सिद्धठाणम्मि ठिया, वोसरपडिमा धुवा सिद्धा।। १२।।

जो अनंतदर्शन, अनंतज्ञान, अनंतवीर्य और अनंतसुखसे सहित है, शाश्वत अविनाशी सुखसहित हैं, शरीररहित हैं, आठ कर्मोंके बंधनसे रहित हैं, उपमारहित हैं, चंचलतारहित हैं, क्षोभरहित हैं, जंगमरूपसे निर्मित हैं और लोकाग्रभागरूप सिद्धस्थानमें स्थित हैं ऐसे शरीररहित सिद्ध परमेष्ठी स्थावर प्रतिमा हैं ।।११-१२।।

दंसेइ मोक्खमग्गं सम्मत्तं संजमं सुधम्मं च।
णिग्गंथं णाणमयं, जिणमग्गे दंसणं भणियं।।१३।।

जो सम्यक्त्वरूप, संयमरूप, उत्तमधर्मरूप, निर्ग्रंथरूप एवं ज्ञानमय मोक्षमार्गको दिखलाता है ऐसे मुनिमार्गको दिखलाता है ऐसे मुनिके रूपको जिनमार्गमें दर्शन कहा है।।१३।।

जह फुल्लं गंधमयं, भवदि हु खीरं घियमयं चावि।
तह दंसणं हि सम्मं, णाणमयं होइ रूवत्थं।।१४।।

जिस प्रकार फूल गंधमय और दूध घृतमय होता है उसी प्रकार दर्शन अंतरंगमें सम्यग्ज्ञानमय है और बहिरंगमें मुनि, श्रावक और आर्यिकाके वेषरूप है।।१४।।

जिणबिंबं णाणमयं, संजमसुद्धं सुवीयरागं च।
जं देइ दिक्खसिक्खा, कम्मक्खयकारणे सुद्धा।।१५।।

जो ज्ञानमय है, संयमसे शुद्ध है, वीतराग है तथा कर्मक्षयमें कारणभूत शुद्ध दीक्षा और शिक्षा देता है ऐसा आचार्य जिनबिंब कहलाता है।।१५।।

तस्स य करह पणामं, सव्वं पुज्जं च विणय वच्छल्लं।
जस्स च दंसण णाणं, अत्थि धुवं चेयणाभावो।।१६।।

जिसके नियमसे दर्शन, ज्ञान और चेतनाभाव विद्यमान है उस आचार्यरूप जिनबिंबको प्रणाम करो, सब प्रकारसे उसकी पूजा करो और शुद्ध प्रेम करो।।१६।।

तववयगुणेहिं सुद्धो, जाणदि पिच्छेइ सुद्धसम्मत्तं।
अरहंतमुद्द एसा, दायारी दिक्खसिक्खा य।।१७।।

जो तप, व्रत और उत्तरगुणोंसे शुद्ध है, समस्त पदार्थोंको जानता देखता है तथा शुद्ध सम्यग्दर्शन धारण करता है ऐसा आचार्य अर्हन्मुद्रा है, यही दीक्षा और शिक्षाको देनेवाली है।।१७।।

दढसंजममुद्दाए, इंदियमुद्दाकसायदढमुद्दा।
मुद्दा इह णाणाए जिणमुद्दा एरिसा भणिया।।१८।।

दृढ़तासे संयम धारण करना सो संयम मुद्रा है, इंद्रियोंको विषयोंसे सन्मुख रखना सो इंद्रियमुद्रा है, कषायोंके वशीभूत न होना सो कषायमुद्रा है, ज्ञानके स्वरूपमें स्थिर होना सो ज्ञानमुद्रा है। जैन शास्त्रोंमें ऐसी जिनमुद्रा कही गयी है।।१८।।

संजमसंजुत्तस्स य, सुझाणजोयस्स मोक्खमग्गस्स।
णाणेण लहदि लक्खं, तम्हा णाणं च णायव्वं।।१९।।

संयमसहित तथा उत्तम ज्ञानयुक्त मोक्षमार्गका लक्ष्य जो शुद्ध आत्मा है वह ज्ञानसे ही प्राप्त किया

जाता है इसलिए ज्ञान जानने योग्य है।।१९।।

जइ णवि कहदि हु कक्खं, रहिओ कंडस्स वेज्झयविहीणो।
तह णवि लक्खदि लक्खं, अण्णाणी मोक्खमग्गस्स।।२०।।

जिस प्रकार धनुर्विद्याके अभ्याससे रहित पुरुष बाणके लक्ष्य अर्थात् निशानेको प्राप्त नहीं कर पाता उसी प्रकार अज्ञानी पुरुष मोक्षमार्गके लक्ष्यभूत आत्माको नहीं ग्रहण कर पाता है।।२०।।

णाणं पुरिसस्स हवदि, लहदि सुपुरिसो वि विणयसंजुत्तो।
णाणेण लहदि लक्खं लक्खंतो मोक्खमग्गस्स।।२१।।

ज्ञान पुरुष अर्थात् आत्मामें होता है और उसे विनयी मनुष्य ही प्राप्त कर पाता है। ज्ञान द्वारा यह जीव मोक्षमार्गका चिंतन करता हुआ लक्ष्यको प्राप्त करता है।।२१।।

मइधणुहं जस्स थिरं, सदगुण बाणा सुअत्थि रयणत्तं।
परमत्थबद्धलक्खो, ण वि चुक्कदि मोक्खमग्गस्स।।२२।।

जिस मुनिके पास मतिज्ञानरूपी स्थिर धनुष्य है, श्रुतज्ञानरूपी डोरी है, रत्नत्रयरूपी बाण है और परमार्थरूप शुद्ध आत्मस्वरूपमें जिसने निशाना बाँध रखा है ऐसा मुनि मोक्षमार्गसे नहीं चूकता है।।२२।।

सो देवो जो अत्थं, धम्मं कामं सुदेइ णाणं च।
सो देइ जस्स अत्थि हु, अत्थो धम्मो य पव्वज्जा।।२३।।

देव वह है जो जीवोंको धर्म, अर्थ, काम और मोक्षका कारणभूत ज्ञान देता है। वास्तवमें देता भी वही है जिसके पास धर्म, अर्थ, काम तथा दीक्षा होती है।।२३।।

धम्मो दयाविसुद्धो, पव्वज्जा सव्वसंगपरिचत्ता।
देवो ववगयमोहो, उदययरो भव्वजीवाणं।।२४।।

धर्म वह है जो दयासे विशुद्ध है, दीक्षा वह है जो सर्व परिग्रहसे रहित है और देव वह है जिसका मोह दूर हो गया हो तथा जो भव्य जीवोंका अभ्युदय करनेवाला हो।।२४।।

वयसम्मत्तविसुद्धे, पंचेंदियसंजदे णिरावेक्खे।
ण्हाऊण मुणी तित्थे, दिक्खासिक्खासुण्हाणेण।।२५।।

जो व्रत और सम्यक्त्वसे विशुद्ध है, पंचेंद्रियोंसे संयत है अर्थात् पाँचों इंद्रियोंको वश करनेवाला है और इस लोक तथा परलोकसंबंधी भोग-परिभोगसे निःस्पृह है ऐसे विशुद्ध आत्मारूपी तीर्थमें मुनिको दीक्षा-शिक्षारूपी उत्तम स्नानसे पवित्र होना चाहिए।।२५।।

जं णिम्मलं सुधम्मं, सम्मत्तं संजमं तवं णाणं।
तं तित्थं जिणमग्गे, हवेइ जदि संतभावेण।।२६।।

यदि शांतभावसे निर्मल धर्म, सम्यग्दर्शन, संयम, तप, और ज्ञान धारण किये जायें तो जिनमार्गमें यही तीर्थ कहा गया है।।२६।।

णामे ठवणे हि यं सं, दव्वे भावे हि सगुणपज्जाया।
चउणागदि संपदिमे, भावा भावंति अरहंतं।।२७।।

नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव इनके द्वारा गुण और पर्यायसहित अरहंत देव जाने जाते हैं। च्यवन[१], आगति[२], और संपत्ति[३] ये भाव अरहंतपनेका बोध कराते हैं।

दंसण अणंत णाणे, मोक्खो णट्ठट्ठकम्मबंधेण।
णिरुवमगुणमारूढो, अरहंतो एरिसो होई।।२८।।

जिसके अनंत दर्शन और अनंत ज्ञान है, अष्टकर्मोंका बंध नष्ट होनेसे जिन्हें भावमोक्ष प्राप्त हो चुका है तथा जो अनुपम गुणोंको धारण करता है ऐसा शुद्ध आत्मा अरहंत होता है।।२८।।

जरवाहिजम्ममरणं, चउगइगमणं च पुण्णपावं च।
हंतूण दोसकम्मे, हुउ णाणमये च अरहंतो।।२९।।

जो बुढ़ापा, रोग, जन्म, मरण, चतुर्गतियोंमें गमन, पुण्य और पाप तथा रागादि दोषोंको नष्ट कर ज्ञानमय होता है वह अरहंत कहलाता है।।२९।।

गुणठाणमग्गणेहिं य, पज्जत्तीपाणजीवठाणेहिं।
ठावण पंचविहेहिं, पणयव्वा अरहपुरिसस्स।।३०।।

गुणस्थान, मार्गणा, पर्याप्ति, प्राण और जीवसमास इस तरह पाँच प्रकारसे अर्हंत पुरुषकी स्थापना करना चाहिए। ।।३०।।

तेरहमे गुणठाणे, सजोइकेवलिय होइ अरहंतो।
चउतीस अइसयगुणा, होंति हु तस्सट्ठ पडिहारा।।३१।।

तेरहवें गुणस्थानमें सयोगकेवली अरहंत होते हैं। उनके स्पष्ट रूपसे चौंतीस अतिशयरूप गुण तथा आठ प्रातिहार्य होते हैं।।३१।।

गइइंदिये च काए, जोए वेदे कसायणाणे य।
संजमदंसणलेस्सा, भविया सम्मत्त सण्णि आहारे।।३२।।

गति, इंद्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान, संयम, दर्शन, लेश्या, भव्यत्व, सम्यक्त्व, संज्ञी और आहार इन चौदह मार्गणाओंमें अरहंतकी स्थापना करनी चाहिए।।३२।।

---

१. स्वर्गादिसे अवतार लेना। २. भरतादि क्षेत्रोंमें आकर जन्म धारण करना ३. संपत् रत्नवृष्टि आदि।

आहारो य सरीरो, इंदियमण आणपाणभासा य।
पज्जत्तिगुणसमिद्धो, उत्तमदेवो हवइ अरहो।।३३।।

आहार, शरीर, इंद्रिय, मन, श्वासोच्छ्वास और भाषा इन पर्याप्तिरूप गुणोंसे समृद्ध उत्तम देव अर्हंत होता है।।३३।।

पंचवि इंदियपाणा, मणवयकाएण तिण्णि बलपाणा।
आणप्पाणप्पाणा, आउगपाणेण होंति तह दह पाणा।।३४।।

पाँचों इंद्रियाँ, मन वचन कायकी अपेक्षा तीन बल तथा आयु प्राणसे सहित श्वासोच्छ्वास ये दश प्राण होते हैं।।३४।।

मणुयभवे पंचिंदिय, जीवट्ठाणेसु होइ चउदसमे।
एहे गुणगणजुत्तो, गुणमारूढो हवइ अरहो।।३५।।

मनुष्यपर्यायमें पंचेंद्रिय नामका जो चौदहवाँ जीवसमास है उसमें इन गुणोंके समूहसे युक्त, तेरहवें गुणस्थानपर आरूढ मनुष्य अर्हंत होता है।।३५।।

जरवाहिदुक्खरहियं, आहारणिहारवज्जियं विमलं।
सिंहाण खेल सेओ, णत्थि दुगुंछा य दोसो य।।३६।।
दस पाणा पज्जत्ती, अट्ठसहस्सा य लक्खणा भणिया।
गोखीरसंखधवलं, मंसं रुहिरं च सव्वंगे।।३७।।
एरिसगुणेहिं सव्वं, अइसयवंतं सुपरिमलामोयं।
ओरालियं च कायं, णायव्वं अरिहपुरिसस्स।।३८।।

जो बुढ़ापा, रोग आदिके दुःखोंसे रहित हैं, आहार नीहारसे वर्जित हैं, निर्मल हैं और जिसमें नाकका मल (श्लेष्म), थूक, पसीना, दुर्गंध आदि दोष नहीं हैं।।३६।।

जिनके १० प्राण, ६ पर्याप्तियाँ और १००८ लक्षण कहे गये हैं वे तथा जिनके सर्वांगमें गोदुग्ध और शंखके समान सफेद मांस और रुधिर है।।३७।।

इस प्रकारके गुणोंसे सहित तथा समस्त अतिशयोंसे युक्त अत्यंत सुगंधित औदारिक शरीर अर्हंत पुरुषके जानना चाहिए। यह द्रव्य अर्हंतका वर्णन है।।३८।।

मयरायदोसरहिओ, कसायमलवज्जिओ य सुविसुद्धो।
चित्तपरिणामरहिदो, केवलभावे मुणेयव्वो।।३९।।

केवलज्ञानरूप भावके होनेपर अर्हंत मद राग द्वेषसे रहित, कषायरूप मलसे वर्जित, अत्यंत शुद्ध

और मनके परिणामसे रहित होता है ऐसा जानना चाहिए।।३९।।

सम्मद्दंसणि पस्सइ, जाणदि णाणेण दव्वपज्जाया।
सम्मत्तगुणविसुद्धो, भावो अरहस्स णायव्वो।।४०।।

अरहंत परमेष्ठी अपने समीचीन दर्शनगुणके द्वारा समस्त द्रव्यपर्यायोंको सामान्य रूपसे देखते हैं और ज्ञानगुणके द्वारा विशेष रूपसे जानते हैं। वे सम्यग्दर्शनरूप गुणसे अत्यंत निर्मल रहते हैं। इस प्रकार अरहंतका भाव जानना चाहिए।

सुण्णहरे तरुहिट्ठे, उज्जाणे तह मसाणवासे वा।
गिरिगुह गिरिसिहरे वा, भीमवणे अहव वसिदो वा।।४१।।
सवसासत्त तित्थं, वचचइदालत्तयं च वुत्तेहिं।
जिणभवणं अह वेज्झं, जिणमग्गे जिणवरा विंति।।४२।।
पंचमहव्वयजुत्ता, पंचिंदियसंजया णिरावेक्खा।
सज्झायझाणजुत्ता, मुणिवरवसहा णिइच्छंति।।४३।।

शून्यगृहमें, वृक्षके अधस्तलमें, उद्यानमें, श्मशानमें, पहाड़की गुफामें, पहाड़के शिखरपर, भयंकर वनमें अथवा वसतिकामें मुनिराज रहते हैं।

स्वाधीन मुनियोंके निवासरूप तीर्थ, उनके नामके अक्षररूप वचन, उनकी प्रतिमारूप चैत्य, प्रतिमाओंकी स्थापनाका आधाररूप आलय और कहे हुए आयतनादिके साथ जिनभवन -- अकृत्रिम जिनचैत्यालय आदिको जिनमार्गमें जिनेंद्रदेव मुनियोंके लिए वेद्य अर्थात् जाननेयोग्य पदार्थ कहते हैं। पाँच महाव्रतोंसे सहित, पाँच इंद्रियोंको जीतनेवाले, निःस्पृह तथा स्वाध्याय और ध्यानसे युक्त श्रेष्ठ मुनि उपर्युक्त स्थानोंको निश्चयमें चाहते हैं।।४१-४३।।

गिहगंथमोहमुक्का, बावीसपरीसहा जियकसाया।
पावारंभविमुक्का, पव्वज्जा एरिसा भणिया।।४४।।

जो गृहनिवास तथा परिग्रहके मोहसे रहित है, जिसमें बाईस परिषह सहे जाते हैं, कषाय जीती जाती है और पापके आरंभसे रहित है ऐसी दीक्षा जिनेंद्रदेवने कही है।।४४।।

धणधण्णवत्थदाणं, हिरण्णसयणासणाइ छत्ताइं।
कुद्दाणविरहरहिया, पव्वज्जा एरिसा भणिया।।४५।।

जो धन धान्य वस्त्रादिके दान, सोना चांदी, शय्या, आसन तथा छत्र आदिके खोटे दानसे रहित है ऐसी दीक्षा कही गयी है।।४५।।

सत्तूमित्ते य समा, पसंसणिद्दा अलद्धिलद्धि समा।

तणकणए समभावा, पव्वज्जा एरिसा भणिया।।४६।।

जो शत्रु और मित्र, प्रशंसा और निंदा, हानि और लाभ, तथा तृण और सुवर्णमें समान भाव रखती है ऐसी जिनदीक्षा कही गयी है।।४६।।

उत्तममज्झिमगेहे, दारिद्दे ईसरे णिरावेक्खा।

सव्वत्थगिहिदपिंडा, पव्वज्जा एरिसा भणिया।।४७।।

जहाँ उत्तम और मध्यम घरमें, दरिद्र तथा धनवानमें, कोई भेद नहीं रहता तथा सब जगह आहार ग्रहण किया जाता है ऐसी जिनदीक्षा कही गयी है।।४७।।

णिग्गंथा णिस्संगा, णिम्माणासा अराय णिद्दोसा।

णिम्मम णिरहंकारा, पव्वज्जा एरिसा भणिया।।४८।।

जो परिग्रहरहित है, स्त्री आदि परपदार्थके संसर्गसे रहित है, मानकषाय और भोग-परिभोगकी आशासे रहित है, दोषसे रहित है, ममतारहित है और अहंकारसे रहित है ऐसी जिनदीक्षा कही गयी है।।

णिण्णेहा णिल्लोहा, णिम्मोहा णिव्वियार णिक्कलुसा।

णिब्भव णिरासभावा, पव्वज्जा एरिसा भणिया।।४९।।

जो स्नेहरहित है, लोभरहित है, मोहरहित है, विकाररहित है, कलुषतारहित है, भयरहित है और आशारहित है ऐसी जिनदीक्षा कही गयी है।।४९।।

जह जायरूवसरिसा, अवलंबियभुय णिराउहा संता।

परकियणिलयणिवासा, पव्वज्जा एरिसा भणिया।।५०।।

जिसमें सद्योजात बालकके समान नग्न रूप धारण किया जाता है, भुजाएँ नीचेकी ओर लटकायी जाती हैं, जो शस्त्ररहित है, शांत है और जिसमें दूसरेके द्वारा बनायी हुई वसतिकामें निवास किया जाता है ऐसी जिनदीक्षा कही गयी है।।५०।।

उवसमखमदमजुत्ता, सरीरसंक्कारवज्जिया रूक्खा।

मयरायदोसरहिया, पव्वज्जा एरिसा भणिया।।५१।।

जो उपशम, क्षमा तथा दमसे युक्त है, शरीरके संस्कारसे वर्जित है, रूक्ष है, मद राग एवं द्वेषसे रहित है ऐसी जिनदीक्षा कही गयी है।।५१।।

विवरीयमूढभावा, पणट्ठकम्मट्ठ णट्ठमिच्छत्ता।

सम्मत्तगुणविसुद्धा, पव्वज्जा एरिसा भणिया।।५२।।

जिसका मूढभाव दूर हो गया है, जिसमें आठों कर्म नष्ट हो गये हैं, मिथ्यात्वभाव नष्ट हो गया है और जो सम्यग्दर्शनरूप गुणसे विशुद्ध है ऐसी जिनदीक्षा कही गयी है।।५२।।

जिणमग्गे पव्वज्जा, छहसंहणणेसु भणिय णिग्गंथा।
भावंति भव्वपुरिसा, कम्मक्खयकारणे भणिया।।५३।।

जिनमार्गमें जिनदीक्षा छहों संहननोंवालोंके लिए कही गयी है। यह दीक्षा कर्मक्षयका कारण बतायी गयी है। ऐसी दीक्षाकी भव्य पुरुष निरंतर भावना करते हैं।।५३।।

तिलतुसमत्तणिमित्तं, समबाहिरगंथसंगहो णत्थि।
पव्वज्ज हवइ एसा, जह भणिया सव्वदरसीहिं।।५४।।

जिसमें तिलतुषमात्र बाह्य परिग्रहका संग्रह नहीं है ऐसी जिनदीक्षा सर्वज्ञदेवके द्वारा कही गयी है।।५४।।

उवसग्गपरिसहसहा, णिज्जणदेसे हि णिच्च अत्थेहि।
सिलकट्ठे भूमितले, सव्वे आरुहइ सव्वत्थ।।५५।।

उपसर्ग और परिषहोंको सहन करनेवाले मुनि निरंतर निर्जन स्थानमें रहते हैं, वहाँ भी सर्वत्र शिला, काष्ठ वा भूमितलपर बैठते हैं।।५५।।

पसुमहिलसंढसंगं, कुसीलसंगं ण कुणइ विकहाओ।
सज्झायझाणजुत्ता, पव्वज्जा एरिसा भणिया।।५६।।

जिसमें पशु स्त्री नपुंसक और कुशील मनुष्योंका संग नहीं किया जाता, विकथाएँ नहीं कही जातीं और सदा स्वाध्याय तथा ध्यानमें लीन रहा जाता है ऐसी जिनदीक्षा कही गयी है।।५६।।

तववयगुणेहिं सुद्धा, संजमसम्मत्तगुणविसुद्धा य।
सुद्धा गुणेहिं सुद्धा, पव्वज्जा एरिसा भणिया।।५७।।

जो तप व्रत और उत्तर गुणोंसे शुद्ध है, संयम, सम्यक्त्व और मूलगुणोंसे विशुद्ध है तथा दीक्षोचित अन्य गुणोंसे शुद्ध है ऐसी जिनदीक्षा कही गयी है।।५७।।

एवं आयत्तणगुणपज्जत्ता बहुविहसम्मत्ते।
णिग्गंथे जिणमग्गे, संखेवेणं जहाखादं।।५८।।

इस प्रकार आत्मगुणोंसे परिपूर्ण जिनदीक्षा अत्यंत निर्मल सम्यक्त्वसहित, निष्परिग्रह जिनमार्गमें जैसी कही गयी है वैसी संक्षेपसे मैंने कही है।।५८।।

रूवत्थं सुद्धत्थं, जिणमग्गे जिणवरेहिं जह भणियं।
भव्वजणबोहणत्थं, छक्कायहिदंकरं उत्तं।।५९।।

जिनेंद्रदेवने जिनमार्गमें शुद्धिके लिए जिस रूपस्थ मार्गका निरूपण किया है, छह कायके जीवोंका हित करनेवाला वह मार्ग भव्य जीवोंको समझानेके लिए मैंने कहा है।।

सद्दवियारो हूओ, भासासुत्तेसु जं जिणे कहियं।
सो तह कहियं णायं, सीसेण य भद्दबाहुस्स।।६०।।

शब्दविकारसे उत्पन्न हुए भाषासूत्रोंमें श्री जिनेंद्रदेवने जो कहा है तथा भद्रबाहुके शिष्यने जिसे जाना है वही मार्ग मैंने कहा है।।६०।।

बारसअंगवियाणं, चउदसपुव्वंगविउलवित्थरणं।
सुयणाणिभद्दबाहू, गमयगुरू भयवओ जयओ।।६१।।

द्वादशांगके जाननेवाले, चौदह पूर्वोंका बृहद् विस्तार करनेवाले और व्याख्याकारोंमें प्रधान श्रुतकेवली भगवान् भद्रबाहु जयवंत होवें।।

इस प्रकार बोधपाहुड समाप्त हुआ।

*

भावपाहुड

णमिऊण जिणवरिंदे, णरसुरभवणिंदवंदिए सिद्धे।
वोच्छामि भावपाहुडमवसेसे संजदे सिरसा।।१।।

चक्रवर्ती, इंद्र तथा धरणेंद्रसे वंदित अर्हंतोंको, सिद्धोंको तथा अवशिष्ट आचार्य, उपाध्याय और साधुरूप संयतोंको शिरसे नमस्कार कर मैं भावपाहुड ग्रंथको कहूँगा।।१।।

भावो हि पढमलिंगं, च ण दव्वलिंगं जाण परमत्थं।
भावो कारणभूदो, गुणदोसाणं जिणा विंति।।२।।

निश्चयसे भाव जिनदीक्षाका प्रथम लिंग है, द्रव्यलिंगको तू परमार्थ मत जान, भाव ही गुणदोषोंका कारण है ऐसा जिनदेव कहते हैं।।२।।

भावविसुद्धिणिमित्तं, बाहिरगंथस्स कीरए चाओ।
बाहिरचाओ विहलो, अब्भंतरगंथजुत्तस्स।।३।।

भावशुद्धिके कारण ही बाह्यपरिग्रहका त्याग किया जाता है। जो आभ्यंतर परिग्रहसे युक्त है उसका बाह्य परिग्रहका त्याग निष्फल है।।३।।

भावरहिओ ण सिज्झइ, जइ वि तवं चरइ कोडिकोडीओ।
जम्मंतराइ बहुसो, लंबियहत्थो गलियवथो।।४।।

भावरहित जीव यदि करोडों जन्मतक अनेक बार हाथ लटका कर तथा वस्त्रोंका त्याग कर तपश्चरण करे तो भी सिद्ध नहीं होता।।४।।

परिणाममि असुद्धे, गंथे मुंचेइ बाहिरे य जई ।
बाहिरगंथच्चाओ, भावविहूणस्स किं कुणइ।।५।।

यदि कोई यति भाव अशुद्ध रहते हुए बाह्य परिग्रहका त्याग करता है तो भावहीन यतिका वह बाह्य परिग्रहत्याग क्या कर सकता है? कुछ नहीं।।५।।

जाणहि भावं पढमं, किं ते लिंगेण भावरहिएण।
पंथिय शिवपुरिपंथं, जिणउवइट्ठं पयत्तेण।।६।।

हे पथिक! तू सर्वप्रथम भावको ही जान। भावरहित वेषसे तुझे क्या प्रयोजन? भाव ही जिनेंद्रदेवके द्वारा प्रयत्नपूर्वक शिवपुरीका मार्ग बतलाया गया है।।६।।

भावरहिएण सपुरिस, अणाइकालं अणंतसंसारे।
गहिउज्झियाइं बहुसो, बाहिरणिग्गंथरूवाइं।।७।।

हे सत्पुरुष! भावरहित तूने अनादिकालसे इस अनंत संसारमें बाह्य निर्ग्रंथ रूप -- द्रव्यलिंग अनेक बार ग्रहण किये हैं और छोड़े हैं।।७।।

भीसणणरयगईए, तिरियगईए कुदेवमणुगईए।
पत्तोसि तिव्वदुक्खं, भावहि जिणभावणा जीव।।८।।

हे जीव! तूने भयंकर नरकगतिमें, तिर्यंचगतिमें, नीच देव और नीच मनुष्यगतिमें तीव्र दुःख प्राप्त किये हैं, अतः तू जिनेंद्रप्रणीत भावनाका चिंतवन कर।।८।।

सत्तसु णरयावासे, दारुणभीसाइं असहणीयाइं।
भुत्ताइं सुइरकालं, दुक्खाइं णिरंतरं सहियाइं।।९।।

हे जीव! तूने सात नरकावासोंमें बहुत कालतक अत्यंत भयानक और न सहनेयोग्य दुःख निरंतर भोगे तथा सहे हैं।।९।।

खणणुत्तालनवालणवेयणविच्छेयणाणिरोहं च।
पत्तोसि भावरहिओ, तिरियगईए चिरं कालं।।१०।।

हे जीव! भावरहित तूने तिर्यंचगतिमें चिरकालतक खोदा जाना, तपाया जाना, जलाया जाना,

हवा किया जाना, तोड़ा जाना और रोका जाना आदिके दुःख प्राप्त किये हैं।।१०।।

आगंतुअमाणसियं, सहजं सारीरियं च चत्तारि।
दुक्खाइं मणुयजम्मे, पत्तोसि अणंतयं कालं।।११।।

हे जीव! तूने मनुष्यगतिमें आगंतुक, मानसिक, साहजिक और शारीरिक ये चार प्रकारके दुःख अनंतकाल तक प्राप्त किये हैं।।११।।

सुरणिलयेसु सुरच्छरविओयकाले य माणसं णिच्चं।
संपत्तोसि महाजस, दुक्खं सुहभावणारहिओ।।१२।।

हे महायशके धारक! तूने शुभ भावनासे रहित होकर स्वर्ग लोकमें देव-देवियोंका वियोग होनेपर तीव्र मानसिक दुःख प्राप्त किया है।।१२।।

कंदप्पमाइयाओ, पंचवि असुहादिभावणाई य।
भाऊण दव्वलिंगी, पहीणदेवो दिवे जाओ।।१३।।

हे जीव! तू द्रव्यलिंगी होकर कांदर्पी[1] आदि पाँच अशुभ भावनाओंका चिंतवन कर स्वर्गमें नीच देव हुआ

पासत्थभावणाओ, अणाइकालं अणेयवाराओ।
भाऊण दुहं पत्तो, कुभावणाभावबीएहिं।।१४।।

हे जीव! तूने अनादि कालसे अनेक बार पार्श्वस्थ कुशील, संसक्त, अवसन्न और मृगचारी आदि भावनाओंका चिंतवन कर खोटी भावनाओंके भावरूप बीजोंसे दुःख प्राप्त किये हैं।।१४।।

देवाण गुण विहूई, इड्ढी माहप्प बहुविहं दट्ठं।
होऊण हीणदेवो, पत्तो बहुमाणसं दुक्खं।।१५।।

हे जीव! तूने नीच देव होकर अन्य देवोंके गुण विभूति ऋद्धि तथा बहुत प्रकारका माहात्म्य देखकर बहुत भारी मानसिक दुःख प्राप्त किया है।।१५।।

चउविह विकहासत्तो, मयमत्तो असुहभावपयडत्थो।
होऊण कुदेवत्तं, पत्तोसि अणेयवाराओ।।१६।।

हे जीव! तू चार प्रकारकी विकथाओंमें आसक्त होकर, आठ मदोंसे मत्त होकर और अशुभ भावोंसे स्पष्ट प्रयोजन धारण कर अनेक बार कुदेव पर्याय -- भवनत्रिकमें उत्पन्न हुआ है।।१६।।

---

१. १. कांदर्पी, २. किल्विषिकी, ३. संमोही, ४. दानवी, ५. आभियोगिकी ये ५ अशुभ भावनाएँ हैं।

असुहीवीहत्थेहि य, कलिमलबहुला हि गब्भवसहीहि।
वसिओसि चिरं कालं, अणेयजणणीण मुणिपवर।।१७।।

हे मुनिप्रवर! तूने अनेक माताओंके अशुद्ध, घृणित और पापरूप मलसे मलिन गर्भवसतियोंमें चिरकालतक निवास किया है।।१७।।

पीओसि थणच्छीरं, अणंतजम्मंतराइं जणणीणं।
अण्णण्णाण महाजस, सायरसलिला दु अहिययरं।।१८।।

हे महायशके धारक! तूने अनंत जन्मोंमें अन्य अन्य माताओंके स्तनका इतना अधिक दूध पिया है कि वह इकट्ठा किया जानेपर समुद्रके जलसे भी अधिक होगा।।१८।।

तुह मरणे दुक्खेण, अण्णण्णाणं अणेयजणणीणं।
रुण्णाण णयणणीरं, सायरसलिला दु अहिययरं।।१९।।

हे जीव! तुम्हारे मरनेपर दुःखसे रोनेवाली भिन्न भिन्न अनेक माताओंके आँसू समुद्रके जलसे भी अधिक होंगे।।१९।।

भवसायरे अणंते, छिण्णुज्झियकेसणहरणालट्ठी।
पुंजइ जइ कोवि जए, हवदि य गिरिसमधिया रासी।।२०।।

हे जीव! इस अनंत संसारसागरमें तुम्हारे कटे और छोड़े हुए केश, नख, बाल और हड्डीको यदि कोई देव इकट्ठा करे तो उसकी राशि मेरुपर्वतसे भी ऊँची हो जाय।।२०।।

जलथलसिहिपवणंवरगिरिसरिदरितरुवणाइं सव्वत्तो।
वसिओ सि चिरं कालं, तिहुवणमज्झे अणप्पवसो।।२१।।

हे जीव! तूने पराधीन होकर तीन लोकके बीच जल, स्थल, अग्नि, वायु, आकाश, पर्वत, नदी, गुफा, वृक्ष, वन आदि सभी स्थानोंमें चिरकालतक निवास किया है।।२१।।

गसियाइं पुग्गलाइं, भुवणोदरवत्तियाइं सव्वाइं।
पत्तोसि तो ण तित्तिं, पुणरूवं ताइं भुंजंतो।।२२।।

हे जीव! तूने लोकके मध्यमें स्थित समस्त पुद्गलोंका भक्षण किया तथा उन्हें बार-बार भोगते हुए भी तृप्ति नहीं हुई।।२२।।

तिहुयणसलिलं सयलं, पीयं तिण्हाये पीडिएण तुमे।
तो वि ण तिण्हाच्छेओ, जाओ चिंतेह भवमहणं।।२३।।

हे जीव! तूने प्याससे पीड़ित होकर तीन लोकका समस्त जल पी लिया तो भी तेरी प्यासका अंत

नहीं हुआ। इसलिए तू संसारका नाश करनेवाले रत्नत्रयका चिंतन कर।।२३।।

गहि उज्झियाइं मुणिवर, कलेवराइं तुमे अणेयाइं।
ताणं णत्थि पमाणं, अणंतभवसायरे धीर।।२४।।

हे मुनिवर! हे धीर! इस अनंत संसारमें तूने जो अनेक शरीर ग्रहण किये तथा छोड़े हैं उनका प्रमाण नहीं है।।२४।।

विसवेयणरत्तक्खयभयसत्थग्गहणसंकिलेसाणं।
आहारुस्सासाणं, णिरोहणा खिज्जए आऊ।।२५।।
हिमजलणसलिलगुरूयरपव्वयतुरुहणषडणभंगेहिं।
रसविज्जजोयधारण, अणयपसंगेहि विविहेहिं।।२६।।
इय तिरियमणुयजम्मे, सुइरं उववज्जिऊण बहुवारं।
अवमिच्चुमहादुक्खं, तिव्वं पत्तोसि तं मित्त।।२७।।

विष, वेदना, रक्तक्षय, भय, शस्त्रग्रहण, संक्लेश, आहारनिरोध, श्वासोच्छ्वासनिरोध, बर्फ, अग्नि, पानी, बड़े पर्वत अथवा वृक्षपर चढ़ते समय गिरना, शरीरका भंग, रसविद्याके प्रयोगसे और अन्यायके विविध प्रयोगसे आयुका क्षय होता है। हे मित्र! इस प्रकार तिर्यंच और मनुष्य गतिमें उत्पन्न होकर चिरकालसे अनेक बार अकालमृत्युका अत्यंत तीव्र महादुःख तूने प्राप्त किया है।।२५-२७।।

छत्तीसं तिण्णिसया, छावट्ठिसहस्सवारमरणाणि।
अंतोमुहुत्तमज्झे, पत्तोसि णिगोयवासम्मि।।२८।।

हे जीव! तूने निगोदावासमें अंतर्मुहूर्तके भीतर छ्यासठ हजार तीनसौ छत्तीस बार मरण प्राप्त किया है।।२८।।

वियलिंदिए असीदी, सट्ठी चालीसमेव जाणेह।
पंचिंदियचउवीसं, खुद्दभवंतो मुहुत्तस्स।।२९।।

हे जीव! ऊपर जो अंतर्मुहुर्तके क्षुद्रभव बतलाये हैं उनमें द्वींद्रियोंके ८०, त्रींद्रियोंके ६०, चतुरिंद्रियोंके ४० और पंचेंद्रियोंके २४ भव होते हैं ऐसा तू जान।।२९।।

रयणत्तये अलद्धे, एवं भमिओसि दीहसंसारे।
इय जिणवरेहिं भणिओ, तं रयणत्तय समायरह।।३०।।

हे जीव! इस प्रकार रत्नत्रय प्राप्त न होनेसे तूने इस दीर्घ संसारमें भ्रमण किया है इसलिए तू रत्नत्रयका आचरण कर ऐसा जिनेंद्रदेवने कहा है।।३०।।

अप्पा अप्पम्मि रओ, सम्माइट्ठी हवेइ फुडु जीवो।
जाणइ तं सण्णाणं, चरदिह चारित्तमग्गुत्ति।।३१।।

आत्मा आत्मामें लीन होता है यह सम्यग्दर्शन है, जीव उस आत्माको जानता है यह सम्यग्ज्ञान है तथा उसी आत्मामें चरण रखता है यह चारित्र है।।३१।।

अण्णे कुमरणमरणं, अणेयजम्मंतराइं मरिओसि।
भावहि सुमरणमरणं, जरमरणविणासणं जीव।।३२।।

हे जीव! तू अन्य अनेक जन्मोंमें कुमरणमरणसे मृत्युको प्राप्त हुआ है अतः अब जरामरणका विनाश करनेवाले सुमरण मरणका चिंतन कर।।३२।।

सो णत्थि दव्वसवणो, परमाणुपमाणमेत्तओ णिलओ।
जत्थ ण जाओ ण मओ, तियलोयपमाणिओ सव्वो।।३३।।

तीन लोक प्रमाण इस समस्त लोकाकाशमें ऐसा परमाणु मात्र भी स्थान नहीं है जहाँ कि द्रव्यलिंगी मुनि न उत्पन्न हुआ हो और न मरा हो।।३३।।

कालमणंतं जीवो, जम्मजरामरणपीडिओ दुक्खं।
जिणलिंगेण वि पत्तो, परंपराभावरहिएण।।३४।।

आचार्य परंपरासे उपदिष्ट भावलिंगसे रहित द्रव्यलिंग द्वारा भी इस जीवने अनंतकाल तक जन्म जरा मरणसे पीड़ित हो दुःख ही प्राप्त किया है।।३४।।

पडिदेससमयपुग्गलआउगपरिणामणामकालट्ठं।
गहिउज्झियाइं बहुसो, अणंतभवसायरे जीवो।।३५।।

अनंत संसारसागरके बीच इस जीवने प्रत्येक देश, प्रत्येक समय, प्रत्येक पुद्गल, प्रत्येक आयु, प्रत्येक रागादि भाव, प्रत्येक नामादि कर्म तथा उत्सर्पिणी आदि कालमें स्थित अनंत शरीरोंको अनेक बार ग्रहण किया और छोड़ा।।३५।।

तेयाला तिण्णिसया, रज्जूणं लोयखेत्तपरिमाणं।
मुत्तूणट्ठपएसा, जत्थ ण ढुरुढुल्लियो जीवो।।३६।।

३४३ राजूप्रमाण लोक क्षेत्रमें आठ मध्यप्रदेशोंको छोड़कर ऐसा कोई प्रदेश नहीं जहाँ इस जीवने भ्रमण न किया हो।।३६।।

एक्केकेंगुलिवाही, छण्णवदी होंति जाणमणुयाणं।
अक्सेसे य सरीरे, रोया भण कित्तिया भणिया।।३७।।

मनुष्य शरीरके एक-एक अंगुल प्रदेशमें जब छियानवे छियानवे रोग होते हैं तब शेष समस्त शरीरमें कितने-कितने रोग कहे जा सकते हैं, हे जीव! यह तू जान।।३७।।

ते रोया विय सयला, सहिया ते परवसेण पुव्वभवे।
एवं सहसि महाजस, किंवा बहुएहिं लविएहिं।।३८।।

हे महायशके धारक जीव! तूने वे सब दुःख पूर्वभवमें परवश होकर सहे हैं और अब इस प्रकार सह रहा है, अधिक कहनेसे क्या?।।३८।।

पित्तंतमुत्तफेफसकालिज्जियरुहिरखरिस किमिजाले।
उयरे वसिओसि चिरं, नवदसमासेहिं पत्तेहिं।।३९।।

हे जीव! तूने पित्त, आंत, मूत्र, फुप्फुस, जिगर, रुधिर, खरिस[1] और कीडोंके समूहसे भरे हुए माताके उदरमें अनंत वार नौ-नौ दस-दस मास तक निवास किया है।।३९।।

दियसंगट्ठियमसणं, आहारिय मायभुत्तमण्णांते ।
छद्दिखरिसाणमध्ये जठरे वसिओसि जणणीए।।४०।।

हे जीव! तूने माताके पेटमें दाँतोंके संगमें स्थित तथा माताके खानेके बाद उसके खाये हुए अन्नको खाकर वमन और खरिसके बीच निवास किया है।

सिसुकाले य अमाणे असुईमज्झम्मि लोलिओसि तुमं।
असुई असिआ बहुसो, मुणिवर बालत्तपत्तेण।।४१।।

हे मुनिश्रेष्ठ! तू अज्ञानपूर्ण बाल्य अवस्थामें अपवित्र स्थानमें लौटा है तथा बालकपनके कारण अनेक बार तू अपवित्र वस्तुओंको खा चुका है।।४१।।

मंसट्ठिसुक्कसोणियपित्तंतसक्तकुणिमदुग्गंधं।
खरिसवसपूयखिब्भिसभरियं चिंतेहि देहउडं।।४२।।

हे जीव! तू इस शरीररूपी घड़ेका चिंतन कर जो मांस, हड्डी, वीर्य, रुधिर, पित्त, आंतसे झरती हुई मुर्देके समान दुर्गंधसे सहित है तथा खरिस, चर्बी, पीप आदि अपवित्र वस्तुओंसे भरा हुआ है।।४२।।

भावविमुत्तो मुत्तो, णय मुत्तो बंधवाइमित्तेण।
इय भाविऊण उज्झसु, गंथं अब्भंतरं धीर।।४३।।

जो रागादिभावोंसे मुक्त है वास्तवमें वही मुक्त है। जो केवल बांधव आदिसे मुक्त है वह मुक्त नहीं है। ऐसा विचार कर हे धीर वीर! तू अंतरंग परिग्रहका त्याग कर।।४३।।

देहादिचत्तसंगो, माणकसाएण कलुसिओ धीर।
अत्तावणेण आदो, बाहुबली कित्तियं कालं।।४४।।

हे धीर मुनि! देहादिके संबंधसे रहित किंतु मान कषायसे कलुषित बाहुबली स्वामी कितने समय तक आतापन योगसे स्थित रहे थे?।

१. बिना पके हुए रुधिरसे मिले हुए कफको खरिस कहते हैं।

भावार्थ -- यद्यपि बाहुबली स्वामी शरीरादिसे विरक्त होकर आतापनसे विराजमान थे परंतु 'मैं भरतकी भूमिमें खड़ा हूँ' इस प्रकार सूक्ष्म मान विद्यमान रहनेसे केवलज्ञान प्राप्त नहीं कर सके थे। जब उनके हृदयसे उक्त प्रकारका मान दूर हो गया था तभी उन्हें केवलज्ञान प्राप्त हुआ था। इससे यह सिद्ध होता है कि अंतरंगकी उज्ज्वलताके बिना केवल बाह्य त्यागसे कुछ नहीं होता।।४४।।

महुपिंगो णाय मुणी देहा हारादिचत्तवावारो।
सवणत्तणं ण पत्तो, णियाणमित्तेण भवियणुव।।४५।।

हे भव्य जीवोंके द्वारा नमस्कृत मुनि! शरीर तथा आहारका त्याग करनेवाले मधुपिंग नामक मुनि निदानमात्रसे श्रमणपनेको प्राप्त नहीं हुए थे।।४५।।

अण्णं च वसिट्ठमुणी, पत्तो दुक्खं णियाणदोसेण।
सो णत्थि वासठाणो, जत्थ ण ढुरुढुल्लिओ जीवो।।४६।।

और भी एक वशिष्ठ मुनि निदानमात्रसे दुःखको प्राप्त हुए थे। लोकमें वह निवासस्थान नहीं है जहाँ इस जीवने भ्रमण न किया हो।।४६।।

सो णत्थि तं पएसो, चउरासीलक्खजोणिवासम्मि।
भावविरओ वि सवणो, जत्थ ण ढुरुढुल्लिओ जीवो।।४७।।

हे जीव! चौरासी लाख योनिके निवासमें वह एक भी प्रदेश नहीं है जहाँ अन्यकी बात जाने दो, भावरहित साधुने भ्रमण न किया हो।।४७।।

भावेण होइ लिंगी, ण हु लिंगी होइ दव्वमित्तेण।
तम्हा कुणिज्ज भावं, किं कीरइ दव्वलिंगेण।।४८।।

मुनि भावसे ही जिनलिंगी होता है, द्रव्यमात्रसे जिनलिंगी नहीं होता। इसलिए भावलिंग ही धारण करो, द्रव्यलिंगसे क्या काम सिद्ध होता है?।।४८।।

दंडअणयरं सयलं, डहिओ अब्भंतरेण दोसेण ।
जिणलिंगेण वि बाहू, पडिओ सो रउरवे णरये।।४९।।

बाहु मुनि जिनलिंगसे सहित होनेपर भी अंतरंगके दोषसे दंडक नामक समस्त नगरको जलाकर रौरव नामक नरकमें उत्पन्न हुआ था।।४९।।

अवरो वि दव्वसवणो, दंसणवरणाणचरणपब्भट्ठो।
दीवायणुत्ति णामो, अणंतसंसारिओ जाओ।।५०।।

और भी एक द्वैपायन नामक द्रव्यलिंगी श्रमण सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रसे भ्रष्ट

होकर अनंतसंसारी हुआ।।५०।।

भावसमणो य धीरो, जुवईजणवेड्ढिओ विसुद्धमई।
णामेण सिवकुमारो, परीत्तसंसारिओ जादो।।५१।।

भावलिंगका धारक धीर वीर शिवकुमार नामका मुनि युवतिजनोंसे परिवृत होकर भी विशुद्धहृदय बना रहा और इसीलिए संसारसमुद्रसे पार हुआ।।५१।।

अंगाइं दस य दुण्णि य, चउदसपुव्वाइं सयलसुयणाणं।
पढिओ अ भव्वसेणो, ण भावसवणत्तणं पत्तो।।५२।।

भव्यसेन नामक मुनिने बारह अंग और चौदह पूर्वरूप समस्त श्रुतज्ञानको पढ़ लिया तो भी वह भावश्रवणपनेको प्राप्त नहीं हुआ।।५२।।

तुसमासं घोसंतो, भावविसुद्धो महाणुभावो य।
णामेण य सिवभूई, केवलणाणी फुडं जाओ।।५३।।

यह बात सर्वप्रसिद्ध है कि विशुद्ध भावोंके धारक और अत्यंत प्रभावसे युक्त शिवभूति मुनि 'तुषमाष' पदको घोकते हुए -- याद करते हुए केवलज्ञानी हो गये।।५३।।

भावेण होइ णग्गो, बाहिरलिंगेण किं च णग्गेण।
कम्मपयडीयणियरं, णासइ भावेण दव्वेण।।५४।।

भावसे ही निर्ग्रंथ रूप सार्थक होता है, केवल बाह्यलिंगरूप नग्न मुद्रासे क्या प्रयोजन है? कर्मप्रकृतियोंका समुदाय भावसहित द्रव्यलिंगसे ही नष्ट होता है।।५४।।

णग्गत्तणं अकज्जं, भावणरहियं जिणेहिं पण्णत्तं।
इय णाऊण य णिच्चं, भाविज्जहि अप्पयं धीर।।५५।।

जिनेंद्र भगवान्ने भावरहित नग्नताको व्यर्थ कहा है ऐसा जानकर हे धीर! सदा आत्माकी भावना कर।।५५।।

देहादिसंगरहिओ, माणकसाएहिं सयलपरिचत्तो।
अप्पा अप्पम्मि रओ, स भावलिंगी हवे साहू।।५६।।

जो शरीरादि परिग्रहसे रहित है, मान कषायसे सब प्रकार मुक्त है और जिसका आत्मा आत्मामें रत रहता है वह साधु भावलिंगी है।।५६।।

ममत्तिं परिवज्जामि, निम्ममत्तिमुवट्ठिदो।
आलंबणं च मे आदा, अवसेसाइं वोसरे।।५७।।

भावलिंगी मुनि विचार करता है कि मैं निर्ममत्व भावको प्राप्त होकर ममता बुद्धिको छोड़ता हूँ और आत्मा ही मेरा आलंबन है, इसलिए अन्य समस्त पदार्थोंको छोड़ता हूँ।।५७।।

आदा खु मज्झ णाणे, आदा मे संवरे जोगे।
आदा पच्चक्खाणे, आदा मे संवरे जोगे।।५८।।

निश्चयसे मेरे ज्ञानमें आत्मा है, दर्शन और चारित्रमें आत्मा है, प्रत्याख्यानमें आत्मा है, संवर और योगमें आत्मा है।।

एगो मे सस्सदो अप्पा, णाणदंसणलक्खणो।
सेसा मे बाहिरा भावा, सव्वे संजोगलक्खणा।।५९।।

नित्य तथा ज्ञान दर्शन लक्षणवाला एक आत्मा ही मेरा है, उसके सिवाय परद्रव्यके संयोगसे होनेवाले समस्त भाव बाह्य हैं-- मुझसे पृथक् हैं।।५९।।

भावेह भावसुद्धं, अप्पा सुविसुद्धणिम्मलं चेव।
लहु चउगइ चइऊणं, जइ इच्छसि सासयं सुक्खं।।६०।।

हे भव्य जीवो! यदि तुम शीघ्र ही चतुर्गतिको छोड़कर अविनाशी सुखकी इच्छा करते हो तो शुद्ध भावोंके द्वारा अत्यंत पवित्र और निर्मल आत्माकी भावना करो।।६०।।

जो जीवो भावंतो, जीवसहावं सुझावसंजुत्तो।
जो जरमरणविणासं, कुडइ फुडं लहइ णिव्वाणं।।६१।।

जो जीव अच्छे भावोंसे सहित होकर आत्माके स्वभावका चिंतन करता है वह जरामरणका विनाश करता है और निश्चय ही निर्वाणको प्राप्त होता है।।६१।।

जीवो जिणपण्णत्तो, णाणसहाओ य चेयणासहिओ।
सो जीवो णायव्वो, कम्मक्खयकारणणिमित्तो।।६२।।

जीव ज्ञानस्वभाववाला तथा चेतनासहित है ऐसा जिनेंद्र भगवान्ने कहा है। वह जीव ही कर्मक्षयका कारण जानना चाहिए।।६२।।

जेसिं जीवसहावो, णत्थि अभावो य सव्वहा तत्थ।
ते होंति भिण्णदेहा, सिद्धा वचिगोयरमतीदा।।६३।।

जिसके मनमें जीवका सद्भाव है उसका सर्वथा अभाव नहीं है। वे शरीरसे भिन्न तथा वचनके विजयसे परे होते हैं।।६३।।

अरसमरूवमगंधं, अव्वत्तं चेयणागुणमसद्दं।
जाणमलिंगग्गहणं, जीवमणिद्दिट्ठसंठाणं।।६४।।

जो रसरहित है, रूपरहित है, गंधरहित है, अव्यक्त है, चेतना गुणसे युक्त है, शब्दरहित है, इंद्रियोंके द्वारा अग्राह्य है और आकाररहित है उसे जीव जान।।६४।।

भावहि पंचपयारं, णाणं अण्णाणणासणं सिग्घं।
भावणभावियसहिओ, दिवसिवसुहभायणो होइ।।६५।।

हे जीव! तू अज्ञानका नाश करनेवाले पाँच प्रकारके ज्ञानका शीघ्र ही नाश कर। क्योंकि ज्ञानभावनासे सहित जीव स्वर्ग और मोक्षके सुखका पात्र होता है।।६५।।

पढिएणवि किं कीरइ, किंवा सुणिएण भावरहिएण।
भावो कारणभूदो, सायारणयारभूदाणं।।६६।।

भावरहित पढ़ने अथवा भावरहित सुननेसे क्या होता है? यथार्थमें भाव ही गृहस्थपने और मुनिपनेका कारण है।।६६।।

दव्वेण सयलणग्गा, सारयतिरिया य सयलसधाया।
परिणामेण असुद्धा, ण भावसवणत्तणं पत्ता।।६७।।

द्रव्य सभी रूपसे नग्न रहते हैं। नारकी और तिर्यंचोंका समुदाय भी नग्न रहता है, परंतु परिणामोंसे अशुद्ध रहनेके कारण भाव मुनिपनेको प्राप्त नहीं होते।।६७।।

णग्गो पावइ दुक्खं, णग्गो संसारसायरे भमई।
णग्गो ण लहइ बोहिं, जिणभावणवज्जियं सुइरं।।६८।।

जो नग्न जिनभावनाकी भावनासे रहित है वह दीर्घकालतक दुःख पाता है, संसारसागरमें भ्रमण करता है और रत्नत्रयको नहीं प्राप्त करता है।।६८।।

अयसाण भायणेण य, किंते णग्गेण पावमलिगेण।
पेसुण्णहासमच्छरमायाबहुलेण सवणेण।।६९।।

हे जीव! तुझे उस नग्न मुनिपनेसे क्या प्रयोजन? जो कि अपयशका पात्र है, पापसे मलिन है, पैशुन्य, हास्य, मात्सर्य और मायासे परिपूर्ण है।।६९।।

पयडहिं जिणवरलिंगं, अब्भिंतरभावदोसपरिसुद्धो।
भावमलेण य जीवो बाहिरसंगम्मि मयलियई।।७०।।

हे जीव! तू अंतरंग भावके दोषोंसे शुद्ध होकर जिनमुद्राको प्रकट कर -- धारण कर। क्योंकि भावदोषसे दूषित जीव बाह्य परिग्रहके संगमें अपने आपको मलिन कर लेता है।।७०।।

धम्मम्मि णिप्पवासो, दोसावासो य इच्छुफुल्लसमो।
णिप्फलणिग्गुणयारो, णउसवणो णग्गरूवेण।।७१।।

जो धर्मसे प्रवास करता है -- धर्मसे दूर रहता है, जिसमें दोषोंका आवास रहता है और जो ईखके फूलके समान निष्फल तथा निर्गुण रहता है वह नग्न रूपमें रहनेवाला नट श्रमण है -- साधु नहीं, नट है।।७१।।

जे रायसंगजुत्ता, जिणभावणरहियदव्वणिग्गंथा।
ण लहंति ते समाहिं, बोहिं जिणसासणे विमले।।७२।।

जो मुनि रागरूप परिग्रहसे युक्त हैं और जिनभावनासे रहित केवल बाह्यरूपमें निर्ग्रंथ हैं -- नग्न हैं वे पवित्र जिनशासनमें समाधि और बोधि -- रत्नत्रयको नहीं पाते हैं।।७२।।

भावेण होइ णग्गो, मिच्छत्ताईं य दोस चइऊणं।
पच्छा दव्वेण मुणी, पयडदि लिंगं जिणाणाए।।७३।।

मुनि पहले मिथ्यात्व आदि दोषोंको छोड़कर भावसे -- अंतरंगसे नग्न होता है और पीछे जिनेंद्र भगवान्‌की आज्ञासे बाह्यलिंग -- बाह्य वेषको प्रकट करता है।।७३।।

भावो हि दिव्वसिवसुक्खभायणो भाववज्जिओ सवणो।
कम्ममलमलिणचित्तो, तिरियालयभायणो पावो।।७४।।

भाव ही इस जीवको स्वर्ग और मोक्षके पात्र बनाता है। जो मुनि भावसे रहित है वह कर्मरूपी मैलसे मलिन चित्र तथा तिर्यंच गतिका पात्र तथा पापी है।।७४।।

खयरामरमणुयकरंजलिमालाहिं च संथुया विउला।
चक्कहररायलच्छी, लब्भइ बोही सुभावेण।।७५।।

उत्तम भावके द्वारा विद्याधर, देव और मनुष्योंके हाथोंके अंजलिसे स्तुत बहुत बड़ी चक्रवर्ती राजाकी लक्ष्मी और रत्नत्रयरूप संपत्ति प्राप्त होती है।।७५।।

भावं तिविहपयारं, सुहासुहं सुद्धमेव णायव्वं।
असुहं च अट्टरुद्दं, सुहधम्मं जिणवरिंदेहिं।।७६।।

भाव तीन प्रकारके जानना चाहिए -- शुभ, अशुभ और शुद्ध। इनमें आर्त और रौद्रको अशुभ तथा धर्म्य ध्यानको शुभ जानना चाहिए। ऐसा जिनेंद्रदेवने कहा है।।७६।।

सुद्धं सुद्धसहावं, अप्पा अप्पम्मि तं च णायव्वं।
इदि जिणवरेहिं भणियं, जं सेयं तं समायरह।।७७।।

शुद्ध स्वभाववाला आत्मा शुद्ध भाव है, वह आत्मा आत्मामें ही लीन रहता है ऐसा जिन भगवान्‌ने कहा है। इन तीन भावोंमें जो श्रेष्ठ हो उसका आचरण कर।।७७।।

पयलियमाणकसाओ, पयलियमिच्छत्तमोहसमचित्तो।
पावइ तिहुयणसारं, बोही जिणसासणे जीवो।।७८।।

जिसका मानकषाय पूर्ण रूपसे नष्ट हो गया है तथा मिथ्यात्व और चारित्र मोहके नष्ट होनेसे जिसका चित्त इष्ट अनिष्ट विषयोंमें समरूप रहता है ऐसा जीव ही जिनशासनमें त्रिलोकश्रेष्ठ रत्नत्रयको प्राप्त करता है।।७८।।

विसयविरत्तो सवणो, छद्दसवरकारणाइं भाऊण।
तित्थयरणामकम्मं, बंधइ अइरेण कालेण।।७९।।

विषयोंसे विरक्त रहनेवाला साधु सोलहकारण भावनाओंका चिंतवन कर थोड़े ही समयमें तीर्थंकर प्रकृतिका बंध करता है।।७९।।

बारसविहतवयरणं, तेरसकिरियाउ भावतिविहेण।
धरहि मणमत्तदुरियं, णाणांकुसएण मुणिपवर।।८०।।

हे मुनिश्रेष्ठ! तू बारह प्रकारका तपश्चरण और तेरह प्रकारकी क्रियाओंका मन वचन कायसे चिंतन कर तथा मनरूपी मत्त हाथीको ज्ञानरूपी अंकुशसे वश कर।।८०।।

पंचविहचेलचायं, खिदिसयणं दुविहसंजमं भिक्खू।
भावं भावियपुव्वं, जिणलिंगं णिम्मलं सुद्धं।।८१।।

जहाँ पाँच प्रकारके वस्त्रोंका त्याग किया जाता है, जमीनपर सोया जाता है, दो प्रकारका संयम धारण किया जाता है, भिक्षासे भोजन किया जाता है और पहले आत्माके शुद्ध भावोंका विचार किया जाता है वह निर्मल जिनलिंग है।।८१।।

जह रयणाणं पवरं, वज्जं जह तरुगणाण गोसीरं।
तह धम्माणं पवरं, जिणधम्मं भाविभवमहणं।।८२।।

जिस प्रकार रत्नोंमें हीरा और वृक्षोंके समूहमें चंदन सर्वश्रेष्ठ है उसी प्रकार समस्त धर्मोंमें संसारको नष्ट करनेवाला जिनधर्म सर्वश्रेष्ठ है ऐसा तू चिंतवन कर।।८२।।

पूयादिसु वयसहियं, पुण्णं हि जिणेहिं सासणे भणियं।
मोहक्खोहविहीणो, परिणामो अप्पणो धम्मो।।८३।।

पूजा आदि शुभ क्रियाओंमें व्रतसहित जो प्रवृत्ति है तथा मोह और क्षोभसे रहित आत्माका जो भाव है वह धर्म है ऐसा जिनशासनमें जिनेंद्र भगवान्ने कहा है।।८३।।

सद्दहदि य पत्तेदि य, रोचेदि य तह पुणो वि फासेदि।
पुण्णं भोयणिमित्तं, ण हु सो कम्मक्खयणिमित्तं।।८४।।

जो मुनि पुण्यका श्रद्धान करता है, प्रतीति करता है, उसे अच्छा समझता है और बार-बार उसे धारण करता है उसका यह सब कार्य भोगका ही कारण है, कर्मोके क्षयका कारण नहीं है।।८४।।

अप्पा अप्पम्मि रओ, रायादिसु सयलदोसपरिचत्तो।
संसारतरणहेदू, धम्मोत्ति जिणेहिं णिद्दिट्ठं।।८५।।

रागादि समस्त दोषोंसे रहित होकर जो आत्मा आत्मस्वरूपमें लीन होता है वह संसारसमुद्रसे पार होनेका कारण धर्म है ऐसा श्री जिनेंद्रदेवने कहा है।।८५।।

अह पुण अप्पा णिच्छदि, पुण्णाइं करेदि णिरवसेसाइं।
तह वि ण पावदि सिद्धिं, संसारत्थो पुणो भणिदो।।८६।।

जो मनुष्य आत्माकी इच्छा नहीं करता -- आत्मस्वरूपकी प्रतीति नहीं करता वह भले ही समस्त पुण्यक्रियाओंको करता हो तो भी सिद्धिको प्राप्त नहीं होता है। वह संसारी ही कहा गया है।।८६।।

एएण कारणेण य, तं अप्पा सद्दहेहि तिविहेण।
जेण य लभेह मोक्खं, तं जाणिज्जह पयत्तेण।।८७।।

इस कारण तुम मन वचन कायसे उस आत्माका श्रद्धान करो और यत्नपूर्वक उसे जानो जिससे कि मोक्ष प्राप्त कर सको।।८७।।

मच्छो वि सालिसिक्थो, असुद्धभावो गओ महाणरयं।
इय णाउं अप्पाणं, भावह जिणभावणं णिच्चं।।८८।।

अशुद्ध भावोंका धारक शालिसिक्थ नामका मच्छ सातवें नरक गया ऐसा जानकर हे मुनि! तू निरंतर आत्मामें जिनदेवकी भावना कर।।८८।।

बाहिरसंगच्चाओ, गिरिसरिदरिकंदराइं आवासो।
सयलो णाणज्झयणो, णिरत्थओ भावरहियाणं।।८९।।

भावरहित मुनियोंका बाह्य परिग्रहका त्याग, पर्वत, नदी, गुफा, खोह आदिमें निवास और ज्ञानके लिए शास्त्रोंका अध्ययन यह सब व्यर्थ है।।८९।।

भंजसु इंदियसेणं, भंजसु मणोमक्कडं पयत्तेण।
मा जणरंजणकरणं, बाहिरवयवेस तं कुणसु।।९०।।

तू इंद्रियरूपी सेनाको भंग कर और मनरूपी बंदरको प्रयत्नपूर्वक वश कर। हे बाह्यव्रतके वेषको धारण करनेवाले! तू लोगोंको प्रसन्न करनेवाले कार्य मत कर।।९०।।

णवणोकसायवग्गं, मिच्छत्तं चयसु भावसुद्धीए।
चेइयपवयणगुरूणं, करेहिं भत्तिं जिणाणाए।।९१।।

हे मुनि! तू भावोंकी शुद्धिसे नव नोकषायोंके समूहको तथा मिथ्यात्वको छोड़ और जिनेंद्रदेवकी आज्ञानुसार चैत्य, प्रवचन एवं गुरुओंकी भक्ति कर।।९१।।

तित्थयरभासियत्थं, गणधरदेवेहिं गंथियं सम्मं।
भावहि अणुदिणु अतुलं, विसुद्धभावेण सुयणाणं।।९२।।

जिसका अर्थ तीर्थंकर भगवान्के द्वारा कहा गया है तथा गणधरदेवने जिसकी सम्यक् प्रकारसे ग्रंथरचना की है, उस अनुपम श्रुतज्ञानका तू विशुद्ध भावनासे प्रतिदिन चिंतन कर।।९२।।

पाऊण णाणसलिलं, णिम्महतिसडाहसोसउम्मुक्का।
हुंति सिवालयवासी, तिहुवणचूडामणी सिद्धा।।९३।।

हे जीव! मुनिगण ज्ञानरूपी जल पीकर दुर्दम्य तृषारूपी प्यासकी दाह और शोषण क्रियासे रहित होकर मोक्षमहलमें निवास करनेवाले और तीन लोकके चूडामणि सिद्ध परमेष्ठी होते हैं।।९३।।

दस दस दो सुपरीसह, सहदि मुणी सयलकाल काएण।
सुत्तेण अप्पमत्तो, संजमघादं पमुत्तूण।।९४।।

हे मुनि! तू जिनागमके अनुसार प्रमादरहित होकर तथा संयमके घातको छोड़कर शरीरसे सदा बाईस परीषहोंको सह।।९४।।

जह पत्थरो ण भिज्जइ, परिट्ठिओ दीहकालमुदएण।
तह साहू वि ण भिज्जइ, उवसग्गपरीसहेहिंतो।।९५।।

जिस प्रकार पत्थर दीर्घकालतक पानीमें स्थित रहकर भी खंडित नहीं होता है उसी प्रकार उपसर्ग और परिषहोंसे साधु भी खंडित नहीं होता -- विचलित नहीं होता।।९५।।

भावहि अणुवेक्खाओ, अवरे पणवीसभावणा भावि।
भावरहिएण किं पुण, बाहिरलिंगेण कायव्वं।।९६।।

हे मुनि! तू अनित्यत्वादि बारह अनुप्रेक्षाओं तथा पंच महाव्रतोंकी पच्चीस भावनाओंका चिंतवन कर। भावरहित बाह्यलिंगसे क्या काम सिद्ध होता है?।।९६।।

सव्वविरओ वि भावहि, णव य पयत्थाइं सत्त तच्चाइं।
जीवसमासाइं मुणी, चउदसगुणठाणणामाइं।।९७।।

हे मुनि! यद्यपि तू सर्वविरत है तो भी नौ पदार्थ, सात तत्त्व, चौदह जीवसमास और चौदह गुणस्थानोंका चिंतन कर।।९७।।

णवविहबंभं पयडहि, अब्बंभं दसविहं पमोत्तूण।
मेहुणसण्णासत्तो, भमिओसि भवण्णवे भीमे।।९८।।

हे मुनि! तू दस प्रकारके अब्रह्मका त्याग कर। नव प्रकारके ब्रह्मचर्यको प्रकट कर, क्योंकि मैथुनसंज्ञामें आसक्त होकर ही तू इस भयंकर संसारसमुद्रमें भ्रमण कर रहा है।।९८।।

भावसहिदो य मुणिणो, पावइ आराहणाचउक्कं च।
भावरहिदो य मुणिवर, भमइ चिरं दीहसंसारे।।९९।।

हे मुनिवर! भावसहित मुनिनाथ ही चार आराधनाओंको पाता है तथा भावरहित मुनि चिरकालतक दीर्घसंसारमें भ्रमण करता रहता है।।९९।।

पावंति भावसवणा, कल्लाणपरंपराइं सोक्खाइं।
दुक्खाइं दव्वसवणा, णरतिरियकुदेवजोणीए।।१००।।

भावलिंगी मुनि कल्याणोंकी परंपरा तथा अनेक सुखोंको पाते हैं और द्रव्यलिंगी मुनि मनुष्य, तिर्यंच और कुदेवोंकी योनिमें दुःख पाते हैं।।१००।।

छादालदोसदूसियमसणं गसिउं असुद्धभावेण।
पत्तोसि महावसणं, तिरियगईए अणप्पवसो।।१०१।।

हे मुनि! तूने अशुद्ध भावसे छ्यालीस दोषोंसे दूषित आहार ग्रहण किया इसलिए तिर्यंच गतिमें परवश होकर बहुत दुःख पाया है।।१०१।।

सच्चित्तभत्तपाणं, गिद्धीदप्पेणऽधी पभुत्तूण।
पत्तोसि तिव्वदुक्खं, अणाइकालेण तं चिंत।।१०२।।

हे मुनि! तूने अज्ञानी होकर अत्यंत आसक्ति और अभिमानके साथ सचित्त भोजनपान ग्रहण कर अनादि कालसे तीव्र दुःख प्राप्त किया है, इसका तू विचार कर।।१०२।।

कंदं मूलं बीयं, पुप्फं पत्तादि किंचि सच्चित्तं।
असिऊण माणगव्वं, भमिओसि अणंतसंसारे।।१०३।।

हे जीव! तूने मान और घमंडसे कंद मूल बीज पुष्प पत्र आदि कुछ सचित्त वस्तुओंको खाकर इस अनंत संसारमें भ्रमण किया है।।१०३।।

विणयं पंचपयारं, पालहि मणवयणकायजोएण।
अविणयणरा सुविहियं, तत्तो मुत्तिं ण पावंति।।१०४।।

हे मुनि! तू मन, वचन, कायरूप योगसे पाँच[१] प्रकारके विनयका पालन कर, क्योंकि अविनयी मनुष्य तीर्थंकर पद तथा मुक्तिको नहीं पाते हैं।।१०४।।

---

१. दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप और उपचार ये विनयके पाँच भेद हैं।

णियसत्तिए महाजस, भत्तीराएण णिच्चकालम्मि।
तं कुण जिणभत्तिपरं, विज्जावच्चं दसवियप्पं।।१०५।।

हे महायशके धारक! तू भक्ति और रागसे निजशक्तिके अनुसार जिनेंद्रभक्तिमें तत्पर करनेवाला दस[१] प्रकारका वैयावृत्त्य कर।

जं किंचि कयं दोसं, मणवयकाएहिं असुहभावेण।
तं गरहि गुरूसयासे, गारव मायं च मोत्तूण।।१०६।।

हे मुनि! अशुभ भावसे मन, वचन, कायके द्वारा जो कुछ भी दोष तूने किया हो, गर्व और माया छोड़कर गुरुके समीप उसकी निंदा कर।।१०६।।

दुज्जणवयणचउक्कं, णिट्ठुरकडुयं सहंति सप्पुरिसा।
कम्ममलणासणट्ठं, भावेण य णिम्मया सवणा।।१०७।।

सज्जन तथा ममतासे रहित मुनीश्वर कर्मरूपी मलका नाश करनेके लिए अत्यंत कठोर और कटुक दुर्जन मनुष्योंके वचनरूपी चपेटाको अच्छे भावोंसे सहन करते हैं।।१०७।।

पावं खवइ असेसं, खमाय परिमंडिओ य मुणिपवरो।
खेयरअमरणराणं, पसंसणीओ धुवं होई।।१०८।।

क्षमा गुणसे सुशोभित श्रेष्ठ मुनि समस्त पापोंको नष्ट करता है तथा विद्याधर, देव और मनुष्योंके द्वारा निरंतर प्रशंसनीय रहता है।।१०८।।

इय णाऊण खमागुण, खमेहि तिविहेण सयलजीवाणं।
चिरसंचियकोहसिहिं, वरखमसलिलेण सिंचेह।। १०९।।

हे क्षमागुणके धारक मुनि! ऐसा जानकर मन वचन कायसे समस्त जीवोंको क्षमा कर और चिरकालसे संचित क्रोधरूपी अग्निको उत्कृष्ट क्षमारूपी जलसे सींच।।१०९।।

दिक्खाकालाईयं, भावहि अवियारदंसणविसुद्धो
उत्तमबोहिणिमित्तं, असारसंसारमुणिऊण।।११०।।

हे विचाररहित मुनि, तू उत्तम रत्नत्रयके लिए संसारको असार जानकर सम्यग्दर्शनसे विशुद्ध होता हुआ दीक्षाकाल आदिका विचार कर।।११०।।

सेवहि चउविहलिंगं, अब्भंतरलिंगसुद्धिमावण्णो।
बाहिरलिंगमकज्जं, होइ फुडं भावरहियाणं।।१११।।

१. आचार्य, उपाध्याय, तपस्वी, शैक्ष्य, ग्लान, गण, कुल, संघ, साधु और मनोज्ञ इन दस प्रकारके मुनियोंकी सेवा करना दस प्रकारका वैयावृत्त्य है।

हे मुनि! तू भावलिंगकी शुद्धिको प्राप्त होकर चार[१] प्रकारके बाह्य लिंगोंका सेवन कर, क्योंकि भावरहित जीवोंका बाह्यलिंग स्पष्ट ही अकार्यकर -- व्यर्थ है।।१११।।

आहारभयपरिग्गहमेहुणसण्णाहि मोहिओसि तुमं।
भमिओ संसारवणे, अणाइकालं अणप्पवसो।।११२।।

हे मुनि! तू आहार, भय, परिग्रह और मैथुन संज्ञाओंसे मोहित हो रहा है इसीलिए पराधीन होकर अनादिकालसे संसाररूपी वनमें भटक रहा है।।११२।।

बाहिरसयणत्तावणतरुमूलाईणि उत्तरगुणाणि।
पालिह भावविसुद्धो, पूजालाहं ण ईहंतो।।११३।।

हे मुनि! तू भावोंसे विशुद्ध होकर पूजा, लाभ न चाहता हुआ बाहर सोना, आतापनयोग, धारण करना तथा वृक्षके मूलमें रहना आदि उत्तरगुणोंका पालन कर।।११३।।

भावहि पढमं तच्चं, बिदियं तदियं चउत्थ पंचमयं।
तियरणसुद्धो अप्पं, अणाइणिहणं तिवग्गहरं।।११४।।

हे मुनि! तू मन वचन कायसे शुद्ध होकर प्रथम जीव तत्त्व, द्वितीय अजीव तत्त्व, तृतीय आस्रव तत्त्व, चतुर्थ बंध तत्त्व, पंचम संवर तत्त्व तथा अनादि-निधन आत्मस्वरूप और धर्म अर्थ कामरूप त्रिवर्गको हरनेवाले निर्जरा एवं मोक्ष तत्त्वका चिंतन कर -- उन्हीं सबका विचार कर।।११४।।

जाव ण भावइ तच्चं, जाव ण चिंतेइ चिंतणीयाइं।
ताव ण पावइ जीवो, जरमरणविवज्जियं ठाणं।।११५।।

जब तक यह जीव तत्त्वोंकी भावना नहीं करता है और जबतक चिंता करनेयोग्य धर्म्य-शुक्लध्यान तथा अनित्यत्वादि बारह अनुप्रेक्षाओंका चिंतन नहीं करता है तबतक जरामरणसे रहित स्थानको -- मोक्षको नहीं पाता है।।११५।।

पावं हवइ असेसं, पुण्णमसेसं च हवइ परिणामा।
परिणामादो बंधो, मुक्खो जिणसासणे दिट्ठो।।११६।।

समस्त पाप और समस्त पुण्य परिणामसे ही होता है तथा बंध और मोक्ष भी परिणामसे ही होता है ऐसा जिनशासनमें कहा गया है।।११६।।

मिच्छत्त तह कसायाऽसंजमजोगेहिं असुहलेस्सेहिं।
बंधइ असुहं कम्मं, जिणवयणपरम्मुहो जीवो।।११७।।

---

१. केशलोच, वस्त्रत्याग, स्नानत्याग और पीछी-कमंडलु रखना ये चार बाह्य लिंग हैं।

जिनवचनसे विमुख रहनेवाला जीव मिथ्यात्व, कषाय, असंयम, योग और अशुभ लेश्याओंके द्वारा अशुभ कर्मको बाँधता है।।११७।।

तव्विवरीओ बंधइ, सुहकम्मं भावसुद्धिमावण्णो।
दुविहपयारं बंधइ, संखेपेणेव वज्जरियं।।११८।।

उससे विपरीत जीव भावशुद्धिको प्राप्त होकर शुभ कर्मका बंध करता है। इस प्रकार जीव अपने शुभ भावसे दो प्रकारके कर्म बाँधता है ऐसा संक्षेपसे ही कहा है।।११८।।

णाणावरणादीहिं य, अट्ठहि कम्मेहिं वेढिओ य अहं।
डहिऊण इण्हिं पयडमि, अणंतणाणाइ गुणचित्तां।।११९।।

हे मुनि! ऐसा विचार कर कि मैं ज्ञानावरणादिक आठ कर्मोंसे घिरा हुआ हूँ। अब मैं इन्हें जलाकर अनंत ज्ञानादि गुणरूप चेतनाको प्रकट करता हूँ।।११९।।

सीलसहस्सट्ठारस, चउरासी गुणगणाण लक्खाइं।
भावहि अणुदिणु णिहिलं, असप्पलावेण किं बहुणा।।१२०।।

हे मुनि! तू अठारह हजार प्रकारका शील और चौरासी लाख प्रकारके गुण इन सबका प्रतिदिन चिंतन कर। व्यर्थ ही बहुत बकवाद करनेसे क्या लाभ है? ।।१२०।।

झायहि धम्मं सुक्कं, अट्टरउद्दं च झाणमुत्तूण ।
रुद्दट्टं झाइयाइं, इमेण जीवेण चिरकालं।।१२१।।

आर्त और रौद्र ध्यानको छोड़कर धर्म्य और शुक्ल इन दो ध्यानोंका ध्यान करो। आर्त और रौद्र ध्यान तो इस जीवने चिरकालसे ध्याये हैं।।१२१।।

जे केवि दव्वसवणा, इंदियसुहआउला ण छिंदंति।
छिंदंति भावसवणा, झाणकुठारेहिं भवरुक्खं।।१२२।।

जो कोई द्रव्यलिंगी मुनि इंद्रियसुखोंसे व्याकुल हो रहे हैं वे संसाररूपी वृक्षको नहीं काटते हैं, परंतु जो भावलिंगी मुनि हैं वे ध्यानरूपी कुठारोंसे इस संसाररूपी वृक्षको काट डालते हैं।।१२२।।

जह दीवो गब्भहरे, मारुयबाहा विवज्जिओ जलइ।
तह रायानिलरहिओ, झाणपईवो वि पज्जलई।।१२३।।

जिस प्रकार गर्भगृहमें रखा हुआ दीपक हवाकी बाधासे रहित होकर जलता है उसी प्रकार रागरूपी हवासे रहित ध्यानरूपी दीपक जलता रहता है।।१२३।।

झायहि पंच वि गुरवे, मंगलचउसरणलोयपरियरिए।
सुरणरखेयरमहिए, आराहणणायगं वीरे।।१२४।।

हे मुनि! तू पाँच परमेष्ठियोंका ध्यान कर, जो कि मंगलरूप है, चार शरणरूप हैं, लोकोत्तम हैं, मनुष्य देव और विद्याधरोंके द्वारा पूजित हैं, आराधनाओंके स्वामी है और वीर हैं।।१२४।।

णाणमयविमलसीयलसलिलं पाऊण भविय भावेण।
वाहिजरमरणवेयणडाहविमुक्का सिवा होंति।।१२५।।

जो भव्य जीव अपने उत्तम भावसे ज्ञानमय निर्मल शीतल जलको पीकर व्याधि, बुढ़ापा, मरण, वेदना और दाहसे विमुक्त होते हुए सिद्ध होते हैं।।१२५।।

जह बीयम्मि य दड्ढे, ण वि रोहइ अंकुरो य महिवीढे।
तह कम्मबीयदड्ढे, भवंकुरो भावसवणाणं।।१२६।।

जिस प्रकार बीज जल जानेपर पृथिवीपृष्ठपर अंकुर नहीं उगता है उसी प्रकार कर्मरूपी बीजके जल जानेपर भावलिंगी मुनियोंके संसाररूपी अंकुर नहीं उगता है।। १२६।।

भावसवणो वि पावइ, सुक्खाइं दुहाइं दव्वसवणो य।
इय णाउं गुणदोसे, भावेण य संजुदो होह।।१२७।।

भावश्रमण -- भावलिंगी मुनि सुख पाता है और द्रव्यश्रमण -- द्रव्यलिंगी मुनि दुःख पाता है। इस प्रकार गुण और दोषोंको जानकर हे मुनि! तू भावसहित संयमी बन।।१२७।।

तित्थयरगणहराइं, अब्भुदयपरंपराइं सोक्खाइं।
पावंति भावसहिआ, संखेवि जिणेहिं वज्जरियं।।१२८।।

भावसहित मुनि, अभ्युदयकी परंपरासे युक्त तीर्थंकर, गणधर आदिके सुख पाते हैं ऐसा संक्षेपसे जिनेंद्रदेवने कहा है।।१२८।।

ते धण्णा ताण णमो, दंसणवरणाणचरणसुद्धाणं।
भावसहियाण णिच्चं, तिविहेण पणट्ठमायाणं।।१२९।।

वे मुनि धन्य हैं और उन मुनियोंको मेरा मन वचन कायसे निरंतर नमस्कार हो जो कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रसे शुद्ध हैं, भावसहित हैं तथा जिनकी माया नष्ट हो गयी है।।१२९।।

इड्ढिमतुलं विउव्विय, किंणरकिंपुरिसअमरखयरेहिं।
तेहिं वि ण जाइ मोहं, जिणभावणभाविओ धीरो।।१३०।।

जिनभावनासे सहित धीर वीर मुनि किंनर, किंपुरुष, कल्पवासी देव और विद्याधरोंके द्वारा विक्रियासे दिखायी हुई अतुल्य ऋद्धिको देखकर उनके द्वारा भी मोहको प्राप्त नहीं होता।।१३०।।

किं पुण गच्छइ मोहं, णरसुरसुक्खाण अप्पसाराणं।
जाणंतो पस्संतो, चिंतंतो मोक्ख मुणिधवलो।।१३१।।

जो श्रेष्ठ मुनि मोक्षको जानता है, देखता है और उसका विचार करता है वह क्या अल्पसारवाले मनुष्यों और देवोंके सुखोंमें मोहको प्राप्त हो सकता है?।।१३१।।

उत्थरइ जा ण जरओ, रोयग्गी जा ण डहइ देहउडिं।
इंदियबलं ण वियलइ, ताव तुमं कुणइ अप्पहियं।।१३२।।

हे मुनि! जब तक बुढ़ापा आक्रमण नहीं करता है, रोगरूपी अग्नि जब तक शरीररूपी कुटीको नहीं जलाती है और इंद्रियोंका बल जबतक नहीं घटता है तबतक तू आत्माका हित कर ले।।१३२।।

छज्जीव सडायदणं, णिच्चं मणवयणकायजोएहिं।
कुरु दय परिहर मुणिवर, भावि अपुव्वं महासत्त।।१३३।।

हे उत्कृष्ट धैर्यके धारक मुनिवर! तू मन वचन कायरूप भोगोंसे निरंतर छह कायके जीवोंकी दया कर। छह अनायतनोंका त्याग कर और अपूर्व आत्मभावनाका चिंतन कर।।१३३।।

दसविहपाणाहारो, अणंतभवसायरे नमंतेण।
भोयसुहकारणट्ठं, कदो य तिविहेण सयलजीवाणं।।१३४।।

हे मुनि! अनंत संसारसागरमें घूमते हुए तूने भोग सुखके निमित्त मन वचन कायसे समस्त जीवोंके दस प्रकारके प्राणोंका आहार किया है।।१३४।।

पाणिवहेहि महाजस, चउरासीलक्खजोणिमज्झम्मि।
उप्पजंत मरंतो, पत्तोसि णिरंतरं दुक्खं।।१३५।।

हे महायशके धारक मुनि! प्राणिवधके कारण तूने चौरासी लाख योनियोंमें उत्पन्न होते और मरते हुए निरंतर दुःख प्राप्त किया है।।१३५।।

जीवाणमभयदाणं, देहि मुणी पाणिभूयसत्ताणं।
कल्लाणसुहणिमित्तं, परंपरा तिविहसुद्धीए।।१३६।।

हे मुनि! तू परंपरासे तीर्थंकरोंके कल्याणसंबंधी सुखके लिए मन वचन कायकी शुद्धतासे प्राणीभूत अथवा सत्त्व नामधारक समस्त जीवोंको अभयदान दे।।१३६।।

असियसय किरियवाई, अक्किरियाणं च होइ चुलसीदी।
सत्तट्ठी अण्णाणी, वेणइया होंति बत्तीसा।।१३७।।

क्रियावादियोंके एकसौ अस्सी, अक्रियावादियोंके चौरासी, अज्ञानियोंके सड़सठ और वैनयिकोंके बत्तीस भेद हैं। इस प्रकार सब मिलाकर मिथ्यादृष्टियोंके ३६३ भेद हैं।।१३७।।

ण मुयइ पयडि अभव्वो, सुट्ठु वि आयण्णिऊण जिणधम्मं।
गुडदुद्धं पिवंता, ण पण्णया णिव्विसा होंति।।१३८।।

अभव्य जीव जिनधर्मको अच्छी तरह सुनकर भी अपने स्वभावको -- मिथ्यात्वको नहीं छोड़ता है, सो ठीक ही है, क्योंकि गुड़मिश्रित दूधको पीते हुए भी साँप विषरहित नहीं होते हैं।।१३८।।

मिच्छत्तछण्णदिट्ठी, दुद्धीए दुम्मएहिं दोसेहिं ।
धम्मं जिणपण्णत्तं, अभव्वजीवो ण रोचेदि।।१३९।।

जिसकी दृष्टि मिथ्यात्वसे आच्छादित है ऐसा अभव्य जीव मिथ्यामतरूपी दोषोंसे उत्पन्न हुई दुर्बुद्धिके कारण जिनोपदिष्ट धर्मका श्रद्धान नहीं करता है।।१३९।।

कुच्छियधम्ममि रओ, कुच्छियपासंडिभत्तिसंजुत्तो।
कुच्छियतवं कुणंतो, कुच्छियगइभायणं होई।।१४०।।

कुत्सित धर्ममें लीन, कुत्सित पाखंडियोंकी भक्तिसे सहित और कुत्सित तप करनेवाला मनुष्य कुत्सित गतिका पात्र होता है -- नरकादि खोटी गतियोंमें उत्पन्न होता है।।१४०।।

इय मिच्छत्तावासे, कुणयकुसत्थेहिं मोहिओ जीवो।
भमिओ अणाइकालं, संसारे धीर चिंतेहि।।१४१।।

इस प्रकार मिथ्यात्वके निवासभूत संसारसे मिथ्यानय और मिथ्याशास्त्रोंसे मोहित हुआ जीव अनादि कालसे भ्रमण कर रहा है। हे धीर मुनि! तू ऐसा विचार कर।।१४१।।

पासंडि तिण्णिसया, तिसट्ठिभेया उमग्ग मुत्तूण।
रुंभइ मणु जिणमग्गे, असप्पलावेण किं बहुणा।।१४२।।

हे जीव! तू तीनसौ त्रेसठ भेदरूप पाखंडियोंके उन्मार्गको छोड़कर जिनमार्गमें अपना मन रोक -- स्थिर कर। निष्प्रयोजन बहुत कथन करनेसे क्या लाभ?।।१४२।।

जीवविमुक्को सवओ, दंसणमुक्को य होइ चलसवओ।
सवओ लोयअपुज्जो, लोउत्तरयम्मि चलसवओ।।१४३।।

इस लोकमें जीवरहित शरीर शव कहलाता है और सम्यग्दर्शनसे रहित जीव चल शव -- चलता-फिरता मुर्दा कहलाता है। इनमेंसे शव इस लोकमें अपूज्य है और चल शव -- मिथ्यादृष्टि परलोकमें अपूज्य है।।१४३।।

जह तारयाण चंदो, मयराओ मयउलाण सव्वाणं।
अहिओ तह सम्मत्तो, रिसिसावय दुविहधम्माणं।।१४४।।

जिस प्रकार समस्त ताराओंमें चंद्रमा और समस्त मृगसमूहमें सिंह प्रधान है उसी प्रकार मुनि और श्रावक संबंधी दोनों प्रकारके धर्मोंमें सम्यग्दर्शन प्रधान है।।१४४।।

जह फणिराओ सोहइ, फणमणिमाणिक्ककिरणविप्फुरिओ।
तह विमलदंसणधरो, जिणभत्ती पवयणे जीवो।।१४५।।

जिस प्रकार नागेंद्र फणाके मणियोंमें स्थित माणिक्यके किरणोंसे देदीप्यमान होता हुआ सुशोभित होता है उसी प्रकार निर्मल सम्यक्त्वका धारक जिनभक्त जीव जिनागममें सुशोभित होता है।।१४५।।

जह तारागणसहियं, ससहरबिंबं खमंडले विमले।
भाविय तववयविमलं, जिणलिंगं दंसणविसुद्धं।।१४६।।

जिस प्रकार निर्मल आकाश मंडलमें ताराओंके समूहसे सहित चंद्रमाका बिंब शोभित होता है उसी प्रकार तप और व्रतसे विमल तथा सम्यग्दर्शनसे विशुद्ध जिनलिंग शोभित होता है।।१४६।।

इय णाउं गुणदोसं, दंसणरयणं धरेह भावेण।
सारं गुणरयणाणं, सोवाणं पढममोक्खस्स।।१४७।।

इस प्रकार गुण और दोषको जानकर हे भव्य जीवो! तुम उस सम्यग्दर्शनरूपी रत्नको शुद्ध भावसे धारण करो जो कि गुणरूपी रत्नोंमें श्रेष्ठ है तथा मोक्षकी पहली सीढी है।।१४७।।

कत्ता भोइ अमुत्तो, सरीरमित्तो अणाइणिहणो य ।
दंसणणाणुवओगो, णिद्दिट्ठो जिणवरिंदेहिं।।१४८।।

यह आत्मा कर्ता है, भोक्ता है, अमूर्तिक है, शरीरप्रमाण है, अनादि-निधन है और दर्शनोपयोग तथा ज्ञानोपयोगरूप है ऐसा जिनेंद्र भगवान्ने कहा है।।१४८।।

दंसणणाणावरणं, मोहणियं अंतराइयं कम्मं।
णिट्ठवइ भवियजीवो, सम्मं जिणभावणाजुत्तो।।१४९।।

भलीभाँति जिनभावनासे युक्त भव्य जीव दर्शनावरण, ज्ञानावरण, मोहनीय और अंतराय कर्मको नष्ट करता है।।१४९।।

बलसोक्खणाणदंसण, चत्तारि वि पायडा गुणा होंति।
णट्ठे घाइचउक्के, लोयालोयं पयासेदि।।१५०।।

घातिचतुष्कके नष्ट होनेपर अनंत बल, अनंत सुख, अनंत ज्ञान और अनंत दर्शन ये चारों गुण प्रकट होते हैं तथा यह जीव लोकालोकको प्रकाशित करने लगता है।।१५०।।

णाणी सिव परमेट्ठी, सव्वण्हू विण्हू चउमुहो बुद्धो।
अप्पो विय परमप्पो, कम्मविमुक्को य होइ फुडं।।१५१।।

यह आत्मा कर्मसे विमुक्त होनेपर स्पष्ट ही परमात्मा हो जाता है और ज्ञानी, शिव, परमेष्ठी,

सर्वज्ञ, विष्णु, चतुर्मुख तथा बुद्ध कहा जाने लगता है।

भावार्थ -- कर्मविमुक्त आत्मा केवलज्ञानसे युक्त होता है अतः ज्ञानी कहलाता है, कल्याणरूप है अतः शिव कहलाता है, परमपदमें स्थित है अतः परमेष्ठी कहलाता है, समस्त पदार्थोंको जानता है अतः सर्वज्ञ कहलाता है, ज्ञानके द्वारा समस्त लोक-अलोकमें व्यापक है अतः विष्णु कहलाता है, चारों ओरसे सबको देखता है अतः चतुर्मुख कहलाता है और ज्ञाता है अतः बुद्ध कहलाता है।।१५१।।

इय घाइकम्ममुक्को, अट्ठारहदोसवज्जिओ सयलो।
तिहुवणभवणपदीवो, देऊ मम उत्तमं बोहिं।।१५२।।

इस प्रकार घातिया कर्मोंसे मुक्त, अठारह दोषोंसे वर्जित, परमौदारिक शरीरसे सहित और तीन लोकरूपी घरको प्रकाशित करनेके लिए दीपकस्वरूप अरहंत परमेष्ठी मुझे उत्तम रत्नत्रय प्रदान करें।।१५२।।

जिणवरचरणंबुरुहं, णमंति जे परमभत्तिरायेण।
ते जम्मवेलिमूलं, खणंति वरभावसत्थेण।।१५३।।

जो भव्य जीव उत्कृष्ट भक्ति तथा अनुरागसे भी जिनेंद्र देवके चरणकमलोंको नमस्कार करते हैं वे उत्कृष्ट भावरूपी शस्त्रके द्वारा जन्मरूपी वेलकी जड़को खोद देते हैं।।१५३।।

जह सलिलेण ण लिप्पइ, कमलिणिपत्तं सहावपयडीए।
तह भावेण ण लिप्पइ, कसायविसएहिं सप्पुरिसो।।१५४।।

जिस प्रकार कमलिनीका पत्र स्वभावसे ही जलसे लिप्त नहीं होता है उसी प्रकार सत्पुरुष -- सम्यग्दृष्टि जीव भावके द्वारा कषाय और विषयोंसे लिप्त नहीं होता है।।१५४।।

तेवि य भणामिहं जे, सयलकलासीलसंजयगुणेहिं।
बहुदोसाणावासो, सुमलिणचित्तो ण सावयसमो सो।।१५५।।

हम उन्हींको मुनि कहते हैं जो समस्त कला, शील और संयम आदि गुणोंसे युक्त हैं। जो अनेक दोषोंका स्थान तथा अत्यंत मलिनचित्त है वह मुनि तो दूर रहा, श्रावकके भी समान नहीं है।।१५५।।

ते धीरवीरपुरिसा, खमदमखग्गेण विप्फुरंतेण।
दुज्जयपबलबलुद्धरकसायभडणिज्जिया जेहिं।।१५६।।

वे पुरुष धीर-वीर हैं जिन्होंने चमकती हुई क्षमा और इंद्रियदमनरूपी तलवारके द्वारा कठिनतासे जीतनेयोग्य, अतिशय बलवान् तथा बलसे उत्कट कषायरूपी योद्धाओंको जीत लिया है।।१५६।।

धण्णा ते भयवंता, दंसणणाणग्गपवरहत्थेहिं।
विसयमयरहरपडिया भविया उत्तारिया जेहिं।।१५७।।

वे भगवान् धन्य हैं जिन्होंने दर्शन ज्ञानरूपी मुख्य तथा श्रेष्ठ हाथोंसे विषयरूपी समुद्रमें पड़े हुए भव्य जीवोंको पार कर दिया है।।१५७।।

मायावेल्लि असेसा, मोहमहातरुम्मि आरूढा।
विसयविसपुप्फफुल्लिय, लुणंति मुणि णाणसत्थेहिं।।१५८।।

मोहरूपी महावृक्षपर चढ़ी हुई तथा विषयरूपी विषपुष्पोंसे फूली हई संपूर्ण मोहरूपी लताको मुनिजन ज्ञानरूपी शस्त्रके द्वारा छेदते हैं।।१५८।।

मोहमयगारवेहिं य, मुक्का जे करुणभावसंजुत्ता।
ते सव्वदुरियखंभं, हणंति चारित्तखग्गेण।।१५९।।

जो मुनि मोह, मद और गौरवसे रहित तथा करुणाभावसे सहित हैं वे चारित्ररूपी तलवारके द्वारा समस्त पापरूपी स्तंभको काटते हैं।।१५९।।

गुणगणमणिमालाए, जिणमयगयणे णिसायरमुणिंदो।
तारावलिपरियरिओ, पुण्णिमइंदुव्व पवणपहे।।१६०।।

जिस प्रकार आकाशमें ताराओंकी पंक्तिसे घिरा हुआ पूर्णिमाका चंद्र सुशोभित होता है उसी प्रकार जिनमतरूपी आकाशमें गुणसमुदायरूपी मणियोंकी मालाओंसे युक्त मुनींद्ररूपी चंद्रमा सुशोभित होता है।।१६०।।

चक्कहररामकेसवसुरवरजिणगणहराइ सोक्खाइं।
चारणमुणिरिद्धीओ, विसुद्धभावा णरा पत्ता।।१६१।।

विशुद्ध भावोंके धारक पुरुष चक्रवर्ती, बलभद्र, नारायण, देवेंद्र, जिनेंद्र और गणधरादिके सुखोंको तथा चारणमुनियोंकी ऋद्धियोंको प्राप्त होते हैं।।१६१।।

सिवमजरामरलिंगमणोवममुत्तमं परमविमलमतुलं।
पत्ता वरसिद्धिसुहं, जिणभावणभाविया जीवा।।१६२।।

जिनेंद्रदेवकी भावनासे विशोभित जीव उस उत्तम मोक्षसुखको पाते हैं जो कि आनंदरूप है, जरामरणके चिह्नोंसे रहित है, अनुपम है, उत्तम है, अत्यंत निर्मल है और तुलनारहित है।।१६२।।

ते मे तिहुवणमहिया, सिद्धा सुद्धा णिरंजणा णिच्चा।
दिंतु वरभावसुद्धिं, दंसणणाणे चरित्ते य।।१६३।।

वे सिद्ध परमेष्ठी जो कि त्रिभुवनके द्वारा पूज्य, शुद्ध, निरंजन तथा नित्य हैं, मेरे दर्शन, ज्ञान और चारित्रमें शुद्धता प्रदान करें।।१६३।।

किं जंपिएण बहुणा, अत्थो धम्मो य काममोक्खो य।
अण्णेवि य वावारा, भावम्मि परिट्ठिया सव्वे।।१६४।।

बहुत कहनेसे क्या? धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष पुरुषार्थ तथा अन्य जितने भी व्यापार हैं वे सब भावोंमें ही अवस्थित हैं -- भावोंके ही अधीन हैं।।१६४।।

इय भावपाहुडमिणं, सव्वं बुद्धेहि देसियं सम्मं।
जो पढइ सुणइ भावइ, सो पावइ अविचलं ठाणं।।१६५।।

इस प्रकार सर्वज्ञदेवके द्वारा उपदिष्ट इस भावपाहुड ग्रंथको जो भलीभाँति पढ़ता है, सुनता है और उसका चिंतन करता है वह अविचल स्थान प्राप्त करता है।।१६५।।

इस प्रकार भावपाहुड पूर्ण हुआ।

***

मोक्षप्राभृतम्

णाणमयं अप्पाणं उवलद्धं जेण झडियकम्मेण।
चइऊण य परदव्वं, णमो णमो तस्स देवस्स।।१।।

जिन्होंने कर्मोंका क्षय करके तथा परद्रव्यका त्याग कर ज्ञानमय आत्माको प्राप्त कर लिया है उन श्री सिद्धपरमेष्ठीरूप देवके लिए बार-बार नमस्कार हो।।१।।

णमिऊण य तं देवं, अणंतवरणाणदंसणं सुद्धं।
वोच्छं परमप्पाणं, परमपयं परमजोईणं।।२।।

अनंत उत्कृष्ट ज्ञान तथा अनंत उत्कृष्ट दर्शनसे युक्त, निर्मलस्वरूप उन सर्वज्ञ वीतरागदेवको नमस्कार कर मैं परम योगियोंके लिए परमपदरूप परमात्माका कथन करूँगा।।२।।

जं जाणिऊण जोई, [१]जोअत्थो जोइऊण अणवरयं।
अव्वाबाहमणंतं, अणोवमं हवइ णिव्वाणं।।३।।

जिस आत्मतत्त्वको जानकर तथा जिसका निरंतर साक्षात् कर योगी ध्यानस्थ मुनि बाधारहित, अनंत, अनुपम निर्वाणको प्राप्त होता है।। ३।।

तिपयारो सो अप्पा, [२]परभिंतरबाहिरो दु हेऊणं।
तत्थ परो झाइज्जइ, अंतोवायेण चयइ बहिरप्पा।।४।।

---

१. यं अर्थं जोइऊण दृष्ट्वा इति संस्कृतटीका, पुस्तकान्तरे जोयत्थो योगस्थो ध्यानस्थ इत्यर्थः स्वीकृतः।

२. 'परमंतरबाहिरो दु देहीणं' इति पाठो जयचन्द्रवचनिकायां स्वीकृतः।

वह आत्मा परमात्मा, अभ्यंतरात्मा और बहिरात्माके भेदसे तीन प्रकारका है। इनमेंसे बहिरात्माको छोड़कर अंतरात्माके उपायसे परमात्माका ध्यान किया जाता है। हे योगिन्! तुम बहिरात्माका त्याग करो।।४।।

अक्खाणि बाहिरप्पा, अंतरअप्पा हु अप्पसंकप्पो।
कम्मकलंकविमुक्को, परमप्पा भण्णए देवो।।५।।

इंद्रियाँ बहिरात्मा हैं, आत्माका संकल्प अंतरात्मा है और कर्मरूपी कलंकसे रहित आत्मा परमात्मा कहलाता है। परमात्माकी देवसंज्ञा है।।५।।

मलरहिओ कलचत्तो, अणिंदिओ केवलो विसुद्धप्पा।
परमेट्ठी परमजिणो, सिवंकरो सासओ सिद्धो।।६।।

वह परमात्मा मलरहित है, कला अर्थात् शरीरसे रहित है, अतींद्रिय है, केवल है, विशुद्धात्मा है, परमेष्ठी है, परमजिन है, शिवशंकर है, शाश्वत है और सिद्ध है।।६।।

[१]आरुहवि अंतरप्पा, बहिरप्पा छंडिऊण तिविहेण।
झाइज्जइ परमप्पा, उवइट्ठं जिणवरिंदेहिं।।७।।

मन वचन काय इन तीन योगोंसे बहिरात्माको छोड़कर तथा अंतरात्मापर आरूढ़ होकर अर्थात् भेदज्ञानके द्वारा अंतरात्माका अवलंबन लेकर परमात्माका ध्यान किया जाता है, ऐसा जिनेंद्रदेवने कहा है।।७।।

बहिरत्थे फुरियमणो, इंदियदारेण णियसरूवचुओ।
णियदेहं अप्पाणं, अज्झवसदि मूढदिट्ठीओ।।८।।

बाह्य पदार्थमें जिसका मन स्फुरित हो रहा है तथा इंद्रियरूप द्वारके द्वारा जो निजस्वरूपसे च्युत हो गया है ऐसा मूढ़दृष्टि -- बहिरात्मा पुरुष अपने शरीरको ही आत्मा समझता है।।८।।

णियदेहसरिस्सं पिच्छिऊण परविग्गहं पयत्तेण।
अच्चेयणं पि गहियं, झाइज्जइ [२]परमभागेण।।९।।

ज्ञानी मनुष्य निज शरीरके समान परशरीरको देखकर भेदज्ञानपूर्वक विचार करता है कि देखो, इसने अचेतन शरीरको भी प्रयत्नपूर्वक ग्रहण कर रक्खा है।।९।।

---

१ इस गाथाके पूर्व समस्त प्रतियोंमें तदुक्तं पाठ है, परंतु उसके आगे कोई गाथा उद्धृत नहीं है। ऐसा जान पड़ता है कि 'आरुहवि --' आदि गाथा ही उद्धृतगाथा है, क्योकि यह गाथा नं ४ की गाथार्थसे गत हो जाती है। संस्कृत टीकाकारने इसे मूल ग्रंथ समझकर इसकी टीका कर दी है। इसलिए यह मूलमें शामिल हो गयी है। यह गाथा कहाँकी है इसकी खोज आवश्यक है।

२. मिच्छभावेण इति पुस्तकान्तरपाठः।

सपरज्झवसाएणं, देहेसु य अविदितत्थमप्पाणं।
सुयदाराईविसए, मणुयाणं वड्ढए मोहो।।१०।।

[१]स्वपराध्यवसायके कारण अर्थात् परको आत्मा समझनेके कारण यह जीव अज्ञानवश शरीरादिको आत्मा जानता है। इस विपरीत अभिनिवेशके कारण ही मनुष्योंका पुत्र तथा स्त्री आदि विषयोंमें मोह बढ़ता है।।१०।।

मिच्छाणाणेसु रओ, मिच्छाभावेण भाविओ संतो।
मोहोदएण पुणरवि, अंगं सं मण्णए मणुओ।।११।।

यह मनुष्य मोहके उदयसे मिथ्याज्ञान में रत है तथा मिथ्याभावसे वासित होता हुआ फिर भी शरीरको आत्मा मान रहा है।।११।।

जो देहे णिरवेक्खो, णिद्दंदो णिम्ममो णिरारंभो।
आदसहावे सुरओ, जोई सो लहइ णिव्वाणं।।१२।।

जो शरीरमें निरपेक्ष है, द्वंद्वरहित है, ममतारहित है, आरंभरहित है और आत्मस्वभावमें सुरत है -- संलग्न है वह योगी निर्वाणको प्राप्त होता है।।१२।।

[१]परदव्वरओ बज्झइ, विरओ मुच्चेइ विविहकम्मेहिं।
एसो जिणउवएसो, समासओ बंधमोक्खस्स।।१३।।

परद्रव्योंमें रत पुरुष नाना कर्मोंसे बंधको प्राप्त होता है और परद्रव्यसे विरत पुरुष नाना कर्मोंसे मुक्त होता है। बंध और मोक्षके विषयमें जिनेंद्र भगवान्का यह संक्षेपसे उपदेश है।।१३।।

सद्दव्वरओ सवणो, सम्माइट्ठी हवेइ णियमेण।
सम्मत्तपरिणदो उण, खवेइ दुट्ठट्ठकम्माणि।।१४।।

स्वद्रव्यमें रत साधु नियमसे सम्यग्दृष्टि होता है और सम्यक्त्वरूप परिणत हुआ साधु दुष्ट आठ कर्मोंको नष्ट करता है।।१४।।

जो पुण परदव्वरओ, मिच्छादिट्ठी हवेइ णो साहू।
मिच्छत्तपरिणदो उण, बज्झदि दुट्ठट्ठकम्मेहिं।।१५।।

---

१. 'स्वं इति परस्मिन् अध्यवसायः स्वपराध्यवसायः' इस व्युत्पत्ति के अनुसार 'यह आत्मा है' इस प्रकार परपदार्थमें जो निश्चय होता है वह स्वपराध्यवसाय कहलाता है।।

१. रत्तो बंधदि कम्मं मुंचदि जीवो विरागसंपत्तो।
एसो जिणोवदेसो तम्हा कम्मेसु मा रज्ज।।१५०।। -- समयप्राभृत

जो साधु परद्रव्यमें रत है वह मिथ्यादृष्टि होता है और मिथ्यात्वरूप परिणत हुआ साधु दुष्ट आठ कर्मोंसे बँधता है।।१५।।

परदव्वादो दुगई, सद्दव्वादो हु सुग्गई हवइ।
इय णाऊण सदव्वे, कुणह रई विरइ इयरम्मि।।१६।।

परद्रव्यसे दुर्गति और स्वद्रव्यसे निश्चित ही सुगति होती है ऐसा जानकर स्वद्रव्यमें रति करो और परद्रव्यमें विरति करो।।१६।।

आदसहावादण्णं, सच्चित्ताचित्तमिस्सियं हवदि।
तं परदव्वं भणियं, अवितत्थं सव्वदरसीहिं।।१७।।

आत्मभावसे अतिरिक्त जो सचित्त-अचित्त अथवा मिश्र द्रव्य है वह सब परद्रव्य है, ऐसा यथार्थरूपसे पदार्थको जाननेवाले सर्वज्ञदेवने कहा है।।१७।।

दुट्ठट्ठकम्मरहियं, अणोवमं णाणविग्गहं णिच्चं।
सुद्धं जिणेहि कहियं, अप्पाणं हवदि सद्दव्वं।।१८।।

आठ दुष्ट कर्मोंसे रहित, अनुपम, ज्ञानशरीरी, नित्य और शुद्ध जो आत्मद्रव्य है उसे जिनेंद्र भगवान्ने स्वद्रव्य कहा है।।१८।।

जे झायदि सद्दव्वं, परदव्वपरम्मुहा दु सुचरित्ता।
ते जिणवराण मग्गं, अणुलग्गा लहदि णिव्वाणं।।१९।।

जो स्वद्रव्यका ध्यान करते हैं, परद्रव्यसे पराङ्मुख रहते हैं और सम्यक्चारित्रका निरतिचार पालन करते हुए जिनेंद्रदेवके मार्गमें लगे रहते हैं वे निर्वाणको प्राप्त होते हैं।।१९।।

जिणवरमएण जोई, झाणे झाएइ सुद्धमप्पाणं।
जेण लहइ णिव्वाणं, ण लहइ किं तेण सुरलोयं।।२०।।

जो योगी ध्यानमें जिनेंद्रदेवके मतानुसार शुद्ध आत्माका ध्यान करता है वह स्वर्गलोकको प्राप्त होता है सो ठीक है, क्योंकि जिस ध्यानसे निर्वाण प्राप्त हो सकता है उससे क्या स्वर्गलोक प्राप्त नहीं हो सकता? ।।२०।।

जो जाइ जोयणसयं, दियहेणेक्केण लेवि गुरुभारं।
सो किं कोसद्धं पि हु, ण सक्कए जाहु भुवणयले।।२१।।

जो मनुष्य बहुत भारी भार लेकर एक दिनमें सौ योजन जाता है वह क्या पृथिवीतलपर आधा कोश भी नहीं जा सकता? अवश्य जा सकता है।।२१।।

जो कोडिए ण जिप्पइ, सुहडो संगाम एहिं सव्वेहिं।
सो किं जिंपइ इक्किं, णरेण संगामए सुहडो।।२२।।

जो सुभट संग्राममें करोडोंकी संख्यामें विद्यमान सब योद्धाओंके द्वारा मिलकर भी नहीं जीता जाता वह क्या एक योद्धाके द्वारा जीता जा सकता है? अर्थात् नहीं जीता जा सकता।।२२।।

सग्गं तवेण सव्वो, वि पावए तहि वि झाणजोएण।
जो पावइ सो पावइ, परलोए सासयं सोक्खं।।२३।।

तपसे स्वर्ग सभी प्राप्त करते हैं, पर जो ध्यानसे स्वर्ग प्राप्त करता है वह परभवमें शाश्वत--अविनाशी मोक्षसुखको प्राप्त होता है।।२३।।

अइसोहणजोएणं, सुद्धं हेमं हवेइ जह तह य।
कालाईलद्धीए, अप्पा परमप्पओ हवदि।।२४।।

जिस प्रकार अत्यंत शुभ सामग्रीसे -- शोधनसामग्रीसे अथवा सुहागासे स्वर्ण शुद्ध हो जाता है उसी प्रकार काल आदि लब्धियोंसे आत्मा परमात्मा हो जाता है।।२४।।

[१]वरवयतवेहि सग्गो, मा दुक्खं होउ निरइ इयरेहिं।
छायातवट्ठियाणं, पडिवालंताण गुरुभेयं।।२५।।

व्रत और तपके द्वारा स्वर्गका प्राप्त होना अच्छा है परंतु अव्रत और अतपके द्वारा नरकके दुःख प्राप्त हो जाना अच्छा नहीं है। छाया और घाममें बैठकर इष्टस्थानकी प्रतीक्षा करनेवालोंमें बड़ा भेद है।।२५।।

जो इच्छइ निस्सरिदुं, संसारमहण्णवस्स रुंदस्स।
कम्मिंधणाण डहणं, सो झायइ अप्पयं सुद्धं।।२६।।

जो मुनि अत्यंत विस्तृत संसार महासागरसे निकलनेकी इच्छा करता है वह कर्मरूपी ईंधनको जलानेवाले शुद्ध आत्माका ध्यान करता है।।२६।।

सव्वे कसाय मोत्तुं, गारवमयरायदोसवामोहं।
लोयववहारविरदो, अप्पा झाएइ झाणत्थो।।२७।।

ध्यानस्थ मुनि समस्त कषायों और गारव मद राग द्वेष तथा व्यामोहको छोड़कर लोकव्यवहारसे विरत होता हुआ आत्माका ध्यान करता है।।२७।।

---

१. वरं व्रतैः पदं दैवं नाव्रतैर्वत नारकम्।
छायातपस्थयोर्भेदः प्रतिपालयतोर्महान्।। -- इष्टोपदेशे पूज्यपादस्य

मिच्छत्तं अण्णाणं, पावं पुण्णं चएवि तिविहेण।
मोणव्वएण जोई, जोयत्थो जोयए अप्पा।।२८।।

मिथ्यात्व, अज्ञान, पाप और पुण्यको मन वचन कायरूप त्रिविधयोगोंसे छोड़कर जो योगी मौन व्रतसे ध्यानस्थ होता है वही आत्माको द्योतित करता है -- प्रकाशित करता है-- आत्माका साक्षात्कार करता है।।२८।।

[१]जं मए दिस्सदे रूवं, तण्ण जाणादि सव्वहा।
जाणगं दिस्सदे णंतं, तम्हा जंपेमि केण हं।।२९।।

जो रूप मेरे द्वारा देखा जाता है वह बिलकुल नहीं जानता है और जो जानता है वह दिखायी नहीं देता, तब मैं किसके साथ बात करूँ?।।२९।।

सव्वासवणिरोहेण, कम्मं खवदि संचिदं।
जोयत्थो जाणए जोई, जिणदेवेण भासियं।।३०।।

सब प्रकारके आस्रवोंका निरोध होनेसे संचित कर्म नष्ट हो जाते हैं तथा ध्याननिमग्न योगी केवलज्ञानको उत्पन्न करता है ऐसा जिनेंद्रदेवने कहा है।।३०।।

[२]जो सुत्तो ववहारे, सो जोई जग्गए सकज्जम्मि।
जो जग्गदि ववहारे, सो सुत्तो अप्पणे कज्जे।।३१।।

जो मुनि व्यवहारमें सोता है वह आत्मकार्यमें जागता है और जो व्यवहारमें जागता है वह आत्मकार्यमें सोता है।।३१।।

इय जाणिऊण जाई, ववहारं चयइ सव्वहा दव्वं।
झायइ परमप्पाणं, जह भणियं जिणवरिंदेण।।३२।।

ऐसा जानकर योगी सब तरहसे सब प्रकारके व्यवहारको छोड़ता है और जिनेंद्रदेवने जैसा कहा है वैसा परमात्माका ध्यान करता है।।३२।।

पंच महव्वयजुत्तो, पंचसु समिदीसु तीसु गुत्तीसु।
रयणत्तयसंजुत्तो, झाणज्झयणं सया कुणइ।।३३।।

---

१. यन्मया दृश्यते रूपं तन्न जानाति सर्वथा।
जानन्न दृश्यते रूपं ततः केन ब्रवीम्यहम्।।१८।। -- समाधिशतके पूज्यपादस्य

२. व्यवहारे सुषुप्तो यः स जागर्त्यात्मगोचरे ।
जागर्ति व्यवहारेऽस्मिन् सुषुप्तश्चात्मगोचरे।।७८।। -- समाधिशतके पूज्यपादस्य

हे मुनि! तू पाँच महाव्रतोंसे युक्त होकर पाँच समितियों तथा तीन गुप्तियोंमें प्रवृत्ति करता हुआ रत्नत्रयसे युक्त हो सदा ध्यान और अध्ययन कर।३३।।

रयणत्तयमाराहं, जीवो आराहओ मुणेयव्वो।
आराहणाविहाणं, तस्स फलं केवलं णाणं।।३४।।

रत्नत्रयकी आराधना करनेवाले जीवको आराधक मानना चाहिए, आराधना करना सो आराधना है और उसका फल केवलज्ञान है।।३४।।

सिद्धो सुद्धो आदा, सव्वण्हू सव्वलोयदरसी य।
सो जिणवरेहिं भणियो, जाण तुमं केवलं णाणं।।३५।।

जिनेंद्र भगवान्‌के द्वारा कहा हुआ वह आत्मा सिद्ध है, शुद्ध है, सर्वज्ञ है, सर्वलोकदर्शी है तथा केवलज्ञानरूप है, ऐसा तुम जानो।।३५।।

रयणत्तयं पि जोई, आराहइ जो हु जिणवरमएण।
सो झायदि अप्पाणं, परिहरदि परं ण संदेहो।।३६।।

जो योगी -- ध्यानस्थ मुनि जिनेंद्रदेवके मतानुसार रत्नत्रयकी आराधना करता है वह आत्माका ध्यान करता है और पर पदार्थका त्याग करता है इसमें संदेह नहीं है।।३६।।

जं जाणइ तं णाणं, जं पिच्छइ तं च दंसणं णेयं।
तं चारित्तं भणियं, परिहारो पुण्णपावाणं।।३७।।

जो जानता है वह ज्ञान है, जो देखता -- सामान्य अवलोकन करता है वह दर्शन है, अथवा जो प्रतीति करता है वह दर्शन है -- सम्यग्दर्शन है और जो पुण्य-पापका परित्याग है वह चारित्र है।।३७।।

तच्चरुई सम्मत्तं, तच्चग्गहणं च हवइ सण्णाणं।
चारित्तं परिहारो, पजंपियं जिणवरिंदेहिं।।३८।।

तत्त्वरुचि होना सम्यग्दर्शन है, तत्त्वज्ञान होना सम्यग्ज्ञान है और पापक्रियाका परिहार -- त्याग होना सम्यक्‌चारित्र है, ऐसा जिनेंद्रभगवान्‌ने कहा है।।३८।।

दंसणसुद्धो सुद्धो, दंसणसुद्धो लहेइ णिव्वाणं।
दंसणविहीणपुरिसो, न लहइ तं इच्छियं लाहं।।३९।।

सम्यग्दर्शनसे शुद्ध मनुष्य शुद्ध कहलाता है। सम्यग्दर्शनसे शुद्ध मनुष्य निर्वाणको प्राप्त होता है। जो मनुष्य सम्यग्दर्शनसे रहित है वह इष्ट लाभको नहीं पाता है।।३९।।

इय उवएसं सारं, जरमरणहरं खु मण्णए जं तु।
तं सम्मत्तं भणियं, समणाणं सावयाणं पि।।४०।।

यह श्रेष्ठतर उपदेश स्पष्ट ही जन्म-मरणको हरनेवाला है, इसे जो मानता है -- इसकी श्रद्धा करता है वह सम्यक्त्व है। यह सम्यक्त्व मुनियोंके, श्रावकोंके तथा चतुर्गतिके जीवोंके होता है।।४०।।

जीवाजीवविहत्ती, जोई जाणेइ जिणवरमएणं।
तं सण्णाणं भणियं, अवियत्थं सव्वदरिसीहिं।।४१।।

जो मुनि जिनेंद्रदेवके मतसे जीव और अजीवके विभागको जानता है उसे सर्वदर्शी भगवान्ने सम्यग्ज्ञान कहा है।।४१।।

जं जाणिऊण जोई, परिहारं कुणइ पुण्णपावाणं।
तं चारित्तं भणियं, अवियप्पं कम्मरहिएण।।४२।।

यह सब जानकर योगी जो पुण्य और पाप दोनोंका परिहार करता है उसे कर्मरहित सर्वज्ञदेवने निर्विकल्पक चारित्र कहा है।।४२।।

जो रयणत्तयजुत्तो, कुणइ तवं संजदो ससत्तीए।
सो पावइ परमपयं, झायंतो अप्पयं सुद्धं।।४३।।

रत्नत्रयको धारण करनेवाला जो मुनि शुद्ध आत्माका ध्यान करता हुआ अपनी शक्तिसे तप करता है वह परम पदको प्राप्त होता है।।४३।।

तिहि तिण्णि धरवि णिच्चं, तियरहिओ तह तिएण परियरिओ।
दोदोसविप्पमुक्को, परमप्पा झायए जोई।।४४।।

तीनके द्वारा तीनको धारण कर निरंतर तीनसे रहित, तीनसे सहित और दो दोषोंसे मुक्त रहनेवाला योगी परमात्माका ध्यान करता है।

विशेषार्थ -- तीनके द्वारा अर्थात् मन वचन कायके द्वारा, तीनको अर्थात् वर्षाकालयोग, शीतकालयोग और उष्णकालयोगको धारण कर निरंतर अर्थात् दीक्षाकालसे लेकर सदा तीनसे रहित अर्थात् माया मिथ्यात्व और निदान इन शल्योंसे रहित, तीनसे सहित अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रसे सहित और दोषोंसे विप्रमुक्त अर्थात् राग द्वेष इन दो दोषोंसे सर्वथा रहित योगी -- ध्यानस्थ मुनि परमात्मा अर्थात् सिद्धके समान उत्कृष्ट निज आत्मस्वरूपका ध्यान करता है।।४४।।

मयमायकोहरहिओ, लोहेण विवज्जिओ य जो जीवो।
निम्मलसहावजुत्तो, सो पावइ उत्तमं सोक्खं।।४५।।

जो जीव मद माया और क्रोधसे रहित है, लोभसे वर्जित है तथा निर्मल स्वभावसे युक्त है वह उत्तम सुखको प्राप्त होता है।।४५।।

विसयकसाएहि जुदो, रुद्दो परमप्पभावरहियमणो।
सो न लहइ सिद्धिसुहं, जिणमुद्दपरम्मुहो जीवो।।४६।।

जो विषय और कषायोंसे युक्त है, जिसका मन परमात्माकी भावनासे रहित है तथा जो जिनमुद्रासे पराङ्मुख -- भ्रष्ट हो चुका है ऐसा रुद्रपदधारी जीव सिद्धिसुखको प्राप्त नहीं होता।।४६।।

जिणमुद्दं सिद्धिसुहं, हवेइ णियमेण जिणवरुद्दिट्ठा।
सिविणे वि ण रुच्चइ पुण, जीवा अच्छंति भवगहणे।।४७।।

जिनेंद्र भगवान्के द्वारा कही हुई जिनमुद्रा सिद्धिसुखरूप है। जिन जीवोंको यह जिनमुद्रा स्वप्नमें भी नहीं रुचती वे संसाररूप वनमें रहते हैं अर्थात् कभी मुक्तिको प्राप्त नहीं होते।।४७।।

परमप्पय झायंतो, जोई मुच्चेई मलदलोहेण।
णादियदि णवं कम्मं, णिद्दिट्ठं जिणवरिंदेहिं।।४८।।

परमात्माका ध्यान करनेवाला योगी पापदायक लोभसे मुक्त हो जाता है और नवीन कर्मको नहीं ग्रहण करता ऐसा जिनेंद्र भगवान्ने कहा है।।४८।।

होऊण दिढचरित्तो, दिढसम्मत्तेण भावियमईओ।
झायंतो अप्पाणं, परमपयं पावए जोई।।४९।।

योगी -- ध्यानस्थ मुनि दृढ़ चारित्रका धारक तथा दृढ़ सम्यक्त्वसे वासित हृदय होकर आत्माका ध्यान करता हुआ परमपदको प्राप्त होता है।।४९।।

[१]चरणं हवइ सधम्मो, धम्मो सो हवइ अप्पसमभावो।
सो रागरोसरहिओ, जीवस्स अणण्णपरिणामो।।५०।।

चारित्र आत्माका धर्म है अर्थात् चारित्र आत्माके धर्मको कहते हैं, धर्म आत्माका समभाव है अर्थात् आत्माके समभावको धर्म कहते हैं और समभाव राग द्वेषसे रहित जीवका अभिन्न परिणाम है अर्थात् राग द्वेषसे रहित जीवके अभिन्न परिणामको समभाव कहते हैं।।५०।।

जह फलिहमणि विसुद्धो, परदव्वजुदो हवेइ अण्णं सो ।
तह रागादिविजुत्तो, जीवो हवदि हु अणण्णविहो।।५१।।

जिस प्रकार स्फटिकमणि स्वभावसे विशुद्ध अर्थात् निर्मल है परंतु परद्रव्यसे संयुक्त होकर वह अन्यरूप हो जाता है उसी प्रकार यह जीव भी स्वभावसे विशुद्ध है अर्थात् वीतराग है परंतु रागादि विशिष्ट

---

१. चारित्तं खलु धम्मो धम्मो जो सो सम्मो त्ति णिद्दिट्ठो।
मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो हु समो।। -- प्रवचनसारे

कारणोंसे युक्त होनेपर स्पष्ट अन्यरूप हो जाता है।

(यहाँ गाथाका एक भाव यह भी समझमें आता है कि जिस प्रकार स्फटिक मणि स्वभावसे विशुद्ध है परतु परपदार्थके संयोगसे वह अन्यरूप हो जाता है उसी प्रकार यह जीव स्वभावसे रागादिवियुक्त है अर्थात् राग द्वेष आदि विकारभावोंसे रहित है परंतु परद्रव्य अर्थात् कर्म नोकर्म पर पदार्थोंके संयोगसे अन्यान्य प्रकार हो जाता है। इस अर्थमें वियुक्त शब्दके प्रचलित अर्थको बदलकर 'विशेषेण युक्तः वियुक्तः अर्थात् सहितः' ऐसी जो क्लिष्ट कल्पना करना पड़ता है उससे बचाव हो जाता है।।५१।।

देवगुरुम्मि य भत्तो, साहम्मि य संजदेसु अणुरत्तो।
सम्मत्तमुव्वहंतो, झाणरओ होइ जोई सो।।५२।।

जो देव और गुरुका भक्त है, सहधर्मी भाई तथा संयमी जीवोंका अनुरागी है तथा सम्यक्त्वको ऊपर उठाकर धारण करता है अर्थात् अत्यंत आदरसे धारण करता है ऐसा योगी ही ध्यानमें तत्पर होता है।।५२।।

[१]उग्गतवेणण्णाणी, जं कम्मं खवदि भवहि बहुएहि।
तं णाणी तिहिं गुत्तो, खवेइ अंतो मुहुत्तेण।।५३।।

अज्ञानी जीव उग्र तपश्चरणके द्वारा जिस कर्मको अनेक भवोंमें खिपा पाता है उसे तीन गुप्तियोंसे सुरक्षित रहनेवाला ज्ञानी जीव अंतर्मुहूर्तमें खिपा देता है।।५३।।

ज्ञानी और अज्ञानीका लक्षण

सुभजोगेण सुभावं, परदव्वे कुणइ रागदो साहू।
सो तेण दु अण्णाणी, णाणी एत्तो दु विवरीदो।। ५४।।

जो साधु शुभ पदार्थके संयोगसे रागवश परद्रव्यमें प्रीतिभाव करता है वह अज्ञानी है और इससे जो विपरीत है वह ज्ञानी है।।५४।।

आसवहेदू य तहा, भावं मोक्खस्स कारणं हवदि।
सो तेण दु अण्णाणी, आदसहावस्स विवरीदो।।५५।।

जिस प्रकार इष्ट विषयका राग कर्मास्रवका हेतु है उसी प्रकार मोक्ष विषयका राग भी कर्मास्रवका हेतु है और इसी रागभावके कारण यह जीव अज्ञानी तथा आत्मस्वभावसे विपरीत होता है।।५५।।

जो कम्मजादमइओ, सहावणाणस्स खंडदूसयरो।
सो तेण दु अण्णाणी, जिणसासणदूसगो भणिदो।।५६।।

१. 'कोटिजनम तप तपै ज्ञान बिन कर्म झरैं जे।
ज्ञानीके छिनमाहिं गुप्तितैं सहज टरैं ते।।' -- छहढाला

कर्मजन्य मतिज्ञानको धारण करनेवाला जो जीव स्वभावज्ञान -- केवलज्ञानका खंडन करता है अथवा उसमें दोष लगाता है वह अपने इस कार्यसे अज्ञानी तथा जिनधर्मका दूषक कहा गया है।।५६।।

णाणं चरित्तहीणं, दंसणहीणं तवेहि संजुत्त।
अण्णेसु भावरहियं, लिंगग्गहणेण किं सोक्खं।।५७।।

चारित्ररहित ज्ञान सुख करनेवाला नहीं है, सम्यग्दर्शनसे रहित तपोंसे युक्त कर्म सुख करनेवाला नहीं है, तथा छह आवश्यक आदि अन्य कार्योंमें भी भावरहित प्रवृत्ति सुख करनेवाली नहीं है, फिर मात्र लिंगग्रहण करनेसे क्या सुख मिल जायेगा? ।।५७।।

[इस गाथाका एक भाव यह भी हो सकता है -- हे साधो! तेरा ज्ञान यथार्थ चारित्रसे रहित है, तेरा तपश्चरण सम्यग्दर्शनसे रहित है तथा तेरा अन्य कार्य भी भावसे रहित है अतः तुझे लिंगग्रहणसे -- मात्र वेष धारण करनेसे क्या सुख प्राप्त हो सकता है? अर्थात् नहीं।]।।५७।।

अच्चेयणं पि चेदा, जो मण्णइ सो हवेइ अण्णाणी।
सो पुण णाणी भणिओ, जो मण्णइ चेयणे चेदा।।५८।।

जो अचेतनको भी चेतयिता मानता है वह अज्ञानी है और जो चेतनको चेतयिता मानता है वह ज्ञानी है।।५८।।

तवरहियं जं णाणं, णाणविजुत्तो तवो वि अकयत्थो।
तम्हा णाणतवेण य, संजुत्तो लहइ णिव्वाणं।।५९।।

जो ज्ञान तपसे रहित है वह व्यर्थ है और जो तप ज्ञानसे रहित है वह भी व्यर्थ है, इसलिए ज्ञान और तपसे युक्त पुरुष ही निर्वाणको प्राप्त होता है।।५९।।

धुवसिद्धी तित्थयरो, चउणाणजुदो करेइ तवयरणं।
णाऊण धुवं कुज्जा, तवयरणं णाणजुत्तो वि।।६०।।

जो ध्रुवसिद्धि हैं अर्थात् जिन्हें अवश्य ही मोक्ष प्राप्त होना है तथा जो चार ज्ञानोंसे सहित हैं ऐसे तीर्थंकर भगवान् भी तपश्चरण करते हैं ऐसा जानकर ज्ञानयुक्त पुरुषको भी तपश्चरण करना चाहिए।।६०।।

बाहिरलिंगेण जुदो, अब्भंतर लिंगरहिदपरियम्मो।
सो सगचरित्तभट्ठो, मोक्खपहविणासगो साहू।।६१।।

जो साधु बाह्यलिंगसे तो सहित है, परंतु जिसके शरीरका संस्कार (प्रवर्तन) आभ्यंतर लिंगसे रहित है वह आत्मचरित्रसे भ्रष्ट है तथा मोक्षमार्गका नाश करनेवाला है।।६१।।

सुहेण भावितं ज्ञानं, दुहे जादे विणस्सदि।
तम्हा जहाबलं जोई, अप्पा दुक्खेहि भावए।।६२।।

सुखसे वासित ज्ञान दुःख उत्पन्न होनेपर नष्ट हो जाता है इसलिए योगीको यथाशक्ति आत्माको दुःखसे वासित करना चाहिए।।६२।।

आहारासणणिद्दजियं च काऊण जिणवरमएण।
झायव्वो णियअप्पा, णाऊण गुरुपसाएण।।६३।।

आहार, आसन और निद्राको जीतकर जिनेंद्र देवके मतानुसार गुरुओंके प्रसादसे निज आत्माको जानना चाहिए और उसीका ध्यान करना चाहिए।।६३।।

अप्पा चरित्तवंतो, दंसणणाणेण संजुदो अप्पा।
सो झायव्वो णिच्चं, णाऊण गुरुपसाएण।।६४।।

आत्मा चारित्रसे सहित है, आत्मा दर्शन और ज्ञानसे युक्त है, इस प्रकार गुरुके प्रसादसे जानकर उसका नित्य ही ध्यान करना चाहिए।।६४।।

दुक्खे णज्जइ अप्पा, अप्पा णाऊण भावणा दुक्खं।
भावियसहावपुरिसो, विसएसु विरुच्चए दुक्खं।।६५।।

प्रथम तो आत्मा दुःखसे जाना जाता है, फिर जानकर उसकी भावना दुःखसे होती है, फिर आत्मस्वभावकी भावना करनेवाला पुरुष दुःखसे विषयोंमें विरक्त होता है।।६५।।

ताम ण णज्जइ अप्पा, विसएसु णरो पवट्टए जाम।
विसए विरत्तचित्तो, जोई जाणेइ अप्पाणं।।६६।।

जब तक मनुष्य विषयोंमें प्रवृत्ति करता है तब तक आत्मा नहीं जाना जाता अर्थात् आत्मज्ञान नहीं होता। विषयोंसे विरक्तचित्त योगी ही आत्माको जानता है।।६६।।

अप्पा णाऊण णरा, केई सब्भावभावपब्भट्ठा।
हिंडंति चाउरंगं, विसएसु विमोहिया मूढा।।६७।।

आत्माको जानकर भी कितने ही लोग सद्भावकी भावनासे -- निजात्मभावनासे भ्रष्ट होकर विषयोंसे मोहित होते हुए चतुर्गतिरूप संसारमें भटकते रहते हैं।।६७।।

जे पुण विसयविरत्ता, अप्पा णाऊण भावणासहिया।
छंडंति चाउरंगं, तवगुणजुत्ता ण संदेहो।।६८।।

और जो विषयोंसे विरक्त होते हुए आत्माको जानकर उसको भावनासे सहित रहते हैं वे तपरूपी गुण अथवा तप और मूलगुणोंसे युक्त होकर चतुरंग -- चतुर्गतिरूप संसारको छोड़ देते हैं इसमें संदेह नहीं है।।६८।।

परमाणुपमाणं वा, परदव्वे रदि हवेदि मोहादो।
सो मूढो अण्णाणी, आदसहावस्स विवरीदो।।६९।।

जिसकी अज्ञानवश परद्रव्यमें परमाणुप्रमाण भी रति है वह मूढ़ है, अज्ञानी है और आत्मस्वभावसे विपरीत है।।६९।।

अप्पा झायंताणं, दंसणसुद्धीण दिढचरित्ताणं।
होदि धुवं णिव्वाणं, विसएसु विरत्तचित्ताणं।।७०।।

जो आत्माका ध्यान करते हैं, जिनके सम्यग्दर्शनकी शुद्धि विद्यमान है, जो दृढ़ चारित्रके धारक हैं तथा जिनका चित्त विषयोंसे विरक्त है ऐसे पुरुषोंको निश्चित ही निर्वाण प्राप्त होता है।।७०।।

जेण रागे परे दव्वे, संसारस्स हि कारणं।
तेणावि जोइणो णिच्च, कुज्जा अप्पे सभावणा।।७१।।

जिस स्त्री आदि पर्यायसे परद्रव्यमें राग होनेपर वह राग संसारका कारण होता है योगी उसी पर्यायसे निरंतर आत्मामें आत्मभावना करता है।।७१।।

भावार्थ -- साधारण मनुष्य स्त्रीको देखकर उसमें राग करता है जिससे उसके संसारकी वृद्धि होती है, परंतु योगी -- ज्ञानी मनुष्य स्त्रीको देखकर विचार करता है कि जिस प्रकार मेरा आत्मा अनंत केवलज्ञानमय है उसी प्रकार इस स्त्रीका आत्मा भी अनंत केवलज्ञानमय है। यह स्त्री और मैं -- दोनोंही केवलज्ञानमय हैं। इस कारण यह स्त्री भी मेरी आत्मा है, मुझसे पृथक् इसमें है ही क्या? जिससे स्नेह करूँ।

(पं. जयचंद्रजीने अपनी वचनिकामें 'जेण रागो परे दव्वे' ऐसा पाठ स्वीकृत कर यह अर्थ प्रकट किया है -- चूँकि परद्रव्यसंबंधी राग संसारका कारण है इसलिए रोगीको निरंतर आत्मामें ही भावना करनी चाहिए। परंतु इस अर्थमें 'तेणावि -- तेनापि' यहाँ तेन शब्दके साथ दिये हुए अपि शब्दकी निरर्थकता सिद्ध होती है।)

णिंदाए य पसंसाए, दुक्खे य सुहएसु च।
सत्तूणं चेव बंधूणं, चारित्तं समभावदो।।७२।।

निंदा और प्रशंसा, दुःख और सुख तथा शत्रु और मित्रमें समभावसे ही चारित्र होता है।।७२।।

यह ध्यानके योग्य समय नहीं है इस मान्यताका निराकरण करते हैं --

चरियावरिया वदसमिदिवज्जिया सुद्धभावपब्भट्ठा।
केई जंपंति णरा, ण हु कालो झाणजोयस्स।।७३।।

जो चारित्रको आवरण करनेवाले चारित्रमोहनीय कर्मसे युक्त हैं, व्रत और समितिसे रहित हैं तथा शुद्ध भावसे च्युत हैं ऐसे कितने ही मनुष्य कहते हैं कि यह ध्यानरूप योगका समय नहीं है अर्थात् इस समय

ध्यान नहीं हो सकता है।।७३।।

सम्मत्तणाणरहिओ, अभव्वजीवो हु मोक्खपरिमुक्को।
संसारसुहे सुरदो, ण हु कालो भणइ झाणस्स।।७४।।

जो सम्यक्त्व तथा सम्यग्ज्ञानसे रहित है, जिसे कभी मोक्ष नहीं होता है तथा जो संसारसंबंधी सुखमें अत्यंत रत है ऐसा अभव्य जीव ही कहता है कि यह ध्यानका काल नहीं है, अर्थात् इस समय ध्यान नहीं हो सकता।।७४।।

पंचसु महव्वदेसु य, पंचसु समिदीसु तीसु गुत्तीसु।
जो मूढो अण्णाणी, ण हु कालो भणइ झाणस्स।।७५।।

जो पाँच महाव्रतों, पाँच समितियों तथा तीन गुप्तियोंके विषयमें मूढ़ है और अज्ञानी है वही कहता है कि यह ज्ञानका काल नहीं है, अर्थात् इस समय ध्यान नहीं हो सकता।।७५।।

भरहे दुःसमकाले, धम्मज्झाणं हवेइ साहुस्स।
तं अप्पसहावठिदे, ण हु मण्णइ सो हु अण्णाणी।।७६।।

भरत क्षेत्रमें दुःषम नामक पंचम कालमें मुनिके धर्म्यध्यान होता है तथा वह धर्म्यध्यान आत्मस्वभावमें स्थित साधुके होता है ऐसा जो नहीं मानता वह अज्ञानी है।।७६।।

अज्ज वि तिरयणसुद्धा, अप्पा झाएवि लहइ इंदत्तं।
लोयंतियदेवत्तं, तत्थ चुआ णिव्वुदिं जंति।।७७।।

आज भी रत्नत्रयसे शुद्धताको प्राप्त हुए मनुष्य आत्माका ध्यान कर इंद्रपद तथा लौकांतिक देवोंके पदको प्राप्त होते हैं और वहाँसे च्युत होकर निर्वाणको प्राप्त होते हैं।।७७।।

जे पावमोहियमई, लिंगं घेत्तूण जिणवरिंदाणं।
पावं कुणंति पावा, ते चत्ता मोक्खमग्गम्मि।।७८।।

जो पापसे मोहितबुद्धि मनुष्य जिनेंद्रदेवका लिंग धारण कर पाप करते हैं वे पापी मोक्षमार्गसे पतित हैं।।७८।।

जे पंचचेलसत्ता, गंथग्गाहीय जायणासीला।
आधाकम्मम्मि रया, ते चत्ता मोक्खमग्गम्मि।।७९।।

जो पाँच[१] प्रकारके वस्त्रोंमें आसक्त हैं, परिग्रहको ग्रहण करनेवाले हैं, याचना करते हैं तथा अधःकर्म -- निंद्य कर्ममें रत हैं वे मुनि मोक्षमार्गसे पतित हैं।।

१. १. अंडज -- कोशा आदि। २. बुंडज -- सूती वस्त्र। ३. वल्कज -- सन तथा जूट आदिसे निर्मित। ४. चर्मज -- चमड़ेसे उत्पन्न और ५. रोमज -- ऊनी वस्त्र। ये पाँच प्रकारके वस्त्र हैं।

णिग्गंथमोहमुक्का, बावीसपरीसहा जियकसाया।
पावारंभविमुक्का, ते गहिया मोक्खमग्गम्मि।।८०।।

जो परिग्रहसे रहित हैं, पुत्र-मित्र आदिके मोहसे मुक्त हैं, बाईस परीषहोंको सहन करनेवाले हैं, कषायोंको जीतनेवाले हैं तथा पाप और आरंभसे दूर हैं वे मोक्षमार्गमें अंगीकृत हैं।।८०।।

उद्धद्धमज्झलोए, केई मज्झं ण अइयमेगागी।
इयभावणाए जोई, पावंति हु सासयं मोक्खं।।८१।।

ऊर्ध्व, मध्य और अधोलोकमें कोई जीव मेरे नहीं हैं, मैं अकेला ही हूँ इस प्रकारकी भावनासे योगी शाश्वत -- अविनाशी सुखको प्राप्त होते हैं।।८१।।

देवगुरूणं भत्ता, णिव्वेयपरंपरा विचिंतंता।
झाणरया सुचरित्ता, ते गहिया मोक्खमग्गम्मि।।८२।।

जो देव और गुरुके भक्त हैं, वैराग्यकी परंपराका विचार करते रहते हैं, ध्यानमें तत्पर रहते हैं तथा शोभन -- निर्दोष आचारका पालन करते हैं वे मोक्षमार्गमें अंगीकृत हैं।।८२।।

णिच्छयणयस्स एवं, अप्पा अप्पम्मि अप्पणे सुरदो।
सो होदि हु सुचरित्तो, जोई सो लहइ णिव्वाणं।।८३।।

निश्चय नयका ऐसा अभिप्राय है कि जो आत्मा आत्माके लिए, आत्मामें तन्मयीभावको प्राप्त है वही सुचारित्र -- उत्तम चारित्र है। इस चारित्रको धारण करनेवाला योगी निर्वाणको प्राप्त होता है।।८३।।

पुरिसायारो अप्पा, जोई वरणाणदंसणसमग्गो।
जो झायदि सो जोई, पावहरो भवदि णिद्दंदो।।८४।।

पुरुषाकार अर्थात् मनुष्यशरीरमें स्थित जो आत्मा योगी बनकर उत्कृष्ट ज्ञान और दर्शनसे पूर्ण होता हुआ आत्माका ध्यान करता है वह पापोंको हरनेवाला तथा निर्द्वंद्व होता है।।८४।।

एवं जिणेहिं कहियं, सवणाणं सावयाण पुण पुणसु।
संसारविणासयरं, सिद्धियरं कारणं परमं।।८५।।

इस प्रकार जिनेंद्र भगवान्के द्वारा बार-बार कहे हुए वचन मुनियों तथा श्रावकोंके संसारको नष्ट करनेवाले तथा सिद्धिको प्राप्त करानेवाले उत्कृष्ट कारणस्वरूप हैं।।८५।।

गहिऊण य सम्मत्तं, सुनिम्मलं सुरगिरीव निक्कंपं।
तं झाणे झाइज्जइ, सावय दुक्खक्खयट्ठाए।।८६।।

हे श्रावक! (हे सम्यग्दृष्टि उपासक अथवा हे मुने!) अत्यंत निर्मल और मेरुपर्वतके समान

निश्चल सम्यग्दर्शनको ग्रहण कर दुःखोंका क्षय करनेके लिए ध्यानमें उसीका ध्यान किया जाता है।।८६।।

सम्मत्तं जो झायदि, सम्माइट्ठी हवेइ सो जीवो।
सम्मत्तपरिणदो उण, खवेइ दुट्ठट्ठकम्माणि।।८७।।

जो जीव सम्यक्त्वका ध्यान करता है वह सम्यग्दृष्टि हो जाता है और सम्यक्त्वरूप परिणत हुआ जीव दुष्ट आठ कर्मोंका क्षय करता है।।८७।।

किं बहुणा भणिएणं, जे सिद्धा णरवरा गए काले।
सिज्झिहहि जे वि भविया, तं जाणह सम्ममाहप्पं।।८८।।

अधिक कहनेसे क्या? अतीत कालमें जितने श्रेष्ठ पुरुष सिद्ध हुए हैं और भविष्यत् कालमें जितने सिद्ध होंगे उस सबको तुम सम्यग्दर्शनका ही माहात्म्य जानो।।८८।।

ते धण्णा सुकयत्था, ते सूरा ते वि पंडिया मणुया।
सम्मत्तं सिद्धियरं, सिवणे वि य मइलियं जेहिं।।८९।।

वे ही मनुष्य धन्य हैं, वे ही कृतकृत्य हैं, वे ही शूरवीर हैं और वे ही पंडित हैं जिन्होंने सिद्धिको प्राप्त करानेवाले सम्यक्त्वको स्वप्नमें भी मलिन नहीं किया।।८९।।

हिंसारहिए धम्मे, अट्ठारहदोसवज्जिए देवे।
णिग्गंथे पावयणे, सद्दहणं होइ सम्मत्तं।।९०।।

हिंसारहित धर्म, अठारह दोषरहित देव, निर्ग्रंथ गुरु और अर्हत्प्रवचन -- समीचीन शास्त्रमें जो श्रद्धा है वह सम्यग्दर्शन है।।९०।।

जहजायरूवरूवं, सुसंजयं सव्वसंगपरिचत्तं।
लिंगं ण परोवेक्खं, जो मण्णइ तस्स सम्मत्तं।।९१।।

दिगंबर मुनिका लिंग (वेष) यथाजात -- तत्काल उत्पन्न हुए बालकके समान होता है, उत्तम संयमसे सहित होता है, सब परिग्रहसे रहित होता है और परकी अपेक्षासे रहित होता है, ऐसा जो मानता है उसके सम्यक्त्व होता है।।९१।।

कुच्छियदेवं धम्मं, कुच्छियलिंगं च वंदए जो दु।
लज्जाभयगारवदो, मिच्छादिट्ठी हवे सो हु।।९२।।

जो लज्जा, भय, गारवसे कुत्सित देव, कुत्सित धर्म और कुत्सित लिंगकी वंदना करता है वह मिथ्यादृष्टि होता है।।९२।।

सपरावेक्खं लिंगं, राई देवं असंजयं वंदे।
माणइ मिच्छादिट्ठी, ण हु मण्णइ सुद्धसम्मत्तो।।९३।।

परकी अपेक्षासे सहित लिंगको तथा रागी और असंयत देवको वंदना करता हूँ ऐसा मिथ्यादृष्टि मानता है, शुद्ध सम्यग्दृष्टि जीव नहीं।।९३।।

सम्माइट्ठी सावय, धम्मं जिणदेवदेसियं कुणदि।
विवरीयं कुव्वंतो, मिच्छादिट्ठी मुणेयव्वो।।९४।।

सम्यग्दृष्टि श्रावक अथवा मुनि जिनदेवके द्वारा उपदेशित धर्मको करता है। जो विपरीत धर्मको करता है उसे मिथ्यादृष्टि जानना चाहिए।।९४।।

मिच्छादिट्ठी जो सो, संसारे संसरेइ सुहरहिओ।
जम्मजरमरणपउरे, दुक्खसहस्साउले जीवो।।९५।।

जो मिथ्यादृष्टि जीव है वह जन्म जरा और मरणसे युक्त तथा हजारों दुःखोंसे परिपूर्ण संसारमें दुःखी होता हुआ भ्रमण करता है।।९५।।

सम्मगुण मिच्छदोसो, मणेण परिभाविऊण तं कुणसु।
जं ते मणस्स रुच्चइ, किं बहुणा पलविएणं तु।।९६।।

सम्यक्त्व गुण है और मिथ्यात्व दोष है ऐसा मनसे विचार करके तेरे मनके लिए जो रुचे वह कर, अधिक कहनेसे क्या लाभ है?।।९६।।

बाहिरसंगविमुक्को, ण वि मुक्को मिच्छभाव णिग्गंथो।
किं तस्स ठाणमउणं, ण वि जाणदि अप्पसमभावं।।९७।।

जो साधु बाह्य परिग्रहसे तो छूट गया है परंतु मिथ्यात्वभावसे नहीं छूटा है उसका कायोत्सर्गके लिए खड़ा होना अथवा मौनसे रहना क्या है? अर्थात् कुछ भी नहीं है, क्योंकि वह आत्माके समभावको तो जानता ही नहीं है।।९७।।

मूलगुणं छित्तूण य, बाहिरकम्मं करेइ जो साहू।
सो ण लहइ सिद्धिसुहं, जिणलिंगविराधगो णिच्चं।।९८।।

जो साधु मूलगुणोंको छेद कर बाह्य कर्म करता है वह सिद्धिके सुखको नहीं पाता। वह तो निरंतर जिनलिंगकी विराधना करनेवाला माना गया है।।९८।।

किं काहिदि बहिकम्मं, किं काहिदि बहुविहं च खवणं च।
किं काहिदि आदावं, आदसहावस्स विवरीदो।।९९।।

जो साधु आत्मस्वभावसे विपरीत है, मात्र बाह्य कर्म उसका क्या कर देगा? और आतापनयोग क्या कर देगा? अर्थात् कुछ नहीं।।९९।।

जदि पढदि बहुसुदाणि य, जदि काहिदि बहुविहे य चारित्ते।
तं बालसुदं चरणं, हवेइ अप्पस्स विवरीदं।।१००।।

यदि ऐसा मुनि अनेक शास्त्रोंको पढ़ता है तथा नाना प्रकारके चारित्रोंका पालन करता है तो उसकी वह सब प्रवृत्ति आत्मस्वरूपसे विपरीत होनेके कारण बालश्रुत और बाल चारित्र कहलाती है।।१००।।

वेरग्गपरो साहू, परदव्वपरम्मुहो य सो होदि।
संसारसुहविरत्तो, सगसुद्धसुहेसु अणुरत्तो।।१०१।।

जो साधु वैराग्यमें तत्पर होता है वह परद्रव्यसे पराङ्मुख रहता है, इसी प्रकार जो साधु संसारसुखसे विरक्त रहता है वह स्वकीय शुद्ध सुखमें अनुरक्त होता है।।१०१।।

गुणगणविहूसियंगो, हेयोपादेयणिच्छिदो साहू।
झाणज्झयणे सुरदो, सो पावइ उत्तमं ठाणं।।१०२।।

गुणोंके समूहसे जिसका शरीर शोभित है, जो हेय और उपादेय पदार्थोंका निश्चय कर चुका है तथा ध्यान और अध्ययनमें जो अच्छी तरह लीन रहता है वही साधु उत्तम स्थानको प्राप्त होता है।।१०१।।

णविएहिं जं णविज्जइ, झाइज्जइ झाइएहि अणवरयं।
थुव्वंतेहि थुणिज्जइ, देहत्थं किं पि तं मुणह।।१०३।।

दूसरोंके द्वारा नमस्कृत इंद्रादि देव जिसे नमस्कार करते हैं, दूसरोंके द्वारा ध्यान किये गये तीर्थंकर देव जिसका निरंतर ध्यान करते हैं और दूसरोंके द्वारा स्तूयमान -- स्तुत किये गये तीर्थंकर भी जिसकी स्तुति करते हैं, शरीरके मध्यमें स्थित उस अनिर्वचनीय आत्मतत्त्वको तुम जानो।।१०३।।

अरुहा सिद्धायरिया, उज्झाया साहु परमेट्ठी।
ते वि हु चिट्ठहि आदे, तम्हा आदा हु मे सरणं।।१०४।।

अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु ये पाँच परमेष्ठी हैं। ये पाँचों परमेष्ठी भी जिस कारण आत्मामें स्थित हैं उस कारण आत्मा ही मेरे लिए शरण हो।।१०४।।

सम्मत्तं सण्णाणं, सच्चारित्तं हि सत्तवं चेव।
चउरो चिट्ठहि आदे, तम्हा आदा हु मे सरणं।।१०५।।

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और सम्यक्तप ये चारों आत्मामें स्थित हैं, इसलिए आत्मा ही मेरे लिए शरण है।।१०५।।

एवं जिणपण्णत्तं, मोक्खस्स य पाहुडं सुभत्तीए।
जो पढइ सुणइ भावइ, सो पावइ सासयं सोक्खं।।१०६।।

इस प्रकार जिनेंद्र भगवान्‌के द्वारा प्रणीत इस मोक्षप्राभृतको जो उत्तम भक्तिसे पढ़ता है, सुनता है और इसकी भावना करता है वह शाश्वत सुख -- अविनाशी मोक्षसुखको प्राप्त होता है।।१०६।।

इस प्रकार कुंदकुंदाचार्य विरचित मोक्षप्राभृत समाप्त हुआ।

*

लिंगप्राभृतम्

काऊण णमोकारं, अरहंताणं तहेव सिद्धाणं
वोच्छामि समणलिंगं, पाहुडसत्थं समासेण।।१।।

मैं अरहंतों तथा सिद्धोंको नमस्कार कर संक्षेपसे मुनिलिंगका वर्णन करनेवाले प्राभृत शास्त्रको कहूँगा।।१।।

धम्मेण होइ लिंगं, ण लिंगमत्तेण धम्मसंपत्ती।
जाणेहि भावधम्मं, किं ते लिंगेण कायव्वो।।२।।

धर्मसे लिंग होता है, लिंगमात्र धारण करनेसे धर्मकी प्राप्ति नहीं होती। इसलिए भावको धर्म जानो, भावरहित लिंगसे तुझे क्या कार्य है?

भावार्थ -- लिंग अर्थात् शरीरका वेष धर्मसे होता है। जिसने भावके बिना मात्र शरीरका वेष धारण किया है उसके धर्मकी प्राप्ति नहीं होती, इसलिए भाव ही धर्म है। भावके बिना मात्र वेष कार्यकारी नहीं है।।२।।

जो पावमोहिदमदी, लिंगं घेत्तूण जिणवरिंदाणं।
उवहसइ लिंगि भावं, लिंगं णासेदि लिंगीणं।।३।।

जिसकी बुद्धि पापसे मोहित हो रही है ऐसा जो पुरुष जिनेंद्रदेवके लिंगको -- नग्न दिगंबर वेषको ग्रहण कर लिंगीके यथार्थ भावकी हँसी करता है वह सच्चे वेषधारियोंके वेषको नष्ट करता है अर्थात् लजाता है।।३।।

णच्चदि गायदि तावं, वायं वाएदि लिंगरूवेण।
सो पावमोहिदमदी, तिरिक्खजोणी ण सो समणो।।४।।

जो मुणी लिंग धारण कर नाचता है, गाता है अथवा बाजा बजाता है वह पापसे मोहितबुद्धि पशु है,

मुनि नहीं।।४।।

सम्मूहदि रक्खेदि य, अट्टं झाएदि बहुपयत्तेण।
सो पावमोहिदमदी, तिरिक्खजोणी ण सो समणो।।५।।

जो बहुत प्रकारके प्रयत्नोंसे परिग्रहको इकट्ठा करता है, उसकी रक्षा करता है तथा आर्तध्यान करता है वह पापसे मोहितबुद्धि पशु है, मुनि नहीं।।५।।

कलहं वादं जूवा, णिच्चं बहुमाणगव्विओ लिंगी।
वच्चदि णरयं पावो, करमाणो लिंगिरूवेण।।६।।

जो पुरुष मुनिलिंगका धारक होकर भी निरंतर अत्यधिक गर्वसे युक्त होता हुआ कलह करता है, वादविवाद करता है अथवा जुवा खेलता है वह चूँकि मुनिलिंगसे ऐसे कुकृत्य करता है अतः पापी है और नरक जाता है।।६।।

पावोपहदिभावो, सेवदि य अबंभु लिंगिरूवेण।
सो पावमोहिदमदी, हिंडदि संसारकांतारे।।७।।

पापसे जिसका यथार्थभाव नष्ट हो गया है ऐसा जो साधु मुनिलिंग धारण कर अब्रह्मका सेवन करता है वह पापसे मोहितबुद्धि होता हुआ संसाररूपी अटवीमें भ्रमण करता रहता है।।७।।

दंसणणाणचरित्ते, उवहाणे जइ ण लिंगरूवेण।
अट्टं झायदि झाणं, अणंतसंसारिओ होदी।।८।।

जो मुनिलिंग धारण कर सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रको उपधान अर्थात् आश्रय नहीं बनाता है तथा आर्तध्यान करता है वह अनंतसंसारी होता है।।८।।

जो जोडदि विव्वाहं, किसिकम्मवणिज्जजीवघादं च।
वच्चदि णरयं पावो, करमाणो लिंगिरूवेण।।९।।

जो मुनिका लिंग रखकर भी दूसरोंके विवाहसंबंध जोड़ता है तथा खेती और व्यापारके द्वारा जीवोंका घात करता है वह चूँकि मुनिलिंगके द्वारा इस कुकृत्यको करता है अतः पापी है और नरक जाता है।।९।।

चोराण मिच्छवाण य, जुद्ध विवादं च तिव्वकम्मेहिं।
जंतेण दिव्वमाणो, गच्छदि लिंगी णरयवासं।।१०।।

जो लिंगी चोरों तथा झूठ बोलनेवालोंके युद्ध और विवादको कराता है तथा तीव्रकर्म -- खरकर्म अर्थात् हिंसावाले कार्योंसे यंत्र अर्थात् चौपड़ आदिसे क्रीड़ा करता है वह नरकवासको प्राप्त होता है।।१०।।

दंसणणाणचरित्ते, तवसंजमणियमणिच्चकम्मम्मि।
पीडयदि वट्टमाणो, पावदि लिंगी णरयवासं।।११।।

जो मुनिवेषी दर्शन, ज्ञान, चारित्र तप तथा तप संयम नियम और नित्य कार्योंमें प्रवृत्त होता हुआ दूसरे जीवोंको पीड़ा पहुँचाता है वह नरकवासको प्राप्त होता है।।११।।

कंदप्पाइय वट्टइ, करमाणो भोयणेसु रसगिद्धिं।
माई लिंगविवाई, तिरिक्खजोणी ण सो समणो।।१२।।

जो पुरुष मुनिवेषी होकर भी कांदर्पी आदि कुत्सित भावनाओंको करता है तथा भोजनमें रससंबंधी लोलुपताको धारण करता है वह मायाचारी मुनिलिंगको नष्ट करनेवाला पशु है, मुनि नहीं।।१२।।

धावदि पिंडणिमित्तं, कलहं काऊण भुंजदे पिंडं।
अवरुपरूई संतो, जिणमग्गि ण होइ सो समणो।।१३।।

जो आहारके निमित्त दौड़ता है, कलह कर भोजनको ग्रहण करता है और उसके निमित्त दूसरेसे ईर्ष्या करता है वह जिनमार्गी श्रमण नहीं है।।१३।।

भावार्थ -- इस कालमें कितने ही लोग जिनलिंगमें भ्रष्ट होकर अर्धपालक हुए फिर उनमें श्वेतांबरादिक हुए। उन्होंने शिथिलाचारका पोषण कर लिंगकी प्रवृत्ति विकृत कर दी। उन्हींका यहाँ निषेध समझना चाहिए। उनमें अब भी कोई ऐसे साधु हैं जो आहारके निमित्त शीघ्र दौड़ते हैं -- ईर्यासमितिको भूल जाते हैं और गृहस्थके घरसे लाकर दो-चार संमिलित बैठकर खाते हैं और बँटवारामें सरस-नीरस आनेपर परस्पर कलह करते हैं तथा इस निमित्तको लेकर दूसरोंसे ईर्ष्या भी करते हैं। सो ऐसे साधु जिनमार्गी नहीं हैं।।१३।।

गिण्हदि अदत्तदाणं, परणिंदा वि य परोक्खदूसेहिं।
जिणलिंगं धारंतो, चोरेण व होइ सो समणो।।१४।।

जो मनुष्य जिनलिंगको धारण करता हुआ भी बिना दी हुई वस्तुको ग्रहण करता है तथा परोक्षमें दूषण लगा-लगाकर दूसरेकी निंदा करता है वह चोरके समान है, साधु नहीं है।।१४।।

उप्पडदि पडदि धावदि, पुढवीओ खणदि लिंगरूवेण।
इरियावह धावंतो, तिरिक्खजोणी ण सो समणो।।१५।।

जो मुनिलिंग धारण कर चलते समय कभी उछलता है, कभी दौड़ता है और कभी पृथिवीको खोदता है वह पशु है, मुनि नहीं।।१५।।

बंधे णिरओ संतो, सस्सं खंडेदि तह य वसुहं पि।
छिंददि तरुगण बहुसो, तिरिक्खजोणी ण सो समणो।। १६।।

जो किसीके बंधमें लीन होकर अर्थात् उसका आज्ञाकारी बनकर धान कूटता है, पृथिवी खोदता है और वृक्षोंके समूहको छेदता है वह पशु है, मुनि नहीं।।

भावार्थ -- यह कथन साधुओंकी अपेक्षा है। जो साधु वनमें रहकर स्वयं धान तोड़ते हैं, उसे कूटते हैं, अपने आश्रममें वृक्ष लगाने आदिके उद्देश्यसे पृथिवी खोदते हैं तथा वृक्ष लता आदिको छेदते हैं वे पशुके तुल्य हैं, उन्हें हिंसा पापकी चिंता नहीं, ऐसा मनुष्य साधु नहीं कहला सकता।।१६।।

रागो (रागं) करेदि णिच्चं, महिलावग्गं परं च दूसेदि।
दंसणणाणविहीणो, तिरिक्खजोणी ण सो समणो।। १७।।

जो स्त्रियोंके समूहके प्रति निरंतर राग करता है, दूसरे निर्दोष प्राणियोंको दोष लगाता है तथा स्वयं दर्शन-ज्ञानसे रहित है वह पशु है, साधु नहीं।।१७।।

पव्वज्जहीणगहिणं, णेहं सीसम्मि वट्टदे बहुसो।
आयारविणयहीणो, तिरिक्खजोणी ण सो सवणो।।१८।।

जो दीक्षासे रहित गृहस्थ शिष्यपर अधिक स्नेह रखता है तथा आचार और विनयसे रहित है वह तिर्यंच है, साधु नहीं।।१८।।

भावार्थ -- कोई-कोई साधु अपने गृहस्थ शिष्यपर अधिक स्नेह रखते हैं, अपने पदका ध्यान न कर उसके घर जाते हैं, सुख-दुःखमें आत्मीयता दिखाते हैं तथा स्वयं मुनिके योग्य आचार तथा पूज्य पुरुषोंकी विनयसे रहित होते हैं। आचार्य कहते हैं कि वे मुनि नहीं है, किंतु पशु हैं।।१८।।

एवं सहिओ मुणिवर, संजदमज्झम्मि वट्टदे णिच्चं।
बहुलं पि जाणमाणो, भावविणट्ठो ण सो सवणो।।

हे मुनिवर! ऐसी खोटी प्रवृत्तियोंसे सहित मुनि यद्यपि संयमी जनोंके बीचमें रहता है और बहुत ज्ञानवान् भी है तो भी वह भावसे विनष्ट है अर्थात् भावलिंगसे रहित है -- यथार्थ मुनि नहीं है।।१९।।

दंसणणाणचरित्ते, महिलावग्गम्मि देदि वोपट्ठो।
पासत्थ वि हु णियट्ठो, भावविणट्ठो ण सो समणो।।२०।।

जो स्त्रियोंमें विश्वास उपजाकर उन्हे दर्शन ज्ञान और चारित्र देता है वह पार्श्वस्थ मुनिसे भी निकृष्ट है तथा भावलिंगसे शून्य है, वह परमार्थ मुनि नहीं है।

भावार्थ -- जो मुनि अपने पद का ध्यान न कर स्त्रियोंसे संपर्क बढ़ाता है, उन्हें पासमें बैठाकर पढ़ाता है तथा दर्शन चारित्र आदिका उपदेश देता है वह पार्श्वस्थ नामक भ्रष्ट मुनिसे भी अधिक निकृष्ट है। जब मुनि एकांतमें आर्यिकाओंसे भी बात नहीं करते। सात हाथ की दूरीपर दो या दोसे अधिक संख्यामें बैठी हुई आर्यिकाओंसे ही धर्मचर्चा करते हैं, उनके प्रश्नोंका समाधान करते हैं, तब गृहस्थस्त्रियोंको एकदम

पासमें बैठाकर उनसे संपर्क बढ़ाना मुनिपदके अनुकूल नहीं है। ऐसा मुनि भावलिंगसे शून्य है अर्थात् द्रव्यलिंगी है, परमार्थमुनि नहीं है।।२०।।

पुंश्चलिघरि जसु भुंजइ, णिच्चं संथुणदि पोसए पिंडं।
पावदि बालसहावं, भावविणट्ठो ण सो सवणो।।२१।।

जो साधु व्यभिचारिणी स्त्रीके घर आहार लेता है, निरंतर उसकी स्तुति करता है तथा पिंडको पालता है अर्थात् उसकी स्तुति कर निरंतर आहार प्राप्त करता है वह बालस्वभावको प्राप्त होता है तथा भावसे विनष्ट है, वह मुनि नहीं है।।२१।।

इय लिंगपाहुडमिणं, सव्वं बुद्धेहि देसियं धम्मं।
पालेहि कट्ठसहियं, सो गाहदि उत्तमं ठाणं।।२२।।

इस प्रकार यह लिंगप्राभृत नामका समस्त शास्त्र ज्ञानी गणधरादिके द्वारा उपदिष्ट है। इसे जानकर जो कष्टसहित धर्मका पालन करता है अर्थात् कष्ट भोगकर भी धर्मकी रक्षा करता है वह उत्तम स्थानको प्राप्त होता है।।२२।।

इस प्रकार कुंदकुंदाचार्य विरचित लिंगप्राभृत समाप्त हुआ।

*

शीलप्राभृतम्

वीरं विसालणयणं, रत्तुप्पलकोमलस्समप्पायं।
तिविहेण पणमिऊणं, सीलगुणाणं णिसामेह।।१।।

(बाह्यमें) जिनके विशाल नेत्र हैं तथा जिनके पाँव लाल कमलके समान कोमल हैं (अंतरंग पक्षमें) जो केवलज्ञानरूपी विशाल नेत्रोंके धारक हैं तथा जिनका कोमल एवं राग द्वेषसे रहित वाणीका समूह रागको दूर करनेवाला है उन महावीर भगवान्को मन वचन कायसे प्रणाम कर शीलके गुणोंको अथवा शील और गुणोंका कथन करता हूँ।।१।।

सीलस्स य णाणस्स य, णत्थि विरोहो बुधेहि णिद्दिट्ठो।
णवरि य सीलेण विणा, विसया णाणं विणासंति।।२।।

विद्वानोंने शीलका और ज्ञानका विरोध नहीं कहा है, किंतु यह कहा है कि शीलके विना विषय ज्ञानको नष्ट कर देते हैं।।

भावार्थ -- शील और ज्ञानका विरोध नहीं है, किंतु सहभाव है। जहाँ शील होता है वहाँ ज्ञान अवश्य होता है और शील न हो तो पचेंद्रियोंके विषय ज्ञानको नष्ट कर देते हैं।।२।।

दुक्खेणज्जहि णाणं, णाणं णाऊण भावणा दुक्खं।
भावियमई व जीवो, विसएसु विरज्जए दुक्खं।।३।।

प्रथम तो ज्ञान ही दुःख से जाना जाता है, फिर यदि कोई ज्ञानको जानता भी है तो उसकी भावना दुःखसे होती है, फिर कोई जीव उसकी भावना भी करता है तो विषयोंमें विरक्त दुःखसे होता है।।३।।

ताव ण जाणदि णाणं, विसयबलो जाव वट्टए जीवो।
विसए विरत्तमेत्तो, ण खवेइ पुराइयं कम्मं।।४।।

जबतक जीव विषयोंके वशीभूत रहता है तबतक ज्ञानको नहीं जानता और ज्ञानके बिना मात्र विषयोंसे विरक्त हुआ जीव पुराने बँधे हुए कर्मोंका क्षय नहीं करता।।४।।

णाणं चरित्तहीणं, लिगग्गहणं च दंसणविहूणं।
संजमहीणो य तवो, जइ चरइ णिरत्थयं सव्वं।।५।।

यदि कोई साधु चारित्ररहित ज्ञानका, सम्यग्दर्शनरहित लिंगका और संयमरहित तपका आचरण करता है तो उसका यह सब आचरण निरर्थक है।

भावार्थ -- हेय और उपादेयका ज्ञान तो हुआ परंतु तदनुरूप चारित्र न हुआ तो वह ज्ञान किस कामका? मुनिलिंग तो धारण किया, परंतु सम्यग्दर्शन न हुआ तो वह मुनिलिंग किस कामका? इसी तरह तप भी किया परंतु जीवरक्षा अथवा इंद्रियवशीकरणरूप संयम नहीं हुआ तो वह तप किस कामका? इस सबका उद्देश्य कर्मक्षय करके मोक्ष प्राप्त करना है परंतु उसकी सिद्धि न होनेसे सबका निरर्थकपना दिखाया है।।५।।

णाणं चरित्तसुद्धं, लिंगग्गहणं च दंसणविसुद्धं।
संजमसहिदो य तवो, थोवो वि महाफलो होइ।।६।।

चारित्रसे शुद्ध ज्ञान, दर्शनसे शुद्ध लिंगधारण और संयमसे सहित तप थोड़ा भी हो तो भी वह महाफलसे युक्त होता है।।६।।

णाणं णाऊण णरा, केई विसयाइभावसंसत्ता।
हिंडंति चादुरगदिं, विसएसु विमोहिया मूढा।।७।।

जो कोई मनुष्य ज्ञानको जानकर भी विषयादिक भावमें आसक्त रहते हैं वे विषयोंमें मोहित रहनेवाले मूर्ख प्राणी चतुर्गतिरूप संसारमें भ्रमण करते रहते हैं।।७।।

जे पुण विसयविरत्ता, णाणं णाऊण भावणासहिदा ।
छिंदंति चादुरगदिं, तवगुणजुत्ता ण संदेहो।।८।।

किंतु जो ज्ञानको जानकर उसकी भावना करते हैं अर्थात् पदार्थके स्वरूपको जानकर उसका चिंतन करते हैं और विषयोंसे विरक्त होते हुए तपश्चरण तथा मूलगुण और उत्तरगुणोंसे युक्त होते हैं वे चतुर्गतिरूप संसारको छेदते हैं -- नष्ट करते हैं इसमें संदेह नहीं है।।८।।

जह कंचणं विसुद्धं, धम्मइयं खंडियलवणलेवेण।
तह जीवो वि विसुद्धं, णाण विसलिलेण विमलेण।।९।।

जिस प्रकार सुहागा और नमकके लेपसे युक्त कर फूँका हुआ सुवर्ण विशुद्ध हो जाता है उसी प्रकार ज्ञानरूपी निर्मल जलसे यह जीव भी विशुद्ध हो जाता है।।९।।

णाणस्स णत्थि दोसो, कापुरिसाणो वि मंदबुद्धीणो।
जे णाणगव्विदा होऊणं विसएसु रज्जंते।।१०।।

जो पुरुष ज्ञानके गर्वसे युक्त हो विषयोंमें राग करते हैं वह उनके ज्ञानका अपराध नहीं है, किंतु मंदबुद्धिसे युक्त उन कापुरुषोंका ही अपराध है।।१०।।

णाणेण दंसणेण य, तवेण चरिएण सम्मसहिएण।
होहदि परिणिव्वाणं, जीवाणं चरितसुद्धाणं।।११।।

निर्दोष चारित्र पालन करनेवाले जीवोंको सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, सम्यक् तप और सम्यक्चारित्रसे निर्वाण प्राप्त होता है।।

भावार्थ -- जैनागममें सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, सम्यक्तप और सम्यक्चारित्र इन चार आराधनाओंसे मोक्षप्राप्ति होती है ऐसा कहा गया है, परंतु ये चारों आराधनाएँ उन्हीं जीवोंके मोक्षका कारण होती हैं जो चारित्रसे शुद्ध होते हैं अर्थात् प्रमाद छोड़कर निर्दोष चारित्रका पालन करते हैं।।११।।

सीलं रक्खंताणं, दंसणसुद्धाण दिढचरित्ताणं।
अत्थि धुवं णिव्वाणं, विसएसु विरत्तचित्ताणं।।१२।।

जो शीलकी रक्षा करते हैं, जो शुद्ध दर्शन -- निर्दोष सम्यक्त्वसे सहित हैं, जिनका चारित्र दृढ़ है और जो विषयोंसे विरक्तचित्त रहते हैं उन्हें निश्चित ही निर्वाणकी प्राप्ति होती है।।१२।।

विसएसु मोहिदाणं, कहियं मग्गं पि इट्ठदरिसीणं।
उम्मग्गं दरिसीणं, णाणं पि णिरत्थयं तेसिं।।१३।।

जो मनुष्य इष्ट -- लक्ष्यको देख रहे हैं वे वर्तमानमें भले ही विषयोंमें मोहित हों, तो भी उन्हें मार्ग

प्राप्त हो गया है ऐसा कहा गया है, परंतु जो उन्मार्गको देख रहे हैं अर्थात् लक्ष्यसे भ्रष्ट हैं उनका ज्ञान भी निरर्थक है।

भावार्थ -- एक मनुष्य दर्शन मोहनीयका अभाव होनेसे श्रद्धा गुणके प्रकट हो जानेपर लक्ष्य -- प्राप्तव्य मार्गको देख रहा है, परंतु चारित्र मोहका तीव्र उदय होनेसे उस मार्गपर चलनेके लिए असमर्थ है तो भी कहा जाता है कि उसे मार्ग मिल गया, परंतु दूसरा मनुष्य अनेक शास्त्रोंका ज्ञाता होनेपर भी मिथ्यात्वके उदयके कारण गंतव्य मार्गको न देख उन्मार्गको ही देख रहा है तो ऐसे मनुष्यका वह भारी ज्ञान भी निरर्थक होता है।।१३।।

कुमयकुसुदपसंसा, जाणंता बहुविहाइं सत्थाणि।
सीलवदणाणरहिदा, ण हु ते आराधया होंति।।१४।।

जो नाना प्रकारके शास्त्रोंको जानते हुए मिथ्यामत और मिथ्या श्रुतकी प्रशंसा करते हैं तथा शील, व्रत और ज्ञानसे रहित हैं वे स्पष्ट ही आराधक नहीं हैं।।१४।।

रूवसिरिगव्विदाणं, जुव्वणलावण्णकंतिकलिदाणं।
सीलगुणवज्जिदाणं, णिरत्थयं माणुसं जम्मं।।१५।।

जो मनुष्य सौंदर्यरूपी लक्ष्मीसे गर्वीले तथा यौवन, लावण्य और कांतिसे युक्त हैं, किंतु शीलगुणसे रहित हैं उनका मनुष्य जन्म निरर्थक है।।१५।।

वायरणछंदवइसेसियववहारणायसत्थेसु।
वेदेऊण सुदेसु य, तेसु सुयं उत्तमं सीलं।।१६।।

कितने ही लोग व्याकरण, छंद, वैशेषिक, व्यवहार -- गणित तथा न्यायशास्त्रोंको जानकर श्रुतके धारी बन जाते हैं परंतु उनका श्रुत तभी श्रुत है जब उनमें उत्तम शील भी हो।।१६।।

सीलगुणमंडिदाणं, देवा भवियाण वल्लहा होंति।
सुदपारयपउरा णं, दुस्सीला अप्पिला लोए।।१७।।

जो भव्य पुरुष शीलगुणसे सुशोभित हैं उनके देव भी प्रिय होते हैं अर्थात् देव भी उनका आदर करते हैं और जो शीलगुणसे रहित हैं वे श्रुतके पारगामी होकर भी तुच्छ -- अनादरणीय बने रहते हैं।।१७।।

भावार्थ -- शीलवान जीवोंकी पूजा प्रभावना मनुष्य तो करते ही हैं, परंतु देव भी करते देखे जाते हैं। परंतु दुःशील अर्थात् खोटे शीलसे युक्त मनुष्योंको अनेक शास्त्रोंके ज्ञाता होनेपर भी कोई पूछता नहीं है, वे सदा तुच्छ बने रहते हैं। यहाँ 'अल्प'का अर्थ संख्यासे अल्प नहीं किंतु तुच्छ अर्थ है। संख्याकी अपेक्षा तो दुःशील मनुष्य ही अधिक हैं, शीलवान नहीं।

सव्वे वि य परिहीणा, रूवविरूवा वि वदिदसुवया वि।
सीलं सेसु सुसीलं, सुजीविदं माणुसं तेसिं।।१८।।

जो सभीमें हीन हैं अर्थात् हीन जातिके हैं, रूपसे विरूप हैं अर्थात् कुरूप हैं और जिनकी अवस्था बीत गयी है अर्थात् वृद्धावस्थासे युक्त हैं -- इन सबके होनेपर भी जिनके सुशील है अर्थात् जो उत्तम शीलके धारक हैं उनका मनुष्यपना सुजीवित है -- उनका मनुष्यभव उत्तम है।।

भावार्थ -- जाति, रूप तथा अवस्थाकी न्यूनता होनेपर भी उत्तम शील मनुष्यके जीवनको सफल बना देता है। इसलिए सुशील प्राप्त करना चाहिए।।१८।।

जीवदया दम सच्चं, अचोरियं बंभचेरसंतोसे।
सम्मद्दंसणणाणं, तओ य सीलस्स परिवारो।।१९।।

जीवदया, इंद्रियदमन, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, संतोष, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्तप ये सब शीलके परिवार हैं।।१९।।

सीलं तवो विसुद्धं, दंसणसुद्धी य णाणसुद्धी य।
सीलं विसयाण अरी, सीलं मोक्खस्स सोपाणं।।२०।।

शील विशुद्ध तप है, शील दर्शनकी शुद्धि है, शील ही ज्ञानकी शुद्धि है, शील विषयोंका शत्रु है और शील मोक्षकी सीढ़ी है।।२०।।

जह विशुद्ध लुद्धविसदो, तह थावरजंगमाण घोराणं।
सव्वेसिं पि विणासदि, विसयविसं दारुणं होई।।२१।।

जिस प्रकार विषय, लोभी मनुष्यको विष देनेवाले हैं -- नष्ट करनेवाले हैं उसी प्रकार भयंकर स्थावर तथा जंगम -- त्रस जीवोंका विष भी सबको नष्ट करता है, परंतु विषयरूपी विष अत्यंत दारुण होता है।

भावार्थ -- जिस प्रकार हाथी, मीन, भ्रमर, पतंग तथा हरिण आदिके विषय उन्हें विषकी भाँति नष्ट कर देते हैं उसी प्रकार स्थावरके विष मोहरा, सोमल आदि और जंगम अर्थात् साँप, बिच्छू आदि भयंकर जीवोंके विष विष सभीको नष्ट करते हैं। इस प्रकार जीवोंको नष्ट करनेकी अपेक्षा विषय और विषमें समानता है, परंतु विचार करनेपर विषयरूपी विष अत्यंत दारुण होता है। क्योंकि विषसे तो जीवका एक भव ही नष्ट होता है और विषयसे अनेक भव नष्ट होते हैं।।२१।।

बार एकम्मि य जम्मे, मरिज्ज विसवेयणाहदो जीवो।
विसयविसपरिहया णं, भमंति संसारकांतारे।।२२।।

विषकी वेदनासे पीड़ित हुआ जीव एक जन्ममें एक ही बार मरणको प्राप्त होता है परंतु विषयरूपी

विषसे पीड़ित हुए जीव संसाररूपी अटवीमें निश्चयसे भ्रमण करते रहते हैं।।२२।।

णरएसु वेयणाओ, तिरिक्खए माणुएसु दुक्खाइं।
देवेसु वि दोहग्गं, लहंति विसयासता जीवा।।२३।।

विषयासक्त जीव नरकोंमें वेदनाओंको, तिर्यंच और मनुष्योंमें दुःखोंको तथा देवोंमें दौर्भाग्यको प्राप्त होते हैं।।२३।।

तुसधम्मंतबलेण य, जह दव्वं ण हि णराण गच्छेदि।
तवसीलमंत कुसली, खवंति विसयं विसं व खलं।।२४।।

जिस प्रकार तुषोंके उड़ा देनेसे मनुष्योंका कोई सारभूत द्रव्य नष्ट नहीं होता उसी प्रकार तप और शीलसे युक्त कुशल पुरुष विषयरूपी विषको खलके समान दूर छोड़ देते हैं।

भावार्थ -- तुषको उड़ा देनेवाला सूपा आदि तुषध्मत् कहलाता है, उसके बलसे मनुष्य सारभूत द्रव्यको बचाकर तुषको उड़ा देता है -- फेंक देता है उसी प्रकार तप और उत्तम शीलके धारक पुरुष ज्ञानोपयोगके द्वारा विषयभूत पदार्थोंके सारको ग्रहण कर विषयोंको खलके समान दूर छोड़ देते हैं। तप और शीलसे सहित ज्ञानी जीव इंद्रियोंके विषयको खलको समान समझते हैं। जिस प्रकार इक्षुका रस ग्रहण कर लेनेपर छिलका फेंक दिये जाते हैं उसी प्रकार विषयोंका सार जानना था सो ज्ञानी जीव इस सारको ग्रहण कर छिलकेके समान विषयोंका त्याग कर देता है। ज्ञानी मनुष्य विषयोंको ज्ञेयमात्र जान उन्हें जानता तो है परंतु उनमें आसक्त नहीं होता।

अथवा एक भाव यह भी प्रकट होता है कि कुशल मनुष्य विषयको दुष्ट विषयके समान छोड़ देते हैं।।२४।।

वट्टेसु य खंडेसु य, भद्देसु य विसालेसु अंगेसु।
अंगेसु य पप्पेसु य, सव्वेसु य उत्तमं सीलं।।२५।।

इस मनुष्यके शरीरमें कोई एक अंग वृत्त अर्थात् गोल है, कोई खंड अर्थात् अर्धगोलाकार है, कोई भद्र अर्थात् सरल है और कोई विशाल अर्थात् चौड़ा है सो इन अंगोंके यथास्थान प्राप्त होनेपर भी सबमें उत्तम अंग शील ही है।

भावार्थ -- शीलके बिना मनुष्यके समस्त अंगोंकी शोभा निःसार है इसलिए विवेकी जन शीलकी और ही लक्ष्य रखते हैं।।२५।।

पुरिसेण वि सहियाए, कुशमयमूढेहि विसयलोलेहिं।
संसारे भमिदव्वं, अरयघरट्टं व भूदेहिं।।२६।।

मिथ्यामतमें मूढ़ हुए कितने ही विषयोंके लोभी मनुष्य ऐसा कहते हैं कि हमारा पुरुष -- ब्रह्म तो

निर्विकार है। विषयोंमें प्रवृत्ति भूतचतुष्टयकी होती है इसलिए उनसे हमारा कुछ बिगाड़ नहीं है, क्योंकि उस भूतचतुष्टरूप शरीरके साथ पुरुष -- ब्रह्मको भी अरघटकी घड़ीके समान संसारमें भ्रमण करना पड़ता है।

भावार्थ -- जब तक यह जीव शरीरके साथ एकीभावको प्राप्त हो रहा है तब तक शरीरके साथ इसे भी भ्रमण करना पड़ता है। इसलिए मिथ्यामतके चक्रमें पड़कर अपनी विषयलोलुपताको बढ़ाना श्रेयस्कर नहीं है।।२६।।

आदेहि कम्मगंठी, जावद्धा विसयरायमोहेहिं।
तं छिंदंति कयत्था, तवसंजमसीलयगुणेण।।२७।।

विषयसंबंधी राग और मोहके द्वारा आत्मामें जो कर्मोंकी गाँठ बाँधी गयी है उसे कृतकृत्य -- ज्ञानी पुरुष तप संयम और शीलरूप गुणके द्वारा छेदते हैं।।२७।।

उदधी व रदणभरिदो, तवविणयसीलदाणरयणाणं।
सोहे तोय ससीलो, णिव्वाणमणुत्तरं पत्तो।।२८।।

जिस प्रकार समुद्र रत्नोंसे भरा होता है तो भी तोय अर्थात् जलसे ही शोभा देता है उसी प्रकार यह जीव भी तप विनय शील दान आदि रत्नोंसे युक्त है तो भी शीलसे सहित होता ही सर्वोत्कृष्ट निर्वाणको प्राप्त होता है।

भावार्थ -- तप विनय आदिसे युक्त होनेपर भी यदि मोह और क्षोभसे रहित समता परिणामरूपी शील प्रकट नहीं होता है तो मोक्षकी प्राप्ति नहीं होती इसलिए शीलको प्राप्त करना चाहिए।।२८।।

सुणहाण गद्दहाण य, गोपसुमहिलाण दीसदे मोक्खो।
जे सोधंति चउत्थं, पिच्छिज्जंता जणेहि सव्वेहिं।।२९।।

सब लोग देखो, क्या कुत्ते, गधे, गाय आदि पशु तथा स्त्रियोंको मोक्ष देखनेमें आता है? अर्थात् नहीं आता। किंतु चतुर्थ पुरुषार्थ अर्थात् मोक्षका जब साधन करते हैं उन्हींका मोक्ष देखा जाता है।

भावार्थ -- बिना शीलके मोक्ष नहीं होता है। यदि शीलके बिना भी मोक्ष होता तो कुत्ते, गधे, गाय आदि पशु और स्त्रियोंको भी मोक्ष होता, परंतु नहीं होता। यहाँ काकु द्वारा आचार्यने 'दृश्यते' क्रियाका प्रयोग किया है इसलिए उसका निषेधपरक अर्थ होता है। अथवा 'चउत्थं' के स्थानपर 'चउक्कं' पाठ ठीक जान पड़ता है, उसका अर्थ होता है -- क्रोधादि चार कषायोंको शोधते हैं -- दूर करते हैं अर्थात् कषायोंको दूर कर शीलसे वीतराग भावसे सहित होते हैं वे ही मोक्ष को प्राप्त करते हैं।।२९।।

जइ विसयलोलएहिं, णाणीहि हविज्ज साहिदो मोक्खो।
तो सो सुरत्तपुत्तो, दसपुव्वीओ वि किं गदो णरयं।।३०।।

यदि विषयोंके लोभी ज्ञानी मनुष्य मोक्षको प्राप्त कर सकते होते तो दशपूर्वोंका पाठी रुद्र नरक

क्यों जाता?

भावार्थ -- विषयोंके लोभी मनुष्य शीलसे रहित होते हैं अतः ग्यारह अंग और नौ पूर्वका ज्ञान होनेपर भी मोक्षसे वंचित रहते हैं। इसके विपरीत शीलवान् मनुष्य अष्ट प्रवचन मातृकाके जघन्य ज्ञानसे भी अंतर्मुहुर्तके भीतर केवलज्ञानी होकर मोक्ष प्राप्त कर सकता है। शीलकी -- वीतरागभावकी कोई अद्‌भुत महिमा है।।३०।।

जइ णाणेण विसोहो, सीलेण विणा बुहेहि णिद्दिट्ठो।
दस्स पुव्विस्स य भावो, ण किं पुण णिम्मलो जादो।।३१।।

यदि विद्वान् शीलके बिना मात्र ज्ञानसे भावको शुद्ध हुआ कहते हैं तो दश पूर्वके पाठी रुद्रका भाव निर्मल -- शुद्ध क्यों नहीं हो गया?

भावार्थ -- मात्र ज्ञानसे भावकी निर्मलता नहीं होती। भावकी निर्मलताके लिए राग, द्वेष और मोहके अभाव की आवश्यकता होती है। राग, द्वेष और मोहके अभावसे भावकी जो निर्मलता होती है वही शील कहलाती है। इस शीलसे ही जीवका कल्याण होता है।।३१।।

जाए विसयविरत्तो, सो गमयदि नरयवेयणां पउरां।
ता लेहदि अरुहपयं, भणियं जिन वड्ढमाणेण।।३२।।

जो विषयोंसे विरक्त है वह नरककी भारी वेदनाको दूर हटा देता है तथा अरहंतपदको प्राप्त करता है ऐसा वर्धमान जिनेंद्रने कहा है।

भावार्थ -- जिनागममें ऐसा कहा है कि तीसरे नरक तकसे निकलकर जीव तीर्थंकर हो सकता है सो सम्यग्दृष्टि मनुष्य नरकमें रहता हुआ भी अपने सम्यक्त्वके प्रभावसे नरककी उस भारी वेदनाका अनुभव नहीं करता -- उसे अपनी नहीं मानता और वहाँसे निकलकर तीर्थंकर पदको प्राप्त होता है, यह सब शीलकी ही महिमा है।।३२।।

एवं बहुप्पयारं, जिणेहिं पच्चक्खणाणदरिसीहिं।
सीलेण य मोक्खपयं, अक्खातीदं च लोयणाणेहि।।३३।।

इस प्रकार प्रत्यक्ष ज्ञान और प्रत्यक्ष दर्शनसे युक्त लोकके ज्ञाता जिनेंद्र भगवान्‌ने अनेक प्रकारसे कथन किया है कि अतींद्रिय मोक्षपद शीलसे प्राप्त होता है।।३३।।

सम्मत्तणाणदंसणतववीरियपंचयारमप्पाणं।
जलणो वि पवणसहिदो, डहंति पोराणयं कम्मं।।३४।।

सम्यक्त्व, ज्ञान, दर्शन, तप और वीर्य ये पाँच आचार पवनसहित अग्निके समान जीवोंके पुरातन कर्मोंको दग्ध कर देते हैं।।३४।।

णिद्दड्ढअट्ठकम्मा, विसयविरत्ता जिदिंदिया धीरा।
तवविणयसीलसहिदा, सिद्धा सिद्धिगदिं पत्ता।।३५।।

जिन्होंने इंद्रियोंको जीत लिया है, जो विषयोंसे विरक्त हैं, धीर हैं अर्थात् परिषहादिके आनेपर विचलित नहीं होते हैं जो तप विनय और शीलसे सहित हैं ऐसे जीव आठ कर्मोंको समग्ररूपसे दग्ध कर सिद्धि गतिको प्राप्त होते हैं। उनकी सिद्ध संज्ञा है।।३५।।

लावण्णसीलकुसलो, जम्ममहीरुहो जस्स सवणस्स।
सो सीलो य महप्पा, भमित्थ गुणवित्थरो भविए।।३६।।

जिस मुनिका जन्मरूपी वृक्ष लावण्य है और शीलसे कुशल है वह शीलवान् है, महात्मा है तथा उसके गुणोंका विस्तार लोकमें व्याप्त होता है।

भावार्थ -- जिस मुनिका जन्म जीवोंको अत्यंत प्रिय है तथा समताभावरूप शीलसे सुशोभित है वही मुनि शीलवान् कहलाता है और उसीके गुण लोकमें विस्तारको प्राप्त होते हैं।।३६।।

णाणं झाणं जोगो, दंसणसुद्धी य वीरियावत्तं।
सम्मत्तदंसणेण य, लहंति जिणसासणे बोहिं।।३७।।

ध्यान, योग और दर्शनकी शुद्धि -- निरतिचार प्रवृत्ति ये सब वीर्यके आधीन हैं और सम्यग्दर्शनके द्वारा जीव जिनशासनसंबंधी बोधि -- रत्नत्रयरूप परिणतिको प्राप्त होते हैं।

भावार्थ -- आत्मामें वीर्यगुणका जैसा विकास होता है उसीके अनुरूप ज्ञान, ध्यान, योग और दर्शनकी शुद्धता होती है तथा सम्यग्दर्शनके द्वारा जीव जिनशासनमें बोधि -- रत्नत्रयका जैसा स्वरूप बतलाया है उसरूप परिणतिको प्राप्त होते हैं।।३७।।

जिणवयणगहिदसारा, विसयविरत्ता तवोधणा धीरा।
सीलसलिलेण ण्हावा, ते सिद्धालयसुहं जंति।।३८।।

जिन्होंने जिनेंद्रदेवके वचनोंसे सार ग्रहण किया है, जो विषयोंसे विरक्त हैं, जो तपको धन मानते हैं, धीर वीर हैं और जिन्होंने शीलरूपी जलसे स्नान किया है वे सिद्धालयके सुखको प्राप्त होते हैं।।३८।।

सव्वगुणखीणकम्मा, सुहदुक्खविवज्जिदा मणविसुद्धा।
पप्फोडियकम्मरया, हवंति आराहणापयडा।।३९।।

जिन्होंने समस्त गुणोंसे कर्मोंको क्षीण कर दिया है, जो सुख और दुःखसे रहित हैं, मनसे विशुद्ध हैं और जिन्होंने कर्मरूपी धूलिको उड़ा दिया है ऐसे आराधनाओंको प्रकट करनेवाले होते हैं।।३९।।

अरहंते सुहभत्ती, सम्मत्तं दंसणेण सुविसुद्धं।
सीलं विसयविरागो, णाणं पुण केरिसं भणियं।।४०।।

अरहंत भगवान्में शुभ भक्ति होना सम्यक्त्व है, यह सम्यक्त्व तत्त्वार्थश्रद्धानसे अत्यंत शुद्ध है और विषयोंसे विरक्त होना ही शील है। ये दोनों ही ज्ञान हैं, इनसे अतिरिक्त ज्ञान कैसा कहा गया है?

भावार्थ -- सम्यक्त्व और शीलसे सहित जो ज्ञान है वही ज्ञान, ज्ञान है। इनसे रहित ज्ञान कैसा? अन्य मतोंमें ज्ञानको सिद्धिका कारण कहा गया है परंतु जिस ज्ञानके साथ सम्यक्त्व तथा शील नहीं है वह अज्ञान है, उस अज्ञानरूप ज्ञानसे मुक्ति नहीं हो सकती।।४०।।

इस प्रकार कुंदकुंदाचार्य विरचित शीलप्राभृत समाप्त हुआ।

***

द्वादशानुप्रेक्षा

*

बारसणुपेक्खा (द्वादशानुप्रेक्षा)

मंगलाचरण और प्रतिज्ञावाक्य

णमिऊण सव्वसिद्धे, झाणुत्तमखविददीहसंसारे।
दस दस दो दो व जिणे, दस दो अणुपेहणं वोच्छे।।१।।

जिन्होंने उत्तम ध्यानके द्वारा दीर्घ संसारका नाश कर दिया है ऐसे समस्त सिद्धों तथा चौबीस तीर्थंकरोंको नमस्कार कर बारह अनुप्रेक्षाओंको कहूँगा।।१।।

बारह अनुप्रेक्षाओंके नाम

अद्धुवमसरणमेगत्तमण्णसंसारलोगमसुचित्तं।
आसवसंवरणिज्जर, धम्मं बोहिं च चिंतेज्जो।२।।

अध्रुव, अशरण, एकत्व, अन्यत्व, संसार, लोक, अशुचित्व, आस्रव, संवर, निर्जरा, धर्म और बोधि इन बारह अनुप्रेक्षाओंका चिंतन करना चाहिए।।२।।

अध्रुव अनुप्रेक्षा

वरभवणजाणवाहणसयणासणदेवमणुवरायाणं।
मादुपिदुसजणभिच्चसंबंधिणो य पिदिवियाणिच्चा।।३।।

उत्तम भवन, यान, वाहन, शयन, आसन, देव, मनुष्य, राजा, माता, पिता, कुटुंबी और सेवक आदि सभी अनित्य तथा पृथक् हो जानेवाले हैं।।३।।

सामग्गिंदियरूवं, आरोग्गं जोव्वणं बलं तेजं।
सोहग्गं लावण्णं, सुरधणुमिव सस्सयं ण हवे।।४।।

सब प्रकारकी सामग्री -- परिग्रह, इंद्रियाँ, रूप, नीरोगिता, यौवन, बल, तेज, सौभाग्य और सौंदर्य ये सब इंद्रधनुष्यके समान -- शाश्वत रहनेवाले नहीं हैं अर्थात् नश्वर है।।४।।

जलबुब्बुदसक्कधणुखणरुचिघणसोहमिव थिरं ण हवे।
अहमिंदट्ठाणाहिं, बलदेवप्पहुदिपज्जाया।।५।।

अहमिंद्रके पद और बलदेव आदिकी पर्यायें जलके बबूले, इंद्रधनुष्य, बिजली और मेघकी शोभाके समान -- स्थिर रहनेवाली नहीं हैं।।५।।

जीवणिबद्धं देहं, खीरोदयमिव विणस्सदे सिग्घं।
भोगोपभोगकारणदव्वं णिच्चं कहं होदि।।६।।

जब दूध और पानीकी तरह जीवके साथ मिला हुआ शरीर शीघ्र नष्ट हो जाता है तब भोगोपभोगका कारणभूत द्रव्य-- स्त्री आदि परिकर नित्य कैसे हो सकता है? ।।६।।

परमट्ठेण दु आदा, देवासुरमणुवरायविभवेहिं।
वदिरित्तो सो अप्पा, सस्सदमिदि चिंतए णिच्चं।।७।।

परमार्थसे आत्मा देव, असुर और नरेंद्रोंके वैभवोंसे भिन्न है और वह आत्मा शाश्वत है ऐसा निरंतर चिंतन करना चाहिए।।७।।

अशरणानुप्रेक्षा

मणिमंतोसहरक्खा, हयगयरहओ य सयलविज्जाओ।
जीवाणं ण हि सरणं, तिसु लोए मरणसमयम्हि।।८।।

मरणके समय तीनों लोकोंमें मणि, मंत्र, औषधि, रक्षक सामग्री, हाथी, घोड़े, रथ और समस्त विद्याएँ जीवोंके लिए शरण नहीं हैं अर्थात् मरणसे बचानेमें समर्थ नहीं हैं।।८।।

सग्गो हवे हि दुग्गं, भिच्चा देवा य पहरणं वज्जं।
अइरावणो गइंदो, इंदस्स ण विज्जदे सरणं।।९।।

स्वर्ग ही जिसका किला है, देव सेवक हैं, वज्र शस्त्र है और ऐरावत गजराज है उस इंद्रका भी कोई शरण नहीं है -- उसे भी मृत्युसे बचानेवाला कोई नहीं है।।९।।

णवणिहि चउदहरयणं, हयमत्तगइंदचाउरंगबलं।
चक्केसस्स ण सरणं, पेच्छंतो कद्दये काले।।१०।।

नौ निधियाँ, चौदह रत्न, घोड़े, मत्त हाथी और चतुरंगिणी सेना चक्रवर्तीके लिए शरण नहीं हैं। देखते-देखते काल उसे नष्ट कर देता है।।१०।।

जाइजरामरणरोगभयदो रक्खेदि अप्पणो अप्पा।
तम्हा आदा सरणं, बंधोदयसत्तकम्मवदिरित्तो।।११।।

जिस कारण आत्मा ही जन्म, जरा, मरण, रोग और भयसे आत्माकी रक्षा करता है उस कारण बंध उदय और सत्तारूप अवस्थाको प्राप्त कर्मोंसे पृथक् रहनेवाला आत्मा ही शरण है -- आत्माकी निष्कर्म अवस्था ही उसे जन्म जरा आदिसे बचानेवाली है।।११।।

अरुहा सिद्धायरिया, उवझाया साहु पंचपरमेट्ठी।
ते वि हु चिट्ठदि आदे, तम्हा आदा हु मे सरणं।।१२।।

अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु ये पाँच परमेष्ठी हैं। चूँकि ये परमेष्ठी भी आत्मामें निवास करते हैं अर्थात् आत्मा स्वयं पंच परमेष्ठीरूप परिणमन करता है इसलिए आत्मा ही मेरा शरण है।।१२।।

सम्मत्तं सण्णाणं, सच्चारित्तं च सत्तवो चेव।
चउरो चिट्ठदि आदे, तम्हा आदा हु मे सरणं।।१३।।

चूँकि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और सम्यक् तप ये चारों भी आत्मामें स्थित हैं इसलिए आत्मा ही मेरा शरण है।।१३।।

एक्को करेदि कम्मं, एक्को हिंडदि य दीहसंसारे।
एक्को जायदि मरदि य, तस्स फलं भुंजदे एक्को।।१४।।

जीव अकेला ही कर्म करता है, अकेला ही दीर्घ संसारमें भ्रमण करता है, अकेला ही जन्म लेता है, अकेला ही मरता है और अकेला ही कर्मका फल भोगता है।।१४।।

एक्को करेदि पावं, विसयणिमित्तेण तिव्वलोहेण।
णिरयतिरिएसु जीवो, तस्स फलं भुंजदे एक्को।।१५।।

विषयोंके निमित्त तीव्र लोभसे जीव अकेला ही पाप करता है और नरक तथा तिर्यंच गतिमें अकेला ही उसका फल भोगता है।।१५।।

एक्को करेदि पुण्णं, धम्मणिमित्तेण पत्तदाणेण।
मणुवदेवेसु जीवो, तस्स फलं भुंजदे एक्को।।१६।।

धर्मके निमित्त पात्रदानके द्वारा जीव अकेला ही पुण्य करता है और मनुष्य तथा देवोंमें अकेला ही उसका फल भोगता है।।१६।।

पात्रके तीन भेदों तथा अपात्रका वर्णन

उत्तमपत्तं भणियं, सम्मत्तगुणेण संजुदो साहू।
सम्मादिट्ठी सावय, मज्झिमपत्तो हु विण्णेओ।।१७।।
णिद्दिट्ठो जिणसमये, अविरदसम्मो जहण्णपत्तो त्ति।
सम्मत्तरयणरहिओ, अपत्तमिदि संपरिक्खेज्जो।।१८।।

सम्यक्त्वरूप गुणसे युक्त साधुको उत्तम पात्र कहा गया है, सम्यग्दृष्टि श्रावकको मध्यम पात्र जानना चाहिए, जिनागममें अविरत सम्यग्दृष्टिको जघन्य पात्र कहा गया है और जो सम्यग्दर्शनरूपी रत्नसे रहित है वह अपात्र है। इस प्रकार पात्र और अपात्रकी परीक्षा करनी चाहिए।।१७-१८।।

दंसणभट्टा भट्टा, दंसणभट्टस्स णत्थि णिव्वाणं।
सिज्झंति चरियभट्टा, दंसणभट्टा ण सिज्झंति।।१९।।

जो सम्यग्दर्शनसे भ्रष्ट हैं वे ही भ्रष्ट हैं। सम्यग्दर्शनसे भ्रष्ट मनुष्यका मोक्ष नहीं होता। जो चारित्रसे भ्रष्ट हैं वे तो (पुनः चारित्रके धारण करनेपर) सिद्ध हो जाते हैं, परंतु जो सम्यग्दर्शनसे भ्रष्ट हैं वे सिद्ध नहीं हो सकते।

भावार्थ -- जो मनुष्य सम्यग्दृष्टि तो है परंतु चारित्रमोहका तीव्र उदय आ जानेके कारण चारित्रसे भ्रष्ट हो गया है वह पुनः चारित्रको धारण कर मोक्ष प्राप्त कर लेता है परंतु जो सम्यग्दर्शनसे भी भ्रष्ट हो गया है उसका मोक्ष प्राप्त करना सरल नहीं है।।१९।।

एक्कोहं णिम्ममो सुद्धो, णाणदंसणलक्खणो।
सुद्धेयत्तमुपादेयमेवं चिंतेइ संजदो।।२०।।

मैं अकेला हूँ, ममत्वसे रहित हूँ, शुद्ध हूँ तथा ज्ञान-दर्शनरूप लक्षणसे युक्त हूँ इसलिए शुद्ध एकत्वभाव ही उपादेय है -- ग्रहण करनेके योग्य है। इस प्रकार संयमी साधुको सदा विचार करते रहना चाहिए।।२०।।

अन्यत्वानुप्रेक्षा

मादापिदरसहोदरपुत्तकलत्तादिबंधुसंदोहो।
जीवस्स ण संबंधो, णियकज्जवसेण वट्टंति।।२१।।

माता, पिता, सगा भाई, पुत्र तथा स्त्री आदि बंधुजनों -- इष्ट जनोंका समूह जीवसे संबंध रखनेवाला नहीं है। ये सब अपने कार्यके वश साथ रहते हैं।।२१।।

अण्णो अण्णं सोयदि, मदो वि मम णाहगो त्ति मण्णंतो।
अप्पाणं ण हु सोयदि, संसारमहण्णवे बुड्ढं।।२२।।

यह मेरा स्वामी था, यह मर गया इस प्रकार मानता हुआ अन्य जीव अन्य जीवके प्रति शोक करता है परंतु संसाररूपी महासागरमें डूबते हुए अपने आपके प्रति शोक नहीं करता।।२२।।

अण्णं इमं सरीरादिगं पि होज्ज बाहिरं दव्वं।
णाणं दंसणमादा, एवं चिंतेहि अण्णत्तं।।२३।।

यह जो शरीरादिक बाह्य द्रव्य है वह सब मुझसे अन्य है, ज्ञान दर्शन ही आत्मा है अर्थात् ज्ञान दर्शन ही मेरे हैं। इस प्रकार अन्यत्व भावनाका चिंतन करो।।२३।।

संसारानुप्रेक्षा

पंचविहे संसारे, जाइजरामरणरोगभयपउरे।
जिणमग्गमपेच्छंतो, जीवो परिभमदि चिरकालं।।२४।।

जिन भगवानके द्वारा प्रणीत मार्गकी प्रतीतिको नहीं करता हुआ जीव, चिरकालसे जन्म, जरा, मरण, रोग और भयसे परिपूर्ण पाँच प्रकारके संसारमें परिभ्रमण करता रहता है। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव ये पाँच परिवर्तन ही पांच प्रकारका संसार कहलाते हैं।।२४।।

द्रव्यपरिवर्तनका स्वरूप

सव्वे वि पोग्गला खलु, एगे भुत्तुज्झिया हि जीवेण।
असयं अणंतखुत्तो, पुग्गलपरियट्टसंसारे।।२५।।

पुद्गलपरिवर्तन (द्रव्यपरिवर्तन)रूप संसारमें इस जीवने अकेले ही समस्त पुद्गलोंको अनंत बार भोगकर छोड़ दिया है।।२५।।

क्षेत्रपरिवर्तनका स्वरूप

सव्वम्हि लोयखेत्ते, कमसो तं णत्थि जं ण उप्पण्णं।
उग्गाहणेण बहुसो, परिभमिदो खेत्तसंसारे।।२६।।

समस्त लोकरूपी क्षेत्रमें ऐसा कोई स्थान नहीं है जहाँ यह क्रमसे उत्पन्न न हुआ हो। समस्त अवगाहनाओंके द्वारा इस जीवने क्षेत्र संसारमें अनेक बार भ्रमण किया है।

भावार्थ -- क्षेत्रपरिवर्तनके स्वक्षेत्र परिवर्तन और परक्षेत्र परिवर्तनकी अपेक्षा दो भेद हैं। समस्त लोकाकाशमें क्रमसे उत्पन्न हो लेनेसे जितना समय लगता है वह स्वक्षेत्रपरिवर्तन है और क्रमसे जघन्य अवगाहनासे लेकर उत्कृष्ट अवगाहना तक धारण करनेमें जितना समय लगता है उतना परक्षेत्रपरिवर्तन है। इस गाथामें दोनों प्रकारके क्षेत्रपरिवर्तनोंकी चर्चा हो रही है।।२६।।

कालपरिवर्तनका स्वरूप

अवसप्पिणिउवसप्पिणिसमयावलियासु णिरवसेसासु।
जादो मुदो य बहुसो, परिभमिदो कालसंसारे।।२७।।

यह जीव अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी कालकी समस्त समयावलियोंमें उत्पन्न हुआ है तथा मरा है। इस तरह इसने काल संसारमें अनेक बार परिभ्रमण किया है।।२७।।

भवपरिवर्तनका स्वरूप

णिरयाउजहण्णादिसु, जाव दु उवरिल्लया दु गेवेज्जा।
मिच्छत्तसंसिदेण दु, बहुसो वि भवट्ठिदी भमिदो।।२८।।

मिथ्यात्वके आश्रयसे इस जीवने नरककी जघन्य आयु से लेकर उपरिम ग्रैवेयक तककी भवस्थितिको धारण कर अनेक बार भ्रमण किया है।

भावार्थ -- नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देवगतिमें जघन्यसे लेकर उत्कृष्ट आयु तकको क्रमसे प्राप्त कर लेनेमें जितना समय लगता है उतने समयको भवपरिवर्तन कहते हैं। नरक गतिकी जघन्य स्थिति दस हजार वर्षकी तथा उत्कृष्ट स्थिति तैंतीस सागरकी है। मनुष्य और तिर्यंच गतिकी जघन्य स्थिति अंतर्मुहूर्तकी और उत्कृष्ट स्थिति तीन पल्यकी है। तथा देवगतिकी जघन्य स्थिति दस हजार वर्षकी और उत्कृष्ट स्थिति तैंतीस सागरकी है। परंतु मिथ्यादृष्टि जीवकी उत्पत्ति देवगतिमें इकतीस सागर की आयुसे युक्त उपरिम ग्रैवेयक तक ही होती है। इसलिए देवगतिमें भवस्थितिकी अंतिम मर्यादा ग्रैवेयक तक ही बतलायी गयी है।।२८।।

भावपरिवर्तनका स्वरूप

सव्वे पयडिट्ठिदिओ, अणुभागपदेसबंधठाणाणि।
जीवो मिच्छत्तवसा, भमिदो पुण भावसंसारे।।२९।।

इस जीवने मिथ्यात्वके वश समस्त कर्मप्रकृतियोंकी सब स्थितियों, सब अनुभागबंधस्थानों और सब प्रदेशबंध स्थानोंको प्राप्त कर बार-बार भाव संसारमें परिभ्रमण किया है।

भावार्थ -- ज्ञानावरणादि समस्त कर्मप्रकृतियोंके जघन्य स्थितिबंधसे लेकर उत्कृष्ट स्थितिबंध तकके योग्य समस्त कषायाध्यवसायस्थान, समस्त अनुभागाध्यवसायस्थान और समस्त योगस्थानोंको प्राप्त कर लेना भावसंसार है। ये पाँचों परिवर्तन ही पाँच प्रकारके संसार हैं। इन संसारोंमें जीवका परिभ्रमण मिथ्यात्वके कारण होता है।।२९।।

पुत्तकलत्तणिमित्तं, अत्थं अज्जयदि पापबुद्धीए।
परिहरदि दयादाणं, सो जीवो भमदि संसारे।।३०।।

जो जीव पुत्र तथा स्त्रीके निमित्त पापबुद्धिसे धन कमाता है और दयादानका परित्याग करता है वह संसारमें भ्रमण करता है।।३०।।

मम पुत्तं मम भज्जा, मम धणधण्णो त्ति तिव्वकंखाए।
चइऊण धम्मबुद्धिं, पच्छा परिपडदि दीहसंसारे।।३१।।

जो जीव, यह मेरा पुत्र है, यह मेरी स्त्री है, यह मेरा धनधान्य है इस प्रकारकी तीव्र आकांक्षासे धर्मबुद्धिको छोड़ता है वह पीछे दीर्घ संसारमें पड़ता है।।३१।।

मिच्छोदयेण जीवो, णिंदंतो जोण्हभासियं धम्मं।
कुधम्मकुलिंगकुतित्थं, मण्णंतो भमदि संसारे।।३२।।

मिथ्यात्वके उदयसे यह जीव जिनेंद्र भगवान्‌के द्वारा कथित धर्मकी निंदा करता हुआ तथा कुलिंग और कुतीर्थको मानता हुआ संसारमें भ्रमण करता है।।३२।।

हंतूण जीवरासिं, महुमंसं सेविऊण सुरयाणं।
परदव्वपरकलत्तं, गहिऊण य भमदि संसारे ।।३३।।

जीवराशिका घात कर, मधु मांस और मदिराका सेवन कर तथा परद्रव्य और परस्त्रीको ग्रहण कर यह जीव संसारमें भ्रमण करता है।।३३।।

जत्तेण कुणइ पावं, विसयणिमित्तं च अहणिसं जीवो।
मोहंधयारसहियो, तेण दु परिपडदि संसारे।।३४।।

मोहरूपी अंधकारसे सहित जीव विषयोंके निमित्त यत्नपूर्वक पाप करता है और उससे संसारमें पड़ता है।।३४।।

णिच्चिदरधादुसत्तय, तरुदसवियलिंदिएसु छच्चेव।
सुरणिरयतिरियचउरो, चौद्दस मणुए सदसहस्सा।।३५।।

नित्य निगोद, इतर निगोद, पृथिवीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक और वायुकायिक इन छह प्रकारके जीवोंमें प्रत्येककी सात सात लाख, प्रत्येक वनस्पतिकायिककी दस लाख, विकलेंद्रियोंकी छह लाख, देव, नारकी तथा पंचेंद्रिय तिर्यंचोंमें प्रत्येककी चार-चार लाख और मनुष्योंकी चौदह लाख इस प्रकार सब मिलाकर चौरासी लाख योनियाँ हैं। इनमें संसारी जीव भ्रमण करता है।।३५।।

संजोगविप्पजोगं, लाहालाहं सुहं च दुक्खं च।
संसारे भूदाणं, होदि हु माणं तहावमाणं च।।३६।।

संसारमें जीवोंको संयोग वियोग, लाभ अलाभ, सुख दुःख तथा मान अपमान प्राप्त होते हैं।।३६।।

कम्मणिमित्तं जीवो, हिंडदि संसारघोरकांतारे।
जीवस्स ण संसारो, णिच्चयणयकम्मविम्मुक्को।।३७।।

कर्मोंके निमित्तसे यह जीव संसाररूपी भयानक वनमें भ्रमण करता है, किंतु निश्चय नयसे जीव कर्मोंसे रहित है इसलिए उसका संसार भी नहीं है।

भावार्थ -- जीवके संसारी और मुक्त भेद व्यवहार नयसे बनते हैं, निश्चय नयसे नहीं बनते, क्योंकि निश्चय नयसे जीव और कर्म दोनों भिन्न भिन्न द्रव्य हैं।।३७।।

संसारमदिक्कंतो, जीवोवादेयमिति विचिंतेज्जो।
संसारदुहक्कंतो, जीवो सो हेयमिति विचिंतेज्जो।।३८।।

संसारसे छूटा हुआ जीव उपादेय है ऐसा विचार करना चाहिए और संसारके दुःखोंसे आक्रांत जीव छोड़नेयोग्य हैं ऐसा चिंतन करना चाहिए।।३८।।

लोकानुप्रेक्षा

जीवादिपयट्ठाणं, समवाओ सो णिरुच्चए लोगो।
तिविहो हवेइ लोगो, अहमज्झिमउड्ढभेएण।।३९।।

जीव आदि पदार्थोंका जो समूह है वह लोक कहा जाता है। अधोलोक, मध्यमलोक और ऊर्ध्वलोक के भेदसे लोक तीन प्रकारका होता है।।३९।।

णिरया हवंति हेट्ठा, मज्झे दीवंबुरासयो संखा।
सग्गो तिसट्ठिभेओ, एत्तो उड्ढो हवे मोक्खो।।४०।।

नीचे नरक है, मध्यमें असंख्यात द्वीपसमुद्र हैं ऊपर त्रेसठ भेदोंसे युक्त स्वर्ग हैं और इनके ऊपर मोक्ष है।।४०।।

स्वर्गके त्रेसठ भेदोंका वर्णन

इगतीस सत्त चत्तारि दोण्णि एक्केक्क छक्क चदुकप्पे।
तित्तिय एक्केंकेंदियणामा उडुआदि तेसट्ठी।।४१।।

सौधर्म और ऐशान कल्पमें इकतीस, सनत्कुमार और माहेंद्र कल्पमें सात, ब्रह्म और ब्रह्मोत्तर कल्पमें चार, लांतव और कापिष्ठ कल्पमें दो, शुक्र और महाशुक्र कल्पमें एक, शतार और सहस्रार कल्पमें एक तथा आनत प्राणत और अच्युत इन चार अंतके कल्पोंमें छह इस तरह सोलह कल्पोंमें कुल ५२ पटल हैं। इनके आगे अधोग्रैवेयक, मध्यम ग्रैवेयक और उपरिम ग्रैवेयकोंके त्रिकमें प्रत्येकके तीन अर्थात् नौ ग्रैवेयकोंके नौ, अनुदिशोंका एक और अनुत्तर विमानोंका एक पटल है। इस तरह सब मिलाकर ऋतु आदि त्रेसठ पटल हैं।।४१।।

असुहेण णिरयतिरियं, सुहउवजोगेण दिविजणरसोक्खं।
सुद्धेण लहइ सिद्धिं, एवं लोयं विचिंतिज्जो।।४२।।

अशुभोपयोगसे नरक और तिर्यंच गति प्राप्त होती है, शुभोपयोगसे देव और मनुष्यगतिका सुख मिलता है और शुद्धोपयोगसे जीव मुक्तिको प्राप्त होता है -- इस प्रकार लोकका विचार करना चाहिए।।४२।।

अशुचित्वानुप्रेक्षा

अट्ठीहिं पडिबद्धं, मंसविलित्तं तएण ओच्छण्णं।
किमिसंकुलेहिं भरियमचोक्खं देहं सयाकालं।।४३।।

यह शरीर हड्डियोंसे बना है, मांससे लिपटा है, चर्मसे आच्छादित है, कीटसंकुलोंसे भरा है और

सदा मलिन रहता है।।४३।।

दुग्गंध बीभच्छं, कलिमलभरिदं अचेयणं मुत्तं।
सडणप्पडणसहावं, देहं इदि चिंतए णिच्चं।।४४।।

यह शरीर दुर्गंधसे युक्त है, घृणित है, गंदे मलसे भरा हुआ है, अचेतन है, मूर्तिक है तथा सड़ना और गलना स्वभावसे सहित है ऐसा सदा चिंतन करना चाहिए।।४४।।

रसरुहिरमंसमेदट्ठीमज्जसंकुलं पुत्तपूयकिमिबहुलं।
दुग्गंधमसुचि चम्ममयमणिच्चमचेयणं पडणं।। ४५।।

यह शरीर रस, रुधिर, मांस, चर्बी, हड्डी तथा मज्जासे युक्त है। मूत्र, पीब और कीड़ोंसे भरा है, दुर्गंधित है, अपवित्र है, चर्ममय है, अनित्य है, अचेतन है और पतनशील है -- नश्वर है।।४५।।

देहादो वदिरित्तो, कम्मविरहिओ अणंतसुहणिलयो।
चोक्खो हवेइ अप्पा, इदि णिच्चं भावणं कुज्जा।।४६।।

आत्मा इस शरीरसे भिन्न है, कर्मरहित है, अनंत सुखोंका भंडार है तथा श्रेष्ठ है इस प्रकार निरंतर भावना करनी चाहिए।।४६।।

आस्रवानुप्रेक्षा

मिच्छत्तं अविरमणं, कसायजोगा य आसवा होंति।
पण पण चउ तिय भेदा, सम्मं परिकित्तिदा समए।।४७।।

मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग ये आस्रव हैं। उक्त मिथ्यात्व आदि आस्रव क्रमसे पाँच, पाँच, चार और तीन भेदोंसे युक्त हैं। आगममें इनका अच्छी तरह वर्णन किया गया है।।४७।।

मिथ्यात्व तथा अविरतिके पाँच भेद

एयंतविणयविवरियसंसयमण्णाणमिदि हवे पंच।
अविरमणं हिंसादी, पंचविहो सो हवइ णियमेण।।४८।।

एकांत, विनय, विपरीत, संशय और अज्ञान यह पाँच प्रकारका मिथ्यात्व है तथा हिंसा आदिके भेदसे पाँच प्रकारकी अविरति नियमसे होती है।।४८।।

चार कषाय और तीन योग

कोहो माणो माया, लोहो वि य चउव्विहं कसायं खु।
मण वचिकाएण पुणो, जोगो तिवियप्पमिदि जाणे।।४९।।

क्रोध, मान, माया और लोभ यह चार प्रकारकी कषाय है। तथा मन, वचन और कायके भेदसे

योगके तीन भेद हैं यह जानना चाहिए।।४९।।

असुहेदरभेदेण दु, एक्केक्कं वण्णिदं हवे दुविहं।
आहारादी सण्णा, असुहमणं इदि विजाणेहि।।५०।।

मन वचन काय इन तीनों योगोंमेंसे प्रत्येक योग अशुभ और शुभके भेदसे दो प्रकारका कहा गया है। आहार आदि संज्ञाओंका होना अशुभ मन है ऐसा जानो।।५०।।

किण्हादि तिण्णि लेस्सा, करणजसोक्खेसु सिद्धपरिणामो।
ईसा विसादभावो, असुहमणं त्ति य जिणा वेंति।।५१।।

कृष्णादि तीन लेश्याएँ, इंद्रियजन्य सुखोंमें तीव्र लालसा, ईर्ष्या तथा विषादभाव अशुभ मन है ऐसा जिनेंद्रदेव जानते हैं।।५१।।

रागो दोसो मोहो, हास्सादिणोकसायपरिणामो।
थूलो वा सुहुमो वा, असुहमणो त्ति य जिणा वेंति।।५२।।

राग, द्वेष, मोह तथा हास्यादिक नोकषायरूप परिणाम चाहे स्थूल हों चाहे सूक्ष्म, अशुभ मन है ऐसा जिनेंद्रदेव जानते हैं।।५२।।

भत्थित्थिरायचोरकहाओ वयणं वियाण असुहमिदि।
बंधणछेदणमारणकिरिया सा असुहकायेत्ति।।५३।।

भक्तकथा, स्त्रीकथा, राजकथा और चोरकथा अशुभ वचन है ऐसा जानो। तथा बंधन, छेदन और मारणरूप जो क्रिया है वह अशुभ काय है।।५३।।

मोत्तूण असुहभावं, पुव्वुत्तं णिरवसेसदो दव्वं।
वदसमिदिसीलसंजमपरिणामं सुहमणं जाणे।।५४।।

पहले कहे हुए अशुभ भाव तथा अशुभ द्रव्यको व्रत, समिति, शील और संयमरूप परिणामोंका होना शुभ मन है ऐसा जानो।।५४।।

संसारछेदकारणवयणं सुहवयणमिदि जिणुद्दिट्ठं।
जिणदेवादिसु पूजा, सुहकायं त्ति य हवे चेट्ठा।।५५।।

जो वचन संसारका छेद करनेमें कारण है वह शुभ वचन है ऐसा जिनेंद्र भगवान्ने कहा है। तथा जिनेंद्रदेव आदिकी पूजारूप जो चेष्टा -- शरीरकी प्रवृत्ति है वह शुभकाय है।।५५।।

जम्मसमुद्दे बहुदोसवीचिए दुःखजलचराकिण्णे।
जीवस्स परिब्भमणं, कम्मासवकारणं होदि।।५६।।

अनेक दोषरूपी तरंगोंसे युक्त तथा दुःखरूपी जलचर जीवोंसे व्याप्त संसाररूपी समुद्रमें जीवका जो परिभ्रमण होता है वह कर्मास्रवके कारण होता है। अर्थात् कर्मास्रवके कारण ही जीव संसारसमुद्रमें परिभ्रमण करता है।।५६।।

कम्मासवेण जीवो, बूडदि संसारसागरे घोरे।
जं णाणवसं किरिया, मोक्खणिमित्तं परंपरया।।५७।।

कर्मास्रवके कारण जीव संसाररूपी भयंकर समुद्रमें डूब रहा है। जो क्रिया ज्ञानवश होती है वह परंपरासे मोक्षका कारण होती है।।५७।।

आसवहेदू जीवो, जम्मसमुद्दे णिमज्जदे खिप्पं।
आसवकिरिया तम्हा, मोक्खणिमित्तं ण चिंतेज्जो।।५८।।

आस्रवके कारण जीव संसाररूपी समुद्रमें शीघ्र डूब जाता है इसलिए आस्रवरूप क्रिया मोक्षका निमित्त नहीं है ऐसा विचार करना चाहिए।

भावार्थ -- अशुभास्रवरूप क्रिया तो मोक्षका कारण है ही नहीं, परंतु शुभास्रवरूप क्रिया भी मोक्षका कारण नहीं है ऐसा चिंतन करना चाहिए।।५८।।

पारंपज्जाएण दु, आसवकिरियाए णत्थि णिव्वाणं।
संसारगमणकारणमिदि णिंदं आसवो जाण।।५९।।

परंपरासे भी आस्रवरूप क्रियाके द्वारा निर्वाण नहीं होता। आस्रव संसारगमनका ही कारण है। इसलिए निंदनीय है ऐसा जानो।।५९।।

पुव्वुत्तासवभेदा, णिच्छयणयएण णत्थि जीवस्स।
उहयासवणिम्मुक्कं, अप्पाणं चिंतए णिच्चं।।६०।।

पहले जो आस्रवके भेद कहे गये हैं वे निश्चयनयसे जीवके नहीं हैं, इसलिए आत्माको दोनों प्रकारके आस्रवोंसे रहित ही निरंतर विचारना चाहिए।।६०।।

संवरानुप्रेक्षा

चलमलिनमगाढं च, वज्जिय सम्मत्तदिढकवाडेण।
मिच्छत्तासवदारणिरोहो होदि त्ति जिणेहि णिद्दिट्ठं।।६१।।

चल, मलिन और अगाढ़ दोषको छोड़कर सम्यक्त्वरूपी दृढ़ कपाटोंके द्वारा मिथ्यात्वरूपी आस्रवद्वारका निरोध हो जाता है ऐसा जिनेंद्रदेवने कहा है।।

भावार्थ -- चल, मलिन और अगाढ़ ये सम्यग्दर्शनके दोष हैं। इनका अभाव हो जानेपर सम्यग्दर्शनमें दृढ़ता आती है। मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग ये चार आस्रव हैं। यहाँ मिथ्यात्वके निमित्तसे

होनेवाले आस्रवको द्वारकी तथा सम्यग्दर्शनको सुदृढ़ कपाटकी उपमा दी गयी है और उस उपमाके द्वारा कहा गया है कि सम्यग्दर्शनरूपी सुदढ़ कपाटोंसे मिथ्यात्वके निमित्तसे होनेवाले आस्रवरूप द्वारका निरोध हो जाता है। आस्रवका रुक जाना ही संवर कहलाता है।।६१।।

पंचमहव्वयमणसा, अविरमणणिरोहणं हवे णियमा।
कोहादि आसवाणं, दाराणि कसायरहियपल्लगेहि।।६२।।

पंचमहाव्रतोंसे युक्त मनसे अविरतिरूप आस्रवका निरोध नियमसे हो जाता है और क्रोधादि कषायरूप आस्रवोंके द्वार कषायके अभावरूप फाटकोंसे रुक जाते हैं -- बंद हो जाते हैं।।६२।।

सुहजोगस्स पवित्ती, संवरणं कुणदि असुहजोगस्स।
सुहजोगस्स णिरोहो, सद्धुवजोगेण संभवदि।।६३।।

शुभयोगकी प्रवृत्ति अशुभ योगका संवर करती है और शुद्धोपयोगके द्वारा शुभयोगका निरोध हो जाता है।।६३।।

सुद्धुवजोगेण पुणो, धम्मं सुक्कं च होदि जीवस्स।
तम्हा संवरहेदू, झाणो त्ति विचिंतए णिच्चं।।६४।।

शुद्धोपयोगसे जीवके धर्म्यध्यान और शुक्लध्यान होते हैं, इसलिए ध्यान संवरका कारण है ऐसा निरंतर विचार करना चाहिए।।६४।।

जीवस्स ण संवरणं, परमट्ठणएण सुद्धभावादो।
संवरभावविमुक्कं, अप्पाणं चिंतए णिच्चं।।६५।।

परमार्थ नय -- निश्चय नयसे जीवके संवर नहीं है क्योंकि वह शुद्ध भावसे सहित है। अतएव आत्माको सदा संवरभावसे रहित विचारना चाहिए।।६५।।

बंधपदेसग्गलणं, णिज्जरणं इदि जिणेहि पण्णत्तं।
जेण हवे संवरणं, तेण दु णिज्जरणमिदि जाण।।६६।।

बँधे हुए कर्मोंका गलना निर्जरा है ऐसा जिनेंद्र भगवान्ने कहा है। जिस कारणसे संवर होता है उसी कारणसे निर्जरा होती है।।६६।।

सा पुण दुविहा णेया, सकालपक्का तवेण कयमाणा।
चदुगदियाणं पढमा, वयजुत्ताणं हवे बिदिया।।६७।।

फिर वह निर्जरा दो प्रकारकी जाननी चाहिए -- एक अपना उदयकाल आनेपर कर्मोंका स्वयं पककर झड़ जाना और दूसरी तपके द्वारा की जानेवाली। इनमें पहली निर्जरा तो चारों गतियोंके जीवोंकी

होती है और दूसरी निर्जरा व्रती जीवोंके होती है।।६७।।

धर्मानुप्रेक्षा

एयारसदसभेयं, धम्मं सम्मत्तपुव्वयं भणियं।
सागारणगाराणं, उत्तमसुहसंपजुत्तेहिं।।६८।।

उत्तम सुखसे संपन्न जिनेंद्र भगवान्ने कहा है कि गृहस्थों तथा मुनियोंका वह धर्म क्रमसे ग्यारह और दश भेदोंसे युक्त है तथा सम्यग्दर्शनपूर्वक होता है।

भावार्थ -- आत्माकी निर्मल परिणतिको धर्म कहते हैं। वह धर्म गृहस्थ और मुनिके भेदसे दो प्रकारका होता है। गृहस्थधर्मके दर्शन प्रतिमा आदि ग्यारह भेद हैं और मुनिधर्मके उत्तम क्षमा आदि दस भेद हैं। इन दोनों प्रकारके धर्मोंके पहले सम्यग्दर्शनका होना आवश्यक है, उसके बिना धर्मका प्रारंभ नहीं होता।।६८।।

गृहस्थके ग्यारह धर्म

दंसणवयसामाइयपोसहसच्चित्तरायभत्ते य।
बम्हारंभपरिग्रह, अणुमणमुद्दिट्ठ देसविरदेदे।।६९।।

दर्शन, व्रत, सामायिक, प्रोषध, सचित्तत्याग, रात्रिभक्तव्रत, ब्रह्मचर्य, आरंभत्याग, परिग्रहत्याग, अनुमतित्याग और उद्दिष्टत्याग ये देशविरत अर्थात् गृहस्थके भेद हैं।।६९।।

उत्तमखममद्दवज्जवसच्चसउच्चं च संजमं चेव।
तवचागमकिंचण्हं, बम्हा इदि दसविहं होदि।।७०।।

उत्तम क्षमा, उत्तम मार्दव, उत्तम आर्जव, उत्तम सत्य, उत्तम शौच, उत्तम संयम, उत्तम तप, उत्तम त्याग, उत्तम आकिंचन्य और उत्तम ब्रह्मचर्य ये मुनिधर्मके दश भेद हैं।।७०।।

उत्तम क्षमाका लक्षण

कोहुप्पत्तिस्स पुणो, बहिरंगं जदि हवेदि सक्खादं।
ण कुणदि किंचि वि कोहो, तस्स खमा होदि धम्मो त्ति।।७१।।

यदि क्रोधकी उत्पत्तिका साक्षात् बहिरंग कारण हो फिर भी जो कुछ भी क्रोध नहीं करता उसके क्षमा धर्म होता है।।७१।।

मार्दव धर्मका लक्षण

कुलरूवजादिबुद्धिसु, तपसुदसीलेसु गारवं किंचि।
जो ण वि कुव्वदि समणो, मद्दवधम्मं हवे तस्स।।७२।।

जो मुनि कुल, रूप, जाति, बुद्धि, तप, श्रुत तथा शीलके विषयमें कुछ भी गर्व नहीं करता उसके

मार्दव धर्म होता है।।७२।।

आर्जव धर्मका लक्षण

मोत्तूण कुडिलभावं, णिम्मलहिदएण चरदि जो समणो।
अज्जवधम्मं तइओ, तस्स दु संभवदि णियमेण।।७३।।

जो मुनि कुटिलभावको छोड़कर निर्मल हृदयसे आचरण करता है उसके नियमसे तीसरा आर्जव धर्म होता है।।७३।।

सत्यधर्मका लक्षण

परसंतावणकारणवयणं मोत्तूण सपरहिदवयणं।
जो वददि भिक्खु तुरियो, तस्स दु धम्मं हवे सच्चं।।७४।।

दूसरोंको संताप करनेवाले वचनको छोड़कर जो भिक्षु स्वपरहितकारी वचन बोलता है उसके चौथा सत्यधर्म होता है।।७४।।

शौच धर्मका लक्षण

कंखाभावणिवित्तिं, किच्चा वेरग्गभावणाजुत्तो।
जो वट्टदि परममुणी, तस्स दु धम्मो हवे सोच्चं।।७५।।

जो उत्कृष्ट मुनि कांक्षा भावसे निवृत्ति कर वैराग्यभावसे रहता है उससे शौचधर्म होता है।।७५।।

संयमधर्मका लक्षण

वदसमिदिपालणाए, दंडच्चाएण इंदियजएण।
परिणममाणस्स पुणो, संजमधम्मो हवे णियमा।।७६।।

मन वचन कायकी प्रवृत्तिरूप दंडको त्यागकर तथा इंद्रियोंको जीतकर जो व्रत और समितियोंसे पालनरूप प्रवृत्ति करता है उसके नियमसे संयमधर्म होता है।।७६।।

उत्तम तपका लक्षण

विसयकसायविणिग्गहभावं काऊण झाणसज्झाए।
जो भावइ अप्पाणं, तस्स तवं होदि णियमेण।।७७।।

विषय और कषायके विनिग्रहरूप भावको करके जो ध्यान और स्वाध्यायके द्वारा आत्माकी भावना करता है उसके नियमसे तप होता है।।७७।।

णिव्वेगतियं भावइ, मोहं चइऊण सव्वदव्वेसु।
जो तस्स हवे चागो, इदि भणिदं जिणवरिंदेहिं।।७८।।

जो समस्त द्रव्योंके विषयमें मोहका त्याग कर तीन प्रकारके निर्वेदकी भावना करता है उसके त्याग धर्म होता है, ऐसा जिनेंद्रदेवने कहा है।।७८।।

आकिंचन्य धर्मका लक्षण

होऊण य णिस्संगो, णियभावं णिग्गहित्तु सुदुहदं।
णिद्दंदेण दु वट्टदि, अणयारो तस्स किंचण्हं।।७९।।

जो मुनि निःसंग -- निष्परिग्रह होकर सुख और दुःख देनेवाले अपने भावोंका निग्रह करता हुआ निर्द्वंद्व रहता है अर्थात् किसी इष्ट-अनिष्टके विकल्पमें नहीं पड़ता उसके आकिंचन्य धर्म होता है।।७९।।

ब्रह्मचर्य धर्मका लक्षण

सव्वंगं पेच्छंतो, इत्थीणं तासु मुयदि दुब्भावं।
सो बम्हचेरभावं, सक्कदि खलु दुद्धरं धरिदुं।।८०।।

जो स्त्रियोंके सब अंगोंको देखता हुआ उनमें खोटे भावको छोड़ता है अर्थात् किसी प्रकारके विकार भावको प्राप्त नहीं होता वह निश्चयसे अत्यंत कठिन ब्रह्मचर्य धर्मको धारण करनेके लिए समर्थ होता है।।८०।।

सावयधम्मं चत्ता, जदिधम्मे जो हु वट्टए जीवो।
सो णय वज्जदि मोक्खं, धम्मं इदि चिंतए णिच्चं।।८१।।

जो जीव श्रावक धर्मको छोड़कर मुनिधर्म धारण करता है वह मोक्षको नहीं छोड़ता है अर्थात् उसे मोक्षकी प्राप्ति होती है इस प्रकार निरंतर धर्मका चिंतन करना चाहिए।

भावार्थ -- गृहस्थ धर्म परंपरासे मोक्षका कारण है और मुनिधर्म साक्षात् मोक्षका कारण है इसलिए यहाँ गृहस्थके धर्मको गौण कर मुनिधर्मकी प्रभुता बतलानेके लिए कहा गया है कि जो गृहस्थधर्मको छोड़कर मुनिधर्ममें प्रवृत्त होता है वह मोक्षको नहीं छोड़ता अर्थात् उसे मोक्ष अवश्य प्राप्त होता है।।८१।।

णिच्छयणएण जीवो, सागारणगारधम्मदो भिण्णो।
मज्झत्थभावणाए, सुद्धप्पं चिंतए णिच्चं।।८२।।

निश्चयनयसे जीव गृहस्थधर्म और मुनिधर्मसे भिन्न है इसलिए दोनों धर्मोंमें मध्यस्थ भावना रखते हुए निरंतर शुद्ध आत्माका चिंतन करना चाहिए।

भावार्थ -- मोह और लोभसे रहित आत्माकी निर्मल परिणतिको धर्म कहते हैं। गृहस्थ धर्म तथा मुनिधर्म उस निर्मल परिणतिके प्रकट होनेमें सहायक होनेसे धर्म कहे जाते हैं, परमार्थसे धर्म नहीं है इसलिए दोनोंमें माध्यस्थ भाव रखते हुए शुद्ध आत्माके चिंतनकी ओर आचार्यने यहाँ प्रेरणा दी है।।८२।।

बोधिदुर्लभ भावना

उप्पज्जदि सण्णाणं, जेण उवाएण तस्सुवायस्स।
चिंता हवेइ बोहो, अच्चंतं दुल्लहं होदि।।८३।।

जिस उपायसे सम्यग्ज्ञान उत्पन्न होता है उस उपायकी चिंता बोधि है, यह बोधि अत्यंत दुर्लभ है।

भावार्थ -- सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रको बोधि कहते हैं, इसकी दुर्लभताका विचार करना सो बोधिदुर्लभभावना है।।८३।।

कम्मुदयजपज्जायां, हेयं खाओवसमियणाणं तु।
सगदव्वमुवादेयं, णिच्छयत्ति होदि सण्णाणं।।८४।।

कर्मोदयसे होनेवाली पर्याय होनेके कारण क्षायोपशमिक ज्ञान हेय है और आत्मद्रव्य उपादेय है ऐसा निश्चय होना सम्यग्ज्ञान है।।८४।।

मूलुत्तरपयदीओ, मिच्छत्तादी असंखलोगपरिमाणा।
परदव्वं सगदव्वं, अप्पा इदि णिच्छयणएण।।८५।।

मिथ्यात्वको आदि लेकर असंख्यात लोकप्रमाण जो कर्मोंकी मूल तथा उत्तर प्रकृतियाँ हैं वे परद्रव्य हैं और आत्मा स्वद्रव्य है ऐसा निश्चयनयसे कहा जाता है।

भावार्थ -- ज्ञायक स्वभावसे युक्त आत्मा स्वद्रव्य है और उसके साथ लगे हुए जो नोकर्म द्रव्यकर्म तथा भावकर्म हैं वे सब परद्रव्य हैं ऐसा निश्चयनयसे जानना चाहिए।।८५।।

एवं जायदि णाणं, हेयमुवादेय णिच्चये णत्थि।
चिंतिज्जइ मुणि बोहिं, संसारविरमणट्ठे य।।८६।।

इस प्रकार स्वद्रव्य और परद्रव्यका चिंतन करनेसे हेय और उपादेयका ज्ञान हो जाता है अर्थात् परद्रव्य हेय है और स्वद्रव्य उपादेय है। निश्चयनयमें हेय और उपादेयका विकल्प नहीं है। मुनिको संसारका विराम करनेके लिए बोधिका विचार करना चाहिए।।८६।।

बारस अणुवेक्खाओ, पच्चक्खाणं तहेव पडिकमणं।
आलोयणं समाहिं, तम्हा भावेज्ज अणुवेक्खं।।८७।।

ये बारह अनुप्रेक्षाएँ ही प्रत्याख्यान, प्रतिक्रमण, आलोचना, और समाधि हैं इसलिए इन अनुप्रेक्षाओंकी निरंतर भावना करनी चाहिए।८७।।

रत्तिदिवं पडिकमणं, पच्चक्खाणं समाहि सामइयं।
आलोयणं पकुव्वदि, जदि विज्जदि अप्पणो सत्तिं।।८८।।

यदि अपनी शक्ति है तो रातदिन प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, समाधि और आलोचना करनी चाहिए।।८८।।

मोक्खगया जे पुरिसा, अणाइकालेण बारअणुवेक्खं।
परिभाविऊण सम्मं, पणमामि पुणो पुणो तेसिं।।८९।।

जो पुरुष अनादिकालसे बारह अनुप्रेक्षाओंको अच्छी तरह चिंतन कर मोक्ष गये हैं मैं उन्हें बार बार प्रणाम करता हूँ।।८९।।

किं पलविएण बहुणा, जे सिद्धा णरवरा गये काले।
सिज्झिहदि जेवि भविया, तं जाणह तस्स माहप्पं।।९०।।

बहुत कहनेसे क्या लाभ है? भूतकालमें जो श्रेष्ठ पुरुष सिद्ध हुए हैं और जो भविष्यत् कालमें सिद्ध होवेंगे उसे अनुप्रेक्षाका महत्त्व जानो।।९०।।

इदि णिच्छयववहारं, जं भणियं कुंदकुंदमुणिणाहे।
जो भावइ सुद्धमणो, सो पावइ परमणिव्वाणं।।९१।।

इस प्रकार कुंदकुंद मुनिराजने निश्चय और व्यवहारका आलंबन लेकर जो कहा है, शुद्ध हृदय होकर जो उसकी भावना करता है वह परम निर्वाणको प्राप्त होता है।।९१।।

इस प्रकार कुंदकुंदाचार्यविरचित बारसणुपेक्खा -- बारह अनुप्रेक्षा ग्रंथमें
बारह अनुप्रेक्षाओंका वर्णन समाप्त हुआ।

***

भक्तिसंग्रह

*

भक्तिसंग्रह

१. तीर्थंकर भक्ति

थोस्सामि हं जिणवरे, तित्थयरे केवली अणंत जिणे।
णरपवरलोयमहिए, विहुयरयमले महप्पण्णे।।१।।

जो कर्मरूप शत्रुओंको जीतनेवालोंमें श्रेष्ठ हैं, केवलज्ञानसे युक्त हैं, अनंत संसारको जीतनेवाले हैं, लोकश्रेष्ठ चक्रवर्ती आदि जिनकी पूजा करते हैं, जिन्होंने ज्ञानावरण दर्शनावरण नामक रजरूपी मलको दूर कर दिया है तथा जो महाप्राज्ञ -- उत्कृष्ट ज्ञानवान् हैं ऐसे तीर्थंकरोंकी स्तुति करूँगा।।१।।

लोयस्सुज्जोययरे, धम्मं तित्थंकरे जिणे वंदे।
अरहंते कित्तिस्से, चउवीसं चेव केवलिणो।।२।।

मैं लोकको प्रकाशित करनेवाले तथा धर्मरूपी तीर्थके कर्ता जिनोंको नमस्कार करता हूँ। और अरहंत पदको प्राप्त केवलज्ञानी चौबीस तीर्थंकरोंका कीर्तन करूँगा।।२।।

उसहमजियं च वंदे, संभवमभिणंदणं च सुमइं च।
पउमप्पहं सुपासं, जिणं च चंदप्पहं वंदे।।३।।

मैं ऋषभ, अजित, संभव, अभिनंदन और सुमति जिनेंद्रकी वंदना करता हूँ। इसी प्रकार पद्मप्रभ, सुपार्श्व और चंद्रप्रभ भगवान्को नमस्कार करता हूँ।।३।।

सुविहिं च पुप्फयंतं, सीयल सेयं च वासुपूज्यं च।
विमलमणंतं भयवं, धम्मं संति च वंदामि।।४।।

मैं सुविधि अथवा पुष्पदंत, शीतल, श्रेयांस, वासुपूज्य, विमल, अनंत, धर्म और शांतिनाथ भगवान्को नमस्कार करता हूँ।।४।।

कुंथुं च जिणवरिंदं, अरं च मल्लिं च सुव्वयं च णमिं।
वंदामि रिट्ठणेमिं, तह पासं वड्ढमाणं च।।५।।

मैं कुंथु, अर, मल्लि, मुनिसुव्रत, नमि, अरिष्टनेमि, पार्श्व और वर्धमान जिनेंद्रको नमस्कार करता हूँ।।५।।

एवं मए अभित्थुया, विहुयरयमला पहीणजरमरणा।।
चउवीसं पि जिणवरा, तित्थयरा मे पसीयंतु।।६।।

इस प्रकार मेरे द्वारा जिनकी स्तुति की गयी है, जिन्होंने आवरणरूपी मलको नष्ट कर दिया है, जिनके जरा और मरण नष्ट हो गये हैं तथा जो जिनोंमें श्रेष्ठ हैं ऐसे चोवीस तीर्थंकर मेरे ऊपर प्रसन्न हों।।६।।

कित्तिय वंदिय महिया, एदे लोगोत्तमा जिणा सिद्धा।
आरोग्गणाणलाहं, दिंतु समाहिं च मे बोहिं।।७।।

जो मेरे द्वारा कीर्तित, वंदित और पूजित हैं, लोकमें उत्तम हैं तथा कृतकृत्य हैं ऐसे ये जिनेंद्र -- चौवीस भगवान् मेरे लिए आरोग्यलाभ, ज्ञानलाभ, समाधि और बोधि प्रदान करें।।७।।

चंदेहि णिम्मलयरा, आइच्चेहिं अहिय पयासंता।
सायरमिव गंभीरा, सिद्धा सिद्धिं मम दिसंतु।।८।।

जो चंद्रोंसे अधिक निर्मल हैं, सूर्योंसे अधिक प्रभासमान हैं, समुद्रके समान गंभीर हैं तथा सिद्ध पदको प्राप्त हुए हैं ऐसे चौबीस जिनेंद्र मेरे लिए सिद्धि प्रदान करें।।८।।

अंचलिका

इच्छामि भंते! चउवीसतित्थयरभत्तिकाउस्सग्गो कओ तस्सालोचेउं, पंच महाकल्लाणसंपण्णाणं अट्ठमहापाडिहेरसहियाणं चउतीसातिसयविसेससंजुत्ताणं बत्तीसदेविंदमणिमउडमत्थयमहिदाणं बलदेव-वासुदेव-चक्कहर-रिसि-मुणि-जइ-अणगारोव गूढाणं थुइसहस्सणिलयाणं उसहाइ वीर पच्छिम मंगल महापुरिसाणं णिच्चकालं अंचेमि, पूजेमि, वंदामि, णमंसामि, दुक्खक्खओ, कम्मक्खओ, बोहिलाहो, सुगइगमणं, समाहिमरणं, जिणगुणसंपत्ती हो मज्झं।।

हे भगवन्! जो मैंने चौबीस तीर्थंकर भक्तिसंबंधी कायोत्सर्ग किया है उसकी आलोचना करना चाहता हूँ। जो पाँच कल्याणकोंसे संपन्न हैं, आठ महाप्रातिहार्योंसे सहित हैं, चौंतीस अतिशयविशेषोंसे सहित हैं, बत्तीस इंद्रोंके मणिमय मुकुटोंसे युक्त मस्तकोंसे जिनकी पूजा होती है, बलदेव, नारायण, चक्रवर्ती, ऋषि, मुनि, यति और अनगार इन चारों प्रकारके मुनियोंसे जो परिवृत हैं, तथा हजारों स्तुतियोंके जो घर हैं ऐसे ऋषभादि महावीर पर्यंतके मंगलमय महापुरुषोंकी मैं निरंतर अर्चा करता हूँ, पूजा करता हूँ, वंदना करता हूँ, उन्हें नमस्कार करता हूँ। उसके फलस्वरूप मेरे दुःखोंका क्षय हो, कर्मोंका क्षय हो,रत्नत्रयकी प्राप्ति हो, सुगतिमें गमन हो, समाधिमरण हो और मुझे जिनेंद्र भगवान्के गुणोंकी संप्राप्ति हो।

***

२. सिद्धभक्ति

अट्ठविहकम्ममुक्के, अट्ठगुणड्ढे अणोवमे सिद्धे।
अट्ठमपुढविणिविट्ठे, णिट्ठियकज्जे य वंदिमो णिच्चं।।१।।

जो आठ प्रकारके कर्मोंसे मुक्त हैं, जो आठ गुणोंसे संपन्न हैं, अनुपम हैं, अष्टम पृथिवीमें स्थित हैं तथा अपने समस्त कार्यको जिन्होंने समाप्त किया है ऐसे सिद्धोंको मैं नित्य नमस्कार करता हूँ।।१।।

तित्थयरेदरसिद्धे, जलथलआयासणिव्वुदे सिद्धे।
अंतयडेदरसिद्धे, उक्कस्सजहण्णमज्झियोगाहे।।२।।
उड्ढमहतिरियलोए, छव्विहकाले य णिव्वुदे सिद्धे।
उवसग्गणिरुवसग्गे, दीवोदहिणिव्वुदे य वंदामि।।३।।

जो तीर्थंकर होकर सिद्ध हुए हैं, जो तीर्थंकर न होकर सिद्ध हुए हैं, जो जलसे, स्थलसे अथवा आकाशसे निर्वाणको प्राप्त हुए हैं, जो अंतकृत् होकर सिद्ध हुए, जो अंतकृत् न होकर सिद्ध हुए, जो उत्कृष्ट, जघन्य और मध्यम अवगाहनासे सिद्ध हुए हैं, जो ऊर्ध्वलोक, अधोलोक व तिर्यग्लोकसे सिद्ध हुए हैं, जो छह प्रकारके कालोंमें निर्वाणको प्राप्त हुए हैं, जो उपसर्ग सहकर अथवा बिना उपसर्गके सिद्ध हुए हैं, तथा जो द्वीप अथवा समुद्रसे निर्वाणको प्राप्त हुए हैं ऐसे समस्त सिद्धोंको मैं नमस्कार करता हूँ।।२-३।।

पच्छायडेय सिद्धे, दुग्गतिगचदुणाण पंचचदुरजमे।
परिपडिदा परिपडिदे, संजमसम्मत्तणाणमादीहिं।।४।।
साहरणासाहरणे, समुग्घादेदरे य णिव्वादे।
ठिद पलियंक णिसण्णो, विगयमले परपणाणगे वंदे।।५।।

जिन्होंने दो[१], तीन[२] अथवा चार[३] ज्ञानोंके पश्चात् केवलज्ञान प्राप्त कर सिद्ध पद प्राप्त किया है, जिन्होंने पाँचों अथवा परिहारविशुद्धिसे रहित शेष चार संयमोंसे सिद्ध पद प्राप्त किया है, जो संयम, सम्यक्त्व तथा ज्ञान आदिके द्वारा पतित होकर अथवा बिना पतित हुए सिद्ध हुए हैं, जो संहरणसे अथवा संहरणके बिना ही सिद्ध हुए हैं, अथवा उपसर्गवश साभरण अथवा निराभरण सिद्ध हुए, जो समुद्घातसे अथवा समुद्घातके बिना ही निर्वाणको प्राप्त हुए, जो खड्गासन अथवा पल्यंकासनसे बैठकर सिद्ध हुए हैं, जिन्होंने कर्ममलको नष्ट कर दिया है और जो उत्कृष्ट केवलज्ञानको प्राप्त हैं ऐसे समस्त सिद्धोंको नमस्कार करता हूँ।।४-५।।

---

१ मतिज्ञान और श्रुतज्ञान। २. मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान अथवा मति, श्रुत और मनःपर्यय ज्ञान। ३. मति, श्रुत, अवधि और मनःपर्यय ज्ञान।

पुंवेदं वेदंता, जे पुरिसा खवगसेढिमारूढा।
सेसोदयेण वि तहा, झाणुवजुत्ता य ते हु सिज्झंति।।६।।

जो पुरुष भावपुरुष वेदका अनुभव करते हुए क्षपक श्रेणिपर आरूढ़ हुए अथवा भावस्त्री अथवा भावनपुंसक वेदके उदयसे क्षपक श्रेणिपर आरूढ़ हुए वे शुक्लध्यानमें तल्लीन होते हुए सिद्ध अवस्थाको प्राप्त होते हैं।।६।।

पत्तेयसयंबुद्धा, बोहियबुद्धा य होंति ते सिद्धा।
पत्तेयं पत्तेयं, समयं समयं पडिवदामि सदा।।७।।

जो प्रत्येकबुद्ध, स्वयंबुद्ध अथवा बोधितबुद्ध होकर सिद्ध होते हैं उन सबको पृथक् पृथक् अथवा एक साथ मैं सदा नमस्कार करता हूँ।

भावार्थ -- जो वैराग्यका कोई कारण देखकर विरक्त होते हैं वे प्रत्येकबुद्ध कहलाते हैं। जो किसी कारणके बिना देखे ही स्वयं विरक्त होते हैं वे स्वयंबुद्ध कहलाते हैं और भोगोंमें आसक्त रहनेवाले जो मनुष्य दूसरोंके द्वारा समझाये जानेपर विरक्त होते हैं वे बोधितबुद्ध कहलाते हैं।।७।।

पण णव दु अट्ठवीसा, चउ तियणवदि य दोण्णि पंचेव।
वावण्णहीणविसया, पयडि विणासेण होंति ते सिद्धा।।८।।

पाँच, नौ, दो, अट्ठाईस, चार, तिरानवे, दो और पाँच इस प्रकार क्रमसे ज्ञानावरणादि कर्मोंकी बावन कम दो सौ अर्थात् एकसौ अड़तालीस प्रकृतियोंके क्षयसे वे सिद्ध होते हैं।।८।।

अइसयमव्वाबाहं, सोक्खमणंतं अणोवमं परमं।
इंदियविसयातीदं, अप्पत्तं अच्चयं च ते पत्ता।।९।।

वे सिद्ध भगवान् अतिशय, अव्याबाध, अनंत, अनुपम, उत्कृष्ट, इंद्रियविषयोंसे अतीत, अप्राप्त -- जो पहले कभी प्राप्त नहीं हुआ था तथा स्थायी सुखको प्राप्त हुए हैं।।९।।

लोगग्गमत्थयत्था, चरमसरीरेण ते हु किंचूणा।
गयसित्थमूसगब्भे, जारिस आयार तारिसायारा।।१०।।

वे सिद्ध भगवान् लोकाग्रके मस्तकपर विराजमान हैं, चरम शरीरसे किंचित् न्यून हैं तथा जिसके भीतरका मोम गल गया है ऐसे साँचेके भीतरी भागका जैसा आकार होता है वैसे आकारसे युक्त हैं।।१०।।

जरमरणजम्मरहिया, ते सिद्धा मम सुभत्तिजुत्तस्स।
दिंतु वरणाणलाहं, बुहयण परियत्थणं परमसुद्धं।।११।।

जरा, मरण और जन्मसे रहित वे सिद्ध भगवान् समीचीन भक्तिसे युक्त मुझ कुंदकुंदको बुधजनोंके

द्वारा प्रार्थित तथा परम शुद्ध उत्कृष्ट ज्ञानका लाभ दें।।११।।

किच्चा काउस्सग्गं, चतुरट्ठयदोषविरहियं सुपरिसुद्धं।
अइभत्तिसंपउत्तो, जो वंदइ लहु लहइ परमसुहं।।१२।।

जो बत्तीस दोषोंसे रहित, अत्यंत शुद्ध कायोत्सर्ग करके अतिशय भक्तिसे युक्त होता हुआ वंदना करता है वह शीघ्र ही परमसुखको प्राप्त होता है।।१२।।

अंचलिका

इच्छामि भंते सिद्धिभत्तिकाउस्सग्गो कओ तस्सालोचेउं सम्मणाणसम्मदंसण-सम्मचारित्तजुत्ताणं, अट्ठविहकम्मविप्पमुक्काणं, अट्ठगुणसंपण्णाणं, उड्ढलोयमत्थयम्मि पयट्ठियाणं, तव सिद्धायणं, संजमसिद्धाणं, अतीताणागदवट्टमाणकालत्तयसिद्धाणं, सव्वसिद्धाणं, णिच्चकालं अंचेमि, पूजेमि, वंदामि, णमंसामि, दुक्खक्खओ, कम्मक्खओ, बोहिलाहो, सुगइगमणं, समाहिमरणं, जिणगुणसंपत्ति होउ मज्झं।

हे भगवन्! मैने जो सिद्धभक्तिसंबंधी कायोत्सर्ग किया है उसकी आलोचना करना चाहता हूँ। जो सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्रसे युक्त हैं, आठ प्रकारके कर्मोंसे सर्वथा रहित हैं, आठ गुणोंसे सहित हैं, ऊर्ध्वलोकके अग्रभागपर स्थित हैं, नयसे सिद्ध हैं, संजमसे सिद्ध हैं, अतीत अनागत और वर्तमान कालसंबंधी सिद्ध हैं, ऐसे समस्त सिद्धोंकी मैं नित्यकाल अर्चा करता हूँ, पूजा करता हूँ, वंदना करता हूँ, उन्हें नमस्कार करता हूँ, मेरे दुःखोंका क्षय हो, कर्मोंका क्षय हो, रत्नत्रयकी प्राप्ति हो, सुगतिमें गमन हो, समाधिमरण हो और मुझे जिनेंद्र भगवान्के गुणोंकी संप्राप्ति हो।

***

३. श्रुतभक्ति

सिद्धवरसासणाणं, सिद्धाणं कम्मचक्कमुक्काणं।
काऊण णमुक्कारं, भत्तीए णमामि अंगाइं।।१।।

जिनका उत्कृष्ट शासन लोकमें प्रसिद्ध है तथा जो कर्मोंके चक्रसे मुक्त हो चुके हैं ऐसे सिद्धोंको नमस्कार कर मैं भक्तिपूर्वक बारह अंगोंको नमस्कार करता हूँ।।१।।

अंगोंके नाम

आयारं सुद्दयणं, ठाणं समवाय वियाहपण्णत्ती।
णादा धम्मकहाओ, उवासयाणं च अज्झयणं।।२।।
वंदे अंतयडदसं, अणुत्तरदसं च पण्हवायरणं।
एयारसमं च तहा, विवायसुत्तं णमंसामि।।३।।
परियम्मसुत्तपढयाणुओगपुव्वगयचूलिया चेव।
पवरवरदिट्ठिवादं, तं पंचविहं पणिवदामि।।४।।
उप्पायपुव्वभग्गायणीय वीरियत्थि णत्थि य पवादं।
णाणासच्चपवादं, आदा कम्मपवादं च।।५।।
पच्चक्खाणं विज्जाणुवादकल्लाणणामवरपुव्वं।
पाणावायं किरियाविसालमध लोयबिंदुसारसुदं।।६।।

आचार, सूत्रकृत, स्थान, समवाय, व्याख्याप्रज्ञप्ति, ज्ञातृधर्मकथा, उपासकाध्ययन, अंतःकृद्दश, अनुत्तरोपपाददश, प्रश्नव्याकरण तथा ग्यारहवें विपाकसूत्र अंगको नमस्कार करता हूँ।।२-३।।

परिकर्म, सूत्र, प्रथमानुयोग, पूर्वगत और चूलिका ये पाँच दृष्टिवाद अंगके भेद हैं। मैं उक्त पाँच प्रकारके उत्कृष्ट दृष्टिवाद अंगको नमस्कार करता हूँ।।४।।

उत्पादपूर्व, अग्रायणीय, वीर्यप्रवाद, अस्तिनास्तिप्रवाद, ज्ञानप्रवाद, सत्यप्रवाद, आत्मप्रवाद, कर्मप्रवाद, प्रत्याख्यान, विद्यानुवाद, कल्याणनामपूर्व, प्राणवाद, क्रियाविशाल और लोकबिंदुसार ये चौदह पूर्व हैं।।५-६।।

पूर्वोंमें वस्तुनामक अधिकारोंकी संख्या

दस चउदस अट्ठारस, बारस तह य दोसु पुव्वेसु।
सोलस वीसं तीसं, दसमम्मि य पण्णरसवत्थू।।७।।
एदेसिं पुव्वाणं, जावदिओ वत्थुसंगहो भणिओ।
सेसाणं पुव्वाणं, दस दस वत्थू पडिवदामि।।८।।

पहले पूर्वमें दस, दूसरे पूर्वमें चौदह, तीसरे पूर्वमें आठ, चौथे पूर्वमें अठारह, पाँचवें और छठवें इन दो पूर्वोंमें बारह बारह, सातवें पूर्वमें सोलह, आठवें पूर्वमें बीस, नौवें पूर्वमें तीस, दसवें पूर्वमें पंद्रह और शेष चार पूर्वोंमें दस-दस वस्तु नामक अधिकार हैं। इन पूर्वोंमें जितने वस्तु अधिकारोंका संग्रह किया गया है मैं उन सबको नमस्कार करता हूँ।।७-८।।

वस्तुमें प्राभृतोंकी संख्या

एक्केक्कम्मि य वत्थू, वीसं वीसं च पाहुडा भणिया।
विसमसमावि य वत्थू, सव्वे पुण पाहुडेवि समा।।९।।

एक एक वस्तु नामक अधिकारमें बीस-बीस पाहुड कहे गये हैं। वस्तु अधिकार तो विषम और सम दोनों प्रकारके हैं जैसे किसीमें चौदह किसीमें अठारह और किन्हींमें बारह-बारह आदि। परंतु प्राभृतोंकी अपेक्षा सब वस्तु अधिकार समान हैं अर्थात् सब वस्तु अधिकारोंमें प्राभृतोंकी संख्या एक समान बीस-बीस है।।९।।

चौदह पूर्वोंमें वस्तुओं और प्राभृतोंकी संख्या

पुव्वाणं वत्थुसयं, पंचाणउदी हवंति वत्थूओ।
पाहुड तिण्णि सहस्सा णवयसया चउदसाणं पि।।१०।।

चौदह पूर्वोंके एकसौ पंचानवे वस्तु अधिकार होते हैं और पाहुड तीन हजार नौ सौ होते हैं।।१०।।

एव मए सुदपवरा, भत्तीराएण सत्थुया तच्चा।
सिग्घं मे सुदलाहं, जिणवरवसहा पयच्छंतु।।११।।

इस प्रकार मैंने भक्तिके रागसे द्वादशांगरूप श्रेष्ठ श्रुतका स्तवन किया। जिनवर वृषभ देव मुझे शीघ्र ही श्रुतका लाभ देवें।।११।।

अंचलिका

इच्छामि भंते! सुदभत्ति काउस्सग्गो कओ तस्सालोचेउं, अंगोवंगपइण्णए पाहुड परियम्मि सुत्त पढमाणुओग पुव्वगय चूलिया चेव सुत्तत्थवथुइ धम्मकहाइयं णिच्चकालं अंचेमि, पूजेमि, वंदामि, णमंसामि, दुक्खक्खओ, कम्मक्खओ, बोहिलाहो, सुगइगमणं, समाहिमरणं, जिनगुणसंपत्ति होउ मज्झं।।

हे भगवन्! मैंने जो श्रुतभक्तिसंबंधी कायोत्सर्ग किया है उसकी आलोचना करना चाहता हूँ। अंग, उपांग, प्रकीर्णक, प्राभृत, परिकर्म, सूत्र, प्रथमानुयोग, पूर्वगत, चूलिका तथा सूत्र, स्तव, स्तुति तथा धर्मकथा आदिकी नित्यकाल अर्चा करता हूँ, पूजन करता हूँ, वंदना करता हूँ, उन्हें नमस्कार करता हूँ। इसके फलस्वरूप मेरे दुःखोंका क्षय हो, रत्नत्रयकी प्राप्ति हो, सुगतिमें गमन हो, समाधिमरण हो और मेरे लिए जिनेंद्र भगवान्के गुणोंकी संप्राप्ति हो।।

***

४. चारित्रभक्ति

तिलोए सव्वजीवाणं, हिदं धम्मोवदेसिणं।
वड्ढमाणं महावीरं, वंदित्ता सव्ववेदिणं।।१।।
घादिकम्मविघादत्थं, घादिकम्मविणासिणा।
भासियं सव्वजीवाणं चारित्तं पंचभेददो।।२।।

तीनों लोकोंमें समस्त जीवोंका हित करनेवाले, धर्मोपदेशक, सर्वज्ञ, वर्धमान महावीरको वंदना करके चारित्र भक्ति कहता हूँ। घातिया कर्मका विनाश करनेवाले महावीर भगवानने घातिया कर्मोंका विघात करनेके लिए भव्य जीवोंको पाँच प्रकारका चारित्र कहा है।।१-२।।

पाँच प्रकारका चारित्र

सामाइयं तु चारित्तं, छेदोवट्ठावणं तहा।
तं परिहारविसुद्धिं च, संजमं सुहुमं पुणो।।३।।
जहाखादं तु चारित्तं, तहाखादं तु तं पुणो।
किच्चाहं पंचहाहारं, मंगलं मलसोहणं।।४।।

सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसांपराय और यथाख्यात यह पाँच प्रकारका चारित्र है। इनमें यथाख्यातको तथाख्यात भी कहते हैं। मैं मलका शोधन करनेवाले और मंगलस्वरूप पाँच प्रकारका चारित्र धारण कर मुक्तिसंबंधी सुखको प्राप्त करता है।। ३-४।।

मुनियोंके मूलगुण तथा उत्तरगुण

अहिंसादीणि उत्ताणि, महव्वयाणि पंच य।
समिदीओ तदो पंच, पंच इंदियणिग्गहो।।५।।
छब्भेयावास भूसिज्जा, अण्हाणत्तमचेलदा।
लोयत्ति ठिदिभुत्तिं च, अदंतधावणमेव च।।६।।
एयभत्तेण संजुत्ता, रिसिमूलगुणा तहा।
दसधम्मा तिगुत्तीओ, सीलाणि सयलाणि च।।७।।
सव्वेवि य परीसहा, उत्तुत्तरगुणा तहा।
अण्णो वि भासिया संता, तेसिं हाणि मए कया।।८।।

अहिंसा आदि पाँच महाव्रत कहे गये हैं, पाँच समितियाँ, पाँच इंद्रियोंका निग्रह, छह आवश्यक, भूमिशयन, अस्नान, अचेलता -- वस्त्ररहितपना, लोच करना, स्थितिभक्ति -- खड़े-खड़े आहार लेना, अदंतधावन और एकभक्त -- एक बार भोजन करना ये मुनियोंके मूलगुण कहे गये हैं। दश धर्म, तीन गुप्तियाँ, समस्त प्रकारके शील और सब प्रकारके परिषहसे उत्तरगुण कहे गये हैं, इनके सिवाय और भी उत्तरगुण कहे गये हैं। यदि उनका पालन करते हुए मैंने उनकी हानि की तो -- ।।८-९।।

जइ राएण दोसेण, मोहेणाणादरेण वा।
वंदित्ता सव्वसिद्धाणं, संजदा वा मुमुक्खुणा।।९।।
संजदेण मए सम्मं, सव्वसंजममाविणा।
सव्वसंजमसिद्धीओ, लब्भदे मुत्तिजं सुखं।।१०।।

यदि रागसे, द्वेषसे, मोहसे अथवा अनादरसे उक्त मूलगुणों अथवा उत्तरगुणोंसे तो हानि पहुँची हो तो सम्यक् रीतिसे संपूर्ण संयमका पालन करनेवाले मुझ संयमी मुमुक्षुको, सब सिद्धोंका नमस्कार कर उस हानिका परित्याग करना चाहिए, क्योंकि सकल संयमसे मुक्तिसंबंधी सुख प्राप्त होता है।।

अंचलिका

इच्छामि भंते! चारित्तभत्ति काउस्सग्गो कओ तस्सालोचेउं, सम्मणाणुजोयस्स, सम्मत्ता हिट्ठियस्स, सव्वपहाणस्स, णिव्वाणमग्गस्स, कम्मणिज्जरफलस्स, खमाहारस्स, पंचमहव्वयसंपुण्णस्स, त्रिगुत्तिगुत्तस्स, पंचसमिदिजुत्तस्स, णाणज्झाणसाहणस्स, समयाइपवेसयस्स, सम्मचारित्तस्स णिच्चकालं अंचेमि, पूजेमि, वंदामि, णमंसामि, दुक्खक्खओ, कम्मक्खओ, बोहिलाहो, सुगइगमणं, समाहिमरणं, जिणगुणसंपत्ति होउ मज्झं।।

हे भगवन्! मैंने जो चारित्रभक्तिसंबंधी कायोत्सर्ग किया है उसकी आलोचना करना चाहता हूँ। जो सम्यग्ज्ञानरूप उद्योत -- प्रकाशसे सहित है, सम्यग्दर्शनसे अधिष्ठित -- युक्त है, सबमें प्रधान है, मोक्षका मार्ग है, कर्मनिर्जरा ही जिसका फल है, क्षमा ही जिसका आधार है, जो पाँच महाव्रतोंसे परिपूर्ण है, तीन गुप्तियोंसे गुप्त -- सुरक्षित है, पाँच समितियोंसे सहित है, ज्ञान और ध्यानका साधन है तथा आगम आदिमें प्रवेश करानेवाला है ऐसे सम्यक्चारित्रकी मैं नित्य ही अर्चा करता हूँ, पूजा करता हूँ, वंदना करता हूँ, नमस्कार करता हूँ। इसके फलस्वरूप मेरे दुःखोंका क्षय हो, कर्मोंका क्षय हो, मुझे रत्नत्रयकी प्राप्ति हो, सुगतिमें गमन हो, समाधिमरण हो और मुझे जिनेंद्र भगवान्के गुणोंकी संप्राप्ति हो।

***

५. योगिभक्ति

थोस्सामि गुणधराणं, अणयाराणं गुणेहि तच्चेहिं।
अंजलिमउलियहत्थो, अभिवंदंतो सविभवेण।।१।।

अंजलिद्वारा दोनों हाथोंको मुकुलित कर अपनी सामर्थ्यके अनुसार वंदना करता हुआ मैं गुणोंके धारक अनगारों -- योगियों-- मुनियोंकी परमार्थभूत गुणोंके द्वारा स्तुति करता हूँ।

सम्मं चेव य भावे, मिच्छाभावे तहेव बोद्धव्वा।
चइऊण मिच्छभावे, सम्मामि उवट्ठिदे वंदे।।२।।

मुनि दो प्रकारके जानना चाहिए -- एक, समीचीन भावोंसे संपन्न, -- भावलिंगी और दो, मिथ्याभावसे संपन्न -- द्रव्यलिंगी। इनमें मिथ्याभाववाले -- द्रव्यलिंगियोंको छोड़कर समीचीन भाववाले -- भावलिंगी मुनियोंकी वंदना करता हूँ।।२।।

दोदोसविप्पमुक्के, तिदंडविरदे तिसल्लपरिशुद्धे।
तिण्णिमगारवरहिदे, तिरयणसुद्धे णमंसामि।।३।।

जो राग और द्वेष -- इन दो दोषोंसे रहित हैं, जो मन वचन कायकी प्रवृत्तिरूप तीन दंडोंसे विरत हैं, जो माया मिथ्या और निदान इन तीन शल्योंसे अत्यंत शुद्ध अर्थात् रहित हैं, जो ऋद्धिगारव रसगारव और सातगारव इन तीन गारवोंसे रहित हैं तथा तीन करण -- मन वचन कायकी प्रवृत्तिसे शुद्ध हैं उन मुनियोंको मैं नमस्कार करता हूँ।।३।।

चउविहकसायमहणे, चउगइसंसारगमणभयभीए।
पंचासवपडिविरदे, पंचिंदियणिज्जिदे वंदे।।४।।

जो चार प्रकारकी कषायोंका मनन करनेवाले हैं, जो चतुर्गतिरूप संसारके गमनरूप भयसे भीत हैं, जो मिथ्यात्व आदि पाँच प्रकारके आसवसे विरत हैं और पंच इंद्रियोंको जिन्होंने जीत लिया है ऐसे मुनियोंकी मैं वंदना करता हूँ।।४।।

छज्जीवदयापण्णे, छडायदणविवज्जिदे समिदभावे।
सत्तभयविप्पमुक्के, सत्ताणभयंकरे वंदे।।५।।

जो छह कायके जीवोंपर दयालु हैं, जो छह अनायतनों (कुगुरु, कुदेव, कुधर्म और इनके सेवकों)से रहित हैं, जो शांत भावोंको प्राप्त हैं, जो सात प्रकार (इसलोक, परलोक, अकस्मात्, वेदना, अत्राण, अगुप्ति और मरण)के भयोंसे मुक्त हैं तथा जो जीवोंको अभय प्रदान करनेवाले हैं ऐसे मुनियोंको मैं

नमस्कार करता हूँ।।५।।

णट्ठट्ठमयट्ठाणे, पणट्ठकम्मट्ठणट्ठसंसारे।
परमट्ठणिट्ठियट्ठे, अट्ठगुणड्ढीसरे वंदे।।६।।

जिन्होंने ज्ञान-पूजा-कुल-जाति-बल-ऋद्धि-तप और शरीर संबंधी आठ मदोंको नष्ट कर दिया है, जिन्होंने ज्ञानावरणादि आठ कर्मोंको तथा संसारको नष्ट कर दिया है, परमार्थ -- मोक्ष प्राप्त करना ही जिनका ध्येय है और जो अणिमा महिमा आदि आठ गुणरूपी ऋद्धियोंके स्वामी हैं उन मुनियोंको मैं वंदना करता हूँ।।६।।

णव बंभचेरगुत्ते, णव णयसब्भावजाणवो वंदे।
दहविहधम्मट्ठाई, दससंजमसंजदे वंदे।।७।।

जो मन वचन काय और कृत कारित अनुमोदनाके भेदसे नौ प्रकारके ब्रह्मचर्यसे सुरक्षित हैं तथा जो नौ प्रकार (द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक तथा उनके नैगम-संग्रह आदि सात भेद इस तरह नौ)के नयोंके सद्भावको जाननेवाले हैं ऐसे मुनियोंको वंदना करता हूँ। इसी प्रकार जो उत्तम क्षमा आदि दश प्रकारके धर्मोंमें स्थित हैं तथा जो दश प्रकार (एकेंद्रियादि पाँच प्रकारके रक्षा करना तथा स्पर्शनादि पाँच इंद्रियोंको वश करना इस तरह दस भेदवाले) संयमसे सहित हैं उन मुनियोंको मैं नमस्कार करता हूँ।७।।

एयारसंगसुदसायरपारगे बारसंगसुदणिउणे।
बारसविहतवणिरदे, तेरसकिरियादरे वंदे।।८।।

जो ग्यारह अंगरूपी श्रुतसागरके पारगामी हैं, जो बारह अंगरूप श्रुतमें निपुण हैं, जो बारह प्रकारके तपमें लीन हैं तथा जो तेरह प्रकारकी क्रियाओं (पाँच महाव्रत, पाँच समिति और तीन गुप्तियों) का आदर करनेवाले हैं उन मुनियोंको वंदना करता हूँ।।८।।

भूदेसु दयावण्णे, चउदस चउदससु गंथपरिसुद्धे।
चउदसपुव्वपगब्भे, चउदसमलवज्जिदे वंदे।।९।।

जो एकेंद्रियादि चौदह जीवसमासरूप जीवोंपर दयाको प्राप्त हैं, जो मिथ्यात्व आदि चौदह प्रकारके अंतरंग परिग्रहसे रहित होनेके कारण अत्यंत शुद्ध हैं, जो चौदह पूर्वोंके पाठी हैं तथा जो चौदह मलोंसे रहित हैं ऐसे मुनियोंको मैं नमस्कार करता हूँ।।९।।

वंदे चउत्थभत्तादि जाव छम्मासखवणपडिवण्णे।
वंदे आदावंते, सूरस्स य अहिमुहट्ठिदे सूरे।।१०।।

जो चतुर्थभक्त अर्थात् एक दिनके उपवाससे लेकर छह मास तकके उपवास करते हैं उन मुनियोंको

मै नमस्कार करता हूँ। जो दिनके आदि और अंतमें सूर्यके सम्मुख स्थित होकर तपस्या करते हैं तथा कर्मोंका निर्मूलन करनेमें जो शूर हैं उन मुनियोंको वंदना करता हूँ।।१०।।

बहुविहपडिमट्ठायी, णिसिज्जवीरासणेक्कवासी य।
अणिट्ठीवकंडुयवदे, चत्तदेहे य वंदामि।।११।।

जो अनेक प्रकारके प्रतिमायोगोंसे स्थित रहते हैं, जो निषद्या, वीरासन और एक पार्श्व आदि आसन धारण करते हैं, जो नहीं थूकते तथा नहीं खुजलानेका व्रत धारण करते हैं तथा शरीरसे जिन्होंने ममत्वभाव छोड़ दिया है ऐसे मुनियोंको मैं नमस्कार करता हूँ।।११।।

ठाणी मोणवदीए, अब्भोवासी य रुक्खमूली य।
धुदकेससंसुलोमे, णिप्पडियम्मे य वंदामि।।१२।।

जो खड़े होकर ध्यान करते हैं, मौन व्रतका पालन करते हैं, शीतकालमें आकाशके नीचे निवास करते हैं, वर्षा ऋतुमें वृक्षके मूलमें निवास करते हैं, जो केश तथा डाढ़ी और मूँछके बालोंका लोच करते हैं तथ जो रोगादिके प्रतीकारसे रहित हैं ऐसे मुनियोंको मैं नमस्कार करता हूँ।।१२।।

जल्लमल्ललित्तगत्ते, वंदे कम्ममलकलुसपरिसुद्धे।।
दीहणहमंसुलोमे, तवसिरिभरिये णमंसामि।।१३।।

जल्ल (सर्वांगमल) और मल्ल (एक अंगका मल)से जिनका शरीर लिप्त है, जो कर्मरूपी मलसे उत्पन्न होनेवाली कलुषतासे रहित हैं, जिनके नख तथा डाढ़ी-मूँछोंके बाल बढ़े हुए हैं और जो तपकी लक्ष्मीसे परिपूर्ण हैं उन मुनियोंको मैं नमस्कार करता हूँ।।१२।।

णाणोदयाहिसित्ते, सीलगुणविहूसिदे तपसुगंधे।
ववगयरायसुदड्ढे, सिवगइपहणायगे वंदे।।१४।।

जो ज्ञानरूप जलसे अभिषिक्त हैं, शीलरूपी गुणोंसे विभूषित हैं, तपसे सुगंधित हैं, रागरहित हैं, श्रुतसे सहित हैं और मोक्षगतिके नायक हैं उन मुनियोंको मैं वंदना करता हूँ।।१४।।

उग्गतवे दित्ततवे, तत्ततवे महातवे य घोरतवे।
वंदामि तवमहंते, तवसंजमइड्ढिसंजुत्ते।।१५।।

जो उग्रतप, दीप्ततप, तप्ततप, महातप और घोरतपको धारण करनेवाले हैं, जो तपके कारण इंद्रादिके द्वारा पूजित हैं तथा जो तप, संयम और ऋद्धियोंसे सहित हैं उन मुनियोंको मैं नमस्कार करता हूँ।।१५।।

आमोसहिए खेलोसहिए जल्लोसहिए तवसिद्धे।
विप्पोसहिए सव्वोसहिए वंदामि तिविहेण।।१६।।

जो आमौषधि, खेलौषधि, जल्लौषधि, विप्रुष् औषधि और सर्वौषधिके धारक हैं तथा तपसे प्रसिद्ध अथवा कृतकत्य हैं उन मुनियोंको मैं नमस्कार करता हूँ।।१६।।

अमयमहुखीरसप्पिसवीए अक्खीणमहाणसे वंदे।
मणबलि-वचबलि-कायबलिणो य वंदामि तिविहेण।।१७।।

अमृतस्रावी, मधुस्रावी, क्षीरस्रावी, सर्पिःस्रावी (घृतस्रावी) ऋद्धियोंके धारक, अक्षीणमहानस ऋद्धिके धारक तथा मनोबल, वचनबल और कायबल ऋद्धिके धारक मुनियोंको मैं तीन प्रकारसे -- मन वचन कायसे नमस्कार करता हूँ।।१७।।

वरकुट्ठबीयबुद्धी, पदाणुसारी य भिण्णसोदारे।
उग्गहईहसमत्थे, सुत्तत्थविसारदे वंदे।।१८।।

उत्कृष्ट कोष्ठबुद्धि, बीजबुद्धि, पदानुसारी और संभिन्नश्रोतृत्व ऋद्धिके धारक, अवग्रह और ईहा ज्ञानमें समर्थ तथा सूत्रके अर्थमें निपुण मुनियोंको मैं नमस्कार करता हूँ।।१८।।

आभिणिबोहिय सुद ओहिणाणि मणणाणि सव्वणाणी य।
वंदे जगप्पदीवे, पच्चक्खपरोक्खणाणी य।।१९।।

मतिज्ञानी, श्रुतज्ञानी, अवधिज्ञानी, मनःपर्ययज्ञानी और सर्वज्ञानी अर्थात् केवलज्ञानी इस तरह जगत्को प्रकाशित करनेके लिए प्रदीपस्वरूप प्रत्यक्षज्ञानी तथा परोक्षज्ञानी मुनियोंको मैं नमस्कार करता हूँ।।१९।।

आयासतंतुजलसेढिचारणे जंघचारणे वंदे।
विउवणइड्ढिपहाणे, विज्जाहरपण्णसवणे य।।२०।।

आकाश, तंतु, जल तथा पर्वतकी अटवी आदिका आलंबन लेकर चलनेवाले मुनियोंको, जंघाचारण ऋद्धिके धारक, विक्रिया ऋद्धिके धारक, विद्याधर मुनियोंको और प्रज्ञाश्रमण ऋद्धिके धारक मुनियोंको मैं नमस्कार करता हूँ।।२०।।

गइचउरंगुलगमणे, तहेव फलफुल्लचारणे वंदे।
अणुवमतवमहंते, देवासुरवंदिदे वंदे।।२१।।

मार्गमें चार अंगुल ऊपर गमन करनेवाले, फल और फूलोंपर चलनेवाले, अनुपम तपसे पूजनीय तथा देव और असुरोंके द्वारा वंदित मुनियोंको मैं नमस्कार करता हूँ।।२१।।

जियभयउवसग्गे जियइंदियपरीसहे जियकसाए।
जियरागदोसमोहे, जियसुहदुक्खे णमंसामि।।

जिन्होंने भयको जीत लिया है, उपसर्गको जीत लिया है, इंद्रियोंको जीत लिया है, परीषहोंको जीत

लिया है, कषायोंको जीत लिया है, राग द्वेष और मोहको जीत लिया है तथा सुख और दुःखको जीत लिया है उन मुनियोंको मैं नमस्कार करता हूँ।।२२।।

एवं मए अभित्थुया, अणयारा रागदोसपरिसुद्धा।
संघस्स वरसमाहिं, मज्झवि दुक्खक्खयं दिंतु।।२३।।

इस प्रकार मेरे द्वारा स्तुत तथा राग द्वेषसे विशुद्ध -- रहित मुनि, संघको उत्तम समाधि प्रदान करें और मेरे भी दुःखोंका क्षय करें।।२३।।

अंचलिका

इच्छामि भंते! योगिभत्तिकाउस्सग्गो कओ तस्सालोचेउं, अड्ढाइज्जदीवदोसमुद्देसु पण्णारसकम्मभूमिसु आदावणरुक्खमूलअब्भोवासठाणमोणवीरासणेक्कपास - कुक्कुडासणचउत्थपक्खखवणादियोगजुत्ताणं सव्वसाहूणं णिच्चकालं अंचेमि पूजेमि वंदामि णमंसामि, दुक्खक्खओ, कम्मक्खओ, बोहिलाहो, सुगइगमणं, समाहिमरणं, जिनगुणसंपत्ति होऊ मज्झं।।

हे भगवन्! मैंने योगिभक्तिसंबंधी कायोत्सर्ग किया है। उसकी आलोचना करना चाहता हूँ। अढ़ाई द्वीप, दो समुद्रों तथा पंद्रह कर्मभूमियोंमें आतापनयोग, वृक्षमूलयोग, अभ्रावास (खुले आकाशके नीचे बैठना)योग, मौन, वीरासन, एकपार्श्व, कुक्कुटासन, उपवास तथा पक्षोपवास आदि योगोंसे युक्त समस्त साधुओंकी नित्य ही अर्चा करता हूँ, पूजा करता हूँ, वंदना करता हूँ, नमस्कार करता हूँ। उसके फलस्वरूप मेरे कर्मोंका क्षय हो, रत्नत्रयकी प्राप्ति हो, सुगतिमें गमन हो, समाधिमरण हो और जिनेंद्र भगवान्के गुणोंकी संप्राप्ति हो।

***

६. आचार्यभक्ति

देसकुलजाइसुद्धा, विसुद्धमणवयणकायसंजुत्ता।
तुम्हं पायपयोरुहमिह मंगलमत्थु मे णिच्चं।।१।।

देश, कुल और जातिसे विशुद्ध तथा विशुद्ध मन, वचन, कायसे संयुक्त हे आचार्य! तुम्हारे चरणकमल मुझे इस लोकमें नित्य ही मंगलरूप हों।।१।।

सगपरसमयविदण्हू, आगमहेदूहिं चावि जाणित्ता।
सुसमत्था जिणवयणे, विणये सत्ताणुरूवेण।।२।।

वे आचार्य स्वसमय और परसमयके जानकार होते हैं, आगम और हेतुओंके द्वारा पदार्थोंको जानकर जिनवचनोंके कहनेमें अत्यंत समर्थ होते हैं और शक्ति अथवा प्राणियोंके अनुसार विनय करनेमें समर्थ रहते हैं।।२।।

बालगुरुवुड्ढसेहे, गिलाणथेरे य खमणसंजुत्ता।
वट्टावयगा अण्णे, दुस्सीले चावि जाणित्ता।।३।।

वे आचार्य बालक, गुरु, वृद्ध, शैक्ष्य, रोगी और स्थविर मुनियोंके विषयमें क्षमासे सहित होते हैं तथा अन्य दुःशील शिष्योंको जानकर सन्मार्गमें वर्ताते हैं -- लगाते हैं।।३।।

वदसमिदिगुत्तिजुत्ता, मुत्तिपहे ठावया पुणो अण्णे।
अज्झावयगुणणिलये, साहुगुणेणावि संजुत्ता।।४।।

वे आचार्य व्रत, समिति और गुप्तिसे सहित होते हैं, अन्य जीवोंको मुक्तिके मार्गमें लगाते हैं, उपाध्यायोंके गुणोंके स्थान होते हैं तथा साधु परमेष्ठीके गुणोंसे संयुक्त रहते हैं।।४।।

उत्तमखमाए पुढवी, पसण्णभावेण अच्छजलसरिसा।
कम्मिंधणदहणादो, अगणी वाऊ असंगादो।।५।।

वे आचार्य उत्तम क्षमासे पृथिवीके समान, निर्मल भावोंसे स्वच्छ जलके सदृश हैं, कर्मरूपी ईंधनके जलानेसे अग्निस्वरूप है तथा परिग्रहसे रहित होनेके कारण वायुरूप हैं।।५।।

गयणमिव णिरुवलेवा, अक्खोवा सायरुव्व मुणिवसहा।
एरिसगुणणिलयाणं, पायं पणमामि सुद्धमणो।।६।।

वे मुनिश्रेष्ठ -- आचार्य आकाशकी तरह निर्लेप और सागरकी तरह क्षोभरहित होते हैं। ऐसे गुणोंके घर आचार्य परमेष्ठीके चरणोंको मैं शुद्ध मनसे नमस्कार करता हूँ।।६।।

संसारकाणणे पुण, बंभममाणेहि भव्वजीवेहिं।
णिव्वाणस्स हु मग्गो, लद्धो तुमं पसाएण।।७।।

हे आचार्य! संसाररूपी अटवीमें भ्रमण करनेवाले भव्य जीवोंने आपके प्रसादसे निर्वाणका मार्ग प्राप्त किया है।।७।।

अविसुद्धलेस्सरहिया, विसुद्धलेस्साहि परिणदा सुद्धा।
रुद्दट्ठे पुण चत्ता, धम्मे सुक्के य संजुत्ता।।८।।

वे आचार्य अविशुद्ध अर्थात् कृष्ण, नील और कापोत लेश्यासे रहित तथा विशुद्ध अर्थात पीत, पद्म और शुक्ल लेश्याओंसे युक्त होते हैं। रौद्र तथा आर्तध्यानके त्यागी और धर्म्य तथा शुक्लध्यानसे सहित होते हैं।।८।।

उग्गहईहावायाधारणगुणसंपदेहिं संजुत्ता।
सुत्तत्थभावणाए, भावियमाणेहिं वंदामि।।९।।

वे आचार्य आगमके अर्थकी भावनासे भाव्यमान अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा नामक गुणरूपी संपदाओंसे संयुक्त होते हैं। उन्हें मैं नमस्कार करता हूँ।।९।।

तुम्हं गुणगणसंथुदि, अजाणमाणेण जो मया वुत्तो।
देउ मम बोहिलाहं, गुरुभत्तिजुदत्थओ णिच्चं।।१०।।

हे आचार्य! आपके गुणसमूहकी स्तुतिको न जानते हुए मैने जो बहुत भारी भक्तिसे युक्त स्तवन कहा है वह मेरे लिए निरंतर बोधिलाभ -- रत्नत्रयकी प्राप्ति प्रदान करे।।१०।।

अंचलिका

इच्छामि भंते! आयरियभत्तिकाउस्सग्गो कओ तस्सालोचेउं, सम्मणाणसम्मदंसणसम्मचारित्तजुत्ताणं पंचविहाचाराणं आयरियाणं, आयारादिसुदणाणोवदेसयाणं उवज्झायाणं, तिरयणगुणपालणरयाणं सव्वसाहूणं, णिच्चकालं अंचेमि, पूजेमि, वंदामि, णमंसामि, दुक्खक्खओ, कम्मक्खओ, बोहिलाहो, सुगइगमणं, समाहिमरणं, जिनगुणसंपत्ति होउ मज्झं।।

हे भगवन्! मैंने आचार्यभक्तिसंबंधी कायोत्सर्ग किया है। उसकी आलोचना करना चाहता हूँ। जो सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्रसे युक्त हैं तथा पाँच प्रकारके आचारका पालन करते हैं ऐसे आचार्योंकी, आचारांग आदि श्रुतज्ञानका उपदेश देनेवाले उपाध्यायोंकी और रत्नत्रयरूपी गुणोंके पालन करनेमें लीन समस्त साधुओंकी मैं निरंतर अर्चा करता हूँ, पूजा करता हूँ, वंदना करता हूँ, नमस्कार करता हूँ। उसके फलस्वरूप मेरे दुःखोंका क्षय हो, कर्मोंका क्षय हो , रत्नत्रयकी प्राप्ति हो, सुगतिमें गमन हो, समाधिमरण हो और मेरे लिए जिनेंद्रभगवान्के गुणोंकी प्राप्ति हो।।

***

७. निर्वाणभक्ति

अट्ठावयम्मि उसहो, चंपाए वासुपुज्जजिणणाहो।
उज्जंते णेमिजिणो, पावाए णिव्वुदो महावीरो।।१।।

अष्टापद (कैलास पर्वत)पर ऋषभनाथ, चंपापुरमें वासुपूज्य जिनेंद्र, ऊर्जयंत गिरि(गिरनार पर्वत)पर

नेमिनाथ और पावापुरमें महावीर स्वामी निर्वाणको प्राप्त हुए हैं।।१।।

वीसं तु जिणवरिंदा, अमरासुरवंदिदा धुव्वकिलेसा।
संमेदे गिरिसिहरे, णिव्वाणगया णमो तेसिं।।२।।

जो देव और असुरोंके द्वारा वंदित हैं तथा जिन्होंने समस्त क्लेशोंको नष्ट कर दिया है ऐसे बीस जिनेंद्र सम्मेदाचलके शिखरपर निर्वाणको प्राप्त हुए हैं, उन सबको नमस्कार हो।।२।।

सत्तेव य बलभद्दा, जदुवणरिंदण अट्ठकोडीओ।
गजपंथे गिरिसिहरे, णिव्वाणगया णमो तेसिं।।३।।

सात बलभद्र और आठ करोड़ यादववंशी राजा गजपंथा गिरिके शिखरपर निर्वाणको प्राप्त हुए हैं, उन्हें नमस्कार हो।।३।।

वरदत्तो य वरंगो, सायरदत्तो य तारवरणयरे।
आहुट्ठयकोडीओ, णिव्वाणगया णमो तेसिं।।४।।

वरदत्त, वरांग, सागरदत्त और साढ़े तीन करोड़ मुनिराज तारवर नगरमें निर्वाणको प्राप्त हुए हैं, उन्हें नमस्कार हो।।४।।

णेमिसामी पज्जुण्णो, संबुकुमारो तहेव अणिरुद्धो।
बाहत्तर कोडीओ, उज्जंते सत्तसया सिद्धा।।५।।

नेमिनाथ स्वामी, प्रद्युम्न, शंबुकुमार, अनिरुद्ध और बहत्तर करोड़ सात सौ मुनि ऊर्जयंत गिरि पर सिद्ध हुए हैं।।५।।

रामसुआ विण्णि जणा, लाडणरिंदाण पंचकोडीओ।
[१]पावागिरिवरसिहरे, णिव्वाणगया णमो तेसिं।।६।।

रामचंद्रके दो पुत्र, लाट देशके पाँच करोड़ राजा पावागिरिके शिखरपर निर्वाणको प्राप्त हुए। उन्हें नमस्कार हो।।६।।

पंडुसुआ तिण्णि जणा, दविडणरिंदाण अट्ठकोडीओ।
सित्तुंजयगिरिसिहरे, णिव्वाणगया णमो तेसिं।।७।।

पांडुके तीन पुत्र (युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन) और आठ करोड़ द्रविड़ राजा शत्रुंजय गिरिके शिखरपर निर्वाणको प्राप्त हुए, उन्हें नमस्कार हो।।७।।

---

१. पावाए गिरिसिहरे -- इति क्रियाकलापे पाठः।

[१]रामहणूसुग्गीवो, गवयगवक्खो य णील महणीला।
णवणवदीकोडीओ, तुंगीगिरिणिव्वुदे वंदे।।८।।

राम, हनूमान, सुग्रीव, गवय, गवाक्ष, नील, महानील तथा निन्यानवे करोड़ मुनिराज तुंगी पर्वतसे निर्वाणको प्राप्त हुए, उन्हें वंदना करता हूँ।।८।।

[२]अंगाणंगकुमारा, विक्खापंचद्धकोडिरिसिसहिया।
सुवण्णगिरिमत्थयत्थे, णिव्वाणगया णमो तेसिं।।९।।

अंग और अनंगकुमार साढ़े पाँच करोड़ प्रसिद्ध मुनियोंके साथ सोनागिरिके शिखरसे निर्वाणको प्राप्त हुए, उन्हें नमस्कार हो।।९।।

दसमुहराअस्स सुआ, कोडीपंचद्धमुणिवरे सहिया।
रेवाउहयतडग्गे, णिव्वाणगया णमो तेसिं।।१०।।

दशमुख राजा अर्थात् रावणके पुत्र साढ़े पाँच करोड़ मुनियोंके साथ रेवा नदीके दोनों तटोंसे मोक्षको प्राप्त हुए, उन्हें नमस्कार हो।।१०।।

[३]रेवाणइए तीरे, पच्छिमभायम्मि सिद्धवरकूडे।
दो चक्की दह कप्पे, आहुट्ठयकोडि णिव्वुदे वंदे।।११।।

रेवा नदीके तीरपर पश्चिम भागमें स्थित सिद्धवरकूटपर दो चक्रवर्ती, दस कामदेव और साढ़े तीन करोड़ मुनिराज निर्वाणको प्राप्त हुए, उन्हें नमस्कार करता हूँ।।११।।

वडवाणीवरणयरे, दक्खिणभायम्मि चूलगिरिसिहरे।
इंदजियकुंभकण्णो, णिव्वाणगया णमो तेसिं।।१२।।

वडवानी नगरके दक्षिण भागमें स्थित चूलगिरिके शिखरपर इंद्रजित् और कुंभकर्ण निर्वाणको प्राप्त हुए, उन्हें नमस्कार हो।।१२।।

---

१. रामो सुग्गीव हणुओ इति पुस्तकान्तरे पाठः।

२. णंगाणंगकुमारा कोडिपंचद्ध मुणिवरा सहिया।
सुवण्णवरगिरिसिहरे णिव्वाणगया णमो तेसिं।।९।। इति पाठान्तरम्।

३. अन्यत्र पुस्तके त्वेवं पाठः
रेवातडम्मि तीरे दक्खिणभायम्मि सिद्धवरकूडे।
आहुट्ठयकोडीओ णिव्वाणगया णमो तेसिं।।
रेवातडम्मि तीरे संभवणाथस्स केवलुप्पत्ती।
आहुट्ठयकोडीओ णिव्वाणगया णमो तेसिं।।

पावागिरिवरसिहरे, सुवण्णभद्दाइ मुणिवरा चउरो।
चेलणाणईतडग्गे, णिव्वाणगया णमो तेसिं।।१३।।

चेलना नदीके तटपर पावागिरिके उत्कृष्ट शिखरपर सुवर्णभद्र आदि चार मुनिराज मोक्षको प्राप्त हुए । उन्हें नमस्कार हो।।१३।।

फलहोडीवरगामे, पच्छिमभायम्मि दोणगिरिसिहरे।
गुरुदत्ताइ मुणिंदा, णिव्वाणगया णमो तेसिं।।१४।।

फलहोडी नामक उत्कृष्ट ग्रामके पश्चिम भागमें द्रोणगिरिके शिखरपर गुरुदत्त आदि मुनिराज निर्वाणको प्राप्त हुए। उन्हें नमस्कार हो।।१४।।

णायकुमारमुणिंदो, वालिमहावालि चेव अज्झेया।
अट्ठावयगिरिसिहरे, णिव्वाणगया णमो तेसिं।।१५।।

नागकुमार मुनिराज, वाली और महावाली कैलास पर्वतके शिखरपर निर्वाणको प्राप्त हुए। उन्हें नमस्कार हो।।१५।।

अच्चलपुरवरणयरे, ईसाणभाए मेढगिरिसिहरे।
आहुट्ठयकोडीओ, णिव्वाणगया णमो तेसिं।।१६।।

अचलपुर (एलिचपुर) नामक उत्कृष्ट नगरकी ऐशान दिशामें मेढ़गिरि (मुक्तागिरि) के शिखरपर साढ़े तीन करोड़ मुनिराज मोक्षको प्राप्त हुए। उन्हें नमस्कार हो।।१६।।

[1]वंसत्थलम्मि णयरे, पच्छिमभायम्मि कुंथगिरिसिहरे।
कुलदेसभूसणमुणी, णिव्वाणगया णमो तेसिं।।१७।।

वंशस्थल नगरके पश्चिम भागमें स्थित कुंथगिरि (कुंथलगिरि) के शिखरपर कुलभूषण देशभूषण मुनि निर्वाणको प्राप्त हुए। उन्हें नमस्कार हो।।१७।।

जसहररायस्स सुआ, पंचसया कलिंगदेसम्मि।
कोडिसिला कोडिमुणी, णिव्वाणगया णमो तेसिं।।१८।।

यशोधर राजाके पाँचसौ पुत्र और एक करोड़ मुनि कलिंग देशमें स्थित कोटिशिलासे निर्वाणको प्राप्त हुए। उन्हें नमस्कार हो।।१८।।

[2]पासस्स समवसरणे, गुरुदत्तवरदत्तपंचरिसिपमुहा।
रिस्सिंदीगिरिसिहरे, णिव्वाणगया णमो तेसिं।।१९।।

---

१. वंसत्थलवरणियडे इति पाठान्तरम्।

२. 'पासस्स समवसरणे सहिया वरदत्तमुणिवरा पंच' इति पाठान्तरम्।

भगवान् पार्श्वनाथके समवसरणमें गुरुदत्त वरदत्त आदि पाँच मुनिराज रेशंदीगिरिके शिखरपर निर्वाणको प्राप्त हुए। उन्हें नमस्कार हो।।१९।।

जे जिणु जित्थु तत्था, जे दु गया णिव्वुदिं परमं।
ते वंदामि य णिच्चं, तियरणसुद्धो णमंसामि।।२०।।

जो जिन जहाँ जहाँसे परमनिर्वाणको प्राप्त हुए हैं मैं उनकी वंदना करता हूँ तथा त्रिकरण -- मन वचन कायसे शुद्ध होकर उन्हें नमस्कार करता हूँ।।२०।।

सेसाणं तु रिसीणं, णिव्वाणं जम्मि जम्मि ठाणम्मि।
ते हं वंदे सव्वे, दुक्खक्खयकारणट्ठाए।।२१।।

शेष मुनियोंका निर्वाण जिस-जिस स्थानपर हुआ है दुःखोंका क्षय करनेके लिए मैं उन सबको नमस्कार करता हूँ।।२१।।

अंचलिका

इच्छामि भंते! परिणिव्वाणभत्तिकाउस्सग्गो कओ तस्सालोचेउं। इमम्मि अवसप्पिणीए पच्छिमे भाए आहुट्ठमासहीणे वासचउक्कम्मि सेसकम्मि, पावाए णयरीए कत्तियमासस्स किण्हचउद्दसिए रत्तीए सादीए नक्खत्ते पच्चूसे भयवदो महदिमहावीरो वड्ढमाणो सिद्धिं गदो, तिसु वि लोएसु भवणवासियवाणविंतरजोइसियकप्पवासियत्ति चउव्विहा देवा सपरिवारा दिव्वेण गंधेण, दिव्वेण पुप्फेण, दिव्वेण धूवेण, दिव्वेण चुण्णेण, दिव्वेण वासेण, दिव्वेण ण्हाणेण णिच्चकालं अच्चंति, पूजंति, वंदंति, णमंसंति, परिणिव्वाणमहाकल्लाणपुज्जं अंचेमि, पूजेमि, वंदामि, णमंसामि, दुक्खक्खओ, कम्मक्खओ, बोहिलाहो, सुगइगमणं, समाहिमरणं, जिणगुणसंपत्ति होउ मज्झं।

हे भगवन्! मैंने निर्वाण भक्ति संबंधी कायोत्सर्ग किया है उसकी आलोचना करना चाहता हूँ। इस अवसर्पिणी संबंधी चतुर्थकालके पिछले भागमें साढ़े तीन माह कम चार वर्ष शेष रहनेपर पावा नगरीमें कार्तिक मास श्रीकृष्ण चतुर्दशीकी रात्रिमें स्वाति नक्षत्रके रहते हुए प्रभात कालमें भगवान, महावीर अथवा वर्धमान स्वामी निर्वाणको प्राप्त हुए। उसके उपलक्ष्यमें तीनों लोकोंमें जो भवनवासी, व्यंतर, ज्योतिषी और कल्पवासीके भेदसे चार प्रकारके देव रहते हैं, वे सपरिवार दिव्य गंध, दिव्य पुष्प, दिव्य धूप, दिव्य चूर्ण, दिव्य सुगंधित पदार्थ और दिव्य स्नानके द्वारा निरंतर उनकी अर्चा करते हैं, पूजा करते हैं, वंदना करते हैं, नमस्कार करते हैं और निर्वाण नामक महाकल्याणकी पूजा करते हैं। मैं भी यहाँ रहता हुआ वहाँ स्थित उन निर्वाणक्षेत्रोंकी नित्यकाल अर्चा करता हूँ, पूजा करता हूँ, वंदना करता हूँ, नमस्कार करता हूँ। इसके फलस्वरूप मेरे दुःखोंका क्षय हो, कर्मोंका क्षय हो, रत्नत्रयकी प्राप्ति हो, सुगतिमें गमन हो, समाधिमरण

हो और मुझे जिनेंद्र भगवान्‌के गुणोंकी संप्राप्ति हो।।[१]

१. अतिशय भक्तिके नामपर २१ वीं गाथाके आगे निम्नांकित गाथाएँ प्रक्षिप्त हो गयी हैं --

पासं तह अहिणंदण णायद्दहि मंगलाउरे वंदे।
अस्सारम्मे पट्ठणि मुणिसुव्वओ तहेव वंदामि।।१।।

नागह्रदमें पार्श्वनाथ, मंगलापुरमें अभिनंदन और आशारम्य नगरमें मुनिसुव्रतनाथकी वंदना करता हूँ।।१।।

बाहूबलि तह वंदमि, पोदनपुर हत्थिनापुरे वंदे।
संती कुंथुव अरिहो वाराणसीए सुपास पासं च।।२।।

पोदनपुरमें बाहुबली, हस्तिनापुरमें शांति, कुंथु और अरनाथ तथा वाराणसीमें सुपार्श्व और पार्श्वनाथ को वंदना करता हूँ।।२।।

महुराए अहिछत्ते वीरं पासं तहेव वंदामि।
जंबुमुणिंदो वंदे णिव्वुइपत्तोवि जंबुवणगहणे।।३।।

मथुरामें भगवान् महावीर, अहिच्छत्रनगरमें पार्श्वनाथ और जंबू नामक सघन वनमें निर्वाणको प्राप्त हुए जंबूस्वामीको नमस्कार करता हूँ।।३।।

पंचकल्लाणठाणइ जाणवि संजादमच्चलोयम्मि।
मणवयणकायसुद्धो सव्वे सिरसा णमंसामि।।४।।

मनुष्यलोकमें पंचकल्याणकोंके जितने भी स्थान हैं मन वचन कायसे शुद्ध होकर उन सबको शिरसे नमस्कार करता हूँ।।४।।

अग्गलदेवं वंदमि वरणयरे णिवडकुंडली वंदे।
पासं सिरिपुरि वंदमि लोहागिरि संख दीवम्मि।।५।।

वरनगरमें अर्गलदेवको तथा निवडकुंडली (?) को वंदना करता हूँ। श्रीपुर, लोहागिरि और शंखद्वीपके पार्श्वनाथको नमस्कार करता हूँ।।५।।

गोम्मटदेवं वंदमि, पंचसमधणुहदेहउच्चं तं।
देवा कुणंति वुट्ठी, केसरकुसमाण तस्स उवरिम्मि।।६।।

जिनका शरीर पाँचसौ धनुष्य ऊँचा है ऐसे गोम्मटस्वामीको नमस्कार करता हूँ। उनके ऊपर देव केशर और पुष्पोंकी वर्षा करते हैं।।६।।

णिव्वाणठाण जाणि वि, अइसयठाणाणि अइसये सहिया।
संजादमच्चलोए सव्वे सिरसा णमंसामि।।७।।

मनुष्यलोकमें जितने निर्वाणस्थान और अतिशयोंसे सहित स्थान हैं उन सबको मैं शिरसे नमस्कार करता हूँ।।७।।

जो जण पढइ तियालं णिव्वुइकंडंपि भावसुद्धीए।
भुंजदि णरसुरसुक्खं पच्छा सो लहइ णिव्वाणं।।८।।

जो मनुष्य भावशुद्धिपूर्वक तीनों कालमें निर्वाणकांडको पढ़ता है वह मनुष्य और देवोंके सुखको भोगता है और पश्चात् निर्वाणको प्राप्त होता है।।८।।

८. नंदीश्वरभक्ति

अंचलिका

इच्छामि भंते! नंदीसरभत्तिकाउस्सग्गो कओ तस्सालोचेउं। णंदीसरदीवम्मि चउदिसविदिसासु अंजणदधिमुहरदिपुरुणवावरेसु जाणि जिणचेइयाणि ताणि सव्वाणि तिसुवि लोएसु भवणवासियवाणविंतरजोइसियकप्पवासियत्ति चउविहा देवा सपरिवारा दिव्वेहि गंधेहि, दिव्वेहि पुप्फेहि, दिव्वेहि धूपेहि, दिव्वेहि चुण्णेहि, दिव्वेहि वासेहि, दिव्वेहि ण्हाणेहि आसाढकत्तियफागुणमासाणं अट्ठमिमाइं काऊण जाव पुण्णिमंति णिच्चकालं अच्चंति, पूजंति, वंदंति, णमंसंति णंदीसरमहाकल्लाणं करंति, अहमवि, इह संतो तत्थ संताइं णिच्चकालं अंचेमि, पूजेमि, वंदामि, णमंसामि, दुक्खक्खओ कम्मक्खओ, बोहिलाहो, सुगइगमणं, समाहिमरणं, जिणगुणसंपत्ति होउ मज्झं।।

हे भगवन्! मैंने नंदीश्वर भक्तिसंबंधी कायोत्सर्ग किया है। उसकी आलोचना करना चाहता हूँ। नंदीश्वर द्वीपकी चारों दिशाओं तथा विदिशाओंमें अंजनगिरि, दधिमुख तथा रतिकर नामक विशाल -- श्रेष्ठ पर्वतोंपर जो जिनप्रतिमाएँ हैं उन सबको त्रिलोकवर्ती भवनवासी, व्यंतर, ज्योतिषी और कल्पवासी ये चार प्रकारके देव परिवारसहित दिव्य गंध, दिव्य पुष्प, दिव्य धूप, दिव्य चूर्ण, दिव्य सुगंधित पदार्थ और दिव्य अभिषेक द्वारा आषाढ़, कार्तिक और फागुन मासकी अष्टमीसे लेकर पूर्णिमापर्यंत त्रिकाल अर्चा करते हैं, पूजा करते हैं, वंदना करते हैं, नमस्कार करते हैं तथा नंदीश्वर द्वीप महान् उत्सव करते हैं। हम भी यहाँ स्थित रहते हुए वहाँ स्थित रहनेवाली उन प्रतिमाओंकी नित्यकाल अर्चा करते हैं, पूजा करते हैं, वंदना करते हैं, नमस्कार करते हैं। इसके फलस्वरूप हमारे दुःखोंका क्षय हो, कर्मोंका क्षय हो, रत्नत्रयकी प्राप्ति हो, सुगतिमें गमन हो, समाधिमरण हो और जिनेंद्र भगवान्के गुणोंकी संप्राप्ति हो।।

***

९. शांतिभक्ति

अंचलिका

इच्छामि भते! संतिभत्तिकाउस्सगो कओ तस्सालोचेउं। पंचमहाकल्लाणसंपण्णाणं, अट्ठमहापाडिहेरसंहियाणं, चउतीसातिसयविसेससंजुत्ताणं, बत्तीसदेवेंदमणिमउडमत्थय-महियाणं बलदेववासुदेवचक्कहररिसिमुणिजदिअणगारोवगूढाणं थुइसहस्सणिलयाणं,

उसहाइवीरपच्छिममंगलमहापुरिसाणं णिच्चकालं अंचेमि, पूजेमि, वंदामि, णमंसामि, दुक्खक्खओ, कम्मक्खओ, बोहिलाहो, सुगइगमणं, समाहिमरणं, जिणगुणसंपत्ति होऊ मज्झं।।

हे भगवन्! मैंने शांतिभक्तिसंबंधी कायोत्सर्ग किया है। उसकी आलोचना करना चाहता हूँ। जो गर्भ-जन्मादि पाँच महाकल्याणोंसे संपन्न हैं, आठ महाप्रातिहार्योंसे सहित हैं, चौंतीस अतिशय विशेषोंसे संयुक्त हैं, बत्तीस इंद्रोंके मणिमय मुकुटोंसे युक्त मस्तकोंसे पूजित हैं, बलदेव, नारायण, चक्रवर्ती, ऋषि, मुनि, यति और अनगारोंसे परिवृत हैं और लाखों स्तुतियोंके घर हैं ऐसे ऋषभादि महावीरांत मंगलमय महापुरुषोंकी मैं नित्यकाल अर्चा करता हूँ, पूजा करता हूँ, वंदना करता हूँ, नमस्कार करता हूँ। इसके फलस्वरूप मेरे दुःखोंका क्षय हो, कर्मोंका क्षय हो, रत्नत्रयकी प्राप्ति हो, सुगतिमें गमन हो, समाधिमरण हो और जिनेंद्र भगवान्के गुणोंकी संप्राप्ति हो।।

***

१०. समाधिभक्ति

अंचलिका

इच्छामि भंते! समाहिभत्तिकाउस्सग्गो कओ तस्सालोचेउं, रयणत्तयरूव-परमप्पज्झाणलक्खणसमाहिभत्तीए णिच्चकालं अंचेमि, पूजेमि, वंदामि, णमंसामि, दुक्खक्खओ, कम्मक्खओ, बोहिलाहो, सुगइगमणं, समाहिमरण, जिनगुणसंपत्ति होउ मज्झं।

हे भगवन्! मैंने समाधि भक्तिसंबंधी कायोत्सर्ग किया है। उसकी आलोचना करना चाहता हूँ। रत्नत्रयके प्ररूपक परमात्माके ध्यानरूप समाधिभक्तिके द्वारा मैं नित्यकाल अर्चा करता हूँ, पूजा करता हूँ, वंदना करता हूँ, नमस्कार करता हूँ। उसके फलस्वरूप मेरे दुःखोंका क्षय हो, कर्मोंका क्षय हो, रत्नत्रयकी प्राप्ति हो, सुगतिमें गमन हो, समाधिमरण हो और जिनेंद्र भगवान्के गुणोंकी संप्राप्ति हो।

***

पंचगुरुभक्ति

मणुयणाइंदसुरधरियछत्तत्तया, पंचकल्लाणसोक्खा वलीपत्तया।
दंसणं णाणझाणं अणंतं बलं ते, जिणा दिंतु अम्हं वरं मंगलं।।१।।

राजा, नागेंद्र और सुरेंद्र जिनपर तीन छत्र धारण करते हैं, तथा जो पंचकल्याणकोंके सुखसमूहको प्राप्त हैं वे जिनेंद्र हमारे लिए उत्कृष्ट मंगलस्वरूप अनंत दर्शन, अनंत ज्ञान, अनंत सुख, अनंत बल और उत्कृष्ट ध्यानको देवें।।१।।

जेहिं झाणग्गिबाणेहि अइथद्दयं जम्मजरमरणणयरत्तयं दड्ढयं।
जेहिं पत्तयं सिवं सासयं ठाणयं ते मह दिंतु सिद्धा वरं णाणयं।।२।।

जिन्होंने ध्यानरूपी अग्निबाणोंसे उत्पन्न मजबूत जन्म जरा और मरणरूपी तीन नगरोंको जला डाला तथा जिन्होंने शाश्वत मोक्षस्थान प्राप्त कर लिया वे सिद्ध भगवान् मुझे उत्तम ज्ञान प्रदान करें।।२।।

पंचहाचारपंचग्गिसंसाहया, वारसंगाइं सुअजलहि अवगाहया।
मोक्खलच्छी महंती महं ते सया सूरिणो दिंतु मोक्खं गयासं मया।।३।।

जो पाँच आचाररूपी पाँच अग्निओंका साधन करते हैं, द्वादशांगरूपी समुद्रमें अवगाहन करते हैं तथा जो आशाओंसे रहित मोक्षको प्राप्त हुए हैं ऐसे आचार्य परमेष्ठी मेरे लिए सदा महती मोक्षरूपी लक्ष्मीको प्रदान करें।।३।।

घोरसंसारभीमाडवीकाणणे, तिक्खवियरालणहपावपंचाणणे।
णट्ठमग्गाण जीवाण पहदेसिया वंदिमो ते उवज्झाय अम्हे सया।।४।।

जिसमें तीक्ष्ण विकराल नखवाला पापरूपी सिंह निवास करता है ऐसे घोर संसाररूपी भयंकर वनमें मार्ग भूले हुए जीवोंको जो मार्ग दिखलाते हैं उन उपाध्याय परमेष्ठियोंको मैं सदा वंदना करता हूँ।

उग्गतवचरणकरणेहिं झीणंगया, धम्मवरझाण सुक्केक्कझाणं गया।
णिब्भरं तवसिरीए समालिंगया, साहुनो ते महं मोक्खपहमग्गया।।५।।

उग्र तपश्चरण करनेसे जिनका शरीर क्षीण हो गया है, जो उत्तम धर्म्य ध्यान और शुक्ल ध्यानको प्राप्त हैं तथा तपरूपी लक्ष्मीके द्वारा जो अत्यंत आलिंगित हैं वे साधु परमेष्ठी मुझे मोक्षमार्गके दर्शक हों।।५।।

एण थोत्तेण जो पंचगुरु वंदए गरुयसंसारघणवेल्लि सो छिंदए।
लहइ सो सिद्धिसोक्खाइ वरमाणणं, कुणइ कम्मिंधणं पुंजपज्जालणं।।६।।

जो इस स्तोत्रके द्वारा पंचगुरुओं -- पंचपरमेष्ठियोंकी वंदना करता है, वह अनंत संसाररूपी सघन वेलके काट डालता है, उत्तम जनोंके द्वारा मान्य मोक्षके सुखोंको प्राप्त होता है तथा कर्मरूपी ईंधनके समूहको जला डालता है।।६।।

अरुहा सिद्धायरिया, उवज्झाया साहु पंचपरमेट्ठी ।
एयाण णमुक्कारा, भवे भवे मम सुहं दिंतु।।७।।

अर्हंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु ये पाँच परमेष्ठी हैं। इनके लिए किये गये नमस्कार मुझे भवभवमें सुख देवें।।७।।

अंचलिका

इच्छामि भंते! पंचमहागुरुभत्तिकाउस्सग्गो कओ तस्सालोचेउं, अट्ठमहापाडिहेर-संजुत्ताणं अरहंताणं, अट्ठगुणसंपण्णाणं उड्ढलोयमत्थयम्मि पइट्ठियाणं सिद्धाणं, अट्ठपवयणमाउसंजुत्ताणं आयरियाणं, आयारादिसुयणाणोवदेसयाणं उवज्झायाणं, तिरयगुणपालणरयणाणं सव्वसाहूणं णिच्चकालं अंचेमि, पूजेमि, वंदामि, णमंसामि, दुक्खक्खओ कम्मक्खओ बोहिलाहो, सुगइगमणं, समाहिमरणं, जिणगुणसंपत्ति होउ मज्झं।।

हे भगवन्! मैंने पंचमहागुरुभक्तिसंबंधी कायोत्सर्ग किया है। उसकी आलोचना करता हूँ।आठ महाप्रातिहार्योंसे सहित अरहंत, आठ गुणोंसे संपन्न तथा ऊर्ध्वलोकके मस्तकपर स्थित सिद्ध, आठ प्रवचनमातृकासे संयुक्त आचार्य, आचारांग आदि श्रुतज्ञानका उपदेश करनेवाले उपाध्याय और रत्नत्रयरूपी गुणोंके पालन करनेमें तत्पर सर्व साधुओंकी मैं नित्यकाल अर्चा करता हूँ, पूजा करता हूँ, वंदना करता हूँ और नमस्कार करता हूँ। इसके फलस्वरूप मेरे दुःखोंका क्षय हो, कर्मोंका क्षय हो, रत्नत्रयकी प्राप्ति हो, सुगतिमें गमन हो, समाधिमरण हो और जिनेंद्र भगवान्के गुणोंकी संप्राप्ति हो।।

***

१२. चैत्यभक्ति

अंचलिका

इच्छामि भंते चेइयभत्तिकाउस्सग्गो कओ तस्सालोचेउं। अहलोय-तिरियलोय-उड्ढलोयम्मि किट्टिमाकिट्टमाणि जाणि जिणचेइयाणि ताणि सव्वाणि तिसु वि लोएसु भवणवासिय-वाणविंतर-जोइसिय-कप्पवासियत्ति चउविहा देवा सपरिवारा दिव्वेण गंधेण,

दिव्वेण पुप्फेण, दिव्वेण धूवेण, दिव्वेण चुण्णेण, दिव्वेण वासेण, दिव्वेण ण्हाणेण णिच्चकालं अच्चंति, पुज्जंति, वंदंति, णमंसंति, अहमपि इह संतो तत्थ संताइं णिच्चकालं अंचेमि, पुज्जेमि, वंदामि, णमंसामि, दुक्खक्खओ, कम्मक्खओ, बोहिलाहो, सुगइगमणं, समाहिमरणं होउ मज्झं।।

हे भगवन्! मैंने चैत्यभक्तिसंबंधी कायोत्सर्ग किया है, उसकी आलोचना करना चाहता हूँ। अधोलोक, मध्यलोक तथा ऊर्ध्वलोकमें जो कृत्रिम-अकृत्रिम जिनप्रतिमाएं हैं उन सबको तीनों लोकोंमें निवास करनेवालेभवनवासी, व्यंतर, ज्योतिषी और कल्पवासी इस तरह चार प्रकारके देव अपने परिवारसहित दिव्य गंध, दिव्य पुष्प, दिव्य धूप, दिव्य चूर्ण, दिव्य सुगंधित पदार्थ और दिव्य अभिषेकके द्वारा नित्यकाल अर्चा करते हैं, पूजा करते हैं, वंदना करते हैं, नमस्कार करते हैं। मैं भी यहाँ रहता हुआ वहाँ रहनेवाली प्रतिमाओंकी नित्यकाल अर्चा करता हूँ, पूजा करता हूँ, वंदना करता हूँ, नमस्कार करता हूँ। इसके फलस्वरूप मेरे दुःखोंका क्षय हो, कर्मोंका क्षय हो, रत्नत्रयकी प्राप्ति हो, सुगतिमें गमन हो, समाधिमरण हो और जिनेंद्र भगवान्के गुणोंकी प्राप्ति हो।।

***

पंचास्तिकाय गाथानुक्रमणिका

	गाथा	पृष्ठ
अ		
अगरुलहुगा अणंता	३१	१०
अगुरुलघगेहिं सया	८४	२३
अंडेसु पवड्ढंता	११३	२९
अण्णाणादो णाणी	१६५	३९
अण्णोण्णं पविसंता	७	४
अत्ता कुणदि सहावं	६५	१८
अभिवंदिऊण सिरसा	१०५	२७
अरसमरूवमगंधं	१२७	३२
अरहंतसिद्धसाहुसु	१३६	३३
अरहंत सिद्ध चेदिय	१६६	३९
अरहंत सिद्ध चेदिय	१७१	४०
अविभत्तमणण्णत्तं	४५	१३
आ		
आगासकालपुग्गल	१२४	३१
आगासकालजीवा	९७	२६
आगासं अवगासं	९२	२५
आदेस मत्त मुत्तो	७८	२२
आभिणिसुदोहिमण	४१	१२
आसवदि जेण पुण्णं	१५७	३८
इ		
इंदसदवंदियाणं	१	३
इंदियकसायसण्णा	१४१	३४
उ		
उदयं जह मच्छाणं	८५	२३
उदयेण उवसमेण य	५६	१६
उद्दंसमसयमक्खिय	११६	३०
उप्पत्तीव विणासो	११	५
उवओगो खलु दुविहो	४०	१२
उवभोज्जमिंदिएहिं	८२	२३
उवसंतखीणमोहो	७०	२०
ए		
एक्को चेव महप्पा	७१	२०
एदे कालागासा	१०२	२७
एदे जीवणिकाया	१२०	३१
एदे जीवणिकाया	११२	२९
एयरसवण्णगंधं	८१	२३
एवमभिगम्म जीवं	१२३	३१
एवं कत्ता भोत्ता	६९	१९
एवं पवयणसारं	१०३	२७
एवं भावमभावं	२१	७
एवं सदो विणासो	५४	१६
एवं सदो विणासो	१९	७
ओ		
ओगाढगाढणिचिदो	६४	१८
क		
कम्ममलविप्पमुक्को	२८	९
कम्मं वेदयमाणो	५७	१७
कम्मं पि सगं कुव्वदि	६२	१८
कम्मं कम्मं कुव्वदि	६३	१८
कम्माणं फलमेक्को	३८	१२
कम्मेण विणा उदयं	५८	१७
कालो परिणमभवो	१००	२६
कालोत्ति य ववदेसो	१०१	२६
कुव्वं सगं सहावं	६१	१८
केचित्तु अणावण्णा	३२	१०
कोधो व जदा माणो	१३८	३४
ख		
खंधं सयलसमत्थं	७५	२१
खंधा य खंधदेसा	७४	२१
खीणे पुव्वणिबद्धे	११९	३०
ग		
गदिमधिगदस्स देहो	१२९	३२
च		
चरियं चरदि सगं जो	१५९	३८
चरिया पमादबहुला	१३९	३४

	गाथा	पृष्ठ
छ		
छक्कापक्कमजुत्तो	७२	२०
ज		
जदि हवदि गमणहेदू	९४	२५
जदि हवदि दव्वमण्णं	४४	१३
जम्हा उवरिट्ठाणं	९३	२५
जस्स ण विज्जदि रागो	१४२	३५
जस्स ण विज्जदि रागो	१४६	३५
जस्स जदा खलु पुण्णं	१४३	३५
जस्स हिदये णुमत्तं	१६७	३९
जह पउमरागरयणं	३३	१०
जह पुग्गलदव्वाणं	६६	१८
जह हवदि धम्मदव्वं	८६	२३
जम्हा कम्मस्स फलं	१३३	३३
जं सुहमसुहमुदिण्णं	१४७	३५
जाणदि पस्सदि सव्वं	१२२	३१
जादो अलोगलोगो	८७	२४
जादो सयं स चेदा	२९	९
जायदि जीवस्सेवं	१३०	३२
जीवसहावं णाणं	१५४	३७
जीवा अणाइणिहणा	५३	१५
जीवाजीवा भावा	१०८	२८
जीवा पुग्गलकाया	४	३
जीवा पुग्गलकाया	२२	७
जीवा पुग्गलकाया	६७	१९
जीवा पुग्गलकाया	९८	२६
जीवा पुग्गलकाला	९१	२४
जीवा संसारत्था	१०९	२८
जीवेत्ति हवदि चेदा	२७	८
जीवो सहावणियदो	१५५	३७
जूगा गुंभी मक्कुण	११५	३०
जे खलु इंदियगेज्झा	९९	२६
जेण विजाणदि सव्वं	१६३	३९
जेसिं अत्थि सहावो	५	४
जेसिं जीवसहावो	३५	११
जो खलु संसारत्थो	१२८	३२
जोगणिमित्तं गहणं	१४८	३५
	गाथा	पृष्ठ
जो चरदि णादि पिच्छदि	१६२	३८
जो परदव्वम्मि सुहं	१५६	३८
जो सव्वसंगमुक्को	१५८	३८
जो संवरेण जुत्तो	१४५	३५
जो संवरेण जुत्तो	१५३	३७
ण		
ण कुदो चि वि उप्पण्णो	३६	११
णत्थि चिरं वा खिप्पं	२६	८
ण य गच्छदि धम्मत्थी	८८	२४
ण वियप्पदि णाणादो	४३	१३
ण हि इंदियाणि जीवा	१२१	३१
ण हि सो समवायादो	४९	१४
णाणं धणं च कुव्वदि	४७	१३
णाणावरणादीया	२०	७
णाणी णाणं च सदा	४८	१४
णिच्चयणयेण भणिदो	१६१	३८
णिच्चो णाणवकासो	८०	२३
णेरइय तिरिय मणुआ	५५	१६
त		
तम्हा धम्माधम्मा	९५	२५
तम्हा कम्मं कत्ता	६८	१९
तम्हा णिव्वुदिकामो	१७२	४०
तम्हा णिव्वुदिकामो	१६९	४०
तित्थावर तणु जोगा	१११	२९
तिसिदं बुभुक्खिदं वा	१३७	३४
ते चेव अत्थिकाया	६	४
द		
दवियदि गच्छदि ताइं	९	५
दव्वं सल्लक्खणियं	१०	५
दव्वेण विणा ण गुणा	१३	५
दंसणणाणचरित्ताणि	१६४	३९
दंसणणाणसमग्गं	१५२	३६
दंसणमवि चक्खुजुदं	४२	१२
दंसणणाणाणि तहा	५२	१५
देवा चउण्णिकाया	११८	३०

	गाथा	पृष्ठ
ध		
धम्मत्थिकायमरसं	८३	२३
धम्मादी सद्दहणं	१६०	३८
धम्माधम्मागासा	६९	१९
प		
पज्जयविजुदं दव्वं	१२०	३१
पयडिट्ठिदि अणुभाग	७३	२०
णाणेहिं चदुहिं जीवदि	३०	९
पुढवी य उदयमगणी	११०	२८
भ		
भावस्स णत्थि णासो	१५	६
भावा जीवादीया	१६	६
भावो कम्मणिमित्तो	६०	१७
भावो जदि कम्मकदो	५९	१७
म		
मग्गप्पभावणट्ठं	१७३	४०
मण सत्तणेण णट्ठो	१७	६
मुणिऊण एतदट्ठं	१०४	२७
मुत्तो फासदि मुत्तं	१३४	३३
मोहो रागो दोसो	१३१	३२
र		
रागो जस्स पसत्थो	१३५	३३
व		
वण्णरसगंधफासा	५१	१५
ववगद पणवण्णरसो	२४	८
ववदेसा संठाणा	४६	१३
बादरसुहुमगदाणं	७६	२१
विज्जदि जेसिं गमणं	८९	२४

	गाथा	पृष्ठ
स		
सण्णाओ य तिलेस्सा	१४०	३४
सत्ता सव्वपयत्था	८	४
सद्दो खंधप्पभवो	७९	२२
सपसत्थं तित्थयरं	१७०	४०
सब्भावसभावाणं	२३	७
समयो णिमिसो कट्ठा	२५	८
समणमुहग्गदमट्ठं	२	३
समवत्ता समवाओ	५०	१५
समवाओ पंचण्हं	३	३
सम्मत्तणाणजुत्तं	१०६	२८
सम्मत्तं सद्दहणं	१०७	२८
सव्वत्थ अत्थि जीवो	३४	१०
सव्वे खलु कम्मफलं	३९	१२
सव्वेसिं खंधाणं	७७	२१
सव्वेसिं जीवाणं	९०	२४
सस्सधमध उच्छेदं	३७	११
संठाणा संघादा	१२६	३२
संवर जोगेहिं जुदो	१४४	३५
संवुक्कमादुमाहा	११४	२९
सिय अत्थि णत्थि उहयं	१४	६
सुरणरणारयतिरिया	११७	३०
सुहदुक्खजाणणा वा	१२५	३१
सुहपरिणामो पुण्णं	१३२	३३
सो चेव जादि मरणं	१८	६
ह		
हेदू चदुव्वियप्पो	१४९	३६
हेदुमभावे णियमा	१५०	३६

समयसारगाथानुक्रमणिका

	गाथा	पृष्ठ
अ		
अज्झवसाणणिमित्तं	२६७	९९
अज्झवसिदेण बंधो	२६२	९८
अट्ठवियप्पे कप्पे	१८२	८२

	गाथा	पृष्ठ
अट्ठविहं पि कम्मं	४५	५४
अण्णदविएण	३७२	११९
अण्णाणमओ भावो	१२७	७१
अण्णाणमया भावा	१२९	७१

	गाथा	पृष्ठ
अण्णाणमया भावा अण्णाणिणो	१३१	७१
अण्णाणमोहिदमदी	२३	५०
अण्णाणस्स स उदओ	१३२	७१
अण्णाणी कम्मफलं	३१६	११०
अण्णाणी पुणरत्तो	२१९	९०
अण्णो करेइ अण्णो	३४८	११५
अत्ता जस्सामुत्तो	४०५	१२३
अपडिक्कमणं दुविहं	२८३	१०२
अपडिक्कमणं दुविहं दव्वे	२८४	१०२
अपरिग्गहो अणिच्छो	२१०	८८
अपरिग्गहो अणिच्छो	२११	८८
अपरिग्गहो अणिच्छो	२१२	८९
अपरिग्गहो अणिच्छो	२१३	८९
अपरिणतंम्हि सयं	१२२	६९
अप्पकडिक्कमणं अप्पडिसरणं	३०७	१०८
अप्पाणमप्पणा रुंधिऊण	१८७	८३
अप्पाणमयाणंता	३९	५३
अप्पाणमयाणंतो	२०२	८७
अप्पा णिच्चो असंखिज्ज	३४२	११४
अप्पाणं झायंतो	१८९	८३
अरसमरूवमगंधं	४९	५५
अवरे अज्झवसाणेसु	४०	५३
असुहं सुहं व दव्वं	३८०	१२०
असुहं सुहं व रूवं	३७६	११९
असुहो सुहो व गंधो	३७७	११९
असुहो सुहो व गुणो	३८०	१२०
असुहो सुहो व फासो	३७९	१२०
असुहो सुहो व रसो	३७८	११९
असुहो सुहो व सद्दो	३७५	११९
अह जाणओ उ भावो	३४४	११४
अह जीवो पयडी तह	३३०	११३
अह ण पयडी ण जीवो	३३१	११३
अह दे अण्णो कोहो	११५	६८
अहमिक्को खलु सुद्धो	३८	५३
अहमिक्को खलु सुद्धो	७३	६०
अहमेदं एदमहं	२०	५०
अहवा एसो जीवो	३२९	११३
अहवा मणसि मज्झं	३४१	११४
अह समयप्पा परिणमदि	१२४	७०
अह संसारत्थाणं	६३	५७
अह सयमेव हि परिणमदि	११९	६९
आ		
आउक्खयेण मरणं	२४८	९५
आउक्खयेण मरणं	२४९	९५
आऊदयेण जीवदि	२५१	९६
आऊदयेण जीवदि	२५२	९६
आदम्हि दव्वभावे	२०३	८७
आदा खु मज्झ णाणं	२७७	१०१
आधा कम्मं उद्देसियं	२८७	१०३
आधा कम्माईया	२८६	१०३
आभिणिसुदोहि	२०४	८७
आयारादी णाणं	२७६	१०१
आयासं पि णाणं	४०१	१२२
आसि मम पुव्वमेदं	२१	५०
इ		
इणमण्णं जीवादो	२८	५१
इय कम्मबंधणाणं	२९०	१०४
उ		
उदओ असंजमस्स दु	१३३	७१
उदयविवागो विविहो	१९८	८६
उप्पण्णोदयभोगो	२१५	८९
उप्पादेदि करेदि य	१०७	६७
उम्मग्गं गच्छंतं	२३४	९३
उवओगस्स अणाई	८९	६३
उवओए उवओगो	१८१	८२
उवघायं कुव्वंतस्स	२३९	९४
उवघायं कुव्वंतस्स	२४४	९५
उवभोगमिंदिएहिं	१९३	८५
ए		
एएण कारणेण दु	८२	६१
एए सव्वे भावा	४४	५४
एएसु य उवओगो	९०	६४

	गाथा	पृष्ठ
एएहिं य संबंधो	५७	५६
एक्कं च दोण्णि तिण्णि	६५	५८
एकस्स दु परिणामो	१४०	७३
एकस्स दु परिणामो	१३८	७२
एदम्हि रदो णिच्चं	२०६	८७
एदाणि णत्थि जेसिं	२७०	१००
एदे अचेदणा खलु	१११	६८
एदेण कारणेण दु	१७६	८१
एदेण दु सो कत्ता	९७	६५
एदेसु हेदुभूदेसु	१३५	७२
एदाहि य णिव्वत्ता	६६	५८
एमादिए दु विविहे	२१४	८९
एमेव कम्मपयडी	१४९	७५
एमेव जीवपुरिसो	२२५	९१
एमेव मिच्छादिट्ठी	३२६	११२
एमेव य ववहारो	४८	८८
एमेव सम्मदिट्ठी	२२७	९१
एयं तु अविवरीदं	१८३	८२
एयं तु जाणिऊण	३८२	१२०
एयत्तणिच्छयगओ	३	४५
एयं तु असंभूदं	२२	५०
एवमलिये अदत्ते	२६३	९७
एवमिह जो दु जीवो	११४	६८
एवं हि सावराहो	३०३	१०६
एवं जाणदि णाणी	१८५	८३
एवं ण कोवि मोक्खो	३२३	१११
एवं णाणी सुद्धो	२७९	१०१
एवं तु णिच्छयणयस्स	३६०	११७
एवं पराणि दव्वाणि	९६	६५
एवं पुग्गलदव्वं	६४	५७
एवं बंधो उ दुण्हं वि	३१३	१०९
एवं मिच्छादिट्ठी	२४१	९४
एवं ववहारणओ	२७२	१००
एवं ववहारस्स उ	३५३	११६
एवं ववहारस्स दु	३६५	११७
एवंविहा बहुविहा	४३	५४

	गाथा	पृष्ठ
एवं संखुवएसं	३४०	११४
एवं सम्मद्दिट्ठी	२००	८६
एवं सम्मादिट्ठी	२४६	९५
एवं हि जीवराया	१८	४९
एसा दु जा मई दे	२५९	९७
क		
कणयमया भावादो	१३०	७१
कम्मइयवग्गणासु य	११७	६९
कम्मं जु पुव्वकयं	३८३	१२०
कम्मं जं सुहमसुहं	३८४	१२१
कम्मं णाणं ण हवइ	३९७	१२२
कम्मं पडुच्च कत्ता	३११	१०९
कम्मं बद्धमबद्धं	१४२	७३
कम्ममसुहं कुसीलं	१४५	७५
कम्मस्साभावेण य	१९२	८४
कम्मस्स य परिणामं	७५	६०
कम्मस्सुदयं जीवं	४१	५३
कम्मे णोकम्मम्हि य	१९	४९
कम्मेहिं दु अण्णाणी	३३२	११३
कम्मेहिं भमाडिज्जइ	३३४	११३
कम्मेहिं सुहाविज्जइ	३३३	११३
कम्मोदएण जीवा	२५४	९६
कम्मोदएण जीवा	२५५	९६
कम्मोदएण जीवा	२५६	९७
कह सो घिप्पइ अप्पा	२९६	१०५
कालो णाणं ण हवइ	४००	१२२
केहिंचि दु पज्जएहिं	३४५	११५
केहिंचि दु पज्जएहिं	३४६	११५
को णाम भणिज्ज बुहो	२०७	८८
को णाम भणिज्ज	३००	१०६
कोहादिसु वट्टंतस्स	७०	५९
कोहुवजुत्तो कोहो	१०५	६७
ग		
गंधरसफासरूवा	६०	५७
गंधो णाणं ण हवइ	३९४	१२२
गुणसण्णिदा दु एदे	११२	६८

	गाथा	पृष्ठ
च		
चउविह अणेयभेयं	१७०	८०
चारित्त पडिणिबद्धं	१६३	७८
चेया उ पयडिअट्ठं	३१२	१०९
छ		
छिज्जदु वा भिज्जदु वा	२०९	८८
छिंददि भिंददि य तहा	२३८	९४
छिंददि भिंददि य तहा	२४३	९४
ज		
जइ जीवेण सह च्चिय	१३९	७३
जइ णवि कुणई छेदं	२८९	१०४
जइया इमेण जीवेण	७१	५९
जइया स एव संखो	२२२	९१
जदि जीवो ण सरीरं	२६	५१
जदि पुग्गलकम्ममिणं	८५	६२
जदि सो परदव्वाणि य	९९	६५
जदि सो पुग्गलदव्वी	२५	५०
जया विमुंचए चेया	३१५	११०
जह कणयमग्गितवियं	१८४	८२
जह कोवि णरो जंपइ	३२५	११२
जह चिट्ठं कुव्वंतो	३५५	११६
जह जीवस्स अणण्णुवओगो	११३	६८
जह णवि सक्कमणज्जो	८	४७
जह णाम कोवि पुरिसो	१७	४९
जह णाम कोवि पुरिसो	३५	५२
जह णाम कोवि पुरिसो	१४८	७५
जह णाम कोवि पुरिसो	२३७	९४
जह णाम कोवि पुरिसो	२८८	१०४
जह परदव्वं सेडदि	३६१	११७
जह परदव्वं सेडदि	३६२	११७
जह परदव्वं सेडदि	३६३	११७
जह परदव्वं सेडदि	३६४	११७
जह पुण सो चिय	२२६	९१
जह पुण सो चेव णरो	२४२	९४
जह पुरिसेणाहारो	१७९	८२
जह फलिहमणी सुद्धो	२७८	१०१

	गाथा	पृष्ठ
जह बंधे चिंतंतो	२९१	१०४
जह बंधे छित्तूण य	२९२	१०४
जह मज्जं पिवमाणो	१९६	८५
जह राया ववहारा	१०८	६७
जह विसमुवभुंजंतो	१९५	८५
जह सिप्पिओ उ कम्मफलं	३५२	११६
जह सिप्पिओ उ कम्मं	३४९	११६
जह सिप्पिओ उ करणाणि	३५१	११६
जह सिप्पिओ उ करणेहि	३५०	११६
जह सिप्पिओ उ चिट्ठं	३५४	११६
जह सेडिया दु	३५६	११७
जह सेडिया दु	३५७	११७
जह सेडिया दु	३५८	११७
जह सेडिया दु	३५९	११७
जम्हा कम्मं कुव्वइ	३३५	११४
जम्हा घाएइ परं	३३८	११४
जम्हा जाणइ णिच्चं	४०३	१२३
जम्हा दु अत्तभावं	८६	६२
जम्हा दु जहण्णादो	१७१	८०
जं कुणइ भावमादा	९१	६४
जं कुणइ भावमादा	१२६	७०
जं भावं सुहमसुहं	१०२	६६
जं सुहमसुहमुदिण्णं	३८५	१२१
जा एस पयडी अट्ठं	३१४	११०
जावं अपडिक्कमणं	२८५	१०३
जाव ण वेदि विसेसंतरं	६९	५९
जिदमोहस्स दु जइया	३३	५२
जीवणिबद्धा एए	७४	६०
जीवपरिणामहेदुं	८०	६१
जीवम्हि हेदुभूदे	१०५	६७
जीवस्स जीवरूवं	३४३	११४
जीवस्स जे गुणा केइ	३७०	११८
जीवस्स णत्थि केई	५३	५५
जीवस्स णत्थि रागो	५१	५५
जीवस्स णत्थि वग्गो	५२	५५
जीवस्स णत्थि वण्णो	५०	५५

	गाथा	पृष्ठ
जीवस्स दु कम्मेण	१३७	७२
जीवस्साजीवस्स दु	३०९	१०९
जीवादीसद्दहणं	१५५	७७
जीवो कम्मं बद्धं	१४१	७३
जीवे ण सयं वद्धं	११६	६९
जीवो कम्मं उहयं	४२	५३
जीवो चरित्तदंसण	२	३
जीवो चेव हि एदे	६२	५७
जीवो ण करेदि घडं	१००	६६
जीवो परिणामयदे	११८	६९
जीवो बंधो य तहा	२९४	१०५
जीवो बंधो य तहा	२९५	१०५
जे पुग्गलदव्वाणं	१०१	६६
जो अप्पणा दु मण्णदि	२५३	९६
जो इंदिये जिणित्ता	३१	५२
जो कुणदि वच्छलत्तं	२३५	९३
जो चत्तारि वि पाए	२२९	९२
जो चेव कुणइ	३४७	११५
जो जम्हि गुणे दव्वे	१०३	६६
जो ण करेदि जुगुप्पं	२३१	९२
जो ण कुणइ अवराहे	३०२	१०६
जो ण मरदि ण य दुविदो	२५८	९७
जो दु करेदि कंखं	२३०	९२
जोधेहि कदे जुद्धे	१०६	६७
जो पस्सदि अप्पाणं	१४	४८
जो पस्सदि अप्पाणं	१५	४८
जो पुण निरवराधो	३०५	१०७
जो मण्णदि जीवेमि य	२५०	९६
जो मण्णदि हिंसामि य	२४७	९५
जो मरइ जो य दुहिदो	२५७	९७
जो मोहं तु जिणित्ता	३२	५२
जो वेददि वेदिज्जदि	२१६	८९
जो समयपाहुडमिणं	४१५	१२५
जो सव्वसंगमुक्को	१८८	८३
जो सिद्धभत्तिजुत्तो	२३३	९३
जो सुयणाणं सव्वं	१०	४७

	गाथा	पृष्ठ
जो सो दु णेहभावो	२४०	९४
जो सो अणेहभावो	२४५	९५
जो हवइ असंमूढो	२३२	९३
जो हि सुएणहिगच्छइ	९	४७
ण		
ण कदोचि वि उप्पण्णो	३१०	१०९
णज्झवसाणं णाणं	४०२	१२२
णत्थि दु आसवबंधो	१६६	७९
णत्थि मम को वि मोहो	३६	५३
णत्थि मम धम्मआदी	३७	५३
ण उ होइ मोक्खमग्गो	४०९	१२४
ण मुयइ पयडिमभव्वो	३१७	११०
णयरम्मि वण्णिदे जह	३०	५१
ण य रायदोसमोहं	२८०	१०२
ण रसो दु हवइ णाणं	३९५	१२२
ण वि एस मोक्खमग्गो	४१०	१२४
ण वि कुव्वइ कम्मगुणे	८१	६१
ण वि कुव्वइ ण वि वेयइ	३१९	१११
ण वि परिणमदि ण गिण्हदि	७६	६०
ण वि परिणमदि ण गिण्हदि	७७	६१
ण वि परिणमदि ण गिण्हदि	७८	६१
ण वि परिणमदि ण गिण्हदि	७९	६१
ण वि सक्कदि घित्तुं जं	४०६	१२३
ण वि होदि अप्पमत्तो	६	४६
ण सयं बद्धो कम्मे	१२१	६९
णाणं सम्मादिट्ठिं	४०४	१२३
णाणगुणेण विहीणा	२०५	८७
णाणमधम्मो ण हवइ	३९९	१११
णाणमया भावाओ	१२८	७१
णाणस्स दंसणस्स य	३६९	११८
णाणस्स पडिणिबद्धं	१६२	७८
णाणावरणादीयस्स	१६५	७८
णाणी रागप्पजहो	२१८	९०
णादूण आसवाणं	७२	५९
णिंदियसंथुयवयणाणि	३७३	११९
णिच्चं पच्चक्खाणं	३८६	१२१

	गाथा	पृष्ठ
णिच्छयणयस्स एव	८३	६२
णियमा कम्मपरिणदं	१२०	६९
णिव्वेयसमावण्णो	३१८	११०
णेव य जीवट्ठाणा	५५	५६
णो ठिदिबंधट्ठाणा	५४	५५
त		
तत्थ भवे जीवाणं	६१	५७
तह जीवे कम्माणं	५९	५६
तह णाणिस्स दु पुव्वं	१८०	८२
तह णाणिस्स वि विविहे	२२१	९०
तह णाणी वि दु जहया	२२३	९१
तह वि य सच्चे दत्ते	२६४	९८
तम्हा उ जो विसुद्धो	४०७	१२४
तम्हा दुहित्तु लिंगे	४११	१२४
तम्हा ण को वि जीवो	३३७	११४
तम्हा ण को वि जीवो	३३९	११४
तम्हा ण मेत्ति णिच्चा	३२७	११२
तम्हा दु कुसीलेहि य	१४७	७५
तं एयत्तविहत्तं	५	४६
तं खलु जीवणिबद्धं	१३६	७२
तं णिच्छए ण जुज्जदि	२९	५१
तं जाण जोगउदयं	१३४	७२
तिविहो एसुवओगो	९४	६४
तिविहो एसुवओगो	९५	६५
तेसिं पुणो वि य इमो	११०	६८
तेसिं हेऊ भणिया	१९०	८४
थ		
थेयाई अवराहे	३०१	१०६
द		
दवियं जं उप्पज्जइ	३०८	१०९
दव्वगुणस्स य आदा	१०४	६६
दव्वे उवभुंजंते	१९४	८५
दंसणणाणचरित्तं	१७२	८०
दंसणणाणचरित्तं किंचि	३६६	११८
दंसणणाणचरित्तं किंचि	३६७	११८
दंसणणाणचरित्तं किंचि	३६८	११८

	गाथा	पृष्ठ
दंसणणाणचरित्ताणि	१६	४९
दिट्ठी जहेव णाणं	३२०	१११
दुक्खिदसुहिदे जीवे	२६६	९८
दुक्खिदसुहिदे सत्ते	२६०	९७
दोण्हं वि णयाण भणियं	१४३	७३
ध		
धम्माधम्मं च तहा	२६९	९९
धम्मो णाणं ण हवइ	२९८	१०६
प		
पक्के फलम्हि पडिए	१६८	७९
पज्जत्तापज्जत्ता	६७	५८
पडिकमणं पडिसरणं	३०६	१०८
पण्णाए घित्तव्वो जो चेदा	२९७	१०६
पण्णाए घित्तव्वो जो णादा	२९९	१०६
पण्णाए घित्तव्वो जो दट्ठा	२९८	१०६
परमट्ठबाहिरा जे	१५४	७६
परमट्ठम्हि दु अठिदो	१५२	७६
परमट्ठो खलु समओ	१५१	७६
परमप्पाणं कुव्वं	९२	६४
परमप्पाणमकुव्वं	९३	६४
परमाणुमित्तयं पि हु	२०१	८६
पंथे मुस्संतं पस्सिदूण	५८	५६
पाखंडीलिंगाणि व	४०८	१२४
पाखंडीलिंगेसु व	४१३	१२३
पुग्गलकम्मं कोहो	१२३	६९
पुग्गलकम्मं मिच्छं	८८	६३
पुग्गलकम्मं रागो	१९९	८६
पुढवीपिंडसमाणा	१६९	७९
पुरिसित्थियाहिलासो	३३६	११४
पुरिसो जह कोवि	२२४	९१
पोग्गलदव्वं सद्दत्तपरिणयं	३७४	११९
फ		
फासो ण हवइ णाणं	३९६	१२२
ब		
बंधाणं च सहावं	२९३	१०५
बंधुवभोगणिमित्ते	२१७	९०

	गाथा	पृष्ठ
बुद्धी ववसाओ वि अ	२७१	१००
भ		
भावो रागादिजुदो	१६७	७९
भुंजंतस्स वि विविहे	२२०	९०
भूयत्थेणाभिमदा	१३	४८
म		
मज्झं परिग्गहो जइ	२०८	८८
मारेमि जीवावेमि य	२६१	९७
मिच्छत्तं अविरमणं	१६४	७८
मिच्छत्तं जइ पयडी	३२८	११३
मिच्छत्तं पुण दुविहं	८७	६३
मोक्खं असद्दहंतो	१७४	८१
मोक्खपहे अप्पाणं	४१२	१२४
मोत्तूण णिच्छयट्ठं	१५६	७७
मोहणकम्मस्सुदया	६८	५८
र		
रत्तो बंधदि कम्मं	१५०	७६
रागो दोसो मोहो	३७१	११८
रागो दोसो मोहो य	१७७	८१
रायम्हि य दोसम्हि य	२८१	१०२
रायम्हि य दोसम्हि य	२८२	१०२
राया हु णिग्गदोत्ति य	४७	५५
रूवं णाणं ण हवइ	३९२	१२२
ल		
लोगसमणाणमेयं	३२२	११८
लोयस्स कुणइ विण्हू	३२१	१११
व		
वण्णो णाणं ण हवइ	३९३	१२२
वत्थस्स सेदभावो	१५७	७७
वत्थस्स सेदभावो	१५८	७७
वत्थस्स सेदभावो	१५९	७७
वत्थुं पडुच्च जं पुण	२६५	९८
वदणियमाणि धरंता	१५३	७६
वदसमिदीगुत्तीओ	२७३	१००
ववहारणओ भासदि	२७	५१
ववहारभासिएण उ	३२४	११२
ववहारस्स दरीसण	४६	५४
ववहारस्स दु आदा	८४	६२
ववहारिओ पुण णओ	४१४	१२५
ववहारेण दु आदा	९८	६५
ववहारेण दु एदे	५६	५६
ववहारेणुवदिस्सइ	७	४७
ववहारोऽभूयत्थो	११	४७
वंदित्तु सव्वसिद्धे	१	४५
विज्जारहमारूढो	२३६	९३
वेदंतो कम्मफलं	३८७	१२१
वेदंतो कम्मफलं मए	३८८	१२१
वेदंतो कम्मफलं सुहिदो	३८९	१२१
स		
सत्थं णाणं ण हवइ	३९०	१२२
सद्दहदि य पत्तियदि य	२७५	१०१
सद्दो णाणं ण हवइ	३९१	१२२
सम्मत्तपडिणिबद्धं	१६१	७८
सम्मद्दिट्ठी जीवा	२२८	९२
सम्मद्दंसणणाणं	१४४	७३
सव्वण्हुणाणदिट्ठो	२४	५०
सव्वे करेइ जीवो	२६८	९९
सव्वे पुव्वणिबद्धा	१७३	८१
सव्वे भावे जम्हा	३४	५२
संति दु णिरुवभोज्जा	१७४	८१
संसिद्धिराधसिद्धं	३०४	१०७
सामण्णपच्चया खलु	१०९	६८
सुदपरिचिदाणुभूया	४	४६
सुद्धं तु वियाणंतो	१८६	८३
सुद्धो सुद्धादेसो	१२	४८
सेवंतो वि ण सेवइ	१९७	८५
सोवण्णियं पि णियलं	१४६	७५
सो सव्वणाणदरिसी	१६०	७८
ह		
हेउअभावे णियमा	१९१	८४
हेदू चदुवियप्पो	१७८	८१
होदूण णिरवभोज्जा	१७५	८१

प्रवचनसारगाथानुक्रमणिका

	अधि	गाथा	पृष्ठ
अ			
अइसयमादसमुत्थं	१	१३	१३१
अजधाचारविजुत्तो	३	७२	२१४
अट्ठे अजधागहणं	१	८५	१५१
अट्ठेसु जो ण मुज्झिदि	३	४४	१३९
अत्थं अक्खणिवदिदं	१	४०	१३८
अत्थि अमुत्तं मुत्तं	१	५३	१४२
अत्थित्तणिच्छिदस्स	२	६०	१७४
अत्थि त्ति णत्थि त्ति	२	२३	१६१
अत्थो खलु दव्वमओ	२	१	१५४
अधिगगुणा सामण्णे	३	६७	२१२
अधिवासे य विवासे	३	१३	१९५
अपदेसं सपदेसं	१	४१	१३९
अपदेसो परमाणू	२	७१	१७८
अपयत्ता वा चरिया	३	१६	१९६
अपरिचत्तसहावेणुप्पाद	२	३	१५४
अपडिकुट्ठं उवधिं	३	२३	२००
अप्पा उवओगप्पा	२	६३	१७५
अप्पा परिणामप्पा	२	३३	१६५
अब्भुट्ठाणं गहणं	३	६२	२११
अब्भुट्ठेया समणा	३	६३	२११
अयदाचारो समणो	३	१८	१९७
अरसमरूवमगंधं	२	८०	१८१
अरहंतादिसु अत्ती	३	४६	२०८
अववददि सासणत्थं	३	६५	२१२
अविदिदपरमत्थेसु	३	५७	२१०
असुभोवयोगरहिदा	३	६०	२११
असुहोदयेण आदा	१	१२	१३१
असुहोवओगरहिदो	२	६७	१७६
आ			
आगमचक्खू साहू	३	३४	२०५
आगमपुव्वा दिट्ठी	३	३६	२०५
आगमहीणो समणो	३	३३	२०४
आगासमणुणिविट्ठं	२	४८	१७०
आगासस्सवगाहो	२	४१	१६८
आदा कम्ममलिमसो	२	२९	१६४
आदा कम्ममलिमसो धरेदि	२	५८	१७४
आदा णाणपमाणं	१	२३	१३४
आदाय तं पि लिंगं	३	७	१९३
आपिच्छ बंधुवग्गं	३	२	१९२
आहारे व विहारे	३	३१	२०४
इ			
इंदियपाणो य तधा	२	५४	१७२
इहलोगणिरापेक्खो	३	२६	२०२
इह विविहलक्खणाणं	२	५	१५५
उ			
उदयगदा कम्मंसा	१	४३	१३९
उप्पज्जदि जदि णाणं	१	५०	१४१
उप्पादट्ठिदिभंगा	२	३७	१६६
उप्पादो पद्धंसो	२	५०	१७१
उपादो य विणासो	१	१८	१३२
उवओगमओ जीवो	२	८३	१८३
उवओगविसुद्धो जो	१	१५	१३१
उवओगो जदि हि	२	६४	१७६
उवकुणदि जो वि	३	४९	२०८
उवयरणं जिणमग्गे	३	२५	२००
उवरदपापो पुरिसो	३	५९	२११
ए			
एक्कं खलु तं भत्तं	३	२९	२०३
एक्को व दुगे बहुगा	२	४९	१७१
एगंतेण वि देहो	१	६६	१४६
एगम्हि संति समये	२	५१	१७१
एगुत्तरमेगादी	२	७२	१७८
एदे खलु मूलगुणा	३	९	१९४
एयग्गगदो समणो	२	३२	१६५
एवं जिणं जिणिंदा	२	१०७	१९१
एवं णाणप्पाणं	२	१००	१८९

	अधि	गाथा	पृष्ठ
एवं पणमिय सिद्धे	३	१	१९२
एवं विदिदत्थो	१	७८	१४९
एवंविहं सहावे	२	१९	१५९
एस सुरासुरमणुसिंद	१	१	१२९
एसा पसत्थभूदा	३	५४	२०९
एसो त्ति णत्थि	२	२४	१६२
एसो बंधसमासो	२	९७	१८८
ओ			
ओगाढगाढणिचिदो	२	७६	१८०
ओरालियो य देहो	२	७९	१८१
क			
कत्ता करणं कम्मं	२	३४	१६५
कम्मत्तणपाओग्गं	२	७७	१८०
कम्मं णामसमक्खं	२	२५	१६२
कालस्स वट्टणा से	२	४२	१६८
किच्चा अरहंताणं	१	४	१२९
किध तम्हि णत्थि	३	२१	१९८
किं किंचण त्ति तक्कं	३	२४	२००
कुलिसाउहचक्कहरा	१	७३	१४७
कुव्वं सभावमादा	२	९२	१८६
केवलदेहो समणो	३	२८	२०२
ग			
गुणदोधिगस्स विणअं	३	६६	२१०
गेण्हदि णेव ण	२	९३	१८६
गेण्हदि णेव म मुंचदि	१	३२	
च			
चत्ता पावारंभं	१	७९	१४९
चरदि णिबद्धो णिच्चं	३	३४	२०५
चारित्तं खलु धम्मो	१	७	१३०
छ			
छदुमत्थविहिद	३	५६	२१०
छेदुवजुत्तो समणो	३	१२	१९४
छेदो जेण ण विज्जदि	३	२२	१९९
ज			
जदि कुणदि कायखेदं	३	५०	२०८
जदि ते ण संति	१	३१	१३६

	अधि	गाथा	पृष्ठ
जदि ते विसयकसाया	३	५८	२१०
जदि पच्चक्खमजायं	१	३९	१३८
जदि संति हि पुण्णाणि	१	७४	१४८
जदि सो सुहो व असुहो	१	४६	१४०
जधजादरूवजादं	३	५	१९३
जध ते णभप्पदेसा	२	४५	१६९
जस्स अणेसणमप्पा	३	२७	२०२
जस्स ण संति	२	५२	१७२
जं अण्णाणी कम्मं	३	३८	२०६
जं केवलं ति णाणं	१	६०	१४४
जं तिक्कालियमिदरं	१	४७	१४०
जं दव्वं तण्ण गुणो	२	१६	१५९
जं परदो विण्णाणं	१	५८	१४४
जं पेच्छदो अमुत्तं	१	५४	१४३
जादं सयं समत्तं	१	६९	१४७
जायदि णेव ण णस्सदि	२	२७	१६३
जणसत्थादो अट्ठे	१	८६	१५१
जीवा पोग्गलकाया	२	४३	१६८
जीवो परिणमदि जदा	१	९	१३०
जीवो पाणणिबद्धो	२	५६	१७३
जीवो भवं भविस्सदि	२	२०	१३३
जीवो ववगदमोहो	१	८१	१५०
जीवो सयं अमुत्तो	१	५५	१४३
जुत्तो सुहेण आदा	१	७०	१४७
जे अजधागहित्था	३	७१	२१३
जे णेव हि संजाया	१	३८	१३८
जे पज्जयेसु णिरदा	२	२	१५४
जेसिं विसयेसु रदी	१	६४	१४५
जो इंदियादिविजई	२	५९	१७४
जो एवं जाणित्ता	२	१०२	१८९
जो खलु दव्वसहावो	२	१७	१५९
जो खविदमोहखलुसा	२	१०४	१९०
जो जाणदि अरहंतं	१	८०	१४९
जो जाणदि जिणिंदे	२	६५	१७६
जो जाणदि सो णाणं	१	३५	१३७
जो णवि जाणदि एवं	२	९१	१८५

	अधि	गाथा	पृष्ठ
जो ण विजाणदि जुणवं	१	४८	१४१
जो णिहदमोहगंठी	२	१०३	१८९
जो णिहदमोहदिट्ठी	१	९२	१५३
जोण्हाणं णिरवेक्खं	३	५१	२०९
जो मोहरागदोसे	१	८८	१५२
जो हि सुदेण विजाणदि	१	३३	१३६
ठ			
ठाणणिसेज्जविहारा	१	४४	१३९
ण			
ण जहदि जो दु	२	९८	१८८
णत्थि गुणो त्ति व कोई	२	१८	१५९
णत्थि परोक्खं किंचिवि	१	२२	१३३
णत्थि विणा परिणामं	१	१०	१३०
ण पविट्ठो णाविट्ठो	१	२९	१३५
ण भवो भंगविहीणो	२	८	१५६
णरणारयतिरियसुरा	२	२६	१६२
णरणारयतिरियसुरा	२	६१	१७५
णरणारयतिरियसुरा	१	७२	१४७
ण वि परिणमदि ण	१	५२	१४२
ण हवदि जदि सद्दव्वं	२	१३	१५७
ण हवदि समणोत्ति	३	६४	२१२
ण हि आगमेण	३	३७	२०५
ण हि णिरवेक्खो	३	२०	१९७
ण हि मण्णदि जो	१	७७	१४८
णाणप्पगमप्पाणं	१	८२	१५०
णाणप्पमाणमादा	१	२४	१३४
णाणं अट्ठवियप्पो	२	३२	१६५
णाणं अत्थंतगयं	१	६१	१४४
णाणं अप्प त्ति मदं	१	२७	१३४
णाणो णाणसहावो	१	२८	१३५
णाणं देहो ण मणो	२	६८	१७७
णाहं पोग्गलमइओ	२	७०	१७७
णाहं होमि परेसिं	२	९९	१८८
णाहं होमि परेसिं	३	४	१९२
णिग्गंथं पव्वइदो	३	६९	२१३
णिच्छिदसुत्तत्थपदो	३	६८	२१३
णिद्धत्तणेण दुगुणो	२	७४	१७९
णिद्धा वा लुक्खा वा	२	७३	१७९
णिहदघणघादिकम्मो	२	१०५	१९०
णहि सद्दहदि मोक्खं	१	६२	१४५
त			
तक्कालिगेव सव्वे	१	३७	१३८
तम्हा जिणमग्गादो	१	९०	१५२
तम्हा णाणं जीवो	१	३६	१३७
तम्हा तह जाणित्ता	२	१०८	१९१
तम्हा दु णत्थि कोइ	२	२८	१६३
तम्हा समं गुणादी	३	७०	२१३
तह सो लद्धसहावो	१	१६	१३२
तं सब्भावणिबद्धं	२	६२	१७५
तक्कालणिच्चविसमं	१	५१	१४२
तिमिरहरा जइ दिट्ठी	१	६७	१४६
ते ते कम्मत्तगदा	२	७८	१८१
ते ते सव्वे समगं	१	३	१२९
ते पुण उदिण्णतण्हा	१	७५	१४८
तेसिं विसुद्धदंसण	१	५	१२९
द			
दव्वट्ठिएण सव्वं	२	२२	१६१
दव्वं अणंतपज्जय	१	४९	१४१
दव्वं जीवमजीवं	२	३५	१६५
दव्वं सहावसिद्धं	२	६	१५५
दव्वाणि गुणो तेसिं	१	८७	१५१
दव्वादिएसु मूढो	१	८३	१५०
दंसणणाणचरित्तेसु	३	४२	२०७
दंसणणाणुवदेसो	३	४८	२०८
दिट्ठा पगदं वत्थू	३	६१	२११
दुपदेसादो खंधा	२	७५	१८०
देवजदिगुरुपूजासु	१	६९	१४७
देहा वा दविणा वा	२	१०१	१८९
देहो य मणो वाणी	२	६९	१७७

	अधि	गाथा	पृष्ठ
ध			
धम्मेण परिणदप्पा	१	११	१३१
प			
पक्खीण घादिकम्मो	१	१९	१३२
पयदम्हि समारद्धे	३	११	१९४
पप्पा इट्ठे विसये	१	६५	१४५
परदव्वं ते अक्खा	१	५७	१४४
परमाणुपमाणं वा	३	३९	२०६
परिणमदि चेदणाए	२	३१	१६४
परिणमदि जदा अप्पा	२	९५	१८७
परिणमदि जेण दव्वं	१	८	१३०
परिमदि णेयमट्ठं	१	४२	१३९
परिणमदि सयं दव्वं	२	१२	१५७
परिणमदो खलु णाणं	१	२१	१३३
परिणामादो बंधो	२	८८	१८५
परिणामो सयमादा	२	३०	१६४
पविभत्तपदेसत्तं	२	१४	१५८
पंचसमिदो तिगुत्तो	३	४०	२०६
पादुब्भवदि य अण्णो	२	११	१५६
पाणाबाधं जीवो	२	५७	१७३
पाणेहि चदुहि जीवदि	२	५५	१७३
पुण्णफला अरहंता	१	४५	१४०
पोग्गलजीवणिबद्धो	२	३६	१६६
फ			
फासो रसो य गंधो	१	५६	१४३
फासेहि पुग्गलाणं	२	८५	१८४
ब			
बालो वा बुड्ढो वा	३	३०	२०३
बुज्झदि सासणमेयं	३	७५	२१४
भ			
भणिदा पुढविप्पमुहा	२	९०	१८५
भत्ते वा खमणे वा	३	१५	१९६
भंगविहीणो य भवो	१	१७	१३२
भावेण जेण जीवो	२	८४	१८३
म			
मणुआसुरामरिंदा	१	६३	१४५
मणुओ ण हवदि देवो	२	२१	१६०
मरदु व जियदु व जीवो	३	१७	१९६
मुच्छारंभविमुक्कं	३	६	१९३
मुज्झदि वा रज्जदि वा	३	४३	२०७
मुत्ता इंदियगेज्झा	२	३९	१६७
मुत्तो रूवादिगुणो	२	८१	१८२
मोहेण व रागेण व	१	८४	१५१
र			
रत्तो बंधदि कम्मं	२	८७	१८४
रयणमिह इंदणीलं	१	३०	१३५
रागो पसत्थभूदो	३	५५	२१०
रूवादिएहिं रहिदो	२	८२	१८२
रोगेण वा छुधाए	३	५२	२०९
ल			
लिंगग्गहणं तेसिं	३	१०	१९४
लिंगेहिं जेहिं दव्वं	२	३८	१६७
लोगलोगेसु णभो	२	४४	१६९
व			
वण्णरसगंधफासा	२	४०	१६७
वदसमिदिंदियरोधो	३	८	१९३
वदिवददो तं देसं	२	४७	१७०
वंदण णमंसणेहिं	३	४७	२०८
विसयकसाओ गाढो	२	६६	१७६
वेज्जावच्चणिमित्तं	३	५३	२०९
स			
स इदाणिं कत्ता	२	९४	१८६
सत्ता संबंद्धेदे	१	९१	१५३
सदवट्ठियं सहावे	२	७	१५५
सद्दव्वं सच्चगुणो	२	१५	१५८
सपदेसेहिं समग्गो	२	५३	१७२
सपदेसो सो अप्पा	२	९६	१८७
सपेदसो सो अप्पा	२	८६	१८४
सपरं बाधासहियं	१	७६	१४८
सब्भावो हि सहावो	२	४	१५४
समओ दु अप्पदेसो	२	४६	१७०
समणं गणिं गुणड्ढं	३	३	१९२

	अधि	गाथा	पृष्ठ
समणा सुद्धुवजुत्ता	३	४५	२०७
समवेदं खलु दव्वं	२	१०	१५६
समसत्तुबंधुवग्गो	३	४१	२०६
सम्मं विदिदपदत्था	३	७३	२१४
सयमेव जहादिच्चो	१	६८	१४६
सव्वगदो जिणवसहो	१	२६	१३४
सव्वाबाध विजुत्तो	२	१०६	१९०
सव्वे आगमसिद्धा	३	३५	२०५
सव्वे वि य अरहंता	१	८२	१५०
संपज्जदि णिव्वाणं	१	६	१२९
सुत्तं जिणोवदिट्ठं	१	३४	१३७
सुद्धस्स य सामण्णं	३	७४	२१४
सुविदिदपदत्थ सुत्तो	१	१४	१३१
सुहपरिणामो पुण्णं	२	८९	१८५
सेसे पुण तित्थयरे	१	२	१२९
सोक्खं वा पुण दुक्खं	१	२०	१३३
सोक्खं सहावसिद्धं	१	७१	१४७
ह			
हवदि ण हवदि बंधो	३	१९	१९७
हीणो जदि सो आदा	१	२५	१३४

नियमसारगाथानुक्रमणी

	गाथा	पृष्ठ
अ		
अइथूलथूलथूलं	२१	२२१
अणुखंधवियप्पेण दु	२०	२२१
अण्णणिरावेक्खो जो	२८	२२४
अत्तागमतच्चाणं	५	२१८
अत्तादि अत्तमज्झं	२६	२२३
अप्पसरूवं पेच्छदि	१६६	२५२
अप्पसरूवालंबण	११९	२४३
अप्पाणं विणु णाणं	१७१	२५३
अप्पा परप्पयासो	१६३	२५२
अरसमरूवमगंधं	४६	२२८
अव्वाबाहमणिंदिय	१७८	२५४
असरीरा अविणासा	४८	२२८
अंतर बाहिरजप्पे	१५०	२४९
आ		
आउस्स खयेण पुणो	१७५	२५४
आदा खु मज्झ णाणे	१००	२३९
आराहणाइ वट्टइ	८४	२३६
आलोयणमालुंछण	१०८	२४१
आवासं जइ इच्छसि	१४७	२४८
आवासएण जुत्तो	१४९	२४९
आवासएण हीणो	१४८	२४९
ई		
ईसाभावेण पुणो	१८६	२५५
ईहापुव्वं वयणं	१७४	२५३
उ		
उक्किट्ठो जो बोहो	११६	२४२
उत्तम अट्ठं आदा	९२	२३७
उम्मग्गं परिचत्ता	८६	२३६
उसहादि जिणवरिंदा	१४०	२४७
ए		
एको मे सासदो अप्पा	१०२	२३९
एगो य मरदि जीवो	१०१	२३९
एदे छद्दव्वाणि य	३४	२२६
एदे सव्वे भावा	४९	२२९
एयरसरूवगंधं	२७	२२३
एरिसभेदब्भासे	८२	२२६
एरिसय भावणाए	७६	२३४

	गाथा	पृष्ठ
एवं भेदब्भासं	१०६	२४४
क		
कत्ता भोत्ता आदा	१८	२२०
कदकारिदाणुमोदण	६३	२३२
कम्ममहीरुहमूल	११०	२४१
कम्मादो अप्पाणं	१११	२४१
कायकिरियाणियत्ती	७०	२३३
कायाई परदव्वे	१२१	२४३
कालुस्समोहसण्णा	६६	२२३
किं काहदि वणवासो	१२४	२४४
किं बहुणा भणिएण दु	११७	२४२
कुलजोणिजीवमग्गण	५६	२३१
केवलणाणसहावो	९६	२३८
केवलमिंदियरहियं	११	२१९
कोहं खमया माणं	११५	२४२
कोहादिसग्गभाव	११४	२४२
ग		
गमणणिमित्तं धम्मं	३०	२२४
गामे वा णयरे वा	५८	२३०
घ		
घणघाइकम्मरहिया	७१	२३३
च		
चउगइभवसंभमणं	४२	२२८
चउदहभेदा भणिदा	१७	२२०
चक्खु अचक्खू ओही	१४	२१९
चत्ता ह्यगुत्तिभावं	८८	२३७
चलमलिणमगाढत्त	५२	२२९
छ		
छायातवमादीया	२३	२२२
छुह तण्हभीरुरोसो	६	२१८
ज		
जदि सक्कदि कादुं जे	१५४	२५०
जस्स रागो दु रोसो दु	१२८	२४५
जस्स सण्णिहिदो अप्पा	१२७	२४५
जं किंचि मे दुच्चरित्तं	१०३	२३९
जाइ जरमरणरहियं	१७६	२५४
जाणंतो पस्संतो	१७२	२५३
जाणदि पस्सदि सव्वं	१५९	२५१
जा रायादिणियत्ती	६९	२३३
जारिसिया सिद्धप्पा	४७	२२८
जिणकहियपरमसुत्ते	१५५	२५०
जीवाण पुग्गलाणं	१८३	२५५
जीवादि वहित्तच्चं	३८	२२७
जीवादीदव्वाणं	३३	२२५
जीवादु पुग्गलादो	३२	२२५
जीवा पोग्गलकाया	९	२१८
जीवो उवओगमओ	१०	२१९
जुगवं वट्टइ णाणं	१६०	२५१
जो चरदि संजदो खलु	१४४	२४८
जो ण हवदि अण्णवसो	१४१	२४७
जो दु अट्टं च रुद्दं च	१२९	२४५
जो दुगंछा भयं वेदं	१३२	२४५
जो दु धम्मं च सुक्कं च	१३३	२४५
जो दु पुण्णं च पावं च	१०३	२३९
जो दु हस्सं रई सोगं	१३१	२४५
जो धम्मसुक्कझाण	१५१	२४९
जो पस्सदि अप्पाणं	१०९	२४१
जो समो सव्वभूदेसु	१२६	२४४
झ		
झाणणिलीणो साहू	९३	२३७
ण		
णट्ठट्ठकम्मबंधा	७२	२३४
णमिऊण जिणं वीरं	१	२१७
णरणारयतिरियसुरा	१५	२२०
ण वसो अवसो अवस	१४२	२४७
ण वि इंदिय उवसग्गा	१७९	२५४
ण वि कम्मं णोकम्मं	१८०	२५४
ण वि दुक्खं णवि सुक्खं	१७८	२५४
णंताणंतभवेण स	११८	२४३
णाणं अप्पपयासं	१६५	२५२
णाणं जीवसरूवं	१७०	२५३
णाणं परप्पयासं	१६१	२५१

	गाथा	पृष्ठ
णाणं परप्पयासं	१६२	२५१
णाणं परप्पयासं	१६४	२५२
णाणाजीवा णाणा	१५६	२५०
णाहं कोहो माणो	८१	२३५
णाहं णारयभावो	७७	२३५
णाहं बालो बुड्ढो	७९	२३५
णाहं मग्गणठाणो	७८	२३५
णाहं रागो दोसो	८०	२३५
णिक्कसायस्स दंतसस	१०५	२४०
णिग्गंथो णीरागो	४४	२२८
णिद्दंडो णिद्दंदो	४३	२२८
णियभावणाणिमित्तं	१८६	२५५
णियभावं णवि मुच्चइ	९७	२३८
णियमं णियमस्स फलं	१८४	२५५
णियमं मोक्खउवायो	४	२१७
णियमेण य जं कज्जं	३	२१७
णिव्वाणमेव सिद्धा	१८२	२५५
णिस्सेसदोसरहिओ	७	२१८
णोकम्मकम्मरहियं	१०७	२४०
णो खइयभावठाणा	४१	२२७
णो खलु सहावठाणा	३९	२२७
णो ठिदिबंधट्ठाणा	४०	२२७
त		
तस्स मुहग्गदवयणं	८	२१८
तह दंसणउवओगो	१३	२१९
थ		
थीराजचोरभत्तक	६७	२२३
द		
दट्ठूण इत्थिरूवं	५९	२३१
दव्वगुणपज्जयाणं	१४५	२४८
दव्वत्थिएण जीवा	१९	२२१
ध		
धाउचउक्कस्स पुणो	२५	२२४
प		
पडिकमणणामधेये	९४	२३७
पडिकमणपहुदिकरियं	१५२	२४९
पयडिट्ठिदिअणुभाग	९८	२३८
परिचत्ता परभावं	१४६	२४८
परिणामपुव्ववयणं	१७३	२५३
पंचाचारसमग्गा	७३	२३४
पासुगभूमिपदेसे	६५	२३२
पासुगमग्गेण दिवा	६१	२३२
पुग्गलदव्वं मोत्तं	३७	२२६
पुव्वुत्तसयलदव्वं	१६८	२५२
पुव्वुत्तसयलभावा	५०	२२९
पेसुण्णहासकक्कस	६२	२३२
पोग्गलदव्वं उच्चइ	२९	२२४
पोथइकमंडलाइं	६४	२३२
ब		
बंधनछेदणमारण	६८	२३३
भ		
भूपव्वदमादीआ	२२	२२२
म		
मगो मग्गफलं ति य	२	२१७
मदमाणमायलोह वि	११२	२४१
ममत्तिं परिवज्जामि	९९	२३९
माणुस्सा दुवियप्पा	१६	२२०
मिच्छत्तपहुदिभावा	९०	२३७
मिच्छादंसणणाण	९१	२३७
मुत्तममुत्तं दव्वं	१६७	२५२
मोक्खपहे अप्पाणं	१३६	२४६
मोक्खंगय पुरुसाणं	१३५	२४६
मोत्तूण अट्टरुद्दं	८९	२३७
मोत्तूण अणायारं	८५	२३६
मोत्तूण वयणरयणं	८३	२३६
मोत्तूण सयलजप्पम	९५	२३८
मोत्तूण सल्लभावं	८७	२३६
र		
रयणत्तयसंजुत्ता	७४	२३४
रागेण व दोसेण व	५७	२३१
रायादिपरिहारे	१३७	२४६

	गाथा	पृष्ठ
ल		
लद्धूण णिहि एक्को	१५७	२५०
लोयायासे ताव	३६	२३६
लोयालोयं जाणइ	१६९	२५३
व		
वट्टदि जो सो समणो	१४३	२४८
वण्णरसगंधफासा	४५	२२८
वदसमिदिसीलसंजम	११३	२४२
वयणमयं पडिकमणं	१५३	२४९
वयणोच्चारणकिरियं	१२२	२४४
ववहारणयचरित्ते	५५	२२९
वावारविप्पमुक्का	७५	२३४
विज्जदि केवलणाणं	१८१	२५५
विरदो सव्वसावज्जे	१२५	२४४
विवरीयाभिणिवेसवि --	५१	२२९
विवरीयाभिणिवेसं	१३९	२४७
	गाथा	पृष्ठ
स		
सण्णाणं चउभेयं	१२	२१९
समयावलिभेदेण दु	३१	२२५
सम्मत्तणाणचरणे	१३४	२४६
सम्मत्तस्स णिमित्तं	५३	२२९
सम्मत्तं सण्णाणं	५४	२२९
सम्मं मे सव्वभूदेसु	१०४	२४०
सव्ववियप्पाभावे	१३८	२४६
सव्वे पुराणपुरिसा	१५८	२५०
सव्वेसिं गंथाणं	६०	२३१
संखेज्जा संखेज्जा	३५	२२६
संजमणियमतवेण दु	१२३	२४४
सुह असुह वयणरयणं	१२०	२४३
सुहुमा हवंति खंधा	२४	२२

अष्टपाहुड गाथानुक्रमणिका

अष्टपाहुडमें १. दंसणपाहुड, २. सुत्तपाहुड, ३. चारित्तपाहुड, ४. बोधपाहुड, ५. भावपाहुड, ६. मोक्खपाहुड, ७. लिंगपाहुड और ८. लिंगपाहुड ... इन आठ पाहुडोंका संग्रह है। इस अनुक्रमणिकामें पहला अंक पाहुडका, दूसरा गाथाका और तीसरा पृष्ठका दिखाया गया है।

	अधि	गाथा	पृष्ठ
अइसोहण जो एयं	६	२४	३१४
अक्खाणि बहिरप्पा	६	५	३११
अंगाइं दस य दुण्णि य	५	५२	२९३
अच्चेयणं पि चेदा	६	५८	३२०
अज्ज वि तिरयणसुद्धा	६	७७	३२३
अण्णं च वसिट्ठमुणी	५	४६	२९२
अण्णाणं मिच्छत्तं	३	१५	२७१
अण्णे कुमरणमरणं	५	३२	२९०
अपरिग्गहसमणुण्णेसु	३	३६	२७४
अप्पा अप्पम्मि रओ	५	३१	२९०
अप्पा अप्पम्मि रओ	५	८५	२९८
अप्पा चरित्तवंतो	६	६४	३२१
अप्पा झायंताणं	६	७०	३२२
अप्पा णाऊण णर	६	६७	३२१
अमणुण्णे य मणुण्णे	३	२९	२७३
अमराण वंदियाणं	१	२५	२६३
अयसाणभायणेण य	५	६९	२९५
अरसमरूवमगंधं	५	६४	२९४
अरहंतभासियत्थं	२	१	२६५
अरहंते सुहभत्ती	८	४०	३४०
अरहंतेण सुदिट्ठं	४	४	२७६
अरुहा सिद्धायरिया	६	१०४	३३७
अवरो वि दव्वसवणो	५	५०	२९२
अवसेसा जे लिंगी	२	१३	२६६

	अधि	गाथा	पृष्ठ
दुविहं वि गंथचायं	१	१४	२६१
दुविहं संजमसरणं	३	२१	२७२
देवगुरूणं भत्ता	६	८२	३२४
देवगुरुम्मि य भत्तो	६	५२	३१९
देवाण पुण विहूई	५	१५	२८७
देहादिचत्तसंगो	५	४४	२९१
देहादिसंगरहिओ	५	५६	२९३
ध			
धणधण्णवत्थदाणं	४	४५	२८२
धण्णा ते भयवंता	५	१५७	३०८
धम्मम्मि णिप्पवासो	५	७१	२९५
धम्मेण होइ लिंगं	७	२३२८	
धम्मो दयाविसुद्धो	४	२४	२७९
धावदि पिंडणिमित्तं	७	१३	३३०
धुवसिद्धी तित्थयरो	६	६०	३२०
प			
पढिएणवि किं कीरइ	५	६६	२९५
पडिदेससमयपुग्गल	५	३५	२९०
पयडहिं जिणवरलिंगं	५	७०	२९५
पयलियमाणकसाओ	५	७८	२९७
परदव्वरओ बज्झइ	६	१३	३१२
परदव्वादो दुगई	६	१६	३१३
परमप्पय झायंतो	६	४८	३१८
परमाणुपमाणं वा	६	६९	३२२
परिणामम्मि असुद्धे	५	५	२८६
पव्वग्गसंगचाए	३	१६	२७१
पव्वज्जहीणगहिणं	७	१८	३३१
पसुमहिलसंढसंगं	४	५६	२८४
पंचमहव्वयजुत्तो	२	२०	२६८
पंचमहव्वयजुत्तो	६	३३	३१५
पंचमहव्वयजुत्ता	४	४३	२८२
पंचवि इंदियपाणा	४	३४	२८१
पंचविह चेलचायं	५	८१	२९७
पंचसु महव्वदेसु य	६	७५	३२३
पंचिंदियसंवरणं	३	२८	२७३
पंचेवणुव्वयाइं	३	२३	२७२

	अधि	गाथा	पृष्ठ
पाऊण णाणसलिलं	३	४१	२७५
पाऊण णाणसलिलं	५	९३	२९९
पाणिवहेहि महाजस	५	१३५	३०५
पापोपहदिभावो	७	७	३२९
पापं हवेइ असेसं	५	११६	३०२
पाव खवइ असेसं	५	१०८	३०१
पावंति भावसवणा	५	१००	३००
णासत्थभावणाओ	५	१४	२८७
पासंडि तिण्णिसया	५	१४२	३०६
पित्तंतमुत्तफेफस	५	३९	२९१
पीओसि थणच्छीरं	५	१८	२८८
पुरिसायारो अप्पा	६	८४	३२४
पुरिसेण वि सहियाए	८	२६	३३७
पुरिसो वि जो ससुत्तो	२	४	२६५
पुंश्चलिघरि जसु भुंजइ	७	२१	३३२
ब			
बंधे णिरओ संतो	७	१६	३३०
बलसोक्खणाणदंसण	५	१५०	३०७
बहिरत्थे फुरियमणो	६	८	३११
बहुसत्थअत्थजाणे	४	१	२७६
बारसअंगवियाणं	४	६१	२८५
बारसविह तवयरणं	५	८०	२९७
बारसविह तवजुत्ता	१	३६	२६४
बाहिरसंगच्चायो	५	८९	२९८
बाहिरसंगविमुक्को	६	९७	३२६
बाहिरलिंगेण जुदो	६	६१	३२०
बाहिरसयणत्तावण	५	११३	३०२
बुद्धं जं बोहंतो	४	७	२७७
भ			
भरहे दुस्सम काले	६	७६	३९३
भवसायरे अणंते	५	२०	२८८
भव्वजणबोहणत्थं	३	३८	२७५
भंजसु इंदियसेणं	५	९०	२९८
भावविमुत्तो मुत्तो	५	४३	२९१
भावरहिएण सुपुरिस	५	७	२८६
भावरहिओ ण सिज्झइ	५	४	२८६

	अधि	गाथा	पृष्ठ
भावविसुद्धिणिमित्तं	५	३	२९५
भावसवणो य धीरो	५	५१	२९३
भावहि पंचपयारं	५	६५	२९५
भावहि अणुवेक्खाओ	५	९६	२९९
भावहि पढमं तच्चं	५	११४	३०२
भावसवणो वि पावइ	५	१२७	३०४
भावसहिदो य मुणिणो	५	९९	३००
भावं तिविहपयारं	५	७६	२९६
भावेण होइ लिंगी	५	४८	२९२
भावेण होइ णग्गो	५	५४	२९३
भावेण होइ णग्गो	५	७३	२९६
भावेह भावसुद्धं	३	४५	२७६
भावेह भावसुद्धं	५	६०	२९४
भावो वि दिव्व सिवसुक्ख	५	७४	२९६
भावो हि पढमलिंगं	५	२	२८५
भीसणणरयगईए	५	८	२८६
म			
मइधणुहं जस्सचिरं	४	२२	२७९
मच्छो वि सालिसिक्थो	५	८८	२९८
मणुयभवे पंचिंदिय	४	३५	२८१
ममत्तिं परिवज्जामि	५	५७	२९३
मयमाय कोह रहिओ	६	४५	३१७
मयरायदोसरहिओ	४	३९	२८१
मयराय दोस मोहो	४	५	२७७
मलरहिओ कलचत्तो	६	६	३११
मंसट्ठिसुक्कसोणिय	५	४२	२९१
महिलालोयण पुव्वरइ	३	३५	२७४
महुपिंगो णाम मुणी	५	४५	२९२
मायावेल्लि असेसा	५	१५८	३०९
मिच्छत्तछण्णदिट्ठी	५	१३८	३०६
मिच्छत्त तह कसाया	५	११७	३०२
मिच्छत्तं अण्णाणं	६	२८	३१५
मिच्छाणाणेसु रओ	६	११	३१२
मिच्छादंसण मग्गे	३	१७	२७१
मिच्छादिट्ठी जो सो	६	९५	३२६
मूलगुणं छित्तूण य	६	९८	३२६

	अधि	गाथा	पृष्ठ
मोहमय गारवेहिं	५	१५९	३०९
र			
रयणत्तए अलद्धे	५	३०	२८९
रयणत्तयमाराहं	६	३४	३१६
रयणत्तयं पि जोई	६	३६	३१६
रागो(गं)करेदि णिच्चं	७	१७	३३१
रूवत्थं सुद्धत्थं	४	५९	२८४
रूवसिरिगव्विदाणं	८	१५	३३५
ल			
लद्धूण य मणुयत्तं	१	३४	२६४
लावण्णसीलकुसलो	८	३६	३४०
लिंगं इत्थी ण हवदि	२	२२	२६८
लिंगम्मि य इत्थीणं	२	२४	२६८
व			
वच्छल्लं विणएण य	३	११	२७१
वट्टेसु य खंडेसु य	८	२५	३३७
वयगुत्ती मणगुत्ती	३	३२	२७४
वयसम्मत्तविसुद्धे	४	२५	२७९
वरवयतवेहि सग्गो	६	२५	३१४
वायरणछंद वइसेसिय	८	१६	३३५
वार एकम्मि य जम्मे	८	२२	३३६
वालग्गं कोडिमेत्तं	२	१७	२६७
विणयं पंचपयारं	५	१०४	३००
वियलिंदिए असीदी	५	२९	२८९
विपरीयमूढभावा	४	५२	२८३
विसएसु मोहिदाणं	८	१३	३३४
विसयकसाएहिं जुदो	६	४६	३१८
विसयविरत्तो सवणो	५	७९	२९७
विसवेयण रत्तक्खय	५	२५	२८९
विहुरदि जाव जिणिंदो	१	३५	२६४
वीरं विसालणयणं	८	१	३३२
वेरग्गपरो साहू	६	१०१	३२७
स			
संखिज्जपसंखिज्जगुणं	३	२०	२७२
सग्गं तवेण सग्गो	६	२३	३१४
सच्चित्तभत्तपाणं	५	१०२	३००

	भक्ति	गाथा	पृष्ठ
पुंवेदं वेदंता	२	६	३६८
फ			
फलहोडीवरगामे	७	१४	३८३
ब			
बालगुरुबुड्ढसेहे	६	३	३७९
बीसं तु जिणवरिंदा	७	२	३८१
बहुविह पडिमट्ठायी	५	११	३७६
भ			
भूदेसु दयावण्णे	५	९	३७५
म			
मणुयणाइंदसुरधरिय	११	१	३८७
र			
रामसुआ तिण्णि जणा	७	६	३८१
रामहणू सुग्गीवो	७	८	३८२
रेवाणइए तीरे	७	११	३८२
ल			
लोयग्गमत्थयत्था	२	१०	३६८
लोयस्सुज्जोययरे	१	२	३६५
व			
वडवाणीवरणयरे	७	१२	३८२
वदसमिदिगुत्तिजुत्ता	६	४	३७९
वरकुट्टबीयबुद्धी	५	१८	३७७
वरदत्तो व वरंगो	७	४	३८१
वंदे अंतयडदसं	३	३	३७०
वंदे चउत्थभत्तादि	५	१०	३७५
वंसत्थलम्मि णयरे	६	१७	३८३
स			
सगपरसमयविदण्हू	६	२	३७८
सम्मं चेव य भावे	५	२	३७४
सत्तेव य बलभद्दा	७	३	३८१
सव्वे वि य परीसहा	४	८	३७२
संजदेण मए सम्मं	४	१०	३७२
संसारकाणणे पुण	६	७	३७९
सामाइयं तु चारित्तं	४	३	३७४
साहरणासाहरणे	२	५	३६७
सिद्धवरसासणाणं	३	१	३६९
सुविहिं च पुप्फयंतं	१	४	३६५
सेसाणं तु रिसीणं	७	२१	३८४

अंचलिका सूची

	भक्ति	पृष्ठ
१)	तीर्थंकरभक्ति	३६६
२)	सिद्धभक्ति	३६९
३)	श्रुतभक्ति	३७१
४)	चारित्रभक्ति	३७३
५)	योगिभक्ति	३७८
६)	आचार्यभक्ति	३८०
७)	निर्वाणभक्ति	३८४
८)	नंदीश्वरभक्ति	३८६
९)	शांतिभक्ति	३८६
१०)	समाधिभक्ति	३८७
११)	पंचगुरुभक्ति	३८९
१२)	चैत्यभक्ति	३८९